अर्हम्

श्रीसूत्रकृताङ्गम्

(द्वितीय खण्ड)

अध्ययन ३ से ९ पर्यन्त



श्रीमच्छीलाङ्काचार्य्यकृतटीकासहित

श्रीमद् जैनाचार्य्य

पूज्य श्री १००८ श्रीजवाहिरलालजी महाराजके

तत्वावधानमें

पण्डित अम्बिकादत्तजी ओझा व्याकरणाचार्य्य

द्वारा

सम्पादित

[मूल, संस्कृत छाया, अन्वयार्थ, भावार्थ और टीकार्थ सहित]

प्रकाशक—

श्रीराजकोट स्थानकवासी जैन संघकी सहायतासे

श्रीमहावीर जैन ज्ञानोदय सोसायटी–राजकोट



प्रथमावृत्ति ११००]   विक्रम सम्वत् १९९५   [मूल्य रु. १॥।

पाना १ थी ३४८ सुधी जैन भास्करोदय प्रेस, जामगगर अने बाकीनां
घी घोरविजय प्री. प्रेसमां शा. रमणीकलाळ पीताम्बरदास कोठारीए छापी.
ठे. रतनपोळ, सागरनी खडकी—अहमदावाद.

प्रयोजन

आर्हत आगमोंमें श्रीसूत्रकृताङ्ग का वहुत उच्चस्थान है, यह आगम बडी उत्तमताके साथ वस्तुतत्त्वका निरूपण करता है, एक मात्र इस ग्रन्थके मननसेभी मनुष्य अपने जीवनको सफल बना सकता है। मुमुक्षु जीवोंके लिये यह आगम परमोपयोगी है परन्तु इसका मूल अर्धमागधीमें और टीका प्रौढ संस्कृतमें रची गई है इस लिये जो अर्धमागधी और संस्कृत नहीं जानते हैं वे इस आगमके लाभ से वञ्चित रह जाते हैं।

यद्यपि मुनि महात्माओंके द्वारा किये जानेवाले इस आगमके प्रवचनकी सहायतासे कभी कभी साधारण जनता को इसके अमूल्य ज्ञानोंका लाभ प्राप्त होता है तथापि उससे उतना लाभ नहीं होता जैसाकि स्वयं इस ग्रन्थके मनन करने से हो सकता है। एतदर्थ श्री श्वे. स्था. जैन संप्रदायके आचार्य पूज्यश्री १००८ श्रीजवाहिरलालजी महाराज के तत्त्वावधानमें पण्डित अम्बिकादत्त ओझाने इस ग्रन्थका सम्पादन कार्य्य किया है और साधारण जनताके लाभार्थ मूलकी छाया हिन्दी में अन्वयार्थ, भावार्थ तथा टीकाका अर्थ किया है। टीकाका अर्थ अक्षरशः करनेकी चेष्टा की गई है इसलिये भाषासौष्ठव वैसा नहीं हो सका है जैसा प्रचलित पद्धतिको अपेक्षित है। फिरभी संस्कृत न जाननेवाले जिज्ञासु टीकार्थको पढकर टीकाके लाभसे सर्वथा वञ्चित नहीं रह सकते यह निश्चित है।

यद्यपि यह कार्य्य रतलामके चातुर्मास्यसे ही आरम्भ हुआ था तथापि सुविस्तृत ग्रन्थ होनेके कारण दो अध्यायोंका अनुवाद पूज्यश्री के संवत १९९२ के साल राजकोट चातुर्मास्यके समय समाप्त हुआ। पश्चात् राजकोट श्रीसंघके सामने यह अनुवाद रखा गया और श्रीसंघको यह उपकारक प्रतीत हुआ। फलतः श्रीसंघने अपनी उदारताका परिचय देते हुए बलूंदानिवासी शेठ श्रीछगनलालजी साहिब मूंथाके प्रशंसनीय सहकारसे इसे मुद्रित कराकर जनताके करकमलोंमें अर्पण करनेका निश्चय किया। उपर्युक्त रीतिके अनुसार प्रथम भागमें प्रारम्भ के दो अध्ययन और इस दूसरे भागमें तीनसे नव अध्ययन पर्यन्त प्रकाशित किया जाता है।

यद्यपि इस सूत्र–प्रकाशनके लिये आवश्यक सूचनामें लिखे अनुसार आर्थिक सहायता प्राप्त होनेसे पुस्तक बिना कीमत बाँट सकते थे किन्तु बिना कीमत पुस्तक–वितरण करनेमें पुस्तककी कदर कम होती है इसलिए लागत दामसे कम कीमत रखकर प्रचार करनेका निश्चय किया है। इससे जो आमदनी होगी इसका उपयोग सूत्र–प्रकाशनमें ही किया जायगा।

सम्वत् १९९२ के साल राजकोट चातुर्मास्य के समय इस ग्रन्थका प्रकाशनकार्य समाजके अनुपम रत्न धर्मवीर श्रीमान् सेठ दुर्लभजीभाई जौहरीके व्यवस्थापकत्वमें होना निश्चित हुआ और प्रथम भागका संस्करण उक्त जौहरीजी के व्यवस्थापकत्वमें ही संपन्न हुआ परन्तु शोकके साथ लिखना पडता है कि इस द्वितीय भागके संस्करण के समय उक्त जौहरीजीका देहान्तर हो गया इस लिये मुझको इस कार्यकी व्यवस्था करनी पडी है।

श्रीमान् सेठ दुर्लभजी भाईके स्वर्गवास होनेसे स्थानकवासी समाजकी जो भारी क्षति हुई है उसकी पूर्ति असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है क्योंकि उक्त जौहरीजी के समान धर्मवीर, समाजसेवक धर्मप्रेमी पुरुषोंकी आज समाजमें बहुत कमी है. इस समय तो इस समाजने अपना अमूल्य रत्न खोकर बडी हानि उठाई है। मैं उक्त जौहरीजीके स्वर्गीय आत्माके प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए द्वितीय भागको प्रकाशित करके उनके प्रति कर्तव्यके पूरा करनेका प्रयत्न करता हूं।

राजकोट
कार्तिक शुदि २
संवत १९९२

निवेदक
हरिलाल [illegible] वोरा
व्यवस्थापक

आवश्यक सूचना

राजकोट के चातुर्मास्य के समय पूज्यश्री १००८ श्रीजवाहिर-लालजी महाराजके दर्शनार्थ वलुन्दा निवासी श्रीमान् सेठ छगनलालजी साहेब मुथा राजकोट पधारेथे। आपने अपनी उदारताका परिचय देते हुए पूज्यश्रीके दर्शनलाभ के स्मरणार्थ सूत्र प्रकाशन कार्य्य में रु. ३०००) तीन हजारकी आर्थिक सहायता प्रदान करनेका भाव प्रकट किया था परन्तु आवश्यक बातोंके बढजानेसे सूत्रकी कलेवरवृद्धिको देखकर खर्चाभी द्विगुण होनेका अनुमान हुआ और आर्थिक प्रबन्ध करनेका प्रयत्न किया गया। फलतः पूज्यश्रीके जन्मदिन के शुभ प्रसङ्ग पर सम्वत् १९९३ के कार्तिक मासमें श्रीमान् सेठ लक्ष्मीदास पीताम्बरदास पोरबन्दरवालेने रु० १००१) दिये तथा राजकोट निवासी सेठ चुन्नीलाल नागजी वोराने रु० ५०१) तथा राजकोट श्रीसङ्घके भाई बहिनोंने लगभग रु० १०००) दिये।

आर्थिक सहायता देनेवाले सज्जनोंके आभारप्रदर्शनार्थ सूत्रकी ५०० प्रतियोंपर श्रीमान् सेठ छगनलालजी मूथाका और शेष ५०० प्रतियोंपर राजकोट श्री सङ्घके नाम निर्देशका निश्चय किया गया। इस निश्चयके अनुसार ही उपर्युक्त सहायता द्वारा श्री सूत्रकृताङ्गसूत्र का प्रथम श्रुतस्कंध का ३ से ९ अध्ययन पर्य्यन्त यह द्वितीय भाग प्रकाशित कराकर समाजकी सेवामें रखा जाता है।

श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्रके प्रकाशनार्थ आर्थिक सहायकोंकी

शुभ नामावली

रु० ३०००) श्रीमान् सेठ छगनमलजी साहेब, मूथा-[illegible]-बेंगलोर

रु० १००१) श्रीमान सेठ करसनदास पीताम्बर, पोरबन्दरवाले

„ ५०१) „ „ चुनीलालजी नागजी वोरा, राजकोट

„ १२५) „ „ दुर्लभजी त्रिभुवन झवेरी, मोरवी

„ १०१) „ रायसाहेब टोकरशी मदनजी पेथा, राजकोट

„ १०३) „ सेठ कानजी पानाचन्द भीमाणी „

„ १०१) „ „ श्यामजी वेलजी वीराणी „

„ ५१) „ रावसाहेब डा. हरिभाई छगनलाल शाह „

„ ५१) „ सेठ जयचन्द अजरामर कोठारी „

„ ५१) श्रीमती बहिन जवाकुँवर मगनलाल मोदी „

„ ५१) „ „ छबलबेन वनेचन्द देसाई „

„ ५१) „ „ ताराबेन देवकरण मेघाणीवाले „

„ २५) श्रीमान् सेठ गोपालजी भीमजी पारेख, राजकोट

„ २५) „ „ कपूरचन्द रणछोड़ मेहता „

„ २५) „ „ ताराचन्द वेचरदास कामदार „

„ २५) „ „ नारायणदास पीताम्बर पन्दोई „

„ २५) „ „ मधवी अपर्स ह. वनेचन्दभाई „

„ २५) „ „ प्राणजीवन नारणजी मेहता „

„ २५) श्रीमती बहिन मणकुँवर हीरजीभाई पोरबन्दरवाले—इत्यादि

जैनाचार्य पूज्यश्री जवाहिरलालजी महाराज साहेबकी जन्मतिथि
वर्ष ६२ वाँ सम्वत् १९९३ की कार्तिक शुक्ला चतुर्थी

राजकोट

विषयानुक्रमणिका

विपय पृष्ठ

अध्ययन तीसरा

विषय | पृष्ठ

चतुर्थ अध्ययन

पञ्चम अध्ययन

छट्ठा अध्ययन

सप्तम अध्ययन

अष्टम अध्ययन

विषय पृष्ठांक

॥ श्रीमच्छीलाङ्काचार्यकृतटीकासहितं

श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्रम् ।



अथ तृतीयोपसर्गाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः प्रारभ्यते ।

उक्तं द्वितीयमध्ययनम् अधुना तृतीयमारभ्यते

अस्य चायमभिसम्बन्धः—



इहानन्तरं स्वसमयपरसमयप्ररूपणाऽभिहिता, तथा परसमयदोषान् स्वसमयगुणाँश्च परिज्ञाय स्वसमये बोधो विधेय इत्येतच्चाभिहितं, तस्य च प्रतिबुद्धस्य सम्यगुत्थानेनोत्थितस्य सतः कदाचिदनुकूलप्रतिकूलोपसर्गाः प्रादुर्भवेयुः, ते चोदीर्णाः सम्यक् सोढव्या इत्येतदनेनाध्ययनेन प्रतिपाद्यते, ततोऽनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्य्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारः 'संबुद्धस्सुवसग्गा' इत्यादिना प्रथमाध्ययने प्रतिपादितः, उद्देशार्थाधिकारं तूत्तरत्र स्वयमेव निर्युक्तिकारः प्रतिपादयिष्यतीति, नामनिष्पन्नं तु निक्षेपमधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह—

अब तीसरा उपसर्गाध्ययनका प्रथम उद्देशक प्रारम्भ किया जाता है । दूसरा अध्ययन कहा जा चुका अब तीसरा आरम्भ किया जाता है । इसका सम्बन्ध यह है—पूर्वके अध्ययनों में-(प्रथम अध्ययनमें) स्वसमय और परमसमयकी प्ररूपणा की गई है तथा (द्वितीय अध्ययनमें) परसमयके दोष और अपने समयके गुणोंको जानकर स्वसमयका ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिये यह कहा गया है । इस प्रकार सम्यक् उत्थानसे उत्थित पुरुषको यदि कदाचित् अनुकूल तथा प्रतिकूल उपसर्ग उपस्थित हो तो वह पुरुष उन उपसर्गोंको अच्छी तरह सहन करे यह बात इस तीसरे अध्ययनके द्वारा बताई जाती है । इस सम्बन्धसे आये हुए इस अध्ययन के चार अनुयोगद्वार होते हैं—इनमें उपक्रममें अर्थाधिकार दो प्रकारका होता है, अध्ययनार्थाधिकार और उद्देशार्थाधिकार । इनमें अध्ययनार्थाधिकारको प्रथम अध्ययनकी प्रस्तावनामें 'संबुद्धस्सुवसग्गा' इत्यादि गाथाके द्वारा निर्युक्तिकारने बतला दिया है और उद्देशार्थाधिकार को स्वयमेव निर्युक्तिकार आगे चलकर बतलावेगे। अब निर्युक्तिकार नामनिष्पन्न निक्षेपके विषयमे कहते है—

टीका—उवसग्गम्मि य छक्कं, दव्वे चेयणमचेयणं दुविहं ।
आगंतुगो य पीलागरो य जो सो उवसग्गो ॥ ४५ ॥

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् उपसर्गाः षोढा, तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्योपसर्गं दर्शयति 'द्रव्ये' द्रव्यविषये उपसर्गो द्वेधा, यतस्तद्द्रव्यमुपसर्गकर्तृ चेतनाचेतनभेदाद् द्विविधं, तत्र तिर्य्यङ्मनुष्यादयः स्वावयवाभिघातेन यदुपसर्गयन्ति स सचित्तद्रव्योपसर्गः स एव काष्ठादिनेतरः । तत्त्वभेदपर्य्यायैर्व्याख्येति, तत्रोपसर्ग उपतापः शरीरपीडोत्पादनमित्यादिपर्यायाः भेदाश्च तिर्य्यङ्मनुष्योपसर्गादयः नामादयश्च, तत्त्वव्याख्यां तु निर्युक्तिकृदत्र गाथापश्चार्द्धेन दर्शयति अपरस्माद् दिव्यादेरागच्छतीत्यागन्तुको योऽसावुपसर्गो भवति, स च देहस्य संयमस्य वा पीडाकारीति । क्षेत्रोपसर्गानाह—

टीका—खेत्तं बहुओघपयं, कालो एगंत दूसमादीओ ।
भावे कम्मव्भुदओ, सो दुविहो ओघुवक्कमिओ ॥ ४६ ॥

यस्मिन् देशे बहून्योघतः सामान्येन पदानि क्रूरचौराद्युपसर्गस्थानानि भवन्ति

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेदसे उपसर्ग छः प्रकारके होते हैं इनमे अत्यन्त अभ्यासमे आनेके कारण नाम और स्थापनाको छोडकर द्रव्य उपसर्गको निर्युक्तिकार दर्शाते हैं—द्रव्यके विषयमें उपसर्ग दो प्रकारका होता है क्योंकि उपसर्ग उत्पन्न करनेवाले द्रव्य चेतन और अचेतन दो प्रकारके होते हैं । इनमें चेतन प्राणी तिर्य्यञ्च और मनुष्य अपने अङ्गोंका घात करके जो उपसर्ग उत्पन्न करते हैं वह सचित्त द्रव्यका किया हुआ उपसर्ग है । तथा काठ आदि अचित्त द्रव्योंके द्वारा किया हुआ अपने अङ्गोंका घात आदि अचित्त द्रव्योपसर्ग है । वस्तुका स्वरूप बताकर तथा उसका भेद कह कर एवं उसके पर्य्यायोंका निर्देश करके वस्तुकी व्याख्या की जाती है अतः उपताप, शरीरपीडोत्पादन (शरीरमें पीडा उत्पन्न करना) इत्यादि उपसर्ग के पर्य्याय है । एवं तिर्य्यञ्च का उपसर्ग और मनुष्यादिकृत उपसर्ग तथा उन उपसर्गोंके नाम आदि उपसर्गके भेद हैं । उपसर्ग के स्वरूप की व्याख्या तो निर्युक्तिकार इस गाथा के उत्तरार्द्धद्वारा स्वयमेव बता रहे है—जो किसी देवता आदि दूसरे पदार्थोंसे आता है वह उपसर्ग कहलाता है । वह उपसर्ग देहको अथवा संयमको पीडा देता है । अब निर्युक्तिकार क्षेत्र उपसर्ग को बतलाते हैं—

जिस क्षेत्रमें क्रूर जीव तथा चोर आदिके द्वारा होनेवाले समूहरूपसे बहुतसे उपसर्गके स्थान होते हैं उस क्षेत्रको 'बह्वोघपद' कहते हैं । यहाँ 'बह्वोघमयं' यह पाठान्तर भी मिलता है इसके अनुसार जिस क्षेत्रमें समूहरूप से बहुत से भयके स्थान होते हैं उसको 'बह्वोघमय' कहते हैं ।

तत् क्षेत्रं बह्वोघपदं, पाठान्तरं वा 'बह्वोघमयं' बहून्योघतो भयस्थानानि यत्र तत्तथा, तच्च लाढादिविषयादिकं क्षेत्रमिति, कालस्त्वेकान्तदुष्षमादिः, आदि ग्रहणाद् यो यस्मिन् क्षेत्रे दुःखोत्पादको ग्रीष्मादिः स गृह्यत इति, कर्मणां ज्ञानावरणीयादीनामभ्युदयो भावोपसर्ग इति। स चोपसर्गः सर्वोऽपि औघिकौपक्रमिकभेदाद् द्वेधा, तत्रौघिकोऽशुभप्रकृतिजनितो भावोपसर्गो भवति औपक्रमिकस्तु दण्डकशाशस्त्रादिनाऽसातवेदनीयोपपादक इति। तत्रौघिकौपक्रमिकयोरुपसर्गयोरौपक्रमिकमधिकृत्याह—

टीका—उवक्कमिओ संजमविग्घकरे, तत्थुवक्कमे पगयं।
दव्वे चउव्विहो देवमणुयतिरियायसंवेत्तो ॥ ४७ ॥

उपक्रमणमुपक्रमः, कर्मणामनुदयप्राप्तानामुदयप्रापणमित्यर्थः, एतच्च यद्द्रव्योपयोगात् येन वा द्रव्येणासातावेदनीयाद्यशुभं कर्मोदीर्यते यदुदयाच्चाल्पसत्त्वस्य संयमविघातो भवति अत औपक्रमिक उपसर्गः संयमविघातकारीति, इह च यतीनां मोक्षम्प्रति प्रवृत्तानां संयमो मोक्षाङ्गं वर्त्तते तस्य यो विघ्नहेतुः स एवात्राधिक्रियत

ऐसे क्षेत्र लाढ़ आदिके देश वगैरह हैं। जिस कालमें एकान्तरूपसे दुःख ही होता है वह दुष्षम आदि काल कालोपसर्ग हैं। यहाँ आदि पदके ग्रहणसे जो वस्तु जिस क्षेत्रमें दुःखकी उत्पत्ति करती है उस ग्रीष्मादि वस्तुका भी क्षेत्रोपसर्गमें ग्रहण करना चाहिये। ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंका उदय होना भावोपसर्ग है। पूर्वोक्त सभी उपसर्ग, औघिक और औपक्रमिक भेदसे दो प्रकारके होते हैं। इनमें अशुभ कर्मप्रकृति से उत्पन्न भावोपसर्गको औघिक उपसर्ग कहते हैं। तथा डंडा, चाबूक और शस्त्र आदिके द्वारा दुःखकी उत्पत्ति करनेवाला उपसर्ग औपक्रमिक कहलाता है। औधिक और औपक्रमिक उपसर्गोंमेंसे अब निर्युक्तिकार औपक्रमिक उपसर्गके विषयमें उपदेश करते हैं।

किसी बातके आरम्भका नाम उपक्रम है। जो कर्म उदयको प्राप्त नहीं है उसका उदय होना उपक्रम शब्दका अर्थ हैं। जिस द्रव्यके उपयोग करनेसे अथवा जिस वस्तुके द्वारा असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मका उदय होता है और जिसके उदय होनेसे अल्प पराक्रमी जीवके संयमका विनाश हो जाता है उस द्रव्यके द्वारा उत्पन्न उपसर्गको औपक्रमिक उपसर्ग कहते हैं यह संयमका विनाश करनेवाला है।

इस जगत्में मोक्षप्राप्तिके लिये प्रवृत्त मुनियोंका संयम ही मोक्षका कारण है अतः उस संयमके विघ्नका जो कारण है वही इस अध्ययनमें बताया जाता है यह निर्युक्तिकार दिखलाते है। औधिक और औपक्रमिक उपसर्गोंमेसे यहाँ औपक्रमिक उपसर्गका ही वर्णन है। वह औप-

इति दर्शयति—तत्र औघिकौपक्रमिकयोरौपक्रमिकेन प्रकृतं प्रस्तावः, तेनात्राधिकार इति यावत् स च द्रव्ये द्रव्यविषयश्चिन्त्यमानश्चतुर्विधो भवति तद्यथा दैविको मानुषस्तैरश्च आत्मसंवेदनश्चेति । साम्प्रतमेतेषामेव भेदमाह—

टीका—एक्केक्को य चउव्विहो वावि सोलसविहो वा।
घंडणजयणा व तेसिं एत्तो वोच्छं अहि(ही)यारं(रा) ॥४८॥

एक्केको दिव्यादिः 'चतुर्विधः' चतुर्भेदः, तत्र दिव्यस्तावद् हास्यात् प्रद्वेषात् विमर्शात् पृथग्विमात्रातश्चेति, मानुषा अपि हासतः प्रद्वेषाद्विमर्शात् कुशीलप्रतिसेवनातश्च, तैरश्चा अपि चतुर्विधाः तद्यथा भयाद् प्रद्वेषाद् आहारादपत्यसंरक्षणात्, आत्मसंवेदनाश्चतुर्विधाः, तद्यथा—घट्टनातो लेशनातः अङ्गुल्याद्यवयवसंश्लेषरूपायाः स्तम्भनातः प्रपाताच्चेति, यदि वा, वातपित्तश्लेष्मसन्निपातजनितश्चतुर्धेति, स एव दिव्यादिश्चतुर्विधोऽनुकूलप्रतिकूलभेदाद् अष्टधा भवति। स एव दिव्यादिः प्रत्येकं यश्चतुर्धा प्राग्दर्शितः स चतुर्णां चतुष्ककानां मेलापकात् षोडशभेदो भवति तेषाञ्चोपसर्गाणां यथा घटना सम्बन्धः प्राप्तिः प्राप्तानां चाधिसहनं प्रति यातना भवति तथाऽत ऊर्ध्वमध्ययनेन वक्ष्यते इत्ययमत्रार्थाधिकार इति भावः (४८) उद्देशार्थाधिकारमधिकृत्याह—

क्रमिक उपसर्ग द्रव्यके विषयमें चार प्रकारका होता है जैसे कि देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यक्कृत और आत्मसंवेदन । अब इन्हींका भेद बतानेके लिये निर्युक्तिकार कहते हैं ।

दिव्य आदि उपसर्ग प्रत्येक चार प्रकारके होते हैं। इनमें दिव्य उपसर्ग, हास्यसे, द्वेषसे, परीक्षा करनेके लिये तथा नाना प्रकारके कारणोंसे होता है । तथा मनुष्यकृत उपसर्ग भी हास्यसे, द्वेषसे, परीक्षाके लिये और कुशील सेवनसे होते हैं । एवं तिर्यक् कृत उपसर्ग भी चार प्रकारके होते हैं । जैसे कि भयके कारण, द्वेषके कारण, आहार करनेके लिये तथा अपने बच्चेकी रक्षा करनेके लिये । आत्मसंवेदनरूप उपसर्ग भी चार प्रकारके हैं, जैसे कि—नेत्र आदि अङ्गोंको रगडनेसे तथा अङ्गुलि आदि अङ्ग के सट जाने से एवं स्तम्भ होनेसे (खूनकी गति रुक जानेसे) तथा गिर जानेसे । अथवा वात, पित्त, कफ और इनके समूहसे उत्पन्न चतुर्विध उपसर्ग आत्मसंवेदन कहलाते हैं। पूर्वोक्त दिव्य आदि चतुर्विध उपसर्ग ही अनुकूल और प्रतिकूल भेदसे आठ प्रकारके हैं । वे दिव्य आदि उपसर्ग जो प्रत्येक चार चार प्रकारके पहले दिखाये जा चुके हैं उन चारों के चारों भेदोंको परस्पर मिला देनेसे सोलह भेद होते हैं । इन उपसर्गोंकी जिस प्रकार प्राप्ति होती है और प्राप्त हुए इन उपसर्गों के सहन करनेमें जो पीडा होती है सो इसके आगे इस अध्ययनके द्वारा कहा जायगा यही यहां अर्थाधिकार है । अब उद्देशकका अर्थाधिकारके विषयमें निर्युक्तिकार कहते हैं—

पढमंमि य पडिलोमा हुंती अणुलोमगा य वितीयंमिं ।
तइए अज्झत्तविसोहणं च परवादिवयणं च ॥ ४९ ॥
हेउसरिसेहिं अहेउएहिं समयपडिएहिं णिउणेहिं ।
सीलखलितपण्णवणा, कया चउत्थंमि उद्देसे ॥ ५० ॥

प्रथमे उद्देशके प्रतिलोमाः प्रतिकूला उपसर्गाः प्रतिपाद्यन्ते इति. तथा द्वितीये 'ज्ञातिकृताः' स्वजनापादिता अनुलोमा–अनुकूला इति, तथा तृतीये अध्यात्मविपीदनं परवादिवचनं चेत्ययमर्थाधिकार इति, चतुर्थोद्देशके अयमर्थाधिकारः, तद्यथा–हेतुसदृशैः हेत्वाभासैर्येऽन्यतीर्थिकैर्व्युद्ग्राहिताः–प्रतारितास्तेषां शीलस्खलितानां–व्यामोहितानां प्रज्ञापना–यथावस्थितार्थप्ररूपणा स्वसमयप्रतीतैर्निपुणभणितैर्हेतुभिः कृतेति।(४९-५०) साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्–

(मूल)–सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सती ।
जुज्झंतं दढधम्माणं, सिसुपालो व महारहं ॥ १ ॥

(छाया)–शूरं मन्यत आत्मानं यावज्जेतारं न पश्यति
युध्यन्तं दृढधर्माणं शिशुपाल इव महारथम्।

(अन्वयार्थ)–(जाव) जबतक (जेयं) विजेता पुरुष को (न पासइ) नहीं देखता है तबतक कायर (अप्पाण) अपनेको (सूरं) शूर (मण्णइ) मानता है । (जुज्झंत) युद्ध करते हुए (महारहं) महारथी (दढधम्माणं) दृढधर्मवाले–कृष्ण को देखकर (सिसुपालो व) जैसे शिशुपाल क्षोभको प्राप्त हुआ था ।

(टीकार्थ)–प्रथम उद्देशक में प्रतिलोम अर्थात् प्रतिकूल उपसर्गों का कथन किया है। तथा द्वितीय उद्देशक में अपने सम्बन्धी लोगों के द्वारा किये हुए अनुकूल उपसर्गों का वर्णन है। एवं तीसरे उद्देशकमें चित्तको दुःखित करनेवाले परितीर्थियों के वचन बताये गये हैं यह अर्थाधिकार है । (४९) चतुर्थ उद्देशक में अर्थाधिकार यह है—

अन्यतीर्थियोने हेतुसमान प्रतीत होनेवाले परन्तु असद्हेतुस्वरूप अपने वाक्यों से जिन लोगों को विपरीत अर्थ ग्रहण कराकर धोखा दिया है उन शीलभ्रष्ट तथा मोहितचित्त पुरुषोंको स्वसिद्धान्तप्रसिद्ध उत्तम युक्तिसङ्गत हेतुओं के द्वारा यथार्थ स्वरूपका उपदेश किया गया है । (५०) अब सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुणों के साथ सूत्रका उच्चारण करना चाहिये वह सूत्र यह है—

२ (बिइए णाईकया य अणुलोमा)

(भावार्थ) कायर पुरुष भी तबतक अपने को शूर मानता है, जबतक वह विजेता पुरुष को नहीं देखता है परंतु उसे देखकर वह क्षोभ को प्राप्त होता है जैसे शिशुपाल अपने को शूर मानता हुआ भी युद्ध करते हुए महारथी दृढ धर्मवाले श्री कृष्ण को देखकर क्षोभ को प्राप्त हुआ था।

(टीका) कश्चिल्लघुप्रकृतिः सङ्ग्रामे समुपस्थिते शूरमात्मानं मन्यते–निस्तोयाम्बुद इवात्मश्लाघाप्रवणो वाग्भिर्विस्फूर्जन् गर्जति, तद्यथा–न मत्कल्पः परानीके कश्चित् सुभटोऽस्तीति, एवं तावद्गर्जति यावत् पुरोऽवस्थितं प्रोद्यतासिं जेतारं न पश्यति, तथा चोक्तम्–" तावद्गजः प्रस्रुतदानगण्डः, करोत्यकालाम्बुदगर्जितानि। यावन्न सिंहस्य गुहास्थलीषु, लाङ्गूलविस्फोटरवं शृणोति॥१॥" न दृष्टान्तमन्तरेण प्रायो लोकस्यार्थावगमो भवतीत्यतस्तदवगतये दृष्टान्तमाह–यथा माद्रीसुतः शिशुपालो वासुदेवदर्शनात्प्राग् आत्मश्लाघाप्रधानं गर्जितवान्, पश्चाच्च युध्यमानं–शस्त्राणि व्यापारयन्तं दृढः–समर्थो धर्मः–स्वभावः सङ्ग्रामाभङ्गरूपो यस्य स तथा तं, महान् रथोऽस्येति महारथः, स च प्रक्रमादत्र नारायणस्तं युध्यमानं दृष्ट्वा प्राग्गर्जनाप्रधानोऽपि क्षोभं गतः, एवमुत्तरत्र दार्ष्टान्तिकेऽपि योजनीयमिति। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–वसुदेवसुसाएँ सुओ दमघोसणराहिवेण मद्दीए।

(टीकार्थ)–कोई तुच्छ स्वभाववाला मनुष्य, युद्ध उपस्थित होनेपर अपने को शूर मानता हुआ विना पानी के मेघकी तरह वचन से खूब गर्जता है। वह कहता है कि शत्रु के दलमें मेरे समान कोई भी सुभट नहीं है परंतु वह तभी तक गर्जता है जबतक तल्वार उठाए हुए विजेता पुरुषको अपने आगे स्थित नहीं देखता है। विद्वानोंने कहा है कि, जिसका कपोलस्थल, मदजलसे भीगा हुआ है वह हाथी अकाल मेघ के समान तभी तक गर्जता है जब तक वह गुफा भूमि में सिंह के लांगूल फटकारनेका शब्द नहीं सुनता है। दृष्टान्त के विना लोगोंको प्रायः अर्थज्ञान नहीं होता है इस लिए दृष्टान्त कहते हैं–जैसे माद्रीका बेटा शिशुपाल, श्री कृष्णको देखने से पूर्व अपनी प्रशंसा करता हुआ खूब गर्जता था परंतु जब उसने शस्त्रास्त्रका प्रहार करते हुए, युद्धमें दृढ स्वभाववाले अर्थात् जो संग्राम में कभी भंग को प्राप्त नहीं होते थे ऐसे महारथी, प्रकरणानुसार नारायण को देखकर क्षोभ को प्राप्त हुआ था। यद्यपि वह पहले खूब अपनी प्रशंसा करता था तथापि उस समय क्षोभको प्राप्त हुआ इसी तरह आगे बताए जाने वाले दृष्टान्त में भी इस दार्ष्टान्त का सम्बन्ध मिला लेना चाहिए।

१ वसुदेवस्वसुः सुतो दमघोषनराधिपेन माद्याः। जातश्चतुर्भुजोऽद्भुतबलकलितः प्राप्त-

जाओ चउब्भुओऽब्भुयबलकलिओ कलहपत्तट्ठो ॥ १ ॥ दट्टूण तओ जणणी चउब्भुयं पुत्तमब्भुयमणग्घं । भयहरिसविम्हयमुही पुच्छइ णेमित्तियं सहसा ॥२॥ णेमित्तिएण मुणिऊण साहियं तीइ हट्ठहिययाए । जह एस तुब्भ पुत्तो महाबलो दुज्जओ समरे ॥३॥ एयस्स य जं दट्टूण होइ साभावियं भुयाजुयलं । होही तओ चिय भयं सुतस्स ते णत्थि संदेहो ॥४॥ साचि भयवेविरंगी पुत्तं दंसेइ जाव कण्हस्स । तावच्चिय तस्स ठियं पयइत्थं वरभुयाजुयलं ॥ ५ ॥ तो कण्हस्स पिउच्छा पुत्तं पाडेइ पायपीढंमि । अवराहखामणत्थं सोवि सयं से खमिस्सामि ॥ ६ ॥ सिसुवालो वि हु जुव्वणमएण नारायणं असब्भेहिं । वयणेहिं भणइ सोविहु खमइ खमाए समत्थोवि ॥ ७ ॥ अवराहसए पुण्णे वारिज्जंतो ण चिट्ठई जाहे । कण्हेण तओ छिन्नं चक्केणं उत्तमंगं से ॥८॥ साम्प्रतं सर्वजनप्रतीतं वार्तमानिकं दृष्टान्तमाह—

इसका भावार्थ कथाभाग से जानना चाहिए वह यह है—वसुदेव की वहिन के गर्भ से दमघोष राजाका पुत्र शिशुपाल उत्पन्न हुआ। वह चार भुजावाला तथा अद्भूत पराक्रमी और कलहकारी था। उसकी माताने अपने पुत्रको चार भुजावाला, अद्भूत बलशाली देखकर हर्ष तथा भयसे कम्पित होकर उसका फल पूछने के लिए ज्योतिषीको बुलाया। ज्योतिषीने सोच विचार कर प्रसन्नहृदया माद्री से कहा कि, यह तुम्हारा पुत्र बडा बलवान् और समर में अजेय होगा। परंतु जिसको देखकर तुम्हारे पुत्रकी बाहें स्वभावानुसार दोही रह जायँ उसी पुरुष से इसको भय होगा इस में कुच्छ संदेह नहीं है यह सुनकर माद्री भयभीत होकर अपने पुत्र को कृष्ण को दिखाया। ज्यों ही कृष्णने उस पुत्रको देखा त्यों ही उसकी भुजायें दो रहगईं जो मनुष्यमात्रकी होती हैं। इस के पश्चात कृष्णकी फूफी (भूआ) ने अपने पुत्रको कृष्णके चरणपर गिरा कर प्रार्थनाकी कि, "यह यदि अपराध भी करे तो तू उसे क्षमाकरना," कृष्णने भी उसके सौ अपराध क्षमा करनेकी प्रतिज्ञा की। इसके पश्चात् शिशुपाल जब युवावस्थाको प्राप्त हुआ तब वह यौवनमदसे मत्त होकर श्री कृष्णको गाली देने लगा। श्री कृष्ण यद्यपि उसको

कलहार्थे. ॥ १ ॥ दृष्ट्वा ततः जननी चतुर्भुज पुत्रमद्भुतमनर्घम् । भयहर्षवेपिताङ्गी पृच्छति नैमित्तिकं सहसा ॥ २ ॥ नैमित्तिकेन मुणित्वा साधितं तस्यै हृष्टहृदयायै । यथैष तव पुत्रो महाबलो दुर्जयः समरे ॥ ३ ॥ एतस्य च यं दृष्ट्वा भवेत् स्वाभाविकं भुजयुगलम् । भविष्यति तत एव भयं सुतस्य ते नास्ति संदेहः ॥ ४ ॥ साऽपि भयवेपिताङ्गी पुत्रं दर्शयति यावत्कृष्णाय । तावदेव तस्य स्थितं प्रकृतिस्थ वरभुजयुगलम् ॥ ५ ॥ ततः कृष्णस्य पितृष्वसा पुत्रं पातयति पादपीठे । अपराधक्षामणार्थं सोऽपि शतं तस्य क्षमिष्ये ॥ ६ ॥ शिशुपालोऽपि यौवनमदेन नारायणमसभ्यैः । वचनैर्भणति सोऽपि च क्षमते क्षमया समर्थोऽपि ॥ ७ ॥ अपराधशते पूर्णे वार्यमाणोऽपि न तिष्ठति यदा । कृष्णेन तनश्छिन्नं चक्रेणोत्तमाङ्गं तस्य ॥८॥

पयातः सूरा रणसीसे, संगामम्मि उवट्ठिते ।
माया पुत्तं न याणाइ, जेएण परिविच्छए ॥ २ ॥

(छाया) प्रयाताः शूरा रणशीर्षे संग्राम उपस्थिते
माता पुत्रं न जानाति जेत्रा परिविक्षतः ।

(अन्वयार्थ)--(संगामम्मि) युद्ध (उवट्ठिते) छिडनेपर (रणसीसे) युद्ध के अग्रभाग में (पयाता) गया हुआ (सूरा) वीराभिमानी पुरुष, (मया) माता (पुत्तं) अपने पुत्रको (न जाणाइ) गोदसे गिरता हुआ नहीं जानती है ऐसे व्यग्रताजनक युद्ध में (जेएण) विजेता पुरुष के द्वारा (परिविच्छए) छेदन-भेदन किया हुआ दीन हो जाता है ।

(भावार्थ) युद्ध छिड़ने पर विराभिमानी कायर पुरुष भी युद्ध के आगे जाता है परंतु धीरता को नष्ट करनेवाला युद्ध जब आरंभ होता है और घबडाहट के कारण जिस युद्ध में माता अपने गोद से गिरते हुए पुत्र को भी नहीं जानती है, तब वह पुरुष विजयी पुरुष के द्वारा छेदन-भेदन किया हुआ दीन हो जाता है।

(टीका) 'पयाया' इत्यादि, यथा वाग्भिर्विस्फूर्जन्तः प्रकर्षेण विकटपादपातं 'रण-शिरसि' संग्राममूर्धन्यग्रानीके याता-गताः, के ते?-'शूराः' शूरंमन्याः-सुभटाः, ततः सङ्ग्रामे समुपस्थिते पतत्परानीकसुभटमुक्तहेतिसङ्घाते सति तत्र च सर्वस्या-कुलीभूतत्वात् 'माता पुत्रं न जानाति' कटीतो भ्रश्यन्तं स्तनन्धयमपि न सम्यक् प्रतिजागर्त्तीत्येवं मातापुत्रीये सङ्ग्रामे परानीकसुभटेन जेत्रा चक्रकुन्तना-

दण्ड देने में समर्थ थे तथापि अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार उसके अपराधोंको सहन करते रहे। जब शिशुपाल के सौ अपराध पूरे हो गये तब श्री कृष्णने उसे बहुत मना किया परंतु वह मना करने पर भी नहीं माना तब श्री कृष्णने चक्र के द्वारा उसका शिर काट लिया। (१)

अब सर्वजनप्रसिद्ध वर्त्तमानकालका दृष्टान्त देते हैं—

वचन के द्वारा अपनी प्रशंसा-पूर्वक गर्जते हुए तथा वेग से विकट चाल चलते हुए अपने को शूर माननेवाले कई पुरुष, युद्ध के अग्रभाग में चले तो जाते हैं परन्तु जब युद्ध छिड़ जाता है और सामने आते हुए शत्रुदलके वीर पुरुष जब शस्त्र और अस्त्र की वर्षा करने लगते हैं उस समय सभी घबड़ा जाते हैं यहांतक कि माता अपने गोद से गिरते हुए पुत्र को भी स्मरण नहीं करती है इस प्रकार मातापुत्रीय संग्राम में शत्रुदल के सुभट पुरुषों के द्वारा चक्र, कुन्त, नाराच, और शक्ति आदि द्वारा नाना प्रकार से क्षत-विक्षत किया हुआ वह

(मूल) एवं सेहेवि अप्पुट्ठे, भिक्खायरियाअकोविए।
सूरं मण्णति अप्पाणं, जाव लूहं न सेवए ॥ ३ ॥

(छाया) एवं शिष्योऽप्यस्पृष्टो भिक्षाचर्याऽकोविदः
शूरं मन्यत आत्मानं यावद्रूक्षं न सेवते।

(अन्वयार्थ) (एवं) इसी तरह (भिक्खायरियाअकोविए) भिक्षाचरीमें अनिपुण (अप्पुट्ठे) और परीषहोंका स्पर्श नहीं पाया हुआ (सेहेवि) अभिनव प्रव्रजित शिष्य भी (अप्पाणं) अपने को (सूरं) तब तक शूर (मण्णइ) मानता है (जाव) जबतक वह (लूहं) संयमका (न सेवए) सेवन नहीं करता है।

(भावार्थ) जैसे कायर पुरुष जबतक शत्रु-वीरों-से घायल नहीं किया जाता तभीतक अपने को वीर मानता है इसी तरह भिक्षाचरीमें अनिपुण तथा परीषहों के द्वारा स्पर्श नहीं किया हुआ अभिनव प्रव्रजित साधु भी तभीतक अपनेको वीर मानता है जब तक वह संयमका सेवन नहीं करता है।

राचशक्त्यादिभिः परिः-समन्तात् विविधम्-अनेकप्रकारं क्षतो-हतश्छिन्नो वा यथा कश्चिदल्पसत्त्वो भङ्गमुपयाति दीनो भवतीतियावदिति ॥ २ ॥ दार्ष्टान्तिकमाह—

(टीका) 'एव' मिति प्रक्रान्तपरामर्शार्थः, यथाऽसौ शूरंमन्य उत्कृष्टिसिंहनाद-पूर्वकं सङ्ग्रामशिरस्युपस्थितः पश्चाज्जेतारं वासुदेवमन्यं वा युध्यमानं दृष्ट्वा दैन्यमुपयाति, एव 'शैक्षकः' अभिनवप्रव्रजितः परीषहैः 'अस्पृष्टः' अच्छुप्तः किं प्रव्रज्यायां दुष्करमित्येवं गर्जन् 'भिक्षाचर्यायां' भिक्षाटने 'अकोविदः' अनिपुणः, उपलक्षणार्थत्वादन्यत्रापि साध्वाचारेऽभिनवप्रव्रजितत्वादप्रवीणः, स एवम्भूत आ-

---

अल्पपराक्रमी पुरुष दीन हो जाता है। २

दृष्टान्त कहकर अब दार्ष्टान्त बताते हैं—

(टीकार्थ) इस गाथा में "एवं" शब्द प्रस्तुत अर्थको सूचित करने के लिए आया है। जैसे अपनेको शूर माननेवाला वह पुरुष उत्कृष्ट सिंहनाद पूर्वक संग्राम के अग्र भाग में चला जाता है परंतु वहां वह युद्ध करते हुए वासुदेव या अन्य किसी वीरपुरुषको देखकर दीन हो जाता है इसी तरह परीषहोंका स्पर्श नहीं पाया हुआ और भिक्षाचरी तथा दूसरे साधु के आचारों में नूतन प्रव्रजित होने के कारण अनिपुण अभिनव प्रव्रजित साधु, "प्रव्रज्या पालन करना क्या दुष्कर है" इस प्रकार गर्जता है। वह शिशुपालकी तरह अपनेको तभी तक शूर

(मूल) जया हेमंतमासंमि, सीतं फुसइ सव्वगं।
तत्थ मंदा विसीयंति, रज्जहीणा व खत्तिया॥ ४॥

(छाया) यदा हेमंतमासे शीतं स्पृशति सर्वाङ्गम्
। तत्र मन्दा विपीदन्ति राज्यहीना इव क्षत्रियाः।

(अन्वयार्थ) (जया) जव (हेमंतमासंमि) हेमंतऋतुके मासमें (सीतं) शीत (सव्वगं) सर्वाङ्ग को (फुसइ) स्पर्श करती है (तत्थ) तब (मंदा) मूर्ख पुरुप (रज्जहीणा) राज्यभ्रष्ट (खत्तियाव) क्षत्रिय की तरह (विसीयंति) विषादको अनुभव करते हैं।

(भावार्थ) जव हेमंत ऋतु के मासों में शीत, सब अंगोको स्पर्श करती है उस समय मूर्ख जीव, राज्यभ्रष्ट क्षत्रिय की तरह विपाद अनुभव करते हैं।

त्मानं तावच्छिशुपालवत् शूरं मन्यते यावज्जेतारमिव 'रूक्षं' संयमं कर्मसंश्लेपकारणाभावात् 'न सेवते' न भजत इति, तत्प्राप्तौ तु बहवो गुरुकर्माणोऽल्पसत्त्वा भङ्गमुपयान्ति ॥ ३ ॥

(टीका) संयमस्य रूक्षत्वप्रतिपादनायाह—'जया हेमंते' इत्यादि 'यदा' कदाचित् 'हेमन्तमासे' पौषादौ 'शीतं' सहिमकणवातं 'स्पृशति' लगति 'तत्र' तस्मिन्नसह्ये शीतस्पर्शे लगति सति एके 'मन्दा' जडा गुरुकर्माणो 'विषीदन्ति' दैन्यभावमुपयान्ति 'राज्यहीना' राज्यच्युताः यथा—क्षत्रिया राजान इवेति ॥४॥
उष्णपरीपहमधिकृत्याह—

मानत हैं जबतक वह विजयी पुरुप की तरह संयमका सेवन नहीं करता है। यहां संयमको रूक्ष इस लिए कहा है कि उसमें कर्म नहीं चिपकते हैं। उस रूक्ष संयमकी प्राप्ति होनेपर बहुत से गुरुकर्मी अल्पपराक्रमी जीव भंगको प्राप्त होते हैं। ३

संयम रूक्ष है यह बताने के लिए कहते हैं—

(टीकार्थ) जब कभी हेमन्तऋतु के पौप आदि मास में हिम के कणों से युक्त वायु के साथ शीत लगने लगती है उस समय असह्य शीत के स्पर्श से कई मूर्ख गुरुकर्मी पुरुप इस प्रकार विपाद अनुभव करते हैं जैसे राज्यभ्रष्ट क्षत्रिय राजा विपाद अनुभव करता है। ४

अब उष्ण परीपह के विपय में कहते हैं—

(मूल) पुट्ठे गिम्हाहितावेणं, विमणे सुपिवासिए।
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा अप्पोदए जहा॥ ५॥

(छाया) स्पृष्टो ग्रीष्माभितापेन विमनाःसुपिपासितः
तत्र मन्दाः विषीदन्ति मत्स्या अल्पोदके यथा।

अन्वयार्थ (गिम्हाहितावेणं) ग्रीष्म ऋतुके अभिताप गर्मीसे (पुट्ठे) स्पर्श पाया हुआ (विमणे) उदास (सुपिवासिए) और प्यास से युक्त होकर पुरुष दीन होजाता है (तत्थ) इस प्रकार गर्मीका परीषह प्राप्त होनेपर (मंदा) मूढ पुरुष (विसीयंति) इस प्रकार विषादको अनुभव करते हैं (जहा) जैसे (मच्छा) मच्छली (अप्पोदए) थोडे जलमें विषाद अनुभव करती हैं।

(भावार्थ) ज्येष्ठ आषाढ मासोंमें जब भयंकर गर्मी पडने लगती है। उस समय उस गर्मी से पीड़ित और प्यासा हुआ नवदीक्षित साधु उदास होजाता है। उस समय अल्प-शक्ति मूढ–पुरुष इस प्रकार विषाद अनुभव करता है जैसे थोडे जल में मच्छली विषाद अनुभव करती हैं।

(टीका) 'ग्रीष्मे' ज्येष्ठाषाढाख्ये अभितापस्तेन 'स्पृष्टः' छुप्तो व्याप्तः सन् 'विमनाः' विमनस्कः, सुष्ठु पातुमिच्छा पिपासा तां प्राप्तो नितरां तृडभिभूतो बाहुल्येन दैन्यमुपयातीति दर्शयति 'तत्र' तस्मिन्नुष्णपरीषहोदये 'मन्दा' जडा अशक्ता 'विषीदन्ति' यथा पराभङ्गमुपयान्ति, दृष्टान्तमाह—मत्स्या अल्पोदके विषीदन्ति, गमनाभावान्मरणमुपयान्ति, एवं सत्त्वाभावात्संयमात् भ्रश्यन्त इति, इदमुक्तं भवति—यथा मत्स्या अल्पत्वादुदकस्य ग्रीष्माभितापेन तप्ता अवसीदन्ति, एवमल्पसत्त्वाश्चारित्रप्रतिपत्तावपि जल्लमलक्लेदक्लिन्नगात्रा बहिरुष्णाभितप्ताः शीतलान्

(टीकार्थ) ग्रीष्म यानी ज्येष्ठ और आषाढ मास में जो गर्मी पड़ती है उसे ग्रीष्माभिताप कहते हैं उस ग्रीष्माभिताप से स्पर्श पाया हुआ पुरुष उदास होजाता है तथा अत्यंत पिपासित होकर दीनता को प्राप्त करता है। यही सूत्रकार दिखाते हैं—इस प्रकार उष्ण परीषह के उदय होनेपर शक्तिहीन मूर्ख–जीव, जिस प्रकार विषाद अनुभव करते हैं सो दृष्टांत देकर बताते हैं—जैसे थोडे जल में मच्छली विषादको प्राप्त करती हैं अर्थात् वह वहां से हटने में असमर्थ होकर जैसे मृत्युको प्राप्त होती हैं इसी तरह शक्तिहीन पुरुष शक्ति न होने के कारण संयमसे भ्रष्ट हो जाते हैं। आशय यह है कि—जैसे मच्छली जल कम होने पर ग्रीष्मऋतुकी गर्मीसे तप्त होकर दुःखको प्राप्त होती है इसी तरह अल्पपराक्रमी पुरुष, चारित्र लेकर भी मल और

(मूल) सदा दत्तेसणा दुक्खा, जायणा दुप्पणोल्लिया।
कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाहंसु पुढोजणा ॥६॥

(छाया) सदा दत्तैषणा दुःखं याञ्चा दुष्प्रणोद्या
कर्मार्त्ताः दुर्भगाश्चैवेत्याहुः पृथग्जनाः।

(अन्वयार्थ) (दत्तेसणा) दूसरे के द्वारा दी हुई वस्तुको ही अन्वेषण करना (दुःख) यह दुःख (सदा) सदा-जीवनभर साधुको रहता है। (जायणा) भिक्षा मांगनेका कष्ट (दुप्पणोल्लिया) दुःसह्य होता है। (पुढोजणा) प्राकृत पुरुष (इच्चाहंसु) यह कहते हैं कि (कम्मत्ता) ये लोग अपने पूर्वकृत पाप कर्मका फल भोग रहे हैं (दुब्भगाचेव) तथा ये लोग भाग्यहीन हैं।

(भावार्थ) साधुको दूसरे के द्वारा दी हुई वस्तुको ही अन्वेषण करनेका दुःख, सदा बना रहता है। याञ्चाका परीषह सहन करना बहुत कठिन है। उस पर भी साधारण पुरुष, साधुको देखकर कहते हैं कि ये लोग अपने पूर्व कृत पाप कर्मका फल भोग रहे हैं तथा भाग्यहीन हैं।

जलाश्रयान् जलधारागृहचन्दनादीनुष्णप्रतिकारहेतूननुस्मरन्ते—व्याकुलितचेतसः संयमानुष्ठानं प्रति विषीदन्ति ॥५॥

(टीका) साम्प्रतं याञ्चापरीषहमधिकृत्याह—'सदा दत्त' इत्यादि, यतीनां 'सदा' सर्वदा दन्तशोधनाद्यपि परेण दत्तम् एषणीयम्—उत्पादाद्येषणादोषरहित-मुपभोक्तव्यमित्यतः क्षुधादिवेदनार्त्तानां यावज्जीवं परदत्तैषणा दुःखं भवति, अपि-चेयं 'याञ्चा' याञ्चापरीषहोऽल्पसत्त्वैर्दुःखेन 'प्रणोद्यते' त्यज्यते, तथा चोक्तम्—

पसीना से भींगा हुआ तथा बाहरकी गर्मीसे तप्त हुआ शीतल जलाधार, तथा जलके धारागृह और गर्मीको दूर करने वाले चन्दन आदि पदार्थोंको स्मरण करता है। इस प्रकार व्याकुल चित्त होकर वह संयमके अनुष्ठान में विषाद अनुभव करता है। ३

अब याञ्चा (भिक्षाचरी) परीषह के विषयमें सूत्रकार कहते हैं —

(टीकार्थ) साधुको सदा दंतशोधन आदि वस्तु भी दूसरे के द्वारा दी हुई ही अन्वेषण करनी पडती है तथा उत्पाद आदि और एषणा दोष वर्जित ही आहार भी खाना होता है इस लिये क्षुधा आदि की वेदना से पीडित साधुको जीवनभर दूसरे के द्वारा दी हुई वस्तुको अन्वेषण करनेका दुःख भोगना पड़ता है तथा यह जो भिक्षा मांगनेका कष्ट है यह अल्पपराक्रमी जीवोंसे असहनीय होता है। अतएव विद्वानोने कहाहै कि "खिज्जइ" अर्थात् जो पुरुष

× "खिज्जइ मुहलावण्णं वाया घोलेइ कंठमज्झंमि। कहकहकहेइ हिययं देहित्ति परं भणंतस्स ॥१॥ गतिभ्रंशो मुखे दैन्यं, गात्रस्वेदो विवर्णता। मरणे यानि चिह्नानि, तानि चिह्नानि याचके ॥१॥" इत्यादि, एवं दुस्त्यजं याञ्चापरीषहं परित्यज्य गताभिमाना महासत्त्वा ज्ञानाद्यभिवृद्धये महापुरुषसेवितं पन्थानमनुव्रजन्तीति। श्लोकपश्चार्द्धेनाऽऽक्रोशपरीषहं दर्शयति '–पृथग्जनाः' प्राकृतपुरुषा अनार्यकल्पा 'इत्येवमाहुः' इत्येवमुक्तवन्तः, तद्यथा—ये एते यतयः जल्लाविलदेहा लुञ्चित-शिरसः क्षुधादिवेदनाग्रस्तास्ते एते पूर्वाचरितैः कर्मभिरार्त्ताः पूर्वस्वकृतकर्मणः फलमनुभवन्ति, यदिवा—कर्मभिः—कृष्यादिभिरार्त्ताः—तत्कर्तुमसमर्था उद्विग्नाः सन्तो यतयः संवृत्ता इति, तथैते 'दुर्भगाः' सर्वेणैव पुत्रदारादिना परित्यक्ता निर्गतिकाः सन्तः प्रव्रज्यामभ्युपगता इति ॥ ६ ॥

किसी से कुछ माँगता हुआ यह कहता है कि "अमुक वस्तु मुझको दो" उसके मुँखका लावण्य क्षीण होजाता है और वाणी, कण्ठके मध्य में ही घूर्णित होने लगती है तथा हृदय, व्याकुल होजाता है। माँगनेवालेकी गति, (चलना) बिगड़ जाती है, मुख, दीन हो जाता है, शरीर में पसीना बहने लगता है और उसका वर्ण फीका होजाता है इस प्रकार मरण समय में जितने चिन्ह दिखाई देते हैं वे सब याचक पुरुष में लक्षित होते हैं। इस प्रकार दुःसह्य याञ्चापरीषहको त्याग कर अभिमान रहित महासत्त्व जीव ही, ज्ञान आदि की वृद्धिके लिए महापुरुषो से सेवित मार्गके अनुगामी होते है। अब सूत्रकार, गाथा के उत्तरार्ध से आक्रोश परीषह बतलाते हैं। साधारण पुरुष जो अनार्य के सदृश होते है वे साधुको देख-कर यह कहते हैं कि "ये जो मल से परिपूर्ण शरीरवाले, लुञ्चितशिर, क्षुधा आदि वेदनाओ से पीड़ित साधु हैं वे अपने पूर्वकृत पाप कर्मो से पीड़ित है। ये अपने पाप कर्मका फल भोग कररहे हैं अथवा ये लोग कृषि आदि कर्मो से पीड़ित होकर अर्थात् कृषि आदि कर्म करने में असमर्थ होकर साधु बन गए हैं। तथा ये लोग अभागे हैं। ये, स्त्री पुत्र आदि सभी पदार्थो से हीन और आश्रय रहित होनेके कारण प्रव्रज्याधारी हुए हैं। ॥ ६ ॥

× क्षीयते मुखलावण्यं वाचा गिलति (घूर्णति) कण्ठमध्ये। कहकहकितहृदयं देहीति परं भणतः ॥ १ ॥

(मूल) एते सद्दे अचायंता, गामेसु णगरेसु वा ।
तत्थ मंदा विसीयंति, संगामंमिव भीरुया ॥७॥

(छाया) एताँश्च्छब्दानशक्नुवन्तो ग्रामेषु नगरेषु वा
तत्र मंदाः विषीदन्ति संग्राम इव भीरुकाः ।

(अन्वयार्थ) (गामेसु) ग्राममें (णगरेसुवा) अथवा नगरों में (एते) इन (सद्दे) शब्दोंको (अचायंता) सहन नहीं करसकते हुए (मंदा) मंदमति जीव (तत्थ) उस आक्रोशशब्दको सुनकर (विसीयंति) इस प्रकार विषाद करते हैं (व) जैसे (भीरुया) भीरु पुरुष (संगामंमि) संग्राममें विषाद करता है ।

(भावार्थ) ग्राम नगर अथवा अंतराल में स्थित मंदमति प्रव्रजित पूर्वोक्त निन्दाजनक शब्दों को सुनकर इस प्रकार विषाद करता है जैसे संग्राम में कायर पुरुष विषाद करता है ।

'एतान्' पूर्वोक्तानाक्रोशरूपान् तथा चौरचारिकादिरूपान् शब्दान् सोढुमशक्नुवन्तो ग्रामनगरादौ तदन्तराले वा व्यवस्थिताः 'तत्र' तस्मिन् आक्रोशे सति 'मन्दा' अज्ञा लघुप्रकृतयो 'विषीदन्ति' विमनस्का भवन्ति संयमाद्वा भ्रश्यन्ति, यथा भीरवः 'संग्रामे' रणशिरसि चक्रकुन्तासिशक्तिनाराचाकुले रटत्पटहशङ्खझल्लरीनादगम्भीरे समाकुलाः सन्तः पौरुषं परित्यज्यायशः पटहमङ्गीकृत्य भज्यन्ते, एवमाक्रोशादिशब्दाकर्णनादल्पसत्त्वाः संयमे विषीदन्ति ॥७॥ वधपरीषहमधिकृत्याह

जो पुरुष लघुप्रकृति तथा मूर्ख हैं वे ग्राम नगर या उनके मध्य भाग में रहते हुए पूर्वोक्त निन्दाजनक चोरी जारी आदि शब्दोंको सुनकर उनको सहन करने में असमर्थ होकर उदास होजाते हैं अथवा संयम से भ्रष्ट हो जाते है। जैसे कायर पुरुष, चक्र, कुन्त, तलवार, शक्ति, और बाणों से आकुल तथा बजते हुए नगारा शंख और झल्लरी के नाद से गम्भीर संग्राम में घबराकर पौरुषको छोड़कर अपयशको स्वीकारकर भाग जाते हैं इसी तरह आक्रोश शब्दोको सुनकर अल्पपराक्रमी प्रव्रजित संयम में विषाद करते हैं। ७

अब सूत्रकार वधपरीषह के विषय में कहते हैं—

(मूल) अप्पेगे खुधियं भिक्खुं, सुणी डंसति लूसए ।
तत्थ मंदा विसीयंति, तेउपुट्ठा व पाणिणो ॥ ८ ॥

(छाया) अप्येकः क्षुधितं भिक्षुं सुनिदशति भूषकः
तत्र मंदाः विषीदंति तेजस्पृष्टा इव प्राणिनः ।

(अन्वयार्थ) (अप्पेगे) यदि कोई (लूसए) क्रूर प्राणी कुत्ता आदि (खुधियं) भूखे (भिक्खुं) साधुको (सुणीडंसति) काटने लगता है तो (तत्थ) उस समय (मंदा) मंदमति पुरुष (विसीयंति) इस प्रकार विषाद करते हैं जैसे (तेउपुट्ठा) तेज-अग्नि के द्वारा स्पर्श किया हुआ (पाणिणो) प्राणी घबराता है ।

(भावार्थ) भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए क्षुधित साधुको यदि कोई क्रूर प्राणी कुत्ता आदि काटता है तो उस समय मूर्ख प्रव्रजित इस प्रकार दुःखी होजाते हैं जैसे अग्नि के स्पर्श से प्राणी घबराते हैं ।

(टीका) 'अप्पेगे' इत्यादि, अपिः संभावने एकः कश्चिच्छ्वादिः लूषयतीति लूषकः प्रकृत्यैव क्रूरो भक्षकः ×खुधियंति क्षुधितं- बुभुक्षितं भिक्षामटन्तं भिक्षुं 'दशति' भक्षयति दशनैरङ्गावयवं विलुम्पति, 'तत्र' तस्मिन् श्वादिभक्षणे सति 'मन्दा' अज्ञा अल्पसत्त्वतया 'विषीदन्ति' दैन्यं भजन्ते, यथा 'तेजसा' अग्निना 'स्पृष्टा' दह्यमानाः 'प्राणिनो' जन्तवो वेदनार्त्ताः सन्तो विषीदन्ति- गात्रं संकोचयन्त्यार्तध्यानोपहता भवन्ति, एवं साधुरपि क्रूरसत्त्वैरभिद्रुतः संयमाद् भ्रश्यत इति, दुःसहत्वाद्ग्रामकण्टकानाम् ॥ ८ ॥ पुनरपि तानधिकृत्याह—

(टीकार्थ) यहां 'अपि' शब्द संभावनार्थक है एक यानी कुत्ता आदि जीव जो स्वभाव से ही क्रूर अर्थात् काटनेवाला है वह, क्षुधातुर और भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए साधुको यदि काटता है अर्थात् दांतों से उनके अङ्गोंको विदारण करने लगता है तो उससमय यानी कुत्तेके काटने के समय अल्पपराक्रमी मंदमति प्रव्रजित दीन होजाते हैं । जैसे अग्नि से जलते हुए प्राणी वेदना से आर्त्त होकर विषाद करते हैं और वे अपने अङ्गोंको संकुचित करते हुए आर्त्तध्यान करते हैं उसीतरह साधु भी क्रूर प्राणियों के आक्रमणसे पीडित होकर संयम से भ्रष्ट होजाते हैं क्योंकि ग्राम कंटकोका सहन करना बड़ा कठिन होता है । ८

फिर सूत्रकार ग्रामकंटकों के विषय में कहते हैं

(मूल) अप्पेगे पडिभासंति, पडिपंथियमागता ।
पडियारगता* एते, जे एते एव जीविणो ॥९॥

(छाया) अप्येके प्रतिभाषन्ते प्रातिपथिकतामागताः
प्रतिकारगता एते य एते एवंजीविनः ।

× क्षुधितं प्र० छुिअयं चू० * तदारवेयणिज्ज ते चू०

(अन्वयार्थ) (पडिपंथियमागता) साधुके द्वेषी (अप्पेगे) कोई कोई (पडिभासंति) कहते हैं कि (जे एते) जो ये लोग (एव जीविणो) इस प्रकार-भिक्षावृत्तिसे जीवन धारण करते हैं (एते) ये लोग (पडियारगता) अपने पूर्वकृत पापका फल भोग रहे हैं।

(भावार्थ) साधु के द्रोही पुरुष साधुको देखकर कहते हैं कि भिक्षा मांगकर जीवन निर्वाह करनेवाले ये लोग अपने पूर्वकृत पाप कर्मका फल भोग रहे हैं।

(टीका) अपिः संभावने, 'एके' केचनापुष्टधर्माणः-अपुण्यकर्माणः 'प्रतिभाषन्ते' ब्रुवते, प्रतिपथः-प्रतिकूलत्वं तेन चरन्ति प्रातिपथिकाः-साधुविद्वेषिणस्तद्भावमागताः कथञ्चित्प्रतिपथे वा दृष्टा अनार्या एतद् ब्रुवते, सम्भाव्यत एतदेवंविधानां, तद्यथा-प्रतीकारः-पूर्वाचरितस्य कर्मणोऽनुभवस्तमेके गताः-प्राप्ताः स्वकृतकर्मफलभोगिनो 'य एते' यतयः 'एवंजीविन' इति परगृहाण्यटन्ति अतोऽन्तप्रान्तभोजिनोऽदत्तदाना लुञ्चितशिरसः सर्वभोगवञ्चिता दुःखितं जीवन्तीति॥ ९॥

(टीकार्थ) 'अपि' शब्द सम्भावनार्थक है। कोई कोई पापकर्मवाले पुरुष, जो साधुओं से प्रतिकूल आचरण करते हैं तथा जो किसी कारण वश साधु से द्वेष करते हैं अथवा जो असन्मार्ग में चलनेवाले अनार्य हैं वे यह कहते हैं कि "भिक्षा के लिए दूसरे के मकानो में घूमनेवाले, अन्तप्रान्त भोजी, दिया हुआ ही आहार लेनेवाले शिरका लोच करने वाले, सब भोगों से वञ्चित रहकर दुःखमय जीवन व्यतीत करने वाले जो ये यति (साधु) लोग हैं, ये अपने पूर्वकृत पापकर्मका फल भोग करते हैं" इस प्रकार अनार्य्य पुरुषोका साधु के प्रति कथन संभव है। ९

(मूल) अप्पेगे वइ जुंजंति, नगिणा ×पिंडोलगाहमा
मुंडा कंडूविणट्ठंगा *उज्जल्ला असमाहिता॥ १०॥

(छाया) अप्येके वचो युञ्जन्ति नग्नाः पिण्डोलगा अधमाः
मुंडाः कण्डूविनष्टाङ्गा उज्जल्ला असमाहिताः।

(अन्वयार्थ) (अप्पेगे) कोई कोई (वइ जुंजंति) कहते हैं कि (नगिणा) ये लोग नंगे हैं (पिंडोलगा) परपिंडप्रार्थी है (अहमा) तथा अधम हैं। (मुडा) ये मुण्डित है (कडूविनट्ठंगा) और कंडूरोगसे इनके अङ्ग नष्ट होगए है (उज्जल्ला) ये शुष्क पसीने से युक्त और (असमाहिया) बीभत्स हैं।

× पिंडेसु दीयमानेसु उलेंति अधमा अधमजातय चू० * उज्जाताः नष्टाः चू०

(भावार्थ) कोई पुरुष, जिनकल्पी आदि साधुको देखकर कहते हैं कि " ये नंगे हैं, परपिंडप्रार्थी हैं तथा अधम हैं। ये लोग मुंडित तथा कंडुरोग से नष्ट अंगवाले मल से युक्त और वीभत्स हैं।

(टीका) किञ्च-अप्येके केचन कुसृतिप्रसृता अनार्या वाचं युञ्जन्ति-भाषन्ते, तद्यथा—एते जिनकल्पिकादयो नग्नास्तथा 'पिंडोलग'त्ति परपिण्डप्रार्थका अधमाः-मलाविलत्वात् जुगुप्सिता 'मुण्डा' लुञ्चितशिरसः, तथा-क्वचित्कण्डू-कृतक्षतै रेखाभिर्वा विनष्टाङ्गा-विकृतशरीराः, अप्रतिकर्मशरीरतया वा क्वचिद्रोग-सम्भवे सनत्कुमारवद्विनष्टाङ्गा, स्तथोद्गतो जल्लः-शुष्कप्रस्वेदो येषां ते उज्जल्लाः, तथा 'असमाहिता' अशोभना वीभत्सा दुष्टा वा प्राणिनामसमाधिमुत्पादयन्तीति ॥ १० ॥ साम्प्रतमेतद्भाषकाणां विपाकदर्शनायाह—

(टीकार्थ) कुमार्ग में चलनेवाले कोई अनार्य्य पुरुष कहते हैं कि " ये जिनकल्पी आदि नंगे हैं तथा परपिंडप्रार्थी हैं। ये लोग मल से भरे हुए घृणास्पद हैं तथा लुञ्चितशिर हैं। कहीं कहीं कण्डुरोग के घाव से अथवा उसकी रेखा से इनके अङ्ग नष्ट हो गए हैं। ये विकृत शरीर हैं अथवा अपने शरीरका प्रतिकर्म (स्नान आदि से परिशोधन) नहीं करने से रोगकी उत्पत्ति के द्वारा सनत्कुमारकी तरह अङ्ग नष्ट होना संभव है इस लिए ये लोग नष्ट अङ्गवाले हैं ये लोग शुष्क पसीनों से युक्त हैं तथा ये, वीभत्स दुष्ट और प्राणियों को असमाधि उत्पन्न करते हैं १०

जो लोग साधु के लिए ऐसी बातें कहते हैं उनको इसका जो फल प्राप्त होता है वह दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं—

(मूल) एवं विप्पडिवन्नेगे, अप्पणा उ अजाणया।
तमाओ ते तमं जंति, मंदा मोहेण पाउडा ॥११॥

(छाया) एवं विप्रतिपन्ना एक आत्मनात्वज्ञाः
तमसस्ते तमो यांति मंदाः मोहेन प्रावृताः।

(अन्वयार्थ) (एवं) इस प्रकार (विप्पडिवन्ना) साधु और सन्मार्गके द्रोही (एगे) कोई (अप्पणाउ अजाणया) स्वयं अज्ञ जीव, (मोहेण पाउडा) मोहसे ढके हुए हैं (मंदा) मूर्ख हैं (ते) वे (तमाओ) अज्ञान से निकलकर (तम) फिर अज्ञानमेंही (जंति) जाते हैं।

(भावार्थ) इसप्रकार साधु और सन्मार्ग से द्रोह करनेवाले स्वयं अज्ञानी, जीव मोह से ढके हुए मूर्ख हैं और वे एक अज्ञान से निकलकर दूसरे अज्ञान में प्रवेश करते हैं।

(टीका) 'एवम्' अनन्तरोक्तनीत्या 'एके' अपुण्यकर्माणो 'विप्रतिपन्नाः' साधुसन्मार्गद्वेषिणः 'आत्मना' स्वयमज्ञाः, तुशब्दादन्येषां च विवेकिनां वचनमकुर्वाणाः सन्तस्ते 'तमसः' अज्ञानरूपादुत्कृष्टं तमो 'यान्ति' गच्छन्ति, यदि वा-अधस्तादप्यधस्तनीं गतिं गच्छन्ति, यतो 'मन्दा' ज्ञानावरणीयेनावष्टब्धाः तथा 'मोहेन' मिथ्यादर्शनरूपेण 'प्रावृता' आच्छादिताः सन्तः खिङ्गप्रायाः साधुविद्वेषितया कुमार्गगा भवन्ति, तथा चोक्तम्-"एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकस्तद्वद्भिरेव सह संवसतिर्द्वितीयम् । एतद् द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्धस्तस्यापमार्गचलने खलु कोऽपराधः ? ॥ १ ॥" ॥ ११ ॥ दंशमशकपरीषहमधिकृत्याह-

(टीकार्थ) कोई पापी पुरुष, पूर्वोक्त प्रकार से साधु और सन्मार्ग से द्रोह करते हैं । वे स्वयं अज्ञानी हैं और 'तु' शब्द से वे दूसरे ज्ञानियोंका कहना भी नहीं मानते है वे मूर्ख जीव, अज्ञानरूप अंधकार से निकल कर उस से उत्कृष्ट दूसरे अज्ञानको प्राप्त करते हैं अथवा वे नीची से भी नीची गति में जाते हैं क्यो कि वे ज्ञानावरणीय कर्म से ढँके हुए और मिथ्यादर्शनरूपी मोह से आच्छादित हैं । वे अन्धतुल्य पुरुष साधु से द्वेष करनेके कारण कुमार्गका सेवन करनेवाले है । विद्वानोने कहा है कि " एक नेत्र तो स्वाभाविक निर्मल विवेक है और दूसरा नेत्र विवेकी जन के साथ निवास करना है परन्तु जिसके पास ये दोनो नेत्र नहीं है, वस्तुतः पृथिवीपर वही अन्धा है । वह यदि कुमार्ग में जाय तो उसका दोष क्या है? ११

अब सूत्रकार दंश और मच्छडो के परीषह के विषय में कहते हैं—

(मूल) पुट्ठो य दंसमसएहिं, तणफासमचाइया ।
न मे दिट्ठे परे लोए, जइ परं मरणं सिया ॥ १२ ॥

(छाया) स्पृष्टश्च दंशमशकै-स्तृणस्पर्शमशक्नुवन्तः
न मया दृष्टः परो लोकः, यदि परं मरणं स्यात् ।

(अन्वयार्थ) (दंसमसएहिं) दंश और मच्छरों के द्वारा स्पर्श किया गया, तथा (तणफासमचाइया) तृणस्पर्शको नहीं सह शकता हुआ साधु (यहभी सोच शकता है कि) (मे) मैंने (परे लोए) परलोकको तो (न दिट्ठे) नहीं देखा है (पर) परतु (जइ) कदाचित् (मरण सिया) इस कष्ट से मरण तो संभव ही है ।

(भावार्थ) दंश और मच्छडोंका स्पर्श पाकर तथा तृणकी शय्या के रुक्ष स्पर्शको सहन नहीं करसकता हुआ नवीन साधु यह भी सोचता है कि मैंने परलोकको तो प्रत्यक्ष नहीं देखा है परंतु इस कष्ट से मरण तो प्रत्यक्ष दीखता है ।

(टीका) क्वचित्सिन्धुताम्रलिप्तकोङ्कणादिके देशे अधिका दंशमशका भवन्ति तत्र च कदाचित्साधुः पर्यटंस्तैः 'स्पृष्टश्च' भक्षितः तथा निष्किञ्चनत्वात् तृणेषु शयानस्तत्स्पर्शं सोढुमशक्नुवन् आर्त्तः सन् एवं कदाचिच्चिन्तयेत्, तद्यथा–परलोकार्थमेतद्दुष्करमनुष्ठानं क्रियमाणं घटते, न चासौ मया परलोकः प्रत्यक्षेणोपलब्धः, अप्रत्यक्षत्वात्, नाप्यनुमानादिनोपलभ्यत इति, अतो यदि परं ममानेन क्लेशाभितापेन मरणं स्यात्, नान्यत्फलं किञ्चनेति ॥१२॥ अपिच—

(टीकार्थ) सिंधु, ताम्रलिप्त, और कोंकण आदि देशों में दंश और मच्छड़ बहुत होते हैं। वहां, भ्रमण करता हुआ साधु कदाचित् दंश और मच्छडों से डँसा जाय, और परिग्रह रहित होनेके कारण तृणकी शय्यापर सोया हुआ वह तृण के रूक्ष स्पर्श को नहीं सह सकता हुआ आर्त्त होकर कदाचित् यहभी सोच सकता है कि यह जो मैं दुष्कर अनुष्ठान करता हूँ यह, परलोक होने पर ही उचित कहा जा सकता है परंतु मैंने परलोकको प्रत्यक्ष नहीं देखा है क्योंकि वह प्रत्यक्ष नहीं है। तथा अनुमान आदि से भी परलोककी उपलब्धि नहीं होती है। ऐसी दशा में यदि मेरा इस कष्ट से मरण होजाय तो वही इसका फल होगा इसके सिवाय दूसरा कोई फल नहीं है। १२ और भी—

(मूल) संतत्ता केसलोएणं, बंभचेरपराइया।
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा विद्धा व ×केयणे ॥१३॥

(छाया) संतप्ताः केशलुञ्चनेन, ब्रह्मचर्य्यपराजिताः
तत्र मंदाः विषीदन्ति मत्स्याः विद्धा इव केतने।

(अन्वयार्थ) (केसलोएण) केशलुञ्चन से (संतत्ता) पीडित (बंभचेरपराइया) और ब्रह्मचर्य्य से पराजित (मंदा) मूर्ख जीव, (केतने) जाल में (विद्धा) फँसी हुई (मच्छा व) मच्छलीकी तरह (विसीयंति) क्लेश अनुभव करते है।

(भावार्थ) केशलोच से पीडित और ब्रह्मचर्य पालन में असमर्थ पुरुष प्रव्रज्या लेकर इस प्रकार क्लेश पाते हैं जैसे जाल में फँसी हुई मच्छली दुःख भोगती है।

(टीका) समन्तात् तप्ताः सन्तप्ताः केशानां 'लोच' उत्पाटनं तेन, तथाहि–सरुधिरकेशोत्पाटने हि महती पीडोपपद्यते, तया चाल्पसत्त्वाः विस्रोतसिकां

× कडवल्लसंठिआ मच्छा पाणीए पडिनियत्ते ओयारिज्जंति मुणी एमादि

भजन्ते, तथा 'ब्रह्मचर्यं' वस्तिनिरोधस्तेन च 'पराजिताः' पराभग्नाः सन्तः 'तत्र' तस्मिन् केशोत्पाटनेऽतिदुर्जयकामोद्रेके वा सति 'मन्दा' जडा–लघुप्रकृतयो विषीदन्ति संयमानुष्ठानं प्रति शीतलीभवन्ति, सर्वथा संयमाद् वा भ्रश्यन्ति, यथा मत्स्याः 'केतने' मत्स्यबन्धने प्रविष्टा निर्गतिकाः सन्तो जीविताद् भ्रश्यन्ति, एवं तेऽपि वराकाः सर्वंकषकामपराजिताः संयमजीवितात् भ्रश्यन्ति ॥ १२ ॥

(टीकार्थ) केशोंको उखाडना, 'केशलोच' कहलाता है। रक्त के साथ केशको उखाडने से बडी भारी पीडा उत्पन्न होती है इसलिए कोई अल्पपराक्रमी जीव, केशलोच से पीडित होकर दीनताको प्राप्त होते हैं। वस्तिस्थानको रोकना ब्रह्मचर्य कहलाता हैं उस से पराजित लघुप्रकृतिवाला मूर्ख पुरुष जब केश के उखाडनेका समय आता है तथा जब अति दुर्जय कामका वेग उभड़ता है तब संयमके अनुष्ठान में शीतल हो जाते हैं। अथवा वे सर्वथा संयमसे भ्रष्ट होजाते है। जैसे जालमें पडी हुई मच्छली उसमें से निकलनेका मार्ग न पाकर उसी मरजाती है इसीतरह वे बिचारे सर्वविजयी काम से पराजित होकर संयमजीवन से भ्रष्ट हो जाते हैं। १२ औरभी

(मूल) आयदंडसमायारे, मिच्छासंठियभावणा।
हरिसप्पओसमावन्ना, केई लूसंतिऽनारिया ॥१४॥

(छाया) आत्मदंडसमाचाराः मिथ्यासंस्थितभावनाः
हर्षप्रद्वेषमापन्नाः केऽपि लूषयंत्यनार्य्याः।

(अन्वयार्थ) (आयदंडसमायारे) जिससे आत्मा कल्याण से भ्रष्ट होजाता है ऐसा आचार करनेवाले (मिच्छासंठियभावना) जिनकी चित्तवृत्ति, विपरीत है (हरिसप्पओसमावन्ना) तथा जो राग और द्वेषसे युक्त हैं एसे (केई) कोई (अनारिया) अनार्य्य पुरुष (लूसन्ति) साधुको पीडा देते हैं।

(भावार्थ) जिससे आत्मा दण्डका भागी होता है ऐसा आचार करनेवाले, तथा जिनकी चित्तवृत्ति विपरीत है और जो राग तथा द्वेष से युक्त हैं ऐसे कोइ अनार्य्य पुरुष, साधुको पीडा देते हैं।

(टीका) किञ्च–आत्मा दण्ड्यते–खण्ड्यते हितात् भ्रश्यते येन स आत्मदण्डः 'समाचारः' अनुष्ठानं येषामनार्याणां ते तथा, तथा मिथ्या-विपरीता संस्थिता-स्वाग्रहारूढा भावना–अन्तःकरणवृत्तिर्येषां ते मिथ्यासंस्थितभावना-मिथ्यात्वोपहतदृष्टय

इत्यर्थः, हर्षश्च प्रद्वेषश्च हर्षप्रद्वेषं तदापन्ना रागद्वेषसमाकुला इति यावत्, त एवम्भूता अनार्याः सदाचारं साधुं क्रीडया प्रद्वेषेण वा क्रूरकर्मकारित्वात् 'लूषयन्ति' कदर्थयन्ति दण्डादिभिर्वाग्भिर्वेति ॥ १४ ॥ एतदेव दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) जिससे आत्मा दण्डका भागी वनता है अर्थात् वह अपने कल्याण से भ्रष्ट होजाता है उस आचारको " आत्मदण्ड " कहते हैं। एसा अनुष्ठान करनेवाले अनार्य्य पुरुष " आत्मदण्डसमाचार " कहलाते हैं। तथा जिनकी चित्तवृत्ति विपरीत है अर्थात् अपने असत् आग्रह में है वे मिथ्यादृष्टि पुरुष 'मिथ्यासंस्थितभावना' कहलाते हैं। एवं जो हर्ष और द्वेष से युक्त हैं अर्थात् जो रागद्वेष से भरे हुए हैं ऐसे अनार्य्य पुरुष, अपने चित्तका विनोद के लिए अथवा द्वेषवश अथवा क्रूर कर्म करनेवाले होनेके कारण लाठी आदि के प्रहार द्वारा अथवा गाली आदि देकर सदाचारी साधुको पीडित किया करते हैं। १४

इसी वातको दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं।

(मूल) अप्पेगे पलियंतेसिं, ※चारो चोरोत्ति सुव्वयं।
वंधंति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहि य ॥ १५ ॥

(छाया) अप्येके पर्य्यते चोरश्चौर इति सुव्रतम्
बध्नन्ति भिक्षुकं बालाः कषायवचनैश्च।

(अन्वयार्थ) (अप्पेगे) कई (बाला) अज्ञानी पुरुष, (पलियंतेसिं) अनार्य्यदेशके आसपास विचरते हुए (सुव्वयं) सुव्रत (भिक्खुयं) साधुको (चारो चोरोत्ति) यह खुफिया है या चोर है ऐसा कहते हुए (बंधंति) रस्सी आदिसे बाँधते हैं और (कसायवयणेहिय) और कटु वचन कहकर साधुको पीडित करते हैं।

(भावार्थ) कोई अज्ञानी पुरुष, अनार्य्य देशके आसपास विचरते हुए सुव्रत साधुको "यह चोर अथवा खुफिया है" ऐसा कहते हुए रस्सी आदि से बाँध देते हैं और कटु वचन कहकर उनको पीडित करते हैं।

(टीका) अपिः संभावने, एके अनार्या आत्मदण्डसमाचारा मिथ्यात्वोपहतबुद्धयो रागद्वेषपरिगताः साधुं 'पलियंतेसिं'ति अनार्यदेशपर्यन्ते वर्तमानं 'चारो' त्ति चारोऽयं 'चौरः' अयं स्तेन इत्येवं मत्वा सुव्रतं कदर्थयन्ति, तथाहि—'बध्नन्ति'

※ येषां परस्परविरोधः

रज्ज्वादिना संयमयन्ति 'भिक्षुकं' भिक्षणशीलं 'वाला' अज्ञाः सदसद्विवेकविकलाः तथा 'कषायवचनैश्च' क्रोधप्रधानकटुकवचनैर्निर्भर्त्सयन्तीति ॥ १५ ॥

(टीकार्थ) 'अपि' शब्द संभावनार्थक है । अर्थात् ऐसा होना भी संभव है इस बातको बताने के लिए आया है । जिस से आत्मा, परलोक में दण्डका भागी बनता है ऐसा आचार करनेवाले, मिथ्यात्व से जिनकी बुद्धि नष्ट होगई है ऐसे कोई रागद्वेषवशीभूत अनार्य्यपुरुष, अनार्य्य देशके आसपास विचरते हुए साधुको देखकर " यह चोर है " अथवा खुफिया है ऐसा मानकर पीडा देते हैं । वे रस्सी आदि से बाँधकर साधुको दुःखित करते हैं तथा सत् और असत् के विवेक से वर्जित वे अज्ञानी क्रोधभरे कटु वचनों से साधुको धमकाते हैं । १५ और भी

(मूल) तत्थ दंडेण+ संवीते, मुट्ठिणा अदु *फलेण वा ।
नातीणं सरती वाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ॥१६॥

(छाया) तत्र दंडेन संवीतो मुष्टिनाऽथवा फलेन वा ।
ज्ञातीनां स्मरति वालः स्त्रीवत्क्रुद्धगामिनी ।

(अन्वयार्थ) (तत्थ) वहां (दंडेण) लाठी (मुट्ठिणा) मुक्का (अदु) अथवा (फलेण) फलके द्वारा (संवीते) ताडित किया हुआ (वाले) अज्ञानी पुरुष (कुद्धगामिणी) क्रोधित होकर घरसे निकलकर भागनेवाली (इत्थीव) स्त्री की तरह (नातीणं) अपने स्वजनवर्गको (सरति) स्मरण करता है ।

(भावार्थ) उस अनार्य देशके आसपास विचरता हुआ साधु जब अनार्य्य पुरुषों के द्वारा लाठी मुक्का अथवा फल के द्वारा पीटा जाता है तब वह अपने बन्धु बान्धवोंको उसी प्रकार स्मरण करता है जैसे क्रोधित होकर घरसे निकलकर भागती हुई स्त्री अपने ज्ञातिवर्गको स्मरण करती है

(टीका) अपि च—'तत्र' तस्मिन्ननार्यदेशपर्यन्ते वर्त्तमानः साधुरनार्यैः 'दण्डेन' यष्टिना मुष्टिना वा 'संवीतः' प्रहतोऽथवा 'फलेन वा' मातुलिङ्गादिना खड्गादिना वा स साधुरेवं तैः कदर्थ्यमानः कश्चिदपरिणतः 'वालः' अज्ञो 'ज्ञातीनां' स्वजनानां स्मरति, तद्यथा—यद्यत्र मम कश्चित् सम्बन्धी स्यात् नाहमेवम्भूतां कदर्थनामवाप्नुयामिति, दृष्टान्तमाह—यथा स्त्री क्रुद्धा सती स्वगृहात् गमनशीला

चू० × खीलो दंटपहारो वा *' चवेडा

निराश्रया मांसपेशीव सर्वस्पृहणीया तस्करादिभिरभिद्रुता सती जातपश्चात्तापा ज्ञातीनां स्मरति एवमसावपीति ॥ १६ ॥

(टीकार्थ) उस अनार्य्य देशके आसपास विचरते हुए साधुको जब अनार्य्य पुरुष लाठी मुक्का मातुलिंग आदि फल तथा तलवार आदि से मारने लगते हैं तब पीडाको अनुभव करता हुआ वह कच्चा अज्ञानी साधु अपने सम्बंधियोंको स्मरण करता है वह सोचता है कि "यदि मेरा कोई सम्बन्धी यहां विद्यमान होता तो एसी दुर्दशा मेरी नहीं होती" इस विषय में दृष्टांत कहते हैं। जैसे स्त्री, क्रोधित होकर अपने घर से निकलकर भागने लगती है तब वह मांस की तरह सब लोगों के लोभका पात्र होने से चोर जार आदि के द्वारा पीछा की जाती है। उससमय वह जैसे पश्चात्ताप करती हुई अपने ज्ञातिवर्गको स्मरण करती है उसी तरह उक्त अज्ञानीभी ज्ञातिवर्गको स्मरण करता है। १६

अब सूत्रकार इस उद्देशकका उपसंहार करते हुए कहते है—

(मूल) एते भो कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया।
हत्थी वा सरसंवित्ता, कीवा वसगया गिहं ॥१७॥ तिबेमि॥

(छाया) एते भोः! कृत्स्नाः स्पर्शाः परुषाः दुरधिसह्याः
हस्तिन इव शरसंवीताः क्लीबा अवशाः गताः गृहम्। इति ब्रवीमि।

(अन्वयार्थ) (भो) हे शिष्यों! (एते) पूर्वोक्त ये (कसिणा) समस्त (फासा) स्पर्श (फरुसा) परुष हैं (दुरहियासिया) और दुःसह हैं (सरसंवीता) बाणोंसे पीडित हाथीकी तरह (कीवा) नपुंसक पुरुष (अवसा) घबराकर (गिहं गया) फिर घर को चले जाते हैं (त्तिबेमि) यह मैं कहता हूं।

(भावार्थ) हे शिष्यों! पूर्वोक्त उपसर्ग सभी असह्य और दुःखदायी हैं उनसे पीडित होकर कायर पुरुष फिर गृहवासको ग्रहण करलेते हैं। जैसे बाण से पीडित हाथी संग्रामको छोड़कर भाग जाता है इसी तरह गुरुकर्मी जीव संयमको छोड़कर भाग जाते हैं।

(टीका) उपसंहारार्थमाह—भो इति शिष्यामन्त्रणं, य एत आदितः प्रभृति दंश-मशकादयः पीडोत्पादकत्वेन परीषहा एवोपसर्गा अभिहिता 'कृत्स्नाः' संपूर्णा बाहुल्येन स्पृश्यन्ते—स्पर्शेन्द्रियेणानुभूयन्त इति स्पर्शाः, कथम्भूताः?—'परुषाः' परुषैरनार्यैः कृतत्वात् पीडाकारिणः, ते चाल्पसत्त्वैर्दुःखेनाधिसह्यन्ते तांश्चासहमाना लघुप्रकृतयः केचनाश्लाघामङ्गीकृत्य हस्तिन इव रणशिरसि 'शरजालसंवीताः'

शरशताकुलाX भङ्गमुपयान्ति एवं 'क्लीवा' असमर्था 'अवशाः' परवशाः कर्मायत्ता गुरुकर्माणः पुनरपि गृहमेव गताः, पाठान्तरं वा 'तिव्वसड्ढे'त्ति तीव्रैरुपसर्गैरभिद्रुताः 'शठाः' शठानुष्ठानाः संयमं परित्यज्य गृहं गताः इति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ १७ ॥ उपसर्गपरिज्ञायाः प्रथमोद्देशक इति—

(टीकार्थ) 'भो' शब्द शिष्यों के संबोधन में आया है। जो ये आदिसे लेकर दंश मशक आदि पीडाकारी उपसर्ग कहे गए हैं वे सभी स्पर्शेन्द्रियके द्वारा अनुभव किए जाते हैं इस लिए 'स्पर्श' कहलाते हैं। वे सभी परीषह अनार्य्य पुरुषोंके द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं और वे पीडाकारी तथा अल्पपराक्रमी जीवों से असहनीय होते हैं। कोई लघुप्रकृति पुरुष, अपनी प्रशंसा करते हुए पहले तो संयम ग्रहण कर लेते हैं परन्तु पश्चात् युद्ध भूमि में बाणोंके प्रहार से पीडित हाथी जैसे वहां से भाग जाता है इसी तरह वे पुरुष भी पूर्वोक्त परीषहों के सहन में असमर्थ होकर फिर गृहवास में प्रवृत्त होजाते हैं। वस्तुतः वे पुरुष गुरुकर्मी हैं। कहीं कहीं " तिव्वसड्ढे " यह पाठ मिलता है। इसका अर्थ यह है कि तीव्र उपसर्गों से पीडित तथा असत् अनुष्ठान करनेवाले शठ पुरुषोंने संयमको छोड़कर फिर घरको प्रस्थान किया है यह मैं कहता हूँ। १७ उपसर्गपरिज्ञाध्ययनका प्रथम उद्देशक समाप्त हुआ।

॥ इति तृतीयाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥ (गाथाग्रं० १९१)



॥ अथ तृतीयाध्ययनस्य द्वितीयोद्देशकः प्रारभ्यते ॥

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते-अस्य चायमभिसम्बन्धः इहोपसर्गपरिज्ञाध्ययने उपसर्गाः प्रतिपिपादयिपिताः ते चानुकूलाः प्रतिकूलाश्च, तत्र प्रथमोद्देशके प्रतिकूलाः प्रतिपादिताः, इह त्वनुकूलाः प्रतिपाद्यन्त इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्याऽऽदिसूत्रम्—

प्रथम उद्देशक कहाजाचुका, अब दूसरा आरम्भ किया जाता है। इस दूसरे उद्देशक का प्रथम उद्देशक के साथ संबन्ध यह है—यह तीसरा अध्ययन उपसर्गपरिज्ञाऽध्ययन है। इसमें उपसर्गोंका स्वरूप बताना इष्ट है। उपसर्ग द्विविध हैं, प्रतिकूल और अनुकूल। प्रतिकूल उपसर्ग प्रथम उद्देशक में कहे जाचुके हैं अतः शेष रहे हुए अनुकूल उपसर्ग इस उद्देशक में बताए जाते हैं। इस दूसरे उद्देशककी उत्पत्तिका यही सम्बन्ध है इसका प्रथम सूत्र यह है—

X ०कुलाङ्गा' प्र०

(मूल) अहिमे सुहुमा संगा, भिक्खुणं जे दुरुत्तरा ।
जत्थ एगे विसीयंति, ण चयंति जवित्तए ॥ १ ॥

(छाया) अथेमे सूक्ष्माः सङ्गाः भिक्षूणां ये दुरुत्तराः
तत्रैके विषीदंति न शक्नुवन्ति यापयितुम् ।

(अन्वयार्थ) (अह) इसके पश्चात् (इमे) ये (सुहुमा) सूक्ष्म-बाहर नहीं दीखनेवाले (संगा) बांधव आदि के साथ संबन्ध रूप उपसर्ग होते हैं (जो) जो (भिक्खुणं) साधुओं के द्वारा (दुस्तरा) दुस्तर हैं । (एगे) कई पुरुष (तत्थ) उस संवन्धरूप उपसर्गमें (विसीयंति) विगडजाते हैं (जवित्तए) वे संयमपूर्वक अपना निर्वाह करनेमें (न चयंति) समर्थ नहीं होते हैं ।

(भावार्थ) प्रतिकूल उपसर्ग कहने के पश्चात अब अनुकूल उपसर्ग कहे जाते हैं । ये अनुकूल उपसर्ग वडे सूक्ष्म होते हैं । साधु पुरुष, वडी कठिनाई के साथ इन उपसर्गोंको पार कर पाते हैं । परंतु कई पुरुष इन उपसर्गों के कारण विगड जाते हैं वे संयम जीवनको निर्वाह करने में समर्थ नहीं होते हैं ।

(टीका) 'अथ' इति आनन्तर्ये, प्रतिकूलोपसर्गानन्तरमनुकूलाः प्रतिपाद्यन्त इत्यानन्तर्यार्थः ते 'इमे' अनन्तरमेवाभिधीयमानाः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिदमाऽभि धीयन्ते, ते च 'सूक्ष्माः' प्रायश्चेतोविकारकारित्वेनान्तराः, न प्रतिकूलोपसर्गा इव बाहुल्येन शरीरविकारकारित्वेन प्रकटतया बादरा इति, 'सङ्गा' मातापित्रादिसम्बन्धाः य* एते 'भिक्षूणां' साधूनामपि 'दुरुत्तरा' दुर्लङ्घ्या-दुरतिक्रमणीया इति, प्रायो जीवितविघ्नकरैरपि प्रतिकूलोपसर्गै रुदीर्णैर्माध्यस्थ्यमवलम्बयितुं महापुरुषैः शक्यम्, एतेत्वनुकूलोपसर्गास्तानप्युपायेन धर्माच्च्यावयन्ति, ततोऽमी दुरुत्तरा इति, 'यत्र' येषूपसर्गेषु सत्सु 'एके' अल्पसत्त्वाः सदनुष्ठानं प्रति 'विषीदन्ति' शीतलविहारित्वं भजन्ते सर्वथा वा-संयमं त्यजन्ति, नैवात्मानं संयमानुष्ठानेन 'यापयितुं'-वर्तयितुं तस्मिन् वा व्यवस्थापयितुं 'शक्नुवन्ति' समर्था भवन्तीति ॥१॥

(टीकार्थ) इस गाथा में 'अथ' शब्द अनन्तर अर्थको बताने के लिए आया है । प्रतिकूल उपसर्ग कहने के पश्चात् " अब अनुकूल उपसर्ग कहे जाते हैं " यह बताना इसका प्रयोजन है । यहां, प्रत्यक्ष और निकटवर्ती वस्तुका वाचक 'इमे' इदम् शब्द से उन अनुकूल उपसर्गोंका ही ग्रहण किया गया है । जो इसके आगेही बताए जानेवाले हैं । बन्धु बांधवोंका स्नेहरूप उपसर्ग बाह्य शरीरको नहीं, किंतु चित्तको विकृत करनेवाला है इस लिए यह सूक्ष्म

* यतः प्र०

यानी आन्तरिक है जैसे प्रतिकूल उपसर्ग, प्रकट रूपसे वाह्य शरीरको विकृत करते हैं इस प्रकार यह उपसर्ग वाह्य शरीरको विकृत नहीं करता है इस लिए यह स्थूल नहीं है। यहां 'सङ्ग' पद माता पिता आदि संवन्धियो के सम्बन्धका वोधक है। माता पिता आदि सम्बन्धियोका संवन्ध, प्रायः साधु पुरुषों के द्वारा भी दुर्लंघ्य होता है। जीवनको संकट में स्थापित करनेवाले प्रतिकूल उपसर्गों के आनेपर महापुरुष, मध्यस्थ वृत्ति धारण कर सकते है परंतु अनुकूल उपसर्ग आनेपर मध्यस्थ वृत्ति धारण करना कठिन है। अनुकूल उपसर्ग महापुरुषोंको भी उपाय के वल से धर्मभ्रष्ट करदेते हैं अत एव शास्त्रकारने अनुकूल उपसर्गोंको दुस्तर यानी दुर्लंघ्य कहा है। जव अनुकूल उपसर्ग आता है तव अल्पपराक्रमी जीव शीतलविहारी यानी संयम पालन में ढीले होजाते हैं अथवा सर्वथा संयमको छोड़ देते हैं वे संयम के साथ अपना जीवन-निर्वाह करने में समर्थ नहीं होते हैं। १

(मूल) अप्पेगे नायओ दिस्स, रोयंति परिवारिया।
पोस णे ताय! पुट्ठोऽसि, कस्स ताय! जहासि णे?॥२॥

(छाया) अप्येके ज्ञातयो दृष्ट्वा रुदन्ति परिवार्य्य
पोषय नस्तात! पोपितोऽसि कस्य तात! जहासि नः।

(अन्वयार्थ) (अप्पेगे) कोई (नायओ) ज्ञातिवाले (दिस्स) साधुको देखकर (परिवारिया) उसे घेरकर (रोयति) रोते हैं। (ताय!) वे कहते हैं कि हे तात! (णे पोस) तूम हमारा पालन करो (पुट्ठोसि) हमने तुम्हारा पालन किया है। (ताय!) हे तात! (कस्स) किस लिए तू (णे) हमको (जहासि) छोडता है?

(भावार्थ) साधु के परिवारवाले, साधुको देखकर उसे घेरकर रोने लगते है और कहते हैं कि हे तात! तूं किस लिए हमें छोड़ता है? हमने लडकपनसे तुम्हारा पालन किया है इस लिए अव तू हमारा पालन कर।

(टीका) तानेव सूक्ष्मसङ्गान् दर्शयितुमाह-'अपि:' संभावने 'एके' तथाविधा 'ज्ञातयः' स्वजना मातापित्रादयः प्रव्रजन्तं प्रव्रजितं वा 'दृष्ट्वा' उपलभ्य 'परिवार्य' वेष्टयित्वा रुदन्ति रुदन्तो वदन्ति च दीनं यथा-बाल्यात् प्रभृति त्वमस्माभिः पोपितो वृद्धानां पालको भविष्यतीति कृत्वा, ततोऽधुना 'नः' अस्मानपि त्वं 'तात!' पुत्र 'पोषय' पालय, कस्य कृते-केन कारणेन कस्य वा बलेन तातास्मान् त्यजसि? नास्माकं भवन्तमन्तरेण कश्चित्राता विद्यत इति॥ २॥ किञ्च—

(टीकार्थ) अब सूत्रकार उन सूक्ष्म संबंधोंको बताने के लिए कहते हैं।

'अपि' शब्द संभावना अर्थ में आया है अर्थात् जो बात इस गाथा में कही है वह संभव है इस अर्थको 'अपि' शब्द बताता है। माता पिता तथा उसके समान दूसरे स्वजनवग दीक्षा ग्रहण करते हुए अथवा दीक्षा ग्रहण किए हुए साधुको देखकर उसे घेर कर रोने लगते हैं और दीनता के साथ कहते हैं कि हे पुत्र! हमने लड़कपन से तुम्हारा पालन इस लिए किया है कि " वृद्धावस्था में तू हमारी सेवा करेगा " अतः अब तू हमारा पालन करो। तू किस कारण से अथवा किसके बल से हमें छोड़ रहा है? हे पुत्र! तुम्हारे सिवाय दूसरा मेरा रक्षक नहीं हैं। औरभी

(मूल) पिया ते थेरओ तात!, ससा ते खुड्डिया इमा।
भायरो ते ×सगा तात!, सोयरा किं जहासि णे? ॥३॥

(छाया) पिता ते स्थविरस्तात! स्वसा ते क्षुल्लिकेयम्
भ्रातरस्ते स्वकास्तात! सोदराः किं जहासि नः।

(अन्वयार्थ) (हे तात!) हे पुत्र! (ते पिया) तुम्हारे पिता (थेरओ) वृद्ध हैं (इमा) और यह (ते ससा) तुम्हारी बहिन (खुड्डिया) छोटी है। (तात!) हे तात! (ते सगा) ये तुम्हारे अपने (सोयरा) सहोदर (भायरो) भाई हैं (णे किं जहासि) तू हमें क्यों छोड रहा है?।

(भावार्थ) परिवारवाले साधुको कहते हैं कि हे तात! यह तुम्हारे पिता वृद्ध हैं और यह तुम्हारी बहिन, अभी बची है तथा ये तुम्हारे अपने सहोदर भाई हैं तूँ क्यों हमें छोड़ रहा है?

(टीका) हे 'तात!' पुत्र! पिता 'ते' तव 'स्थविरो' वृद्धः ❀शतातीकः 'स्वसा' च भगिनी तव 'क्षुल्लिका' लघ्वी अप्राप्तयौवना 'इमा' पुरोवर्त्तिनी प्रत्यक्षेति, तथा भ्रातरः 'ते' तव स्वका' निजास्तात! 'सोदरा' एकोदराः किमित्यस्मान् परित्यजसीति ॥ ३ ॥

(टीकार्थ) हे तात! हे पुत्र! तुम्हारे पिता सौ वर्षसे भी अधिक अवस्थावाले वृद्ध हैं और तुम्हारी यह बहिन भी अभी युवावस्थाको प्राप्त नहीं है किंतु छोटी है। देखो यह तुम्हारे आगे प्रत्यक्ष खडी है। तुम्हारे अपने भाई भी सहोदर हैं फिर तू हमें क्यों छोड़ रहा है?

× सवा—वयणनिद्दसे चिट्ठंति चू० ❀ वर्षशतमानः

(मूल) मायरं पियरं पोस, एवं लोगो भविस्सति ।
एवं खु लोइयं ताय!, जे पालंति य मायरं ॥ ४ ॥

(छाया) मातरं पितरं पोषय, एवं लोको भविष्यति
एवं खलु लौकिकं तात! ये पालयन्ति च मातरम् ।

(अन्वयार्थ) (तात!) हे तात! (मायरं पियरं) माता और पिताका (पोस) पोषण करो (एवं) माता पिता के पोषण करनेसे ही (लोगो) परलोक (भविस्सति) होगा। (ताय!) हे तात! (एवं) यही (खु) निश्चय (लोइयं) लोकाचार है कि (मायरं) माताको (पालयंति) लोग पालन करते हैं

(भावार्थ) हे पुत्र! अपने मातापिता का पालन करो मातापिता के पालन करनेसे ही तुम्हारा परलोक बनेगा। जगतका यही आचार है और इसी लिए लोग अपने माता पिताका पालन करते हैं।

(टीका) तथा 'मायरमि'त्यादि, 'मातरं' जननीं तथा पितरं' जनयितारं 'पुषाण' बिभृहि, एवं च कृते तवेहलोकः परलोकश्च भविष्यति, तातेदमेव 'लौकिकं' लोकाचीर्णम्, अयमेव लौकिकः पन्था यदुत-वृद्धयोर्मातापित्रोः प्रतिपालनमिति, तथा चोक्तम्-"गुरवो यत्र पूज्यन्ते, यत्र धान्यं सुसंस्कृतम्। अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र! वसाम्यहम् ॥ १ ॥" इति ॥ ४ ॥ अपि च—

(टीकार्थ) हे पुत्र! तूं अपनी माता और पिताका पालन करो। माता पिताके पालन करनेसे ही तुम्हारा यह लोक सुधरेगा। हे तात! अपने वृद्ध माता पिताका पालन करनाही लोक प्रसिद्ध मार्ग है। अत एव कहा है "गुरवो यत्र पूज्यन्ते" अर्थात् जहां गुरु जनोंकी पूजा होती है और अन्न पवित्रता के साथ बनाया जाता है तथा जहां वाक्कलह नहीं होता है, हे इन्द्र! मैं वहीं निवास करता हूं। ४ औरभी

(मूल) ×उत्तरा महुरुल्लावा, पुत्ता ते तात! खुड्डया ।
भारिया ते णवा तात!, मा सा अन्नं जणं गमे ॥५॥

(छाया) उत्तराः मधुरालापाः पुत्रास्ते तात! क्षुद्रकाः
भार्या ते नवा तात! मा साऽन्यं जनं गच्छेत् ।

× उत्तमा चू०

(अन्वयार्थ) (तात !) हे तात ! (ते पुत्ता) तुम्हारे पुत्र, (उत्तरा) उत्तरोत्तर जन्मे हुए (महुरुल्लावा) मधुर भाषी (खुड्डया) और छोटे हैं । (तात!) हे तात! (ते भारिया) तुम्हारी पत्नी (णवा) नवयौवना है (सा) वह (अन्नं) दूसरे (जणं) जन के पास (मा गमे) न चली जाय ।

(भावार्थ) हे तात! एक एक कर के आगे पीछे जन्मे हुए तुम्हारे लड़के मधुरभाषी और अभी छोटे हैं । तुम्हारी स्त्री भी नवयौवना है वह किसी दूसरे के पास न चली जाय ।

(टीका) 'उत्तराः' प्रधानाः उत्तरोत्तरजाता वा मधुरो-मनोज्ञ उल्लापः- आलापो येषां ते तथाविधाः पुत्राः 'ते' तव 'तात' पुत्र ! 'क्षुल्लका' लघवः तथा 'भार्या' पत्नी ते 'नवा' प्रत्यग्रयौवना अभिनवोढा वा मा असौ त्वया परित्यक्ता सती अन्यं जनं गच्छेत्-उन्मार्गयायिनी स्याद्, अयं च महान् जनापवाद इति॥

(टीकार्थ) हे तात! तुम्हारे पुत्र बहुत उत्तम हैं अथवा एक एक कर के उत्पन्न हुए तुम्हारे पुत्र मधुरभाषी और अभी बच्चे हैं । हे तात! तुम्हारी स्त्री भी नवयौवना है, वह तुम्हारे द्वारा छोडी हुई यदि दूसरे पुरुष के पास चली जाय अर्थात् उन्मार्गगामिनी होजाय तो महान् लोकापवाद होगा ५

(मूल) एहि ताय! घरं जामो, मा य कम्मे सहा वयं ।
बितियंपि ताय! पासामो, जामु ताव सयं गिहं ॥ ६ ॥

(छाया) एहि तात! गृहं यामो मा त्वं कर्मसहा वयम्
द्वितीयमपि तात ! पश्यामो यामस्तावत्स्वकं गृहम् ।

(अन्वयार्थ) (ताय) हे तात! (एहि) आवो (घरं जामो) घर चलें (मा य) अब तू कोई काम मत करना (वयं कम्मे सहा) हम लोग तुम्हारा सब करम करेंगे । (ताय) हे तात! (बितियंपि) अब दूसरीवार (पासामो) तुम्हारा काम हम देखेंगे (ताव सयं गिहं यामु) अतः चलो हमलोग अपने घर चलें ।

(भावार्थ) हे तात! आवो घरको चलें । अबसे तू कोई काम मत करना हमलोग तुम्हारा सब काम करदिया करेंगे । एक वार काम से घबरा कर तू भाग आया है परंतु अब दूसरी वार हम लोग तुम्हारा सब काम करदेंगे आवो हम अपने घर चलें ।

(टीका) अपि च जानीमो वयं यथा त्वं कर्मभीरुस्तथापि 'एहि' आगच्छ गृहं 'यामो' गच्छामः । मा त्वं किमपि साम्प्रतं कर्म कृथाः, अपि तु तत्र कर्मण्युपस्थिते

वयं सहायका भविष्यामः-साहाय्यं करिष्यामः। एकवारं तावद्गृहकर्मभिर्भग्नस्त्वं तात! पुनरपि द्वितीयं वारं 'पश्यामो' द्रक्ष्यामो यदस्माभिः सहायैर्भवतो भविष्यतीत्यतो 'यामो' गच्छामः तावत् स्वकं गृहं कुर्वेतदस्मद्वचनमिति॥६॥ किञ्च—

(टीकार्थ) परिवारवाले कहते हैं कि हे तात! यह हम जानते हैं कि "तू घरके काम काज से डरता है" तोभी आवो हम घर चलें। अबसे तू कोई काम मत करना, किंतु काम उपस्थित होनेपर हमलोग सहायता करेंगे। हे तात! एकवार घरके कार्य्य से तू घबरा गया था परंतु अब चलकर देखो कि हमलोग तुम्हारी सहायता किस प्रकार करते हैं। अतः हे तात! हमारा कहना मानो चलो हम अपने घर चलें। ६

(मूल) गंतुं ताय! पुणो गच्छे, ण तेणासमणो सिया।
अकामगं परिक्कम्मं, को ते वारेउमरिहति?॥ ७॥

(छाया) गत्वा तात! पुनरागच्छेर्नतेनाश्रमणः स्याः।
अकामकं पराक्रमन्तं कस्त्वां वारयितुमर्हति

(अन्वयार्थ) (हे ताय!) हे तात! (गंतुं) एकवार घर जाकर (पुणो) फिर (गच्छे) आजाना। (तेण) इस से (ण असमणो सिया) तू अश्रमण नहीं होसकता। (अकामगं) घरके कामकाज में इच्छा रहित होकर (परिक्कम्मं) अपनी इच्छानुसार कार्य्य करते हुए (ते) तुमको (को) कौन (वरेउमरिहति) वारण कर सकता है?।

(भावार्थ) हे तात! एकवार घर चलकर फिर आजाना ऐसा करनेसे तू अश्रमण नहीं होसकता है। घरके कार्य्य में इच्छा रहित तथा अपनी रुचिके अनुसार कार्य्य करते हुए तुमको कौन निषेध करसकता है।

(टीका) 'तात' पुत्र! गत्वा गृहं स्वजनवर्गं दृष्ट्वा पुनरागन्ताऽसि, नच 'तेन' एतावता गृहगमनमात्रेण त्वमश्रमणो भविष्यसि, 'अकामगं'ति अनिच्छन्तं गृहव्यापारेच्छारहितं 'पराक्रमन्तं' स्वाभिप्रेतानुष्ठानं कुर्वाणं कः 'त्वां' भवन्तं 'वारयितुं' निषेधयितुम् 'अर्हति' योग्यो भवति, यदिवा-'अकामगं'ति वार्द्धकावस्थायां मदनेच्छाकामरहितं पराक्रमन्तं संयमानुष्ठानं प्रति कस्त्वामवसरप्राप्ते कर्मणि प्रवृत्तं वारयितुमर्हतीति॥ ७॥

(टीकार्थ) हे तात! घर जाकर, अपने स्वजनवर्गको देखकर फिर आजाना। केवल घर जाने मात्र से तू अश्रमण नहीं होजायगा। घर के व्यापार में इच्छा रहित और अपनी

रूचि के अनुसार कार्य्य करते हुए तुमको कौन रोक सकता है ? । अथवा वृद्धावस्था आनेपर जव तुम्हारी मदनेच्छा और कामना निवृत्त होजायगी उस समय अवसर प्राप्त संयमका अनुष्ठान करने से तुमको कौन रोक सकता है ? ७

(मूल) जं किंचि अणगं तात! तंपि सव्वं समीकतं ॐ ।
हिरण्णं ववहाराइ, तंपि दाहामु ते वयं ॥ ८ ॥

(छाया) यत् किंचिदृणं तात ! तत्सर्वं समीकृतम्
हिरण्यं व्यवहारादि तदपि दास्यामोवयम् ।

(अन्वयार्थ) (तात !) हे तात ! (जंकिंचिअणगं) जो कुछ ऋणथा (तं वि सव्वं) वहभी सब (समीकतं) हमने बाँट बाँटकर बराबर करदिया है । (ववहाराइ) व्यवहारके योग्य जो (हिरण्यं) सोना चाँदी आदि हैं (तंपि) वहभी (ते) तुझको (वयं) हमलोग (दाहामु) देंगे ।

(भावार्थ) हे तात ! तुम्हारे ऊपर जो ऋण था वहभी हम लोगोंने बराबर बाँट कर ले लिया है । तथा तुम्हारे व्यवहार के लिए जितने द्रव्य की आवश्यकता होगी वह भी हमलोग देंगे ।

(टीका) अन्यच्च--'तात' पुत्र ! यत्किमपि भवदीयमृणजातमासीत्तत्सर्वमस्माभिः सम्यग्विभज्य 'समीकृतं' समभागेन व्यवस्थापितं, यदिवोत्कटं सत् समीकृतं-सुदेयत्वेन व्यवस्थापितं, यच्च 'हिरण्यं' द्रव्यजातं व्यवहारादावुपयुज्यते, आदिशब्दात् अन्येन वा प्रकारेण तवोपयोगं यास्यति तदपि वयं दास्यामः, निर्धनोऽहमिति मा कृथा भयमिति ॥ ८ ॥ उपसंहारार्थमाह—

(टीकार्थ) हे पुत्र ! तुम्हारे ऊपर जो ऋण था वहभी हमलोगोने अच्छी तरह बाँटकर बराबर करदिया है । अथवा तुम्हारे उपर जो भारी ऋण था उसकी हमलोगोने ऐसी व्यवस्था करदी है जिससे वह सुगमता के साथ चुकाया जासकता है । तथा अवसे जो कुछ द्रव्य तुम्हारे व्यवहार के लिए उपयुक्त होगा, एवं आदि शब्दसे किसी दूसरे प्रकार से जो द्रव्य तुम्हारे उपयोगके लिए आवस्यक होगा वहभी हम लोग देंगे इसलिए " मैं निर्धन हूं" ऐसा भय तू मत करो । ८

अब इस विषयको समाप्त करनेके लिए सूत्रकार कहते हैं—

२ उत्तारितं चू०

(मूल) इच्चेव णं सुसेहंति, कालुणीयसमुट्ठिया ।
विबद्धो नाइसंगेहिं, ततोऽगारं पहावइ ॥ ९ ॥

(छाया) इत्येव सुशिक्षयन्ति कारुण्यसमुपस्थिताः
विबद्धो ज्ञातिसङ्गैस्ततोऽगारं प्रधावति ।

(अन्वयार्थ) (कालुणीयसमुट्ठिया) करुणासे युक्त बन्धु बांधव (इच्चेव) इस प्रकार (सुसेहंति) साधुको शिक्षा देते हैं । (नाइसंगेहिं) ज्ञातिके संगसे (विबद्धो) बँधा हुआ जीव (ततो) उस समय (अगारं) घरकी ओर (पहावइ) दौडता है ।

(भावार्थ) करुणा से भरे हुए बन्धुबान्धव, साधुको उक्त रीति से शिक्षा देते हैं । पश्चात् उन ज्ञातियों के संगसे बँधाहुआ गुरुकर्मी जीव, प्रव्रज्याको छोड़कर घर चलाजाता है ।

(टीका) णमिति वाक्यालङ्कारे 'इत्येव' पूर्वोक्तया नीत्या मातापित्रादयः कारुणिकैर्वचोभिः करुणामुत्पादयन्तः स्वयं वा दैन्यमुपस्थिताः 'तं' प्रव्रजितं प्रव्रजन्तं वा सुसेहंति'त्ति सुष्ठु शिक्षयन्ति व्युद्ग्राहयन्ति, स चापरिणतधर्माऽल्पसत्त्वो गुरुकर्मा ज्ञातिसङ्गैर्विबद्धो-मातापितृपुत्रकलत्रादिमोहितः ततः 'अगारं' गृहं प्रति धावति-प्रव्रज्यां परित्यज्य गृहपाशमनुबध्नातीति ॥ ९ ॥

(टीकार्थ) 'णं' शब्द वाक्यालंकार में आया है । पूर्वोक्त रीतिसे करुणामय वचन बोलकर साधुके चित्तमें करुणा उत्पन्न करनेवाले अथवा स्वयं दीनताको प्राप्त साधुके माता पिता आदि स्वजन वर्ग अच्छीतरह साधुको शिक्षा देते हैं और साधुके हृदयमें अपनी बातको स्थापित करते हैं । वह साधुभी कच्चा धर्मवाला और अल्पपराक्रमी तथा गुरुकर्मी होनेके कारण माता, पिता, पुत्र, और स्त्री में मोहित होकर घरकी ओर दौडता है । वह प्रव्रज्याको छोड़कर फिर गृहपाशमें बँध जाता है । ९

(मूल) जहा रुक्खं वणे जायं, मालुया पडिबंधई ।
एव णं पडिबंधंति, णातओ असमाहिणा ॥ १० ॥

(छाया) यथा वृक्षं वने जातं मालुका प्रतिबध्नाति
एवं प्रतिबध्नंति ज्ञातयोऽसमाधिना ।

(अन्वयार्थ) (जहा) जैसे (वणेजायं) वनमें उत्पन्न (रुक्खं) वृक्षको (मालुया) लता (पडिबंधई) बाँधलेती है (एवं) इसीतरह (णातयो) ज्ञातिवाले, (असमाहिणा) असमाधिके द्वारा उस साधुको (पडिबंधंति) बाँध लेते हैं ।

(भावार्थ) जैसे जंगल में उत्पन्न वृक्षको लता बाँध लेती है इसी तरह साधुको, ज्ञातिवाले असमाधिके द्वारा बाँध लेते हैं।

किञ्चान्यत्—यथा वृक्षं 'वने' अटव्यां 'जातम्' उत्पन्नं 'मालुया' वल्ली 'प्रतिबध्नाति' वेष्टयत्येवं 'णं' इति वाक्यालङ्कारे 'ज्ञातयः' स्वजनाः 'तं' यतिं असमाधिना प्रतिबध्नन्ति, ते तत्कुर्वन्ते येनास्यासमाधिरुत्पद्यत इति, तथा चोक्तम्–"*अमित्तो मित्तवेसेणं, कंठे घेत्तूण रोयइ। मा मित्ता! सोग्गइं जाहि, दोवि गच्छामु दुग्गइं॥ १॥" ॥ १०॥ अपि च—

(टीकार्थ) जैसे जंगलमें उत्पन्न वृक्षको लता वेष्टित कर देती है इसी तरह स्वजनवर्ग उस साधुको असमाधि के द्वारा बाँध लेते हैं। वे, वह कार्य करते हैं जिस से उस साधुको असमाधि (अशान्ति) उत्पन्न होती है यहा णं' शब्द वाक्यालङ्कार में आया है। कहा है कि—"अमित्तोमित्तवेसेणं" अर्थात् वस्तुतः परिवारवर्ग मित्र नहीं किन्तु अमित्र है वह मित्र की तरह कण्ठ में लिपट कर रोता है मानो वह कहता है कि हे मित्र! तू सद्गतिको न जाओ आवो हम तुम दोनो ही दुर्गति में चलें। १० औरभी

(मूल) विबद्धो नातिसंगेहिं, हत्थीवावी नवग्गहे।
पिट्ठतो परिसप्पंति, सुयगोव्व अदूरए॥ ११॥

(छाया) विबद्धो ज्ञातिसंगैर्हस्तीवाऽपि नवग्रहे
पृष्ठतः परिसर्पन्ति सूतगौरिवादूरगा।

(अन्वयार्थ) (नाइसंगेहिं) मातापिता आदि स्वजनवर्ग के संबंधद्वारा (विबद्धो) बँधेहुए साधु के (पिट्ठतो) पीछे पीछे (परिसप्पंति) स्वजनवर्ग चलते हैं और (नवग्गहे हत्थीव) नवीन ग्रहण किए हुए हाथी के समान उसके अनुकूल आचरण करते हैं। तथा (सुयगोव्व अदूरए) नई व्याई हुई गाय जैसे अपने बच्छडे के पासही रहती है उसी तरह परीवार वर्ग, उसके पासही रहते हैं।

(भावार्थ) जो पुरुष, माता पिता आदि स्वजनवर्ग के मोह में पड़कर प्रव्रज्याको छोड़ फिर घरमें चला आता है उसके परिवारवर्ग नवीन ग्रहण किए हुए हाथी के समान उसकी बहुत खातिरदारी करते हैं और उसके पीछे पीछे फिरते है। जैसे नई व्याई हुई गाय' अपने बच्छडे के पासही रहती है इसी तरह परिवारवर्ग. उसके पासही रहते हैं।

---

*अमित्रं मित्रवेषेण कण्ठे गृहीत्वा रोदिति। मा मित्र! सुगतीर्याः द्वावपि गच्छावो दुर्गतिम्॥ १

(टीका) विविधं बद्धः-परवशीकृतः विबद्धो ज्ञातिसङ्गैः-मातापित्रादिसम्बन्धैः, ते च तस्य तस्मिन्नवसरे सर्वमनुकूलमनुतिष्ठन्तो धृतिमुत्पादयन्ति, हस्ती-वापि 'नवग्रहे' अभिनवग्रहणे, (यथा स) धृत्युत्पादनार्थमिक्षुशकलादिभिरुपचर्यते, एवमसावपि सर्वानुकूलैरुपायैरुपचर्यते, दृष्टान्तान्तरमाह-यथाऽभिनवप्रसूता गौर्निजस्तनन्धयस्य 'अदूरगा' समीपवर्तिनी सती पृष्ठतः परिसर्पति, एवं तेऽपि निजा उत्प्रव्रजितं पुनर्जातमिव मन्यमानाः पृष्ठतोऽनुसर्पन्ति-तन्मार्गानुयायिनो भवन्तीत्यर्थः ॥ ११ ॥

(टीकार्थ) माता पिता आदि के सम्बन्ध से वह विविध प्रकारसे बँधा हुआ परवश हो जाता है और वे माता पिता आदि, उस समय उस के अनुकूल आचरण करते हुए उसको संतोष उत्पन्न करते हैं जैसे नवीन ग्रहण किए हुए हाथीको संतोष उत्पन्न करने के लिए लोग ईखका टुकडा आदि मधुर आहार दे कर उसकी सेवा करते हैं उसीतरह स्वजनवर्ग सब अनुकूल उपायों के द्वारा उसकी सेवा करते हैं। इस विषयमें दूसरा दृष्टांत देते हैं। जैसे नूतन व्याई हुई गाय अपने बच्छेडे के समीपमें रहती हुई उसके पीछे पीछे दौडती फिरती है इसी तरह वे परिवारवाले भी प्रव्रज्या छोडे हुए उस पुरुषको नवीन जन्मे हुए मानकर उसके पीछे पीछे फिरते हैं। वह जिस मार्ग से जाता है उसी से वे भी जाते हैं यह अर्थ है। ११

(मूल) एते संगा मणूसाणं, पाताला व अतारिमा।
कीवा जत्थ य किस्संति, नाइसंगेहिं मुच्छिया ॥१२॥

(छाया) एते सङ्गाः मनुष्याणां पाताला इवातार्य्याः
क्लीबाः यत्र क्लिश्यन्ति ज्ञातिसङ्गैर्मूच्छिताः।

(अन्वयार्थ) (एते) यह (संगा) माता पिता आदिका संग (मणूसाणं) मनुष्यों के लिए (पातालाव) समुद्रके समान (अतारिमा) दुस्तर है। (जत्थ) जिसमे, (नाइसंगेहिं) ज्ञाति संसर्ग मे (मूच्छिया) आसक्त (कीवा) असमर्थ पुरुष (किस्संति) क्लेश पाते हैं।

(भावार्थ) यह, माता पिता आदि स्वजनवर्गका स्नेह, समुद्र के समान, मनुष्यों के द्वारा दुस्तर होता है। इस स्नेह में पड़कर शक्तिहीन पुरुष, क्लेश भोगता है।

सङ्गदोषदर्शनायाह-'एते' पूर्वोक्ताः सज्यन्त इति सङ्गा-मातृपित्रादिसम्बन्धाः कर्मोपादानहेतवः, मनुष्याणां 'पाताला इव' समुद्रा इवाप्रतिष्ठितभूमितल-

त्वात् ते 'अतारिम'त्ति दुस्तराः, एवमेतेऽपि सङ्गा अल्पसत्त्वैर्दुःखेनातिलङ्घ्यन्ते, 'यत्र च' येषु सङ्गेषु 'क्लीवा' असमर्थाः 'क्लिश्यन्ति' क्लेशमनुभवन्ति, संसारान्तर्वर्तिनो भवन्तीत्यर्थः, किंभूताः?-'ज्ञातिसङ्गैः' पुत्रादिसम्बन्धैः 'मूर्च्छिता' गृद्धा अध्युपपन्नाः सन्तो, न पर्यालोचयन्त्यात्मानं संसारान्तर्वर्तिनमेवं क्लिश्यन्तमिति ॥ १२ ॥ अपिच—

(टीकार्थ) " सज्यंत इति सङ्गाः " अर्थात् जो जीवको बाँध लेता है उसे 'संग' कहते हैं। माता पिता आदि स्वजनवर्ग के संबंधको 'सङ्ग' कहते हैं क्योंकि वह जीवको अपने बन्धन में बाँध लेता है। वह सम्बन्ध, कर्मबंधका हेतु है और जैसे तलवार्जित होने के कारण समुद्र मनुष्यों के द्वारा दुस्तर होता है उसी तरह यह भी अल्पपराक्रमी जीव से दुर्लंघ्य होता है इस माता पिता आदि स्वजनवर्ग के सङ्गमें आसक्त असमर्थ पुरुष क्लेश भोगते हैं। वे, संसार में सदा पडे रहते हैं वे कैसे हैं? पुत्र आदि के सम्बन्ध में आसक्त जीव, संसार में पड़कर क्लेश भोगते हुए अपने आत्मा के विषय में विचार नहीं करते हैं। १२ औरभी—

(मूल) तं च भिक्खू परिन्नाय, सव्वे संगा महासवा।
जीवियं नावकंखिज्जा, सोच्चा धम्ममणुत्तरं ॥ १३ ॥

(छाया) तं च भिक्षुः परिज्ञाय सर्वे सङ्गा महाश्रवाः
जीवितं नावकाङ्क्षेत, श्रुत्वा धर्ममनुत्तरम्।

(अन्वयार्थ) (भिक्खु) साधु (तं च) उस ज्ञातिसम्बन्धको (परिन्नाय) जानकर छोड देवे। क्योंकि (सव्वे) सभी (संगा) सम्बन्ध (महासवा) महान्, कर्म के आश्रवद्वार होते हैं। (अणुत्तरं) सर्वोत्तम (धम्मं) धर्मको (सोच्चा) सुनकर साधु, (जीविय) असंयम जीवनकी (नाभिकंखिज्जा) इच्छा न करे।

(भावार्थ) साधु, ज्ञातिसंसर्गको संसारका कारण जानकर छोड देवे, क्योंकि सभी सम्बन्ध, कर्मबन्ध के महान् आश्रवद्वार, होते हैं। साधु, सर्वोत्तम इस आर्हत धर्मको सुनकर असंयम जीवनकी इच्छा न करे।

(टीका) 'तं च' ज्ञातिसङ्गं संसारैकहेतुं भिक्षुर्ज्ञपरिज्ञया (ज्ञात्वा) प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत्। किमिति?, यतः 'सर्वेऽपि' ये केचन सङ्गास्ते 'महाश्रवा' महान्ति कर्मण आश्रवद्वाराणि वर्तन्ते। ततोऽनुकूलैरुपसर्गैरुपस्थितैरसंयमजीवितं-गृहावासपाशं 'नाभिकाङ्क्षेत्' नाभिलषेत्, प्रतिकूलैश्चोपसर्गैः

सद्भिर्जीविताभिलाषी न भवेद्, असमञ्जसकारित्वेन भवजीवितं नाभिकाङ्क्षेत्। किं कृत्वा?–'श्रुत्वा' निशम्यावगम्य, कम्?–'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं, नास्योत्तरोऽस्तीत्यनुत्तरं–प्रधानं मौनीन्द्रमित्यर्थः ॥ १३ ॥

स्वजनवर्ग के संगका दोष बतानेके लिए सूत्रकार कहते हैं—

(टीकार्थ) साधु, ज्ञातिसंसर्ग संसारका प्रधान कारण है यह ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उसका त्याग कर देवे क्योंकि जितने सङ्ग–सम्बन्ध हैं वे सभी कर्म के महान आश्रवद्वार हैं। अतः अनुकूल उपसर्ग आनेपर साधु असंयम जीवन अर्थात् गृहवास रूप पाशबन्धनकी इच्छा न करे। तथा प्रतिकूल उपसर्ग आनेपर जीवनकी इच्छा न करे। साधु, असत् कर्मका अनुष्ठानपूर्वक सांसारिक जीवनकी इच्छा न करे। क्या कर के? कहते हैं कि सुनकर। क्या सुनकर? समाधान यह है कि श्रुत और चारित्र नामक धर्म जो सबसे प्रधान और मुनीन्द्रप्रतिपादित है उसको सुनकर। १३

(मूल) अहिमे संति आवट्टा, कासवेणं पवेइया।
बुद्धा जत्थावसप्पंति, सीयंति अबुहा जहिं ॥ १४ ॥

(छाया) अथेमे सन्त्यावर्ताः काश्यपेन प्रवेदिताः
बुद्धाः यत्रापसर्पन्ति सीदन्त्यबुधाः यत्र।

(अन्वयार्थ) अह इसके पश्चात् (कासवेणं) काश्यपगोत्री भगवान् महावीरस्वामी के द्वारा (पवेइया) बताए हुए (इमे) ये (आवट्टा) आवर्त–चक्र (संति) हैं। (जत्थ) जिनके आनेपर (बुद्धा) ज्ञानी पुरुष (अवसप्पंति) उनसे अलग हट जाते हैं। (अबुहा) परंतु अज्ञानी पुरुष, (जहिं) जिसमें (सीयंति) आसक्त होते हैं।

(भावार्थ) इसके पश्चात् भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा वर्णित ये आवर्त (भँवर) जानने चाहिए। विद्वान् पुरुष इन आवर्तों से दूर रहते हैं परंतु निर्विवेकी इनमें फँस जाते हैं।

(टीका) अन्यच्च–'अथे' त्यधिकारान्तरदर्शनार्थः, पाठान्तरं वा 'अहो' इति, तच्च विस्मये, 'इमे' इति एते प्रत्यक्षासन्नाः सर्वजनविदितत्वात् 'सन्ति' विद्यन्ते वक्ष्यमाणा आवर्तयन्ति–प्राणिनं भ्रमयन्तीत्यावर्ताः, तत्र द्रव्यावर्ताः, नद्यादेः भावावर्तास्तूत्कटमोहोदयापादितविषयाभिलाषसंपादकसंपत्प्रार्थनाविशेषाः, एते चावर्ताः 'काश्यपेन' श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिना उत्पन्नदिव्यज्ञानेन 'आ(प्र)वेदिताः' कथिताः प्रतिपादिताः 'यत्र' येषु सत्सु 'बुद्धा' अव-

गततत्त्वा आवर्तविपाकवेदिनस्तेभ्यः 'अपसर्पन्ति' अप्रमत्ततया तद्दूरगामिनो भवन्ति, अबुद्धास्तु निर्विवेकतया येष्ववसीदन्ति-आसक्तिं कुर्वन्तीति ॥ १४ ॥

तानेवावर्तान् दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) यहां से दूसरा प्रकरण आरम्भ होता है यह बताने के लिए 'अथ' शब्द आया है कहीं कहीं 'अथ' के स्थानमें 'अहो' यह पाठ पाया जाता है। 'अहो' विस्मय अर्थका बोधक है जो प्राणियोंको संसार में भ्रमण कराता है उसे 'आवर्त' कहते हैं। वह आवर्त आगे चलकर कहा जाने वाला है उस आवर्तको सब लोग जानते हैं इस लिए वह प्रत्यक्ष और समीपवर्त्ती है इस कारण यहाँ इदम् शब्द से उसका कथन किया गया है। आवर्त, दो प्रकारका होता है। द्रव्यावर्त और भावावर्त। नदी आदिका भँवर 'द्रव्यावर्त' है और उत्कट महामोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न विषयभोगकी इच्छा को सिद्ध करनेवाली संपत्तिविशेषकी प्रार्थना 'भावावर्त' है। उत्पन्नदिव्यज्ञान भगवान् महावीरस्वामीने आवर्तका स्वरूप बताया है इसलिए जो विवेकी पुरुष इन आवर्तोंका फल जानते हैं वे तत्वदर्शी जीव इन के उपस्थित होनेपर प्रमाद नहीं करते हैं किंतु इन से दूर हट जाते हैं परन्तु जो अज्ञानी हैं वे अज्ञानवश इनमें आसक्त होकर महादुःख भोगते हैं। १४

अब उन्हीं आवर्तोंको दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं—

(मूल) रायाणो रायऽमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिया।
निमंतयंति भोगेहिं, भिक्खूयं साहुजीविणं ॥ १५ ॥

(छाया) राजानो राजामात्याश्च ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः।
निमन्त्रयन्ति भोगैर्भिक्षुकं साधुजीविनम्।

(अन्वयार्थ) (रायाणो) राजा महाराजा (रायमच्चाय) और राजमंत्री (माहणा) ब्राह्मण (अदुव) अथवा (खत्तिया) क्षत्रिय (साहुजीविणं) उत्तम आचार से जीवन निर्वाह करनेवाले (भिक्खुयं) साधुको (भोगेहिं) भोग भोगने के लिए (निमंतयंति) निमंत्रित करते हैं।

(भावार्थ) राजा महाराजा और राजमंत्री तथा ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय, उत्तम आचार से जीवन निर्वाह करने वाले साधुको भोग भोगने के लिये आमंत्रित करते है।

(टीका) 'राजानः' चक्रवर्त्यादयो 'राजामात्याश्च' मन्त्रिपुरोहितप्रभृतयः तथा ब्राह्मणा अथवा 'क्षत्रिया' इक्ष्वाकुवंशजप्रभृतयः, एते सर्वेऽपि 'भोगैः'

शब्दादिभिर्विषयैः 'निमन्त्रयन्ति' भोगोपभोगं प्रत्यभ्युपगमं कारयन्ति कम्? भिक्षुकं 'साधुजीविणमि'ति साध्वाचारेण जीवितुं शीलमस्येति (साधुजीवी तं) साधुजीविनमिति, यथा ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिना नानाविधैर्भोगैश्चित्रसाधुरुपनिमन्त्रित इति। एवमन्येऽपि केनचित्सम्बन्धेन व्यवस्थिता यौवनरूपादिगुणोपेतं साधुं विषयोद्देशेनोपनिमन्त्रयेयुरिति ॥ १५ ॥

(टीकार्थ) राजा अर्थात् चक्रवर्ती आदि तथा राजामात्य यानी मंत्री और पुरोहित आदि एवं ब्राह्मण अथवा इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न क्षत्रिय आदि, ये सभी, शब्दादि विषयों के सेवन के लिए आमन्त्रित करते हैं। वे भोग सेवन के लिए स्वीकार कराते हैं। किसको ? पवित्र आचार से जीवन व्यतीत करनेवाले साधुको। जैसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीने चित्रनामक साधुको विविध प्रकार के विषयोंको भोगने के लिए आमन्त्रित किया था इसी तरह दूसरे भी रूप यौवनसंपन्न साधुको किसी कारण वश विषय भोगने के लिए निमन्त्रित कर सकते हैं। १५

(मूल) हत्थऽस्सरहजाणेहिं, विहारगमणेहि य।
भुंज भोगे इमे सग्घे, महरिसी! पूजयामु तं ॥ १६ ॥

(छाया) हस्त्यश्वरथयानैं विहारगमनैश्च
भुंक्ष्व भोगानिमान् श्लाघ्यान् महर्षे पूजयामस्त्वाम्।

(अन्वयार्थ) (महरिसी) हे महर्षे! (तं) हम तुम्हारी (पूजयामु) पूजा करते हैं (इमे) इन (सग्घे) उत्तम (भोगे) भोगोंको (भुंज) भोगो। (हत्थऽस्सरहजाणेहिं) हाथी घोडा रथ और पालकी आदि पर बैठो (विहारगमणेहिय) तथा चित्तविनोद के लिए बाग बगीचों में चला करो।

(भावार्थ) पूर्वोक्त चक्रवर्ती आदि मुनि के निकट उपस्थित होकर कहते हैं कि हे महर्षि! तुम, हाथी घोडा रथ और पाल्की आदि पर बैठो तथा क्रीडा के लिए बगीचे आदि में चला करो। तुम इन उत्तम भोगोंको भोगो। हम तुम्हारी पूजा करते हैं।

(टीका) एतदेव दर्शयितुमाह—हस्त्यश्वरथयानैः तथा 'विहारगमनैः' विहरणं क्रीडनं विहारस्तेन गमनानि विहारगमनानि—उद्यानादौ क्रीडया गमनानीत्यर्थः, चशब्दादन्यैश्चेन्द्रियानुकूलैर्विषयैरुपनिमन्त्रयेयुः, तद्यथा-भुङ्क्ष्व 'भोगान्' शब्दादिविषयान् 'इमान्' अस्माभिर्ढौकितान् प्रत्यक्षासन्नान् 'श्लाघ्यान्' प्रश-

स्तान् अनिन्द्यान् 'महर्षे' साधो! वयं विषयोपकरणढौकनेन 'त्वां' भवन्तं 'पूजयामः' सत्कारयाम इति ॥ १६ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) यही दिखाने के लिए सूत्रकार कहते हैं।

पूर्वोक्त चक्रवर्ती आदि मुनि के निकट आकर हाथी घोडा रथ और पालकी पर बैठने के लिए तथा क्रीडा के निमित्त बगीचा आदि में जाने के लिए, एवं 'च' शब्द से इन्द्रियोंको सुख देने वाले दूसरे विषयोंको भोगने के लिए आमन्त्रित कर सकते हैं। वे यह कहसकते है कि हे मुनिवर! मेरे द्वारा अर्पण किए हुए इन उत्तमोत्तम शब्दादि विषयोंको तुम भोगो। ये विषय, तुम्हारे सामने उपस्थित हैं। हे महर्षे! हम विषयभोगकी सामग्री देकर तुम्हारा सत्कार करते हैं। १६ औरभी

(मूल) वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
भुंजाहिमाइं, भोगाइं आउसो! पूजयामु तं ॥ १७ ॥

(छाया) वस्त्रगन्धमलंकारं स्त्रियः शयनासने च
भुंक्ष्वेमान् भोगान् आयुष्मन् पूजयामस्त्वाम्।

(अन्वयार्थ) (आउसो) हे आयुष्मन्! (वत्थगंध) वस्त्र, गंध, (अलंकारं) अलंकार-भूषण (इत्थीओ) स्त्रियाँ (सयणाणिय) और शय्या (इमाइ) इन (भोगाइं) भोगोंको (भुंज) आप भोगे (तं) आपकी (पूजयामु) हम पूजा करते है।

(भावार्थ) हे आयुष्मन्! वस्त्र, गंध, अलंकार—भूषण, स्त्रियाँ और शय्या इन भोगोंको आप भोगें। हम आपकी पूजा करते है।

(टीका) 'वस्त्रं' चीनांशुकादि 'गन्धाः' कोष्टपुटपाकादयः, वस्त्राणि च गन्धाश्च वस्त्रगन्धमिति समाहारद्वन्द्वः तथा 'अलङ्कारम्' कटककेयूरादिकं तथा 'स्त्रियः' प्रत्यग्रयौवनाः 'शयनानि च' पर्यङ्कतूलीप्रच्छदपटोपधानयुक्तानि, इमान् भोगानिन्द्रियमनोऽनुकूलानस्माभिर्ढौकितान् 'भुङ्क्ष्व' तदुपभोगेन सफलीकुरु, हे आयुष्मन्! भवन्तं 'पूजयामः' सत्कारयाम इति ॥ १७ ॥

(टीकार्थ) चीन देशमें बने हुए वस्त्र आदि, तथा कोष्ठ और पुटपाक आदि गंध, (यहां वस्त्राणि च गन्धाश्च वस्त्रगन्धम् यह समाहार द्वन्द्वसमास है) तथा कटक और केयूर आदि भूषण एवं नवयौवना स्त्री तथा रुई के तोसक और तकिया से युक्त पलँग, इन भोगोंको आप भोगें। ये भोग इन्द्रिय और मनको प्रसन्न करने वाले हैं इस लिए हमारे द्वारा दिये हुए इन विषयो को भोग कर आप इन्हें सफल करें। हे आयुष्मन्! हम आपका सत्कार करते हैं ॥ १७ ॥

(मूल) जो तुमे नियमो चिण्णो, भिक्खुभावंमि सुव्वया ।
आगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा ॥ ॥ १८ ॥

(छाया) यस्त्वया नियमश्चीर्णो भिक्षुभावे सुव्रत!
अगारमावसतस्तत्र सर्वः संविद्यते तथा ।

(अन्वयार्थ) (सुव्वया!) हे सुन्दरव्रतवाले मुनिवर! (तुमे) तुमने (जे) जिस (नियमे) नियमका (चिण्णो) अनुष्ठान किया है (आगारमावसंतस्स) घरमें निवास करनेपरभी (सव्वे) वह सब (तहा) उसीतरह (संविज्जइ) बने रहेंगे

(भावार्थ) हे सुन्दरव्रतधारिन्! तुमने जिन महाव्रत आदि नियमोंका अनुष्ठान किया है, वह सब गृहवास करनेपरभी उसी तरह बने रहेंगे।

(टीका) अपि च–यस्त्वया पूर्वं 'भिक्षुभावे' प्रव्रज्यावसरे 'नियमो' महाव्रतादिरूपः 'चीर्णः' अनुष्ठितः इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमगतेन हे सुव्रत! स साम्प्रतमपि 'अगारं' गृहम् 'आवसतः' गृहस्थभावं सम्यगनुपालयतो भवतस्तथैव विद्यत इति, न हि सुकृतदुष्कृतस्यानुचीर्णस्य नाशोऽस्तीति भावः ॥ १८ ॥ किञ्च–

[टीकार्थ) हे मुनिवर! प्रव्रज्या के समय इन्द्रिय और मनको शान्त करके आपने जिन महाव्रत आदि नियमोका अनुष्ठान किया है वे गृहस्थभाव के पालन समय में भी उसी तरह बने रहेगे क्योंकि मनुष्य के द्वारा किए हुए पुण्य और पापका नाश नहीं होता है। १८

(मूल) चिरं दूइज्जमाणस्स, दोसो दाणिं कुतो तव?।
इच्चेव णं निमंतेंति, नीवारेण व सूयरं॥ १९ ॥

(छाया) चिरं विहरतः दोष इदानीं कुतस्तव
इत्येव निमन्त्रयन्ति नीवारेणेव सूकरम्।

(अन्वयार्थ) हे मुनिवर! (चिर) बहुत काल से (दूइज्जमाणस्स) संयमका अनुष्ठान पूर्वक विहार करते हुए (तव) आपको (दाणि) इस समय (दोसो) दोष (कुओ) कैसे होसकता है? (इच्चेवं) इस प्रकार (नीवारेण) चांवल के दानोंका प्रलोभन देकर (सूयरंव) जैसे लोग सुअरको फँसाते हैं इसी तरह मुनिको (निमंतंति) भोग भोगने के लिए निमंत्रित करते हैं।

(भावार्थ) हे मुनिवर! आपने बहुकाल तक संयमका अनुष्ठान किया है। अब भोग भोगनेपर भी आपको दोष नहीं होसकता है इस प्रकार भोग भोगनेका आमंत्रण देकर लोग साधुको उसी तरह फँसा लेते हैं जैसे चावल के दानो से सुअरको फँसाते हैं।

(टीका) 'चिरं' प्रभूतं कालं संयमानुष्ठाने 'दूइज्जमाणस्स'त्ति विहरतः सतः 'इदानीं' साम्प्रतं दोषः कुतस्तव ?, नैवास्तीति भावः, इत्येवं हस्त्यश्वरथादिभिर्वस्त्र-गन्धालङ्कारादिभिश्च नानाविधैरुपभोगोपकरणैः करणभूतैः 'ण' मिति वाक्यालङ्कारे 'तं' भिक्षुं साधुजीविनं 'निमन्त्रयन्ति' भोगबुद्धिं कारयन्ति दृष्टान्तं दर्शयति—यथा 'नीवारेण' व्रीहिविशेषकणदानेन 'सूकरं' वराहं कूटके प्रवेशयन्ति एवं तमपि साधुमिति ॥ १९ ॥

(टीकार्थ) पूर्वोक्त चक्रवर्ती आदि, साधुसे कहते हैं कि हे मुनिवर ! आपने चिरकालतक संयमका अनुष्ठान किया है अतः अब आपको भोग भोगने में कोई दोष नहीं हो सकता है । इस प्रकार कहते हुए वे लोग, हाथी, घोडा, रथ आदि तथा वस्त्र, गंध और अलंकार आदि नानाविध, भोग साधनों के द्वारा संयमके साथ जीनेवाले साधुकी भोगवुद्धि उत्पन्न करते हैं । इस विषयमें दृष्टांत दिया जाता है—जैसे चावल के दानों के द्वारा सुअर को कूटपाशमें फँसाते हैं इसी तरह उस साधुको भी असंयममें फँसाते हैं । १९

(मूल) चोइया भिक्खचरियाए, अचयंता जवित्तए ।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि व दुब्बला ॥ २० ॥

(छाया) चोदिताः भिक्षुचर्य्ययाऽशक्नुवन्तो यापयितुम्
तत्र मंदाः विषीदन्ति उद्यान इव दुर्बलाः ।

(अन्वयार्थ) (भिक्खचरियाए साधुओंकी समाचारीको पालन करनेके लिए (चोइया) आचार्य्य आदि के द्वारा प्रेरित किये हुए (जवित्तए) और उस समाचारी के पालनपूर्वक अपना निर्वाह (अचयंता) नहीं कर सकते हुए (मंदा) मूर्ख जीव, (तत्थ) उस संयम में (विसीयंति) ढीले हो जाते हैं (उज्जाणंसि) जैसे उँचे मार्गमें (दुब्बला) दुर्वल वैल गिर जाते हैं ।

(भावार्थ) साधुसमाचारीको पालन करने के लिए आचार्य्य आदिसे प्रेरित किए हुए मूर्ख जीव उस साधु समाचारीका पालन नहीं कर सकते हुए संयमको त्याग देते हैं जैसे ऊंचे मार्गमें दुर्वल वैल गिर जाते हैं ।

अनन्तरोपन्यस्तवार्तोपसंहारार्थमाह—भिक्षूणां—साधूनामुद्युक्तविहारिणां चर्या दशविधचक्रवालसामाचारी इच्छामिच्छेत्यादिका तया चोदिताः—प्रेरिता यदिवा

---

१ बाधिता इति प्र०

भिक्षुचर्यया करणभूतया सीदन्तश्चोदिताः—तत्करणं प्रत्याचार्यादिकैः पौनःपुन्येन प्रेरितास्तच्चोदनामशक्नुवन्तः संयमानुष्ठानेनात्मानं 'यापयितुं' वर्तयितुमसमर्थाः सन्तः 'तत्र' तस्मिन् संयमे मोक्षैकगमनहेतौ भवकोटिशतावाप्ते 'मन्दा' जडा 'विषीदन्ति' शीतलविहारिणो भवन्ति, तमेवाचिन्त्यचिन्तामणिकल्पं महापुरुषानुचीर्णं संयमं परित्यजन्ति, दृष्टान्तमाह—ऊर्ध्वं यानमुद्यानं—मार्गस्योन्नतो भाग उट्टङ्कमित्यर्थः तस्मिन् उद्यानशिरसि उत्क्षिप्तमहाभरा उक्षाणोऽतिदुर्बला यथाऽवसीदन्ति—ग्रीवां पातयित्वा तिष्ठन्ति नोत्क्षिप्तभरनिर्वाहका भवन्तीत्येवं तेऽपि भावमन्दा उत्क्षिप्तपञ्चमहाव्रतभारं वोढुमसमर्थाः पूर्वोक्तभावावर्तैः पराभग्ना विषीदन्ति ॥ २० ॥ किञ्च—

(टीकार्थ) अब सूत्रकार पूर्वोक्त वातोंका उपसंहार करने के लिए कहते हैं—

शास्त्रोक्त विधि के अनुसार विचरने वाले साधुओंकी तलवार के समान दश प्रकारकी समाचारी जो "इच्छा मिच्छा" इत्यादि के द्वारा कही है उसे 'भिक्षुचर्य्या कहते हैं। उस भिक्षुचर्य्याको पालन करने के लिए गुरु आदि के द्वारा प्रेरित किए हुए, यद्वा उस भिक्षुचर्या के कारण क्लेश पाते हुए तथा दस प्रकारकी साधु समाचारीको पालन करने के लिए आचार्य्य आदि के द्वारा वार वार प्रेरित किए हुए, एवं उक्त प्रकारसे गुरुकी प्रेरणाको सहन करने में असमर्थ और संयम पालनपूर्वक अपना निर्वाह करने में अशक्त मूर्ख जीव, मोक्ष प्राप्तिका प्रधान साधन तथा करोडों भव के पश्चात् मिले हुए उस संयम के पालन में ढीले हो जाते हैं। वे मूर्ख, महापुरुषों के द्वारा आचरण किए हुए, चिंतामणिके समान अचिंतनीयप्रभाव वाले उस संयमको ही छोड़ देते हैं। इस विषयमें दृष्टांत वतलाते हैं। मार्ग के ऊँचे भागको "उद्यान" कहते हैं। उस ऊंचे भाग के ऊपर जैसे महान् भारसे दबे हुए दुर्वल बैल गर्दनको नीचा कर बैठ जाते हैं, वे उस लदे हुए भारको वहन करने में समर्थ नहीं होते हैं इसी तरह भावसे मूर्ख वे जीव भी ग्रहण किए हुए पाँचमहाव्रतरूपी भारको वहन करनेमें असमर्थ तथा पूर्वोक्त स्त्री आदि भावावर्तों से विचलित किए हुए संयमको छोड़ देते हैं। २०

(मूल) अचयंता व लूहेणं, उवहाणेण तज्जिया।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि जरग्गवा ॥ २१ ॥

(छाया) अशक्नुवन्तो रूक्षेण, उपधानेन तर्जिताः
तत्र मंदाः विषीदन्ति उद्याने जरद्गवाः।

(अन्वयार्थ) (लूक्खे) रूक्ष संयमको पालन (अचयंता) नहीं कर सकते हुए (उवहाणेण) तथा तपसे तजिया पीडित (मंदा) मूर्ख जीव, (उज्जाणंसि) ऊंचे मार्गमें (जरग्गवा) बूढे बैल के समान (तत्थ) उस संयम में (विसीयंति) क्लेश पाते हैं।

(भावार्थ) संयमको पालन करने में असमर्थ और तपस्या से भय पाते हुए मूर्ख जीव, संयम मार्ग में इस प्रकार क्लेश पाते हैं जैसे ऊंचे मार्ग में बूढा बैल कष्ट पाता है।

(टीका) 'रूक्षेण' संयमेनात्मानं यापयितुमशक्नुवन्तः तथा 'उपधानेन' अनशनादिना सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा 'तर्जिता' बाधिताः सन्तः तत्र संयमे मन्दा विषीदन्ति 'उद्यानशिरसि' उट्टङ्कमस्तके 'जीर्णो' दुर्बलो गौरिव, यूनोऽपि हि तत्रावसीदनं सम्भाव्यते किं पुनर्जरद्गवस्येति जीर्णग्रहणम्, एवमावर्तमन्तरेणापि धृतिसंहननोपेतस्य विवेकिनोऽप्यवसीदनं सम्भाव्यते, किं पुनरावर्तैरुपसर्गितानां मन्दानामिति ॥ २१ ॥

(टीकार्थ) 'रुक्ष' नाम संयमका है क्योंकि वह नीरस है। जो मनुष्य उस संयमको पालन करने में समर्थ नहीं हैं तथा बाह्य और आभ्यंतर रूप अनशन आदि द्विविध तपस्या से पीडित हैं, वे मूर्ख, संयम में इस प्रकार क्लेश पाते हैं जैसे ऊंचे मार्ग में वुढा दुर्बल बैल दुःख पाता है। ऊँचे मार्गमें जवान बैलको भी कष्ट होना संभव है फिर बूढे बैलकी तो बात ही क्या है? यह दर्शाने के लिए यहां 'जीर्ण' पदका ग्रहण है। जो पुरुष धीरता और संहनन (दृढता) से युक्त एवं विवेकी हैं उनका भी आवर्त (विघ्न) के विना भी संयम से भ्रष्ट होना संभव है तब फिर जो मूर्ख हैं और आवर्तों (विघ्न) के द्वारा उपसर्ग किए गये हैं उनका तो कहना ही क्या है? २१

(मूल) एवं ❀निमंतणं लद्धुं, मुच्छिया गिद्ध इत्थीसु।
अज्झोववन्ना कामेहिं, चोइज्जंता गया गिहं ॥२२॥त्तिबेमि॥

(छाया) एवं निमन्त्रणं लब्ध्वा मूर्च्छिताः गृद्धाः स्त्रीषु।
अध्युपपन्नाः कामेषु चोद्यमानाःगता गृहम्।

(अन्वयार्थ (एवं(पूर्वोक्त प्रकार से (निमंतणं) भोग भोगने के लिए निमत्रण (लद्धुं) पाकर (मूच्छिया) कामभोगों में आसक्त (इत्थीसुगिद्धा) स्त्रियोंमें मोहित (कामेहिं) कामभोगों में (अज्झोववन्ना) दत्तचित्त पुरुष (चोइज्जंता) संयम पालनके लिए प्रेरित किए हुए (गिहं) घरको (गया) जा चुके है।

(भावार्थ) पूर्वोक्त प्रकार से भोग भोगनेका आमंत्रण पाकर कामभोग में आसक्त, स्त्री में मोहित एवं विषय भोगमें दत्तचित्त पुरुष, संयम पालन के लिए गुरु आदि के द्वारा प्रेरित होकर फिर गृहस्थ हो चुके हैं।

(टीका) सर्वोपसंहारमाह—'एवं' पूर्वोक्तया नीत्या विषयोपभोगोपकरणदानपूर्वकं 'निमन्त्रणं' विषयोपभोगं प्रति प्रार्थनं 'लब्ध्वा' प्राप्य 'तेषु' विषयोपकरणेषु हस्त्यश्वरथादिषु 'मूर्च्छिता' अत्यन्तासक्ताः तथा स्त्रीषु 'गृद्धा' दत्तावधाना रमणीरागमोहिताः तथा 'कामेषु' इच्छामदनरूपेषु 'अध्युपपन्नाः' कामगतचित्ताः संयमेऽवसीदन्तोऽपरेणोद्युक्तविहारिणा नोद्यमानाः—संयमं प्रति प्रोत्साह्यमाना नोदनां सोढुमशक्नुवन्तः सन्तो गुरुकर्माणः प्रव्रज्यां परित्याल्पसत्त्वा गृहं गता—गृहस्थीभूताः इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ २२ ॥

(टीकार्थ) विषयभोग के साधनभूत हाथी घोडा और रथ आदि में अत्यंत आसक्त, स्त्री के प्रेममें मोहित, कामभोग में गतचित्त गुरुकर्मी जीव, पूर्वोक्त रीतिसे विषयभोगकी सामग्री प्रदानपूर्वक धनवानों के द्वारा की हुई भोग भोगनेकी प्रार्थनाको पाकर संयम पालन में ढीले हो जाते हैं। उस समय शास्त्रोक्त मर्य्यादा के अनुसार संयम पालन करने वाले किसी साधु के द्वारा संयम पालन के लिए प्रेरित किए हुए वे पुरुष उस प्रेरणाको सहन करने में समर्थ नहीं होते हैं किंतु वे अल्प पराक्रमी जीव प्रव्रज्याको छोड़कर फिर गृहस्थ बन जाते हैं। इति शब्द समाप्तिका द्योतक है 'ब्रवीमि' पूर्ववत् है।

इति उपसर्गपरिज्ञाऽध्ययनस्य द्वितीय उद्देशः ॥

इति उवसग्गपरिण्णाए बितिओ उद्देसो सम्मत्तो॥३-२॥(गाथाग्रं०२१३



अथ तृतीयस्योपसर्गाध्ययनस्य तृतीयोद्देशकः प्रारभ्यते ॥

उपसर्गपरिज्ञायां उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरोद्देशकाभ्यामुपसर्गा अनुकूलप्रतिकूलभेदेनाभिहिताः, तैश्चाध्यात्मविषीदनं भवतीति वदनेन प्रतिपाद्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

उपसर्गपरिज्ञाध्ययनका दूसरा उद्देशक कहा जा चुका। अब तीसरा उद्देशक आरंभ किया जाता है। इसका पूर्व उद्देशकों के साथ सम्बन्ध यह है। पूर्वोक्त दो उद्देशकों में अनुकूल और प्रतिकूल भेदवाले दो प्रकार के उपसर्ग बताए गए हैं। उन उपसर्गों के द्वारा ज्ञान वैराग्यका विनाश होता है यह इस तीसरे उद्देशक में बताया जाता है। यही इस तीसरे उद्देशक के अवतारका कारण है। इस सम्बन्ध से अवतीर्ण इस तीसरे उद्देशक का यह प्रथम सूत्र है।

(मूल) जहा संगामकालंमि, पिट्ठतो भीरु वेहइ।
वलयं गहणं णूमं, को जाणइ पराजयं ?॥ १॥

(छाया) यथा संग्रामकाले पृष्ठतो भीरुः प्रेक्षते
वलयं गहन माच्छादकं को जानाति पराजयम्।

(अन्वयार्थ) (जहा) जैसे (संगामकालंमि) युद्धके समय (भीरु) कायर पुरुष (पिठतो) पीछे की ओर (वलयं) गड्ढा (गहणं) गहन स्थान (णूम) छिपा हुआ स्थान (वेहइ) देखता है। वह सोचता है कि (पराजयं) किसका पराजय होगा (को जाणइ) यह कौन जानता है।?

(भावार्थ) जैसे कायर पुरुष, युद्धके समय पहले आत्मरक्षा के लिए गड्ढा, गहन, और छिपा हुआ स्थान देखता है। वह सोचता है कि युद्धमें किसका पराजय होगा यह कौन जानता है? अतः संकट आने पर उक्त स्थानोंमें आत्मरक्षा हो सकती है इस लिए पहले छिपने के स्थान देखलेने चाहिए।

(टीका) दृष्टान्तेन हि मन्दमतीनां सुखेनैवार्थावगतिर्भवतीत्यत आदावेव दृष्टान्तमाह—यथा कश्चिद् 'भीरुः' अकृतकरणः 'संग्रामकाले' परानीकयुद्धावसरे समुपस्थिते 'पृष्टतः प्रेक्षते' आदावेवापत्प्रतीकारहेतुभूतं दुर्गादिकं स्थानमवलोकयति। तदेव दर्शयति-'वलय'मिति यत्रोदकं वलयाकारेण व्यवस्थितम् उदकरहिता वा गर्ता दुःखनिर्गमप्रवेशा, स्तथा 'गहनं' धवादिवृक्षैः कटिसंस्थानीयं 'णूमं'ति प्रच्छन्नं गिरिगुहादिकं, किमित्यसावेवमवलोकयति?, यत एवं मन्यते—तत्रैवम्भूते तुमुलसङ्ग्रामे सुभटसङ्कुले को जानाति कस्यात्र पराजयो भविष्यतीति?, यतो दैवायत्ताः कार्यसिद्धयः, स्तोकैरपि बहवो जीयन्त इति॥ १॥

---

१ कण्टिसं० प्र०

(टीकार्थ) दृष्टान्तसे मंदमति पुरुषोंको सुखपूर्वक पदार्थका ज्ञान होता है इसलिए सूत्रकार पहले दृष्टान्तका ही कथन करते हैं। जैसे युद्धविद्यामें अनिपुण कायर पुरुष, शत्रु सेना के साथ युद्ध के अवसरमें पहले शत्रुओंसे बँचने के लिए किसी दुर्गम स्थानको देखता है। सूत्रकार उन्हीं दुर्गम स्थानोंको दिखाते हैं 'वलय' अर्थात् जहाँ मण्डलाकार पानी विद्यमान होता है वह स्थान, अथवा जलरहित गड्ढा आदि स्थान, जहांसे निकलना और प्रवेश करना कठिन है, अथवा जो स्थान धव आदि वृक्षोंसे मनुष्यके कमरतक ढँका हुआ है तथा छिपा हुआ पर्वतकी गुफा आदि स्थान, इन स्थानोंको वह पहले देखता है। वह क्यों इन स्थानोंको देखता है? इसका समाधान यह है कि वह समझता है कि इस भयंकर संग्राम में बहुतसे बडे बडे वीर योद्धा एकत्रित हुए हैं इस लिए यह कौन जान सकता है कि इसमें किसका पराजय होगा? क्योंकि थोडे पुरुषभी बहुत पुरुषोंको जीत लेते हैं इस लिए कार्य-सिद्धि दैवाधीन होती है यह निश्चित है।॥१

(मूल) मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होइ तारिसो।
पराजियाऽवसप्पामो, इति भीरू उवेहई ॥ २ ॥

(छाया) मुहूर्त्तानां मुहूर्तस्य मुहूर्तो भवति तादृशः
पराजिता अवसर्पाम इति भीरु रुपेक्षते।

(अन्वयार्थ) (मुहुत्ताणं) बहुत मुहूर्तोंका (मुहुत्तस्स) अथवा एक मुहूर्तका (तारिसो) कोई ऐसा (मुहुत्तो होइ) अवसर होता है (जिसमें जय या पराजय संभव है) (पराजिया) अतः शत्रुसे हारे हुए हम (अवसप्पामो) जहां छिप सकें (इति) ऐसे स्थानको (भीरु) कायर पुरुष (उवेहई) सोचता है।

(भावार्थ) बहुत मुहूर्तोंका अथवा एकही मुहूर्तका कोई ऐसा अवसरविशेष होता है जिसमें जय या पराजयकी संभावना रहती है इस लिए "हम पराजित होकर जहां छिप सकें" ऐसे स्थानको कायर पुरुष पहलेही सोचता है।

किञ्चमुहूर्त्तानामेकस्य वा मुहूर्तस्यापरो 'मुहूर्तः' कालविशेषलक्षणोऽवसरस्तादृग् भवति यत्र जयः पराजयो वा सम्भाव्यते, तत्रैवं व्यवस्थिते पराजिता वयम् 'अवसर्पामो' नश्याम इत्येतदपि सम्भाव्यते अस्मद्विधानामिति भीरुः पृष्ठत आपत्प्रतीकारार्थं शरणमुपेक्षते॥२॥इति श्लोकद्वयेन दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—

---

२ युद्धविषयत्वात् मायोपेक्षेन्द्रजालानि क्षुद्रोपाया इति श्रीहेमचन्द्रवचनादत्र क्षुद्रोपायपर उपेक्षिः

(टीकार्थ) बहुत से मुहूर्त अथवा एकही मुहूर्तका कोई ऐसा कालविशेष होता है जिसमे जय और पराजयकी संभावना रहती है। ऐसी दशामें पराजित होकर किसी गुप्त स्थानमें छिपना पडे यह भी संभव है। यह विचारकर कायर पुरुष पहलेही विपत्तिका प्रतीकारके लिये रक्षाके स्थानका अन्वेषण करता है अर्थात् ढूँढता है। २

इन दो श्लोकों से दृष्टान्त दिखाकर सूत्रकार अव दार्ष्टान्त दिखाने के लिए कहते हैं।

(मूल) एवं तु समणा एगे, अवलं नच्चाण अप्पगं।
अणागयं भयं दिस्स, *अविकप्पंतिमं सुयं ॥ ३ ॥

(छाया) एवं तु श्रमणा एक अवलं ज्ञात्वाऽऽत्मानम्
अनागतं भयं दृष्ट्वाऽवकल्पयन्तीदं श्रुतम्।

(अन्वयार्थ) (एवंतु) इस प्रकार (एगे समणा) कोई श्रमण (अप्पगे) अपनेको (अवलं) जीवनपर्य्यन्त संयम पालन करनेमें असमर्थ (दिस्स) देखकर (अणागयं) तथा भविष्यत् कालके (भयं दिस्स) भयको देखकर (इमंसुयं) व्याकरण तथा ज्योतिष आदिको (अविकप्पति) अपने निर्वाहका साधन वनाते हैं।

(भावार्थ) इसी प्रकार कोई श्रमण जीवनभर संयम पालन करनेमें अपनेको समर्थ नहीं देखकर भविष्यत् कालमें होनेवाले दुःखोंसे वँचनेके लिए व्याकरण और ज्योतिष आदि शास्त्रोंको अपना रक्षक मानते है।

(टीका) 'एवम्' इति यथा सङ्ग्रामं प्रवेष्टुमिच्छुः पृष्ठतोऽवलोकयति-किमत्र मम पराभग्नस्य वलयादिकं शरणं त्राणाय स्यादिति?, एवमेव 'श्रमणाः' प्रव्रजिता 'एके' केचनादृढमतयोऽल्पसत्त्वा आत्मानम् 'अवलं' यावज्जीवं संयमभारवहनाक्षमं ज्ञात्वा अनागतमेव भयं 'दृष्ट्वा' उत्प्रेक्ष्य तद्यथा-निष्किञ्चनोऽहं किं मम वृद्धावस्थायां ग्लानाद्यवस्थायां दुर्भिक्षे वा त्राणाय स्यादित्येवमाजीविकाभयमुत्प्रेक्ष्य 'अवकल्पयन्ति' परिकल्पयन्ति मन्यन्ते-इदं व्याकरणं गणितं जोतिष्कं वैद्यकं होराशास्त्रं मन्त्रादिकं वा श्रुतमधीतं ममावमादौ त्राणाय स्यादिति॥३॥ एतच्चैतेऽवकल्पयन्तीत्याह-

(टीकार्थ) जैसे युद्धमें प्रवेश करनेकी इच्छा करता हुआ कायर पुरुष पहले यह देखता है कि पराजित होने पर कौनसा गड्ढा आदि स्थान मेरी रक्षा के निमित्त उपयुक्त होगा इसी

* अवकप्पंतीति टीका।

तरह अस्थिरचित्त कोई अल्पपराक्रमी श्रमण, जीवनभर अपनेको संयम पालन करनेमें असमर्थ देखकर भविष्यत् कालमें होनेवाले भयके विषयमें इस प्रकार चिंता करते हैं कि "मैं निष्किंचन हूं, जब वृद्धावस्था आवेगी अथवा कोई रोग आदि उत्पन्न होगा अथवा दुर्भिक्ष पडेगा उस समय मेरी रक्षा के लिए कौन साधन होगा" इस प्रकार जीविका साधन के भयको सोच कर वे यह मानते हैं कि "यह व्याकरण, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, और होराशास्त्र जो हमने पढे हैं इनके द्वारा दुःख के समय मेरी रक्षा हो सकेगी।" ३

अल्प पराक्रमी जीव यहभी कल्पना करते हैं सो सूत्रकार कहते हैं—-

---

(मूल) को जाणइ ×विऊवातं, इत्थीओ उदगाउ वा ।
चोइज्जंता पवक्खामो, ण णो अत्थि पकप्पियं ॥ ४ ॥

(छया) को जानाति व्यापातं स्त्रीत उदकाद्वा
चोद्यमाना प्रवक्ष्यामो न नोऽस्ति प्रकल्पितम् ।

(अन्वयार्थ) (इत्थीओ) स्त्रीसे (उदगाउवा) अथवा उदक-कच्चे जलसे (विऊवातं) मेरा संयम भ्रष्ट हो जायगा (को जाणइ) यह कौन जानता है। (णो) मेरे पास (पकप्पियं) पहलेका उपार्जित द्रव्यभी (ण अत्थि) नहीं है इसलिए (चोइज्जंता) किसीके पूछने पर हम हस्तिशिक्षा और धनुर्वेद आदिको (पवक्खामो) बतावेंगे।

(भावार्थ) संयम पालन करने में अस्थिरचित्त पुरुष यह सोचता है कि "स्त्री सेवन से अथवा कच्चे पानीके स्नान से, किस प्रकार मैं संयम से भ्रष्ट होऊँगा यह कौन जानता है? मेरे पास पूर्वोपार्जित द्रव्यभी नहीं है अतः यह जो हमने हस्तिशिक्षा और धनुर्वेद आदि विद्याओंका शिक्षण प्राप्त किया है इनसेही संकट के समय मेरा निर्वाह हो सकेगा।

(टीका) अल्पसत्त्वाः प्राणिनो विचित्रा च कर्मणां गतिः बहूनि प्रमादस्थानानि विद्यन्ते अतः 'को जानाति ?' कः परिच्छिनत्ति 'व्यापातं' संयमजीवितात् भ्रंशं, केन पराजितस्य मम संयमाद् भ्रंशः स्यादिति, किम् 'स्त्रीतः' स्त्रीपरिषहात् उत 'उदकात्' स्नानाद्यर्थमुदकासेवनाभिलापाद् ?, इत्येवं ते वराकाः प्रकल्पयन्ति, न 'नः' अस्माकं किञ्चन 'प्रकल्पितं' पूर्वोपार्जितद्रव्यजातमस्ति यत्तस्यामवस्थायामुपयोगं यास्यति, अतः 'चोद्यमानाः'

× वियावात इति टीकाकृदभिप्रायः ।

परेण पृच्छ्यमाना हस्तिशिक्षाधनुर्वेदादिकं कुटिलविण्टलादिकं वा 'प्रवक्ष्यामः' कथयिष्यामः प्रयोक्ष्याम इत्येवं ते हीनसत्त्वाः सम्प्रधार्य व्याकरणादौ श्रुते प्रयतन्त इति, न च तथापि मन्दभाग्यानामभिप्रेतार्थावाप्तिर्भवतीति, तथा चोक्तम्- "उपशमफलाद्विद्याबीजात्फलं धनमिच्छतां, भवति विफलो यद्यायासस्तदत्र किमद्भुतम् ? । न नियतफलाः कर्तुर्भावाः फलान्तरमीशते, जनयति खलु व्रीहेर्बीजं न जातु यवाङ्कुरम् ॥ १ ॥ इति " ॥ ४ ॥ उपसंहारार्थमाह--

(टीकार्थ) संयम पालन करने में असमर्थ वे विचारे यह सोचते हैं कि प्राणियोंका पराक्रम अल्प होता है और कर्मकी गति भी विचित्र होती है तथा प्रमाद के स्थान भी बहुत हैं ऐसी दशा में यह कौन निश्चय कर सकता है कि-किस उपद्रवसे पराजित होकर मैं संयम से पतित होजाऊंगा ? । क्या स्त्री परीषह से मेरा संयम नष्ट होगा अथवा स्नान आदि के लिए जलकी इच्छासे वह विगड जायगा ? । वे मूर्ख इस प्रकार चिन्ता करते हुए यह सोचते है कि मेरे पास पूर्वोपार्जित द्रव्य भी नहीं है जो संयम से पतित होने पर काम देगा इस लिए हस्तिशिक्षा तथा धनुर्वेद आदि विद्याएँ उस समय मेरा रक्षक हो सकती हैं । किसीके पूछने पर मैं इन विद्याओंको बताकर अपना निर्वाह कर सकूंगा । यह निश्चय कर अल्पपराक्रमी जीव, व्याकरण आदि विद्याओंके अध्ययन में परिश्रम करते हैं । यद्यपि वे, अपने निर्वाह के लिए व्याकरण आदि विद्याएँ सीखते हैं तथापि इन विद्याओंसे उन अभागोंका मनोरथ सिद्ध नहीं होता है । अतएव कहा है--

" उपशम फलाद् विद्याबीजात् " इत्यादि । अर्थात् विद्यारुपी बीज, शांति रुपी फलको उत्पन्न करता है । उस विद्यारुपी बीजसे जो मनुष्य धनरुपी फल चाहता है उसका परिश्रम यदि व्यर्थ हो तो इसमें क्या आश्चर्य्य है ? पदार्थोंका फल नियत होता है इसलिए जिस पदार्थका जो फल है उससे अन्य फल वह अपने कर्ताको नहीं दे सकता है क्योंकि चावलके बीजसे यवका अंकुर कभी उत्पन्न नहीं होता है । ४ अबसूत्रकार उपसंहार करते हुए कहेते है-

(मूल) इच्चेव पडिलेहंति, वलया पडिलेहिणो ।
वितिगिच्छसमावन्ना, पंथाणं च अकोविया ॥ ५ ॥

(छाया) इत्येवं प्रतिलेखंति, वलयप्रतिलेखिनः
विचिकित्सासमापन्नाः पथश्चाकोविदाः ।

२ कुण्टलमण्डलादि० । कुण्टविण्टलादि० । ३ कर्तुं भा० प्र०

(अन्वयार्थ) (वितिगिच्छसमावन्ना) इस संयमका पालन मैं करसकूंगा या नहीं इस प्रकार संशय करनेवाले (पथाणं च अकोविया) मार्गको नहीं जाननेवाले (वलया पडिलेहिणो) गड्ढा आदिका अन्वेषण करनेवाले पुरुषों के समान (इच्चेव पडिलेहंति) इसी तरहका विचार करते हैं।

(भावार्थ) मैं इस संयमका पालन कर सकूंगा या नहीं इस प्रकार संशय करनेवाले अल्पपराक्रमी जीव, युद्धके अवसरमें छिपनेका स्थान अन्वेपण करनेवाले कायर के समान तथा मार्गको नहीं जाननेवाले मूर्खके समान यही सोचते रहते हैं कि संयमसे भ्रष्ट होनेपर इन व्याकरण आदि विद्याओंसे मेरी रक्षा हो सकेगी।

'इत्येवमि'ति' पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शार्थः, यथा भीरवः सङ्ग्रामे प्रविविक्षवो वलयादिकं प्रति उपेक्षिणो भवन्तीति, एवं प्रव्रजिता मन्दभाग्यतया अल्पसत्त्वा आजीविकाभयाद्व्याकरणादिकं जीवनोपायत्वेन 'प्रत्युपेक्षन्ते' परिकल्पयन्ति, किम्भूताः ?–विचिकित्सा'–चित्तविप्लुतिः–किमेनं संयमभारमुत्क्षिप्तमन्तं नेतुं वयं समर्थाः उत नेतीत्येवम्भूता, तथा चोक्तम्—"लुक्खमणुण्हमणिययं कालाइक्कंतभोयणं विरसं। भूमीसयणं लोओ असिणाणं बंभचेरं च ॥ १ ॥" तां समापन्नाः–समागताः, यथा पन्थानं प्रति 'अकोविदा' अनिपुणाः, किमयं पन्था विवक्षितं भूभागं यास्यत्युत नेतीत्येवं कृतचित्तविप्लुतयो भवन्ति, तथा तेऽपि संयमभारवहनं प्रति विचिकित्सां समापन्ना निमित्तगणितादिकं जीविकार्थं प्रत्युपेक्षन्त इति ॥ ५ ॥ साम्प्रतं महापुरुषचेष्टिते दृष्टान्तमाह—

(टीकार्थ) 'इत्येवम्' पद पहले कही हुई बातको बतानेके लिये है। जैसे कायर पुरुष युद्धमें प्रवेश करनेकी इच्छा करते हुए संकट आनेपर छिपने के लिये गड्ढा आदि गुप्त स्थानोका अन्वेपण करते हैं इसी तरह कोई अल्पपराक्रमी प्रव्रजित (साधु) अपनी भाग्यहीनता के कारण आजीविका के भयसे व्याकरण आदि विद्याओको अपनी जीविका का उपाय कायम करते हैं। वे साधु कैसे हैं? सो बतलाते हैं–चित्तकी चञ्चलताको 'विचिकित्सा' कहते हैं। उक्त साधुके चित्तमें यह संशय बना रहता है कि यह जो संयमभार मैंने ले रखा है इसे अन्ततक ले जानेके लिये मैं समर्थ हो सकूंगा अथवा नहीं? । कहा भी है "लुक्खं" अर्थात् प्रव्रजित पुरुषको पहले तो सूखा और ठंढा आहार मिलता है और वह भी कभी नहीं मिलता

२ रूक्षमनुष्णमनियत कालातिक्रान्त भोजन विरसम्। भूमिशयनं लोचोऽस्नानं ब्रह्मचर्यं च ॥ १ ॥

है तथा भोजनका समय बीतजाने पर मिलता है और वहभी नीरस मिलता है। एवं प्रव्रजित पुरुषको भूमिपर शयन करना पड़ता है तथा लोच करना और स्नान न करना और ब्रह्मचर्य्य धारण करना पड़ता है अतः इन कठिन क्रियाओंको देखकर अपनी प्रव्रज्याको अन्त तक निर्वाह कर सकने के विषय में कोई प्रव्रजित संशय करते हैं। जैसे मार्गका विवेकरहित पुरुष यह संशय करता है कि यह मार्ग, जिस स्थान पर जाना है वहाँ जाता है या नहीं? और वह चञ्चलचित्त होता है इसी तरह अपने ऊपर लिये हुए संयम भारको अन्ततक वहन कर सकने के विषय में संशय करनेवाले कोई कायर प्रव्रजित, निमित्तशास्त्र तथा गणित आदि शास्त्रोंपर अपनी जीविका की आशा रखते हैं। ५ अब शास्त्रकार महापुरुषोंकी चेष्टा के विषय में दृष्टान्त बतलाते हैं।

(मूल) जे उ संगामकालंमि, नाया सूरपुरंगमा।
णो ते पिट्ठमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया? ॥ ६ ॥

(छाया) ये तु संग्रामकाले ज्ञाताः शूरपुरङ्गमाः
नो ते पृष्ठ मुत्प्रेक्षन्ते, किं परं मरणं स्यात्।

(अन्वयार्थ) (उ) परन्तु (जे) जो पुरुष (नाया) जगत् प्रसिद्ध (सूरपुरगमा) वीरोंमें अग्रगण्य हैं (ते) वे (संगामकालंभि) युद्धका समय आनेपर (णो पिट्ठमुवेहिंति) पीछेकी बात पर ध्यान नहीं देते हैं, वे समझते हैं कि (किं परं मरणं सिया) मरण से भिन्न दूसरा क्या होसकता हैं?

(भावार्थ) जो पुरुष संसार में प्रसिद्ध तथा वीरोंमें अग्रेसर हैं वे युद्ध के अवसर में यह नहीं सोचते हैं कि विपत्ति के समय मेरा बँचाव कैसे होगा? वे समझते हैं कि मरणसे भिन्न दूसरा क्या हो सकता है?

(टीका) ये पुनर्महासत्त्वाः, तुशब्दो विशेषणार्थः 'सङ्ग्रामकाले' परानीकयुद्धावसरे 'ज्ञाताः' लोकविदिताः, कथम्? 'शूरपुरङ्गमाः' शूरणामग्रगामिनो युद्धावसरे सैन्याग्रस्कन्धवर्तिन इति, त एवम्भूताः सङ्ग्रामं प्रविशन्तो 'न पृष्ठमुत्प्रेक्षन्ते' न दुर्गादिकमापत्त्राणाय पर्यालोचयन्ति, ते चाभङ्गकृतबुद्धयः, अपि त्वेवं मन्यन्ते—किमपरमत्रास्माकं भविष्यति?, यदि परं मरणं स्यात्, तच्च शाश्वतं यशःप्रवाहमिच्छतामस्माकं स्तोकं वर्तत इति, तथा चोक्तम्—" विशरारुभिरविनश्वरमपि चपलैः स्यास्नु वाञ्छतां विशदम्। प्राणैर्यदि शूराणां भवति यशः किं न पर्याप्तम्? ॥ १ ॥ " ॥ ६ ॥ तदेवं सुभटदृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—

(टीकार्थ) यहां 'तु' शब्द पूर्वोक्त कायर पुरुष से इस गाथा में कहेजाने वाले शूर पुरुषकी विशेपता बताने के लिये आया है । जो पुरुष महापराक्रमी है जो शत्रुसेनाके साथ युद्ध करने में लोकप्रसिद्ध है तथा जो युद्ध के समय सेना में आगे रहते हैं वे, युद्धके समय पीछे होनेवाली बातका ख्याल नहीं करते हैं अर्थात् वे विपत्ति के समय अपनी रक्षा करनेके लिये किसी दुर्ग आदिका विचार नहीं करते हैं क्योंकि युद्धसे भागनेका विचार उनका होताही नहीं। वे समझते हैं कि इस युद्धमें यदि अधिकसे अधिक हानि हो तो यही हो सकता है कि मरण होगा परन्तु वह मरण निरन्तर रहनेवाली कीर्तिकी इच्छा करने वाले हमारे लिये एक तुच्छ वस्तु है । कहाभी है-(विशरारुभिः) अर्थात् मनुष्योंका प्राण नश्वर और चञ्चल है उसे देकर अनश्वर स्थिर और शुद्ध यशको लेनेकी इच्छा करनेवाले वीरोंको यदि प्राणके बदले यश मिलता है तो क्या वह प्राणकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् नहीं है ? । ६ इसप्रका सुभट पुरुषोंका दृष्टान्त बताकर अब शास्त्रकार दार्ष्टन्त बतलाते हैं

(मूल) एवं समुट्ठिए भिक्खू, वोसिज्जाऽगारबंधणं ।
आरंभं तिरियं कट्टु, अत्तत्ताए परिव्वए ॥ ७ ॥

(छाया) एवं समुत्थितो भिक्षुः व्युत्सृज्यागारबन्धनम्
आरम्भं तिर्य्यक् कृत्वा, आत्मत्वाय परिव्रजेत् ।

(अन्वयार्थ) (एवं) इस प्रकार (अगारबंधणं) गृहबन्धनको (वोसिज्जा) त्यागकर (आरंभं) तथा आरम्भको (तिरियंकट्टु) छोडकर (समुट्ठिए) संयम पालनके लिये ऊठाहुआ (भिक्खु) साधु (अत्तत्ताए) मोक्ष प्राप्तिके लिये (परिव्वए) संयमका अनुष्ठान करे ।

(भावार्थ) जो साधु, गृहबन्धनको त्याग तथा सावद्य अनुष्ठानको छोडकर संयम पालन करनेके लिये तत्पर हुआ है वह मोक्ष प्राप्तिके लिये शुद्ध संयमका अनुष्ठान करे ।

(टीका) यथा सुभटा ज्ञाता नामतः कुलतः शौर्यतः शिक्षातश्च तथा सन्नद्धबद्धपरिकराः करगृहीतहेतयः प्रतिभटसमितिभेदिनो न पृष्ठतोऽवलोकयन्ति, एवं 'भिक्षुरपि' साधुरपि महासत्त्वः परकलोप्रतिस्पर्द्धिनमिन्द्रियकपायादिकमरिवर्गं जेतुं सम्यक्-संयमोत्थानेनोत्थितः समुत्थितः, तथा चोक्तम्-"[1]कोहं माणं च मायं च, लोहं पंचिंदियाणि य । दुज्जयं चेवमप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥ १ ॥"

१ क्रोधः मानश्च माया च लोभः पञ्चेन्द्रियाणि च । दुर्जयं चैवात्मनां सर्वमात्मनि जिते जितम् ॥ १ ॥

किं कृत्वा समुत्थित इति दर्शयति–'व्युत्सृज्य' त्यक्त्वा 'अगारवन्धनं' गृहपाशं तथा 'आरम्भं' सावद्यानुष्ठानरूपं 'तिर्यक्कृत्वा' अपहस्त्य आत्मनो भाव आत्मत्वम्–अशेषकर्मकलङ्करहितत्वं तस्मै आत्मत्वाय, यदिवा–आत्मा–मोक्षः संयमो वा तद्भावस्तस्मै–तदर्थं परि–समन्तादूव्रजेत्–संयमानुष्ठानक्रियायां दत्तावधानो भवेदित्यर्थः ॥ ७

(टीकार्थ) नाम, कुल, शूरता और शिक्षा के द्वारा जगत्प्रसिद्ध तथा शत्रुकी सेनाको भेदन करनेवाले उत्तम वीर पुरुष हाथमें शस्त्र लेकर जव युद्धके लिये तय्यार होते है तब वे जैसे पीछेकी ओर नहीं देखते इसी तरह महापराक्रमी साधु पुरुष भी परलोक को नष्ट करने वाले इन्द्रिय और कषाय आदि शत्रुओंको विजय करने के लिये जब संयम भारको लेकर उत्थित होते हैं तब वे पीछेकी ओर नहीं देखते हैं। कहा भी है (कोहं) अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ और पांच इन्द्रिय ये मनुष्यों से दुर्जय हैं अतः अपने आत्माको जीत लेने पर सभी जीत लिये जाते हैं। वह साधु क्या करके ऊठा है सो शास्त्रकार दिखलाते हैं–वह साधु गृहवास को छोडकर तथा सावद्य अनुष्ठान रूप आरम्भ को त्यागकर संयम पालन करने के लिये ऊठा है। आत्मा के भाव को आत्मत्व कहते हैं अर्थात् समस्त कर्मकलङ्कोंसे रहित होजाना आत्मत्व है उस आत्मत्व के लिये साधुको सावधान होकर रहना चाहिये। अथवा आत्मत्व नाम मोक्ष या संयमका है अतः साधुको मोक्ष प्राप्ति अथवा संयम पालन के लिए चारो तर्फसे प्रवृत्त हो जाना चाहिये। साधुको संयमके अनुष्टानरूप क्रिया में खूब सावधान रहना चाहिये यह अर्थ है। ७

(मूल) तमेगे परिभासंति, भिक्खूयं साहुजीविणं।
जे एवं परिभासंति, अंतए ते समाहिए ॥ ८ ॥

(छाया) तमेके परिभाषन्ते, भिक्षुकं साधुजीविनम्
य एवं परिभाषन्ते, अन्तके ते समाधेः।

(अन्वयार्थ) (साहुजीविणं) उत्तम आचारसे जीवन निर्वाह करनेवाले (तं) उस (भिक्खुयं) साधुके विषयमें (एके) कोई अन्यदर्शनी (परिभासंति) आगे कहा जानेवाला आक्षेप वचन कहते हैं (जे एवं परिभासंति) परन्तु जो इस प्रकार आक्षेप युक्त वचन कहते हैं (ते) वे (समाहिए) समाधिसे (अंतए) दूर हैं।

(भावार्थ) उत्तम आचार से अपना जीवन निर्वाह करने वाले साधु के विषयमें

---

२ हस्तयित्वा प्र० ।

कोई अन्यतीर्थी आगे कहा जानेवाला आक्षेप वचन कहते हैं परन्तु जो इस प्रकार आक्षेप वचन कहते हैं वे समाधिसे दूर हैं।

(टीका) निर्युक्तौ यदभिहितमध्यात्मविषीदनं तदुक्तम्, इदानीं परवादिवचनं द्वितीयमर्थाधिकारमधिकृत्याह-त' मिति साधुम् 'एके' ये परस्परोपकाररहितं दर्शनमापन्ना अयःशलाकाकल्पाः, ते च गोशालकमतानुसारिण आजीविका दिगम्बरा वा, त एवं वक्ष्यमाणं परि-समन्ताद्भाषन्ते तं भिक्षुकं साध्वाचारं साधु-शोभनं परोपकारपूर्वकं जीवितुं शीलमस्य स साधुर्जीविनमिति, 'ये' ते अपुष्टधर्माण 'एवं' वक्ष्यमाणं 'परिभाषन्ते' साध्वाचारनिन्दां विदधति त एवंभूता 'अन्तके' पर्यन्ते दूरे 'समाधेः' मोक्षाख्यात्सम्यग्ध्यानात्सदनुष्ठानात् वा वर्तन्त इति ॥ ८ ॥ यत्ते प्रभाषन्ते तदर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) निर्युक्ति में कहा जाचुका है कि संयम धारण करने के पश्चात् कायर पुरुष के चित्तमें विषाद उत्पन्न होता है। वह किस प्रकार होता है? सो पूर्वकी गाथाओंने कहा जाचुका अब साधुओंके विषयमें अन्यतीर्थी लोग क्या कहते हैं इस दूसरे अर्थाधिकार के विषयमें शास्त्रकार कहते हैं-जैसे लोहकी शलाकायें आपस में नहीं मिलती हैं किन्तु अलग अलग रहती हैं इसी तरह अलग विचरने वाले, जिसमें एक दूसरेका उपकार करना नहीं कहा है ऐसे दर्शनको मानने वाले, कोई गोशालकमतानुयायी अथवा दिगम्बरमतवाले, उत्तम आचारवाले और परोपकार के साथ जीवन निर्वाह करनेवाले साधुओंके विषय में आगे कहे अनुसार आक्षेपयुक्त वचन कहते हैं। साधुओं के विषयमें आगे कहे अनुसार जो आक्षेप युक्त वचन कहते हैं अर्थात् जो साधुओंके आचार की निन्दा करते हैं उनका धर्म पुष्ट नहीं है तथा वे समाधि अर्थात् मोक्ष रूप सम्यग् ध्यान से अथवा उत्तम अनुष्ठान से दूर हैं। ८

वे अन्यतीर्थी जो आक्षेप वचन कहते हैं वह शास्त्रकार दिखाते हैं।

(मूल) संबद्धसमकप्पा उ, अन्नमन्नेसु मुच्छिया।
पिंडवायं गिलाणस्स, जं सारेह दलाह य ॥ ९ ॥

(छाया) सम्बद्धसमकल्पास्तु, अन्योऽन्येषु मूर्च्छिताः
पिण्डपातं ग्लानस्य, यत्सारयत दद्ध्वञ्च।

२ परिवादि० प्र०।

(अन्वयार्थ) (सम्बद्धसमकप्पा) ये लोग गृहस्थ के समान व्यवहार करते हैं (अन्नमन्नेसु मुच्छिया) ये, परस्पर एक दूसरे में आसक्त रहते हैं। (गिलाणस्स) रोगी साधुको (पिंडवायं) भोजन (सारेह) लाते हैं (य) और (दलाह) देते हैं।

(भावार्थ) अन्यतीर्थी सम्यग्दृष्टि साधुओंके विषयमें यह आक्षेप करते हैं कि इन साधुओंका व्यवहार गृहस्थोके समान है जैसे गृहस्थ अपने कुटुम्ब में आसक्त रहेते हैं ऐसेही ये साधु भी परस्पर आसक्त रहते हैं तथा रोगी साधु के लिये ये लोग आहार लाकर देते हैं।

(टीका) सम्-एकीभावेन परस्परोपकार्योपकारितया च 'बद्धाः' पुत्रकलत्रादिस्नेहपाशैः सम्बद्धा-गृहस्थास्तैः समः-तुल्यः कल्पो-व्यवहारोऽनुष्ठानं येषान्ते सम्बद्धसमकल्पा-गृहस्थानुष्ठानतुल्यानुष्ठाना इत्यर्थः, तथाहि-यथा गृहस्थाः परस्परोपकारेण माता पुत्रे पुत्रोऽपि मात्रादावित्येवं 'मूर्च्छिता' अध्युपपन्नाः, एवं भवन्तोऽपि 'अन्योऽन्यं' परस्परतः शिष्याचार्याद्युपकारक्रियाकल्पनया मूर्च्छिताः, तथाहि-गृहस्थानामयं न्यायो यदुत-परस्मै दानादिनोपकार इति. न तु यतीनां, कथमन्योऽन्यं मूर्च्छिता इति दर्शयति—'पिंडपातं' भैक्ष्यं 'ग्लानस्य' अपरस्य रोगिणः साधोः यद्-यस्मात् 'सारेह'त्ति अन्वेषयत[२], तथा 'दलाहय'त्ति ग्लानयोग्यमाहारमन्विष्य तदुपकारार्थं दद्ध्वं, चशब्दादाचार्यादे वैयावृत्त्यकरणाद्युपकारेण वर्तध्वं, ततो गृहस्थसमकल्पा इति ॥ ९ ॥ साम्प्रतमुपसंहारव्याजेन दोषदर्शनायाह—

(टीकार्थ) जो आपसमें एकीभावसे अर्थात् उपकार्य्य और उपकारक रूपसे बँधे हुए हैं वे संवद्ध कहलाते हैं अर्थात् पुत्र और स्त्री आदि के स्नेह पाशमें बँधे हुए गृहस्थ 'संवद्ध' कहलाते हैं। उन गृहस्थों के समान जिनका व्यवहार (अनुष्ठान) है वे 'संवद्धसमकल्प' कहलाते हैं। अर्थात् जो गृहस्थों के समान अनुष्ठान करते हैं वे 'संवद्धसमकल्प' हैं। क्योंकि जैसे गृहस्थ परस्पर उपकार द्वारा माता पुत्र में और पुत्र माता आदि में आसक्त रहते हैं उसी तरह आप लोग भी शिष्य और आचार्य्यके उपकार द्वारा परस्पर मूर्च्छित रहते हैं। यह गृहस्थोंका व्यवहार है कि वे दूसरेको दान आदिके द्वारा उपकार करते हैं। परन्तु साधुओंका यह व्यवहार नहीं है। किस प्रकार आपलोग परस्पर मूर्च्छित रहते हैं सो दिखलाते हैं—आप लोग रोगी साधु को आहारका अन्वेषण करते हैं और रोगीके खाने योग्य आहार अन्वेषण करके उसे देते हैं तथा 'च' शब्द से आचार्य्य आदिका उपकार करते हैं इस लिए आपलोग गृहस्थ के समान व्यवहारवाले हैं। ९ अव अन्यतीर्थियोंके आक्षेप वाक्योंकी समाप्ति करते हुए शास्त्रकार उनकी ओर से दोष वताने के लिये कहते हैं—

२ अन्वेपयस्ते प्र०

(मूल) एवं तुब्भे सरागत्था, अन्नमन्नमणुव्वसा ।
नट्ठसप्पहसब्भावा, संसारस्स अपारगा ॥ १० ॥

(छाया) एवं यूयं सरागस्था, अन्योऽन्यमनुवशाः
नष्टसत्पथसद्भावाः संसारस्यापारगाः ।

(अन्वयार्थ) (एवं) इस प्रकार (तुब्भे) आपलोग (सरागत्था) राग सहित है (अन्न-मन्नमणुव्वसा) और परस्पर एक दूसरे के वश में रहते हैं (नट्ठसप्पहसब्भावा) अतः आपलोग सत्पथ और सद्भाव से हीन हैं (संसारस्स) और इसलिये संसार से (अपारगा) पार जानेवाले नहीं है ।

(भावार्थ) अन्यतीर्थी, सम्यग्दृष्टि साधुओं पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि आपलोग पूर्वोक्त प्रकारसे राग सहित और एक दूसरे के वशमें रहते हैं, अतः आपलोग सत्पथ और सद्भावसे रहित है तथा संसारको पार नहीं कर सकते हैं।

(टीका) 'एवं' परस्परोपकारादिना यूयं गृहस्था इव सरागस्थाः–सह रागेण वर्तत इति सरागः––स्वभावस्तस्मिन् तिष्ठन्तीति ते तथा, 'अन्योन्यं' परस्परतो वशमुपागताः—परस्परायत्ताः, यतयो हि निःसङ्गतया न कस्यचिदायत्ता भवन्ति, यतो गृहस्थानामयं न्याय इति, तथा नष्टः––अपगतः सत्पथः–सद्भावः—सन्मार्गः परमार्थो येभ्यस्ते तथा। एवम्भूताश्च यूयं 'संसारस्य' चतुर्गतिभ्रमण लक्षणस्य 'अपार गा' अतीरगामिन इति ॥ १० ॥ अयं तावत्पूर्वपक्षः अस्य च दूषणायाह––

(टीकार्थ) आपलोग आपसमें एक दूसरे के उपकार द्वारा गृहस्थकी तरह राग युक्त हैं। जो रागके सहित है ऐसे स्वभावको सराग कहते हैं उस स्वभाव में जो स्थित है उसे सरागस्थ कहते हैं। तथा आपलोग परस्पर एक दूसरे के वशीभूत अर्थात् आधीन रहते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि साधु पुरुष निःसंग रहते हैं वे किसीके वशमें नहीं रहते। वशमें रहना यह गृहस्थोका व्यवहार है। तथा आपलोग सन्मार्ग और सद्भाव अर्थात् परमार्थ से भ्रष्ट हैं अतः आपलोग चार गतियों में भ्रमणरूप संसारसे पार जानेवाले नहीं हैं। १०

यह पूर्वपक्ष है इसका दोप दिखानेके लिये अब शास्त्रकार कहते हैं—

(मूल) अह ते परिभासेज्जा, भिक्खु मोक्खविसारए ।
एवं तुब्भे पभासंता, दुपक्खं चेव सेवह ॥ ११ ॥

(छाया) अथ तान् परिभाषेत, भिक्षु र्मोक्षविशारदः
एवं यूयं प्रभाषमाणाः दुष्पक्षञ्चैव सेवध्वम् ।

(अन्वयार्थ) (अह) इसके पश्चात (मोक्खविसारए) मोक्षविशारद अर्थात् ज्ञानदर्शन और चारित्र की प्ररूपणा करनेवाला (भिक्खु) साधु (ते) उन अन्यतीर्थियोंसे (परिभासेज्जा) कहे कि (एवं) इस प्रकार (पभासंता) कहते हुए (तुब्भे) आपलोग (दुपक्खं) दो पक्षका (सेवह) सेवन करते हैं।

(भावार्थ) अन्यतीर्थियों के पूर्वोक्त प्रकार से आक्षेप करने पर मोक्ष की प्ररुपणा करनेमें विद्वान् मुनि उनसे यह कहे कि इस प्रकार जो आप आक्षेपयुक्त वचन कहते हैं सो आप असत्पक्षका सेवन करते हैं।

(टीका) 'अथ' अनन्तरं 'तान्' एवं प्रतिकूलत्वेनोपस्थितान् भिक्षुः 'परिभाषेत' ब्रूयात्, किम्भूतः ?–'मोक्षविशारदो' मोक्षमार्गस्य–सम्यग्दर्शनचारित्ररूपस्य प्ररूपकः, 'एवम्' अनन्तरोक्तं यूयं प्रभाषमाणाः सन्तः दुष्टः पक्षो दुष्पक्षः–असत्प्रतिज्ञाभ्युपगमस्तमेव सेवध्वं यूयं, यदिवा–रागद्वेषात्मकं पक्षद्वयं सेवध्वं यूयं, तथाहि–सदोषस्याप्यात्मीयपक्षस्य समर्थनाद्रागो, निष्कलङ्कस्याप्यसदभ्युपगमस्य दूषणाद्द्वेषः, अथै(थवै)वं पक्षद्वयं यूयं, तद्यथा–वक्ष्यमाणनीत्या वीजोदकोद्दिष्टकृतभोजित्वाद्गृहस्थाः यतिलिङ्गाभ्युपगमात्किल प्रव्रजिताश्चेत्येवं पक्षद्वयासेवनं भवतामिति, यदिवा–स्वतोऽसदनुष्ठानमपरञ्च सदनुष्ठायिनां निन्दनमितिभावः ॥ ११ ॥

(टीकार्थ) इसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रकारसे प्रतिकूल होकर उपस्थित होते हुए उन अन्यतीर्थियोंसे साधु पुरुष यह कहे। वह साधु पुरुष कैसा है ? " मोक्षविशारदः " अर्थात् सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्ररूप मोक्ष मार्गकी प्ररूपणा करनेवाला है। वह कहेकि पूर्वोक्त प्रकारसे भाषण करने वाले आप लोग असत् पक्षका सेवन करते हैं अर्थात आप असत् प्रतिज्ञाको स्वीकार करते है। अथवा आप राग और द्वेषरूप दो पक्षोंका सेवन करते हैं क्योंकि आपका पक्ष दोष सहित है तथापि आप उसका समर्थन करते हैं इसलिये आपको अपने पक्षमें राग है और हमारा सिद्धान्त कलङ्क रहित है तथापि आप उसे दूषित वतलाते हैं इस लिये आपका उस पर द्वेष है अथवा आप लोग इस प्रकार दो पक्षोंका सेवन करते हैं जैसे कि आप लोग वीज, कच्चा पानी, और उद्दिष्ट आहार का सेवन करने के कारण गृहस्थ हैं और साधुका वेष रखने के कारण साधु हैं इस प्रकार आप लोग दो पक्षोंका सेवन करते हैं। अथवा आप

लोग स्वयं असत् अनुष्ठान करते है और सत् अनुष्ठान करने वाले दूसरोंकी निन्दा करते हैं इस लिये आप लोग दो पक्षोंका सेवन करते हैं यह आशय है। ११

(मूल) तुब्भे भुंजह पाएसु, गिलाणो अभिहडंमि या।
तं च वीओदगं भोच्चा, तमुद्दिसादि जं कडं ॥ १२ ॥

(छाया) यूयं भुङ्ध्वं पात्रेषु ग्लान अभ्याहृते यत्
तच्च बीजोदकं भुक्त्वा तमुद्दिश्यादियत्कृतम्।

(अन्वयार्थ) (तुब्भे) आप लोग, (पाएसु) काँसा आदि के पात्रोंमें (भुंजह) भोजन करते हैं तथा (गिलाणो) रोगी साधु के लिये (अभिहडंमि, या) गृहस्थों के द्वारा जो भोजन मँगाते हैं (तंच वीओदगं) सो आप बीज और कच्चे जलका (भोच्चा) उपभोग (तमुद्दिस्सादि जं कडं) तथा उस साधुके लिये जो आहार बनाया गया है उसका उपभोग करते है

(भावार्थ) आपलोग काँसा आदि के पात्रों में भोजन करते हैं तथा रोगी साधुको खाने के लिये गृहस्थों के द्वारा आहार मँगाते हैं इस प्रकार आपलोग बीज और कच्चे जलका उपभोग करते हैं तथा आप उद्देशिक आदि आहार भोजन करते हैं।

(टीका) आजीविकादीनां परतीर्थिकानां दिगम्बराणां चासदाचारनिरूपणायाह–किल वयमपरिग्रहतया निष्किञ्चना एवमभ्युपगमं कृत्वा यूयं भुङ्ग्ध्वं 'पात्रेषु' कांस्यपात्र्यादिषु गृहस्थभाजनेषु, *तत्परिभोगाच्च तत्परिग्रहोऽवश्यंभावी, तथाऽऽहारादिषु मूर्च्छा कुरुध्वमित्यतः कथं निष्परिग्रहाभ्युपगमो भवतामकलङ्क इति, अन्यच्च 'ग्लानस्य' भिक्षाटनं कर्तुमसमर्थस्य यदपरैर्गृहस्थैरभ्याहृतं कार्यते भवद्भिः, यतेरानयनाधिकाराभावाद् गृहस्थानयने च यो दोषसद्भावः स भवतामवश्यंभावीति, तमेव दर्शयति–यच्च गृहस्थैर्बीजोदकाद्युपमर्देनापादितमाहारं भुक्त्वा ग्लानमुद्दिश्योद्देशकादि 'यत्कृतं' यन्निष्पादितं तदवश्यं युष्मत्परिभोगायावतिष्ठते। तदेवं गृहस्थगृहे तद्भाजनादिषु भुञ्जानास्तथा ग्लानस्य च गृहस्थैरेव वैयावृत्त्यं कारयन्तो यूयमवश्यं बीजोदकादिभोजिन उद्देशिकादिकृतभोजिनश्चेति ॥ १२ ॥
किञ्चान्यत्––

१ प्रसङ्गापादनं, तैःसंबन्धमात्रस्य परिग्रहत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा निर्मूर्च्छे धर्मोपकरणधरणापत्तेः

(टीकार्थ) आजीविक आदि तथा दिगम्बर आदि परतीर्थियों के असत् आचारका निरूपण करनेके लिये शास्त्रकार कहते हैं—हम लोग परिग्रह वर्जित होने के कारण निष्किञ्चन हैं यह मानते हुए भी आप लोग काँसा के पात्र आदि गृहस्थों के पात्रोंमें भोजन करते हैं। गृहस्थों के पात्रों में भोजन करने के कारण आपको उसका परिग्रह अवश्य होता है तथा आप लोग आहार में मूर्च्छा भी करते हैं इस लिये अपनेको परिग्रह वर्जित मानना आपका किस प्रकार निष्कलङ्क कहा जा सकता है ? । तथा भिक्षा लाने के लिये जाने में असमर्थ रोगी साधु के लिये आपलोग गृहस्थों के द्वारा भोजन मँगवाते हैं परन्तु साधुको गृहस्थों के द्वारा भोजन मँगानेका अधिकार नहीं है इस लिये गृहस्थ के द्वारा लाये हुए आहार के खाने से जो दोष होता है वह भी आपको अवश्य होता है। यही बात शास्त्रकार दिखलाते हैं गृहस्थ लोग बीज और जलका उपमर्द करके जो आहार तैयार करते हैं तथा रोगी साधुके निमित्त जो आहार बनाते हैं उसे आप अवश्य आहार करते हैं इस प्रकार गृहस्थों के घरों में जाकर उनके पात्रों में भोजन करते हुए तथा रोगी साधुकी गृहस्थों के द्वारा सेवा कराते हुए आप लोग अवश्य बीज और कच्चे जलका उपभोग करते हैं एवं उद्दिष्ट आहार आदिका भोजन करते हैं। १२

(मूल) लित्ता तिव्वाभितावेणं, उज्झिआ असमाहिया।
नातिकंडूइयं सेयं, अरुयस्सावरज्झती ॥ १३ ॥

(छाया) लिप्ताः तीव्राभितापेन, उज्झिता असमाहिताः
नातिकण्डूयितं श्रेयोऽरुपोऽपराध्यति ।

(अन्वयार्थ) (तिव्वाभितावेणं) आपलोग तीव्र अभिताप अर्थात् कर्मबन्धनसे (लित्ता) उपलिप्त (उज्झिआ) सद्विवेक से रहित (असमाहिया) तथा शुभ अध्यवसाय से रहित हैं। (अरुयस्स) व्रण-घावका (अतिकंडूइयं) अत्यन्त खुजलाना (न सेयं) अच्छा नहीं है (अवरज्झती) क्योंकि वह दोष उत्पन्न करता है।

(भावार्थ) आप लोग कर्मबन्ध से लिप्त होते हैं तथा आप सद्विवेक से हीन और शुभ अध्यवसाय से वर्जित है। देखिये व्रण को अत्यन्त खुजलाना अच्छा नहीं है क्योकि उससे विकार उत्पन्न होता है।

(टीका) योऽयं षड्जीवनिकायविराधनयोद्दिष्टभोजित्वेनाभिगृहीतमिथ्यादृष्टितया च साधुपरिभाषणेन च तीव्रोऽभितापः—कर्मबन्धरूपस्तेनोपलिप्ताः—संवेष्टि-

तास्तथा 'उज्झिय'त्ति सद्विवेकशून्या भिक्षापात्रादित्यागात्परगृहभोजितयोद्देशकादिभोजित्वात् तथा 'असमाहिता' शुभाध्यवसायरहिताः सत्साधुप्रद्वेषित्वात्, साम्प्रतं दृष्टान्तद्वारेण पुनरपि तद्दोषाभिधित्सयाऽऽह—यथा 'अरुषः' व्रणस्यातिकण्डूयितं—नखैर्विलेखनं न श्रेयो—न शोभनं भवति, अपि त्वपराध्यति—तत्कण्डूयनं व्रणस्य दोषमावहति, एवं भवन्तोऽपि सद्विवेकरहिताः वयं किल निष्किञ्चना इत्येवं निष्परिग्रहतया षड्जीवनिकायरक्षणभूतं भिक्षापात्रादिकमपि संयमोपकरणं परिहृतवन्तः, तदभावाच्चाऽवश्यंभावी अशुद्धाहारपरिभोग इत्येवं द्रव्यक्षेत्रकालभावानपेक्षणेन नातिकण्डूयितं श्रेयो भवतीति भावः ॥ १३ ॥

(टीकार्थ) छः काय के जीवोंका विनाश करके जो आप लोगों के निमित्त आहार तैयार किया जाता है उस उद्दिष्ट आहार के भोजन करने से तथा मिथ्यादृष्टिको हठपूर्वक स्वीकार करने से एवं साधुओंकी निन्दा करने से आपलोग कर्मबन्ध रूप तीव्र अभितापसे लिप्त तथा सद्विवेक से हीन हैं क्योंकि आप लोग भिक्षा पात्र को नहीं रखकर दूसरे के घरोंमें भोजन करते हुए उद्दिष्ट आहारका सेवन करते हैं। एवं उत्तम साधुओं के साथ द्वेष करनेके कारण आप लोग शुभ अध्यवसाय से वर्जित हैं। अब शास्त्रकार दृष्टान्त के द्वारा उन अन्यतीर्थियोंका दोष बतलाने के लिये फिर कहते हैं—जैसे घावको अत्यन्त खुजलाना अच्छा नहीं है क्योंकि अत्यन्त खुजलाने से घावमें विकार उत्पन्न होता है इसी तरह आप लोग भी ऐसे सद्विवेक से रहित हैं कि हमलोग परिग्रह वर्जित होने के कारण निष्किञ्चन हैं यह कहते हुए छः कायके जीवोंकी रक्षा के साधन स्वरूप संयम के उपकरण जो भिक्षा पात्र आदि हैं उनको भी त्याग देते हैं इस प्रकार संयमके उपकरणों के त्याग करने से अशुद्ध आहारका उपभोग अवश्यं भावी है अतः द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा न करके घावमें अत्यन्त खाज करने के समान संयम के उपकरणों को भी त्याग देना कल्याण के लिये नहीं है।

(मूल) तत्तेण अणुसिट्ठा ते, अपडिन्नेण जाणया ।
ण एस णियए मग्गे, असमिक्खा वती किती ॥ १४ ॥

(छाया) तत्त्वेनानुशिष्टास्तेऽप्रतिज्ञेन जानता
न एष नियतो मार्गोऽसमीक्ष्य वाक्कृतिः ।

(अन्वयार्थ) (अपडिन्नेण) जिसको मिथ्या अर्थ बतानेकी प्रतिज्ञा नहीं है उसे अप्रतिज्ञ कहते हैं (जाणया) तथा जो ग्रहण करने योग्य और त्याग करने योग्य पदार्थोंको जानता है

वह साधु पुरुष (ते) उन अन्यदर्शनवालोंको (तत्तेण अणुसिट्टा) सत्य अर्थकी शिक्षा देता है कि (एस मग्गे) आपलोगोने जिसे स्वीकार किया है वह मार्ग (ण नियए) युक्तिसङ्गत नहीं हैं। (वती) तथा आपने जो सम्यग्दृष्टि साधुओं के लिये आक्षेप वचन कहा है वह भी (असमिक्खा) विना विचारे कहा है (किती) एवं आपलोग जो कार्य्य करते हैं वह भी विवेकशून्य है।

(भावार्थ) सत्य अर्थको बतलानेवाला तथा त्यागने योग्य ओर ग्रहण करने योग्य पदार्थों को जाननेवाला सम्यग्दृष्टि मुनि उन अन्यतीर्थियों को यथार्थ बातकी शिक्षा देता हुआ यह कहता है कि आप लोगोने जिस मार्गको स्वीकार किया है वह युक्तिसङ्गत नहीं है तथा आप सम्यग्दृष्टि साधुओंपर जो आक्षेप करते हैं वह भी विना विचारे करते हैं एवं आपका आचार व्यवहार भी विवेक से रहित है।

(टीका) अपि च–'तत्वेन' परमार्थेन मौनीन्द्राभिप्रायेण यथावस्थितार्थप्ररूपणया ते गोशालकमतानुसारिण आजीविकादयः बोटिका वा 'अनुशासिताः' तदभ्युपगमदोपदर्शनद्वारेण शिक्षां ग्राहिताः, केन?–'अप्रतिज्ञेन' नास्य मयेदमसदपि समर्थनीयमित्येवं प्रतिज्ञा विद्यते इत्यप्रतिज्ञो—रागद्वेपरहितः साधुस्तेन 'जानता' हेयोपादेयपदार्थपरिच्छेदकेनेत्यर्थः, कथमनुशासिता इत्याह—योऽयं भवद्भिरभ्युपगतो मार्गो यथा यतीनां निष्किञ्चनतयोपकरणाभावात् परस्परत उपकार्योपकारकभाव इत्येष 'न नियतो' न निश्चितो न युक्तिसङ्गतः, अतो येयं वाग् यथा–ये पिण्डपातं ग्लानस्याऽऽनीय ददति ते गृहस्थकल्पा इत्येपा 'असमीक्ष्याभिहिता' अपर्यालोच्योक्ता, तथा 'कृतिः' करणमपि भवदीयमसमीक्षितमेव, यथा चापर्यालोचितकरणता भवति भवदनुष्ठानस्य तथा नातिकण्डूयितं श्रेय इत्यनेन प्राग्लेशतः प्रतिपादितं, पुनरपि सदृष्टान्तं तदेव प्रतिपादयति ॥ १४ ॥ यथाप्रतिज्ञातमाह––

(टीकार्थ) जो वस्तुतः सत्य है अर्थात् जो जिनराज के अभिप्राय के अनुसार है अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको उसी तरह से प्ररूपण करनाही रूप तत्व अर्थ है उसके द्वारा गोशालक मतानुयायी और दिगम्बरोंको शिक्षा दी जाती है। उन लोगोंकी मान्यता में दोष बताकर उन्हे सत्य अर्थकी शिक्षा दी जाती है। किसके द्वारा शिक्षा दी जाती है! कहते हैं कि–अप्रतिज्ञ पुरुष के द्वारा। मिथ्या अर्थ का भी समर्थन करुंगा ऐसी भावना को प्रतिज्ञा कहते है वह जिसको नहीं है उसे अप्रतिज्ञ कहते है अर्थात् जो रागद्वेष से रहित है उसे अप्रतिज्ञ कहते है उसके द्वारा शिक्षा दी जाती है तथा जो त्यागने योग्य और ग्रहण करने

योग्य पदार्थका निश्चय करने वाले हैं उन्के द्वारा शिक्षा दी जाती है। किस प्रकार शिक्षा दी जाती है ? सो वतलाते हैं—आपलोगों ने जो यह मार्ग स्वीकार किया है कि साधुको निष्किञ्चन होनेके कारण उपकरण विलकुल नहीं रखने चाहिये और इसी कारण परस्पर एक दूसरे की सेवा भी नहीं करनी चाहिये सो यह आपका मार्ग युक्ति सङ्गत नहीं है तथा आप जो यह कहते हैं कि जो रोगी साधु को आहार लाकर देते हैं वे गृहस्थ के समान हैं यह आप विना विचारे कहते हैं तथा आप जो कार्य्य करते हैं वह भी विचार शून्य ही है आपका कार्य्य जिस प्रकार विवेक रहित है सो " नातिकण्डूयितं श्रेयः " इस पद्यमें पहले कुछ कह दिया गया है और फिर वही दृष्टान्त के साथ वतलाते हैं। १४

शास्त्रकार अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार कहते हैं—

(मूल) एरिसा जा वई एसा, अग्गवेणु व्व करिसिता ।
गिहिणो अभिहडं सेयं, भुंजिउं ण उ भिक्खुणं ॥१५॥

(छाया) ईदृशी या वागेषा, अग्रवेणुरिव कर्षिता
गृहिणोऽभ्याहृतं श्रेयः, भोक्तुं न तु भिक्षूणाम्

(अन्वयार्थ) (एरिसा) इस तरहकी (जा) जो (वई) कथन है कि (गिहिणो अभिहडं) गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार (भुंजिउं सेयं) साधुको खाना कल्याणकारी है (ण उ भिक्खुणं) परन्तु साधु के द्वारा लाया हुआ नहीं (एसा) यह बात (अग्गवेणुव्व) बाँसके अग्र भागकी तरह (करिसिया) कृश–दुर्वल है।

(भावार्थ) साधुको गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार खाना काल्याणकारी है परन्तु साधु के द्वारा लाया हुआ आहार खाना कल्याणकारी नहीं है यह कथन युक्ति रहित होने के कारण इस प्रकार दुर्वल है जैसे वांसका अग्रभाग दुर्वल होता है।

(टीका) येयमीदृक्षा वाक् यथा यतिना ग्लानस्यानीय न देयमित्येषा अग्रे वेणुवद्–वंशवत् कर्षिता तन्वी युक्त्यक्षमत्वात् दुर्वलेत्यर्थः, तामेव वाचम् दर्शयति— **'गृहिणां'** गृहस्थानां यदभ्याहृतं तद्यतेर्भोक्तुं 'श्रेयः' श्रेयस्करं, न तु भिक्षूणां सम्वन्धीति, अग्रे तनुत्वं चास्या वाच एवं द्रष्टव्यं–यथा गृहस्थाभ्याहृतं जीवोपमर्देन भवति, यतीनां तूद्गमादिदोषरहितमिति ॥ १५ ॥

(टीकार्थ) यह जो इस प्रकारका वाक्य है कि साधुको रोगी साधु के लिये आहार ला कर नहीं देना चाहिये यह बाँस के अग्र भाग के समान पतला अर्थात् युक्ति रहित होने

के कारण दुर्बल है । इसी वाक्य को शास्त्रकार दिखलाते हैं—" गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार खाना साधुको कल्याणकारी है परन्तु साधु के द्वारा लाया हुआ नहीं " यह कथन बाँस के अग्रभाग के समान कृश इस लिये है कि गृहस्थों के द्वारा लाया हुआ आहार जीवोंका घात के साथ होता है और साधुओं के द्वारा लाया हुआ आहार उद्गमादि दोष रहित होता है । १५

(मूल) धम्मपन्नवणा जा सा, सारंभा ण विसोहिआ ।
ण उ एयाहिं दिट्ठीहिं, पुव्वमासिं पग्गप्पिअं ॥१६॥

(छाया) धर्मप्रज्ञापना या सा सारम्भाणां विशोधिका
न त्वेताभि र्दृष्टिभिः पूर्वमासीत्प्रकल्पितम् ।

(अन्वयार्थ) (जा धम्मपन्नवणा) साधुओंको दान आदि देकर उपकार करना चाहिये यह जो धर्मकी देशना है (सा) वह (सारंभाण विसोहिआ) गृहस्थों को शुद्ध करनेवाली है साधुओं को नहीं (एयाहिं दिट्ठीहिं) इस दृष्टिसे (पुव्वं) पहले (णउ पग्गप्पिअं आसिं) यह देशना नहीं कीगईथी ।

(भावार्थ) साधुओंको दान आदि दे कर उपकार करना चाहिये यह जो धर्मकी देशना है वह गृहस्थोंकोही पवित्र करने वाली है साधुओंको नहीं इस अभिप्राय से पहले यह धर्मकी देशना नहीं की गईथी ।

(टीका) किञ्च—धर्मस्य प्रज्ञापना—देशना यथा—यतीनां दानादिनोपकर्तव्यमित्येवम्भूता या सा 'सारम्भाणां' गृहस्थानां विशोधिका, यतयस्तु स्वानुष्ठानेनैव विशुध्यन्ति, न तु तेषां दानाधिकारोऽस्तीत्येतत् दूषयितुं प्रक्रमते—'न तु' नैवैताभिर्यथा गृहस्थेनैव पिण्डदानादिना यतेर्ग्लानाद्यवस्थायामुपकर्तव्यं नतु यतिभिरेव परस्परमित्येवम्भूताभिः युष्मदीयाभिः 'दृष्टिभिः' धर्मप्रज्ञापनाभिः 'पूर्वम्' आदौ सर्वज्ञैः 'प्रकल्पितं' प्ररूपितं प्रख्यापितमासीदिति, यतो न हि सर्वज्ञा एवम्भूतं परिफल्गुप्रायमर्थं प्ररूपयन्ति यथा—असंयतैरेषणाद्यनुपयुक्तैर्ग्लानादेर्वैयावृत्त्यं विधेयं न तूपयुक्तेन संयतेनेति, अपिच—भवद्भिरपि ग्लानोपकारोऽभ्युपगत एव, गृहस्थप्रेरणादनुमोदनाच्च, ततो भवन्तस्तत्कारिणस्तत्प्रद्वेषिणश्चेत्यापन्नमिति ॥ १६ ॥ अपिच—

(टीकार्थ) धर्मकी प्रज्ञापना अर्थात् देशना जैसेकि—दान आदि देकर यतिओंको उपकार करना चाहिये वह गृहस्थों को पवित्र करनेवाली है साधुओंको नहीं क्योंकि

साधु अपने अनुष्ठानों से ही शुद्ध होते हैं अतः उनको दान देनेका अधिकार नहीं है इस सिद्धान्त को दूषित करने के लिये शास्त्रकार कहते हैं कि गृहस्थको ही रोगादि अवस्थामें आहार आदि देकर साधुका उपकार करना चाहिये परन्तु साधुओंको परस्पर ऐसा नहीं करना चाहिये इस प्रकार की तुम्हारी दृष्टि के अनुसार पूर्व समय में सर्वज्ञोंने धर्मदेशना नहीं कोथी क्योंकि सर्वज्ञ पुरुष इस प्रकार अत्यन्त तुच्छ अर्थकी प्ररूपणा नहीं करते हैं जैसेकि—एषणा आदि में उपयोग नहीं रखनेवाले असंयत पुरुष ही रोगी आदि साधुका व्यावच करें परन्तु उपयोग रखनेवाले संयमी पुरुष न करें ऐसी देशना सर्वज्ञकी नहीं हो सकती है। तथा आप लोग भी रोगी साधुका व्यावच करने के लिये गृहस्थ को प्रेरणा करते हैं तथा इस कार्य्य के अनुमोदन करनेसे रोगी साधुका उपकार करना अङ्गीकार भी करते हैं इस लिये आप रोगी साधुका उपकार करते भी हैं और इस कार्य्यसे द्वेष भी करते हैं। १६ *

(मूल) सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, अचयंता जवित्तए।
ततो वायं णिराकिच्चा, ते भुज्जोवि पगब्भिया ॥१७॥

(छया) सर्वाभि रनुयुक्तिभिरशक्नुवन्तो यापयितुम्
ततो वादं निराकृत्य ते भूयोऽपि प्रगल्भिताः।

(अन्वयार्थ) (सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं) सब युक्तियों के द्वारा (जविए अचयंता) अपने पक्षकी सिद्धि न कर सकते हुए (ते) वे अन्यतीर्थी (वायणिराकिच्चा) वादको छोड़कर (भुज्जो वि पगब्भिया) फिर अपने पक्षकी स्थापन करने की धृष्टता करते हैं।

(भावार्थ) अन्यतीर्थी, सम्पूर्ण युक्तियों के द्वारा जब अपने पक्षको स्थापन करने में समर्थ नहीं होते हैं तब वादको छोड़कर फिर दूसरी तरह से अपने पक्षकी सिद्धिकी धृष्टता करते हैं।

* रोगी साधुकी व्यावच गृहस्थका धर्म है अर्थात् गृहस्थ रोगी साधुको आहार आदि ला कर देवें परन्तु साधु न देवे यह अन्यतीर्थियोंकी प्ररूपणा है वे अन्यतीर्थी कहते हैं कि साधुको दान देना आदि धर्म शास्त्रमें लिखा है परन्तु वह धर्म गृहस्थों के लिये हैं साधु के लिए नहीं क्योंकि साधुको दान देनेका अधिकार नहीं है इस सिद्धान्तको खण्डन करने के लिए यह १६ वी गाथा लिखी गयी है इस गाथामें कहा है कि रोगी साधुको गृहस्थ के द्वारा व्यावच कराना तथा स्वयं रोगी साधुका व्यावच नहीं करना ऐसी तुच्छ प्ररूपणा सर्वज्ञ की नही होसकती है क्योंकि एषणा आदि में उपयोग नहीं रखने वाले असंयमी पुरुष साधुका व्यावच करें परन्तु उपयोग रखनेवाले संयमी पुरुष न करें ऐसा दोष जनक उपदेश सर्वज्ञका नहीं हो सकता है अतः रोगी साधुकी व्यावच साधुको नहीं करनी चाहिये इत्यादि अन्यतीर्थीयोंका आक्षेप शास्त्र विरुद्ध और निरर्थक है।

(टीका) ते गोशालकमतानुसारिणो दिगम्बरा वा सर्वाभिरर्थानुगताभिर्युक्तिभिः सर्वैरेव हेतुदृष्टान्तैः प्रमाणभूतैरशक्नुवन्तः स्वपक्षे आत्मानं 'यापयितुम्' संस्थापयितुम् 'ततः' तस्माद्युक्तिभिः प्रतिपादयितुम् सामर्थ्याभावाद् 'वादं निराकृत्य' सम्यग्हेतुदृष्टान्तैर्यो वादो-जल्पस्तं परित्यज्य ते तीर्थिका 'भूयः' पुनरपि वादपरित्यागे सत्यपि 'प्रगल्भिता' धृष्टतां गता इदमूचुः, तद्यथा—"पुराणं मानवो धर्मः, साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥१॥" अन्यच्च किमनया वहिरङ्गया युक्त्याऽनुमानादिकयाऽत्र धर्मपरीक्षणे विधेये कर्तव्यमस्ति, यतः प्रत्यक्ष एव वहुजनसंमतत्वेन राजाद्याश्रयणाच्चायमेवास्मदभिप्रेतो धर्मः श्रेयान्नापर इत्येवं विवदन्ते, तेषामिदमुत्तरम्—न ह्यत्र ज्ञानादिसाररहितेन वहुनाऽपि प्रयोजनमस्तीति, उक्तं च—"एरंडकट्ठरासी जहा य गोसीसचंदनपलस्स । मोल्ले न होज्ज सरिसो कित्तियमेत्तो गणिज्जंतो ॥१॥" तहवि गणणातिरेगो जह रासी सो न चंदनसरिच्छो । तह निव्विण्णाणमहाजणोवि सोज्झे विसंवयति ॥ २ ॥ एक्को सचक्खुगो जह अंधलयाणं सएहिं वहुएहिं । होइ वरं दट्ठव्वो णहु ते वहुगा अपेच्छंता ॥ ३ ॥ एवं वहुगावि मूढा ण पमाणं जे गइं ण याणंति । संसारगमणगुविलं णिउणस्स य वंधमोक्खस्स ॥ ४ ॥" इत्यादि ॥ १७ ॥ अपिच—

(टीकार्थ) वे गोशालक मतावलम्बी तथा दिगम्बर सम्प्रदायवाले समस्त अर्थानुसारिणी युक्तियों के द्वारा अर्थात् प्रमाण स्वरूप हेतु और दृष्टान्तों के द्वारा जब अपने पक्षमें अपनेको स्थापन करनेमें समर्थ नहीं होते हैं तव वादको छोड़कर अर्थात् सम्यक् हेतु और दृष्टान्तों के द्वारा जो परस्पर जल्परूप वाद होता है उसे त्याग कर अपने पक्ष स्थापनकी धृष्टता करते है अर्थात् वे अन्यतीर्थी वादको छोड़कर भी फिर धृष्टता करते हुए यह कहते हैं जैसे कि— (पुराणं) अर्थात् पुराण, मनुप्रणीत धर्मशास्त्र, साङ्गवेद और चिकित्साशास्त्र ये चार ईश्वरीय आज्ञासे सिद्ध हैं इस लिये तर्क के द्वारा इनका खण्डन नहीं करना चाहिये तथा धर्मपरीपरीक्षा के विषयमें युक्ति और अनुमान आदि वहिरङ्ग साधनोंकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि

१ एरण्डकाष्ठराशिर्यथा च गोशीर्षचन्दनपलस्य । मूल्येन न भवेत् सदृशः कियन्मात्रो गण्यमानः ॥ १ ॥ २ तथापि गणनातिरेको यथा राशिः स न चन्दनसदृशः । तथा निर्विज्ञानमहाजनोऽपि मूल्ये विसंवदते ॥ २ ॥ ३ एकः सचक्षुष्को यथा अन्धानां शतैर्वहुभिर्भवति वरं द्रष्टव्यो नैव वहुका अप्रेक्षमाणाः ॥ ३ ॥ ४ एवं वहुका अपि मूढा न प्रमाणं ये गतिं न जानन्ति । संसारगमनवक्रां निपुणयोर्वन्धमोक्षयोश्च ॥ ४ ॥

बहुत लोगोंसे स्वीकृत होने तथा राजा महाराजा आदि के मान्य होने से प्रत्यक्ष यह हमारा धर्मही श्रेष्ठ है दूसरा धर्म नहीं इस प्रकार वे अन्यतीर्थी विवाद करते हैं। उनको इस प्रकार उत्तर देना चाहिये। (एरंडकट्ठरासी) अर्थात् रेंड़काष्ठ की राशि चाहे कितनी ही बडी हो परन्तु वह कीमतमें एक पल गोशीर्ष चन्दन के तुल्य नहीं होती। जैसे रेंड़काष्टकी राशि गणना में अधिक होने पर भी अल्प चन्दन के सदृश नहीं है इसी तरह विज्ञानरहित पुरुषोंकी राशि भी महत्व में थोडे भी विज्ञानवालों के बराबर नहीं है। जैसे नेत्रवाला एक पुरुष भी सैंकडों अन्ध पुरुषोंसे श्रेष्ठ होता है इसी तरह ज्ञानी पुरुष एक भी सैंकडों अज्ञानियों से श्रेष्ठ होता है। बन्ध मोक्ष तथा संसारकी गतिको जो नहीं जानते हैं वे मूर्ख मनुष्य बहुत हों तो भी धर्म के विषय में प्रमाण नहीं माने जा सकते हैं। १७

(मूल) रागदोसाभिभूयप्पा, मिच्छत्तेण अभिद्दुता।
आउस्से सरणं जंति, टंकणा इव पव्वयं ॥ १८ ॥

(छाया) रागद्वेषाभिभूतात्मानः, मिथ्यात्वेनाभिद्रुताः
आक्रोशान् शरणं यान्ति टङ्कणा इव पर्वतम्।

(अन्वयार्थ) (रागदोसाभिभूयप्पा) राग और द्वेष से जिनका आत्मा दबा हुआ है ऐसे तथा (मिच्छत्तेण अभिद्दुता) मिथ्यात्व से भरे हुए अन्यतीर्थी (आउस्से सरणं जंति) शास्त्रार्थ से हारजाने पर गाली आदिका आश्रय लेते हैं जैसे (टंकणा) पहाडमें रहनेवाली म्लेच्छ जाति, युद्धमें हार जाने पर (पव्वयं) पहाडका आश्रय लेती है।

(भावार्थ) राग और द्वेषसे जिनका हृदय दबा हुआ है तथा जो मिथ्यात्वसे भरे हुए हैं ऐसे अन्यतीर्थी जब शास्त्रार्थ में परास्त हो जाते हैं तब गाली गलौज और मारपीटका आश्रय लेते हैं जैसे पहाड पर रहनेवाली कोई म्लेच्छ जाति, युद्धमें हार कर पहाडका शरण लेती है।

(टीका) रागश्च-प्रीतिलक्षणो द्वेषश्च-तद्विपरीतलक्षणस्ताभ्यामभिभूत आत्मा येषां परतीर्थिकानां ते तथा, 'मिथ्यात्वेन' विपर्यस्तावबोधेनातत्त्वाध्यवसायरूपेण 'अभिद्रुता' व्याप्ताः सद्युक्तिभिर्वादं कर्तुमसमर्थाः क्रोधानुगा 'आक्रोशान्' असभ्यवचनरूपांस्तथा दण्डमुष्ट्यादिभिश्च हननव्यापारं 'यान्ति' आश्रयन्ते। अस्मिन्नेवार्थे प्रतिपाद्ये दृष्टान्तमाह-यथा 'टङ्कणा' म्लेच्छविशेषा दुर्जया यदा परेण बलिना स्वानीकादिनाऽभिद्रूयन्ते तदा ते नानाविधैरप्यायुधैर्योद्धुमसमर्थाः

सन्तः पर्वतं शरणमाश्रयन्ति, एवं तेऽपि कुतीर्थिका वादपराजिताः क्रोधाद्युपहतदृष्टय आक्रोशादिकं शरणमाश्रयन्ते, न च ते इदमाकलय्य प्रत्याक्रोष्टव्याः, तद्यथा—*अक्कोसहणणमारणधम्मब्भंसाण बालसुलभाणं। लाभं मन्नइ धीरो जहुत्तराणं अभावंमि ॥ १ ॥" ॥ १८ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) प्रीतिको राग कहते हैं और उससे विपरीत अर्थात् अप्रीतिको द्वेष कहते हैं इन राग और द्वेषों के द्वारा जिनका आत्मा दबा हुआ है ऐसे, तथा मिथ्या अर्थको बताने वाले विपरीत ज्ञान से भरे हुए अन्यतीर्थी जब उत्तम युक्तिओंके द्वारा वाद करने में समर्थ नहीं होते हैं तब गाली आदि असभ्य वचन बोलने लगते हैं तथा डंडा और मुक्का आदिका प्रहार भी करने लगते हैं। इस बातको बताने के लिये शास्त्रकार दृष्टान्त कहते हैं—जैसे दुःख से जीते जानेयोग्य टंकन नामक कोई म्लेच्छ जातिविशेष किसी बलवान् पुरुषकी सेना के द्वारा जब भगाई जाती है तब पर्वतका आश्रय लेती है, इसी तरह वे अन्यतीर्थी जब वादमें हार जातें हैं तब क्रोधित होकर गाली आदि के शरणमें जाते हैं। उन गाली देनेवाले अन्यतीर्थियोंको उत्तरमें गाली नहीं देनी चाहिये क्योंकि गाली देना, हनन करना अथवा मारना या धर्मभ्रष्ट करना ये कार्य्य बालकों के हैं धीर पुरुष, इन बातोंका उत्तर न देनाही लाभ मानते हैं। १८

(मूल) बहुगुणप्पगप्पाइं, कुज्जा अत्तसमाहिए।
जेणऽन्ने णो विरुज्झेज्जा, तेण तं तं समायरे ॥१९॥

(छाया) बहुगुणप्रकल्पानि कुर्य्यादात्मसमाधिकः
येनाऽन्यो न विरुध्येत तेन तत्तत् समाचरेत्।

(अन्वयार्थ) (अत्तसमाहिए) जिसकी चित्तवृत्ति प्रसन्न है वह मुनि (बहुगुणप्पगप्पाइं) परतीर्थी के साथ वादके समय जिनसे बहुत गुण उत्पन्न होते हैं ऐसे अनुष्ठानोंको (कुज्जा) करे। (जेण) जिससे (अन्ने) दूसरा मनुष्य (णो विरुज्झेज्जा) अपना विरोधी न बने (तं तं समायरे) वह वह अनुष्ठान करे।

(भावार्थ) परतीर्थी के साथ वाद करता हुआ मुनि अपनी चित्तवृत्तिको प्रसन्न रखता हुआ जिससे अपने पक्षकी सिद्धि और पर पक्षकी असिद्धि हो ऐसे प्रतिज्ञा, हेतु और उदा-

---

* आक्रोशहननमारणधर्मभ्रंशानां बालसुलभानां (मध्ये)। लाभं मन्यते धीरो यथोत्तराणामभावे ॥ १ ॥

हरण आदिका प्रतिपादन करे तथा जिस कार्य्य के करने से या जैसा भाषण करने से अन्य पुरुष अपना विरोधी न बने ऐसा कार्य्य अथवा भाषण करे ।

(टीका) 'बहवो गुणाः' स्वपक्षसिद्धिपरदोषोद्भावनादयो माध्यस्थ्यादयो वा प्रकल्पन्ते—प्रादुर्भवन्त्यात्मनि येष्वनुष्ठानेषु तानि बहुगुणप्रकल्पानि—प्रतिज्ञा हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनादीनि माध्यस्थ्यवचनप्रकाराणि वा अनुष्ठानानि साधुर्वादकाले अन्यदा वा 'कुर्यात्' विदध्यात्, स एव विशिष्यते—आत्मनः 'समाधिः' चित्तस्वास्थ्यं यस्य स भवत्यात्मसमाधिकः, एतदुक्तं भवति—येन येनोपन्यस्तेन हेतुदृष्टान्तादिना आत्मसमाधिः—स्वपक्षसिद्धिलक्षणो माध्यस्थ्यवचनादिना वा परानुपघातलक्षणः समुत्पद्यते तत् तत् कुर्यादिति, तथा येनानुष्ठितेन वा भाषितेन वा अन्यतीर्थिको धर्मश्रवणादौ वाऽन्यः प्रवृत्तो 'न विरुध्येत' न विरोधं गच्छेत्, तेन पराविरोधकारणेन तत्तदविरुद्धमनुष्ठानं वचनं वा 'समाचरेत्' कुर्यादिति ॥ १९ ॥

(टीकार्थ) जिन अनुष्ठानो के करनेसे अपने पक्षकी सिद्धि तथा परपक्षमें दोषकी उत्पत्ति आदि हो, अथवा अपनेमें पक्षपात रहित मध्यस्थता आदि उत्पन्न हो ऐसे अनुष्ठानोंको बहुगुण प्रकल्प कहते हैं। वह अनुष्ठान प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन आदि हैं अथवा मध्यस्थ के समान वचन बोलना बहुगुणप्रकल्प कहलाता है। अतः साधु पुरुष किसीके साथ वाद करते समय अथवा दूसरे समयमें पूर्वोक्त अनुष्ठानोंको ही करे। उसी साधुका विशेषण बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जिसका चित्त प्रसन्न है उस मुनिको आत्मसमाधिक कहते हैं। आशय यह है कि जिन हेतु और दृष्टान्त आदिके कहने से आत्मसमाधि अर्थात् अपने पक्षकी सिद्धि होती हो अथवा जिस मध्यस्थ वचन के कहने से दूसरे के चित्तमें किसी प्रकारका दुःख उत्पन्न न हो वह वह कार्य्य साधु करे। तथा धर्मको श्रवण आदि करने में प्रवृत्त अन्यतीर्थी तथा दूसरा कोई मनुष्य जिस अनुष्ठान से अथवा भाषण से अपना विरोधी न बने वह अनुष्ठान साधु करे अथवा वचन बोले। १९

(मूल) इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेइयं ।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ॥२०॥

(छया) इमञ्च धर्ममादाय काश्यपेन प्रवेदितम्
कुर्याद् भिक्षु ग्लानस्य अग्लान्या समाहितः ।

(अन्वयार्थ) (कासवेणं पवेइयं) काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा कहे हुए (इमं च धम्ममादाय) इस धर्मको स्वीकार कर के (समाहिए) प्रसन्नचित्त (भिक्खू) साधु (गिलाणस्स) रोगी साधुका (अगिलाए) ग्लानि रहित हो कर (कुज्जा) व्यावच करे ।

(भावार्थ) काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा कहे हुए इस धर्मको स्वीकार करके प्रसन्नचित्त मुनि रोगी साधुका ग्लानिरहित होकर व्यावच करे ।

(टीका) तदेवं परमतं निराकृत्योपसंहारद्वारेण स्वमतस्थापनायाह–'इम' मिति वक्ष्यमाणं दुर्गतिधारणाद्धर्मम् 'आदाय' उपादाय गृहीत्वा 'काश्यपेन' श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिनोत्पन्नदिव्यज्ञानेन सदेवमनुजायां पर्षदि प्रकर्षेण— यथावस्थितार्थनिरूपणद्वारेण वेदितं प्रवेदितं, चशब्दात्परमतं च निराकृत्य, भिक्षणशीलो भिक्षुः 'ग्लानस्य' अपटोरपरस्य भिक्षोर्वैयावृत्त्यादिकं कुर्यात्, कथं कुर्याद्?, एतदेव विशिनष्टि–स्वतोऽप्यग्लानतया यथाशक्ति 'समाहितः' समाधिं प्राप्त इति, इद मुक्तं भवति–यथा यथाऽऽत्मनः समाधिरुत्पद्यते न तत्करणेन अपाटवसंभवात् योगा विषीदन्तीति, तथा यथा तस्य च ग्लानस्य समाधिरुत्पद्यते तथा पिण्डपातादिकं विधेयमिति ॥ २० ॥

(टीकार्थ) पूर्वोक्त प्रकार से परवादियों के मत का खण्डन करके अब शास्त्रकार समाप्ति के द्वारा अपने पक्षकी स्थापना करने के लिये कहते हैं—

दुर्गति में जाने वाले जीवोंको दुर्गति से बँचानेवाला जो यह आगे वर्णित होनेवाला धर्म है जिसको दिव्यज्ञान उत्पन्न होनेपर भगवान् महावीर स्वामीने देवता और मनुष्य आदिकी सभामें सत्य अर्थकी प्ररूपणा द्वारा कहा था तथा (च) शब्द से परमत को खण्डन करके वताया था उस धर्मको स्वीकार करके भिक्षणशील साधु दूसरे असमर्थ रोगी साधुका व्यावच करे । कैसे व्यावच करे सो वताते हैं–स्वयं ग्लान भावको नहीं प्राप्त होते हुए यथाशक्ति समाधियुक्त होकर करे आशय यह है कि–जिस प्रकार अपनी समाधि उत्पन्न होती है वैसा नहीं करने से स्वयंभी साधु रोगी होकर असमर्थ हो सकता है और ऐसा होनेसे उसका व्यापार ठीक नहीं हो सकता है अतः जिस प्रकार अपनी समाधि उत्पन्न हो और जिस प्रकार उस रोगीको समाधि उत्पन्न हो उस तरह का भोजन आदि उसे देना चाहिये। २०

(मूल) संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे ।
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जाऽसि ॥२१॥

त्तिबेमि। इति ततीयअज्झयणस्स तईओ उद्देसो समत्तो॥(गाथाग्रं०२३४

(छाया) संख्याय पेशलं धर्मं, दृष्टिमान् परिनिर्वृतः ।
उपसर्गान् नियम्य आमोक्षाय परिव्रजेदिति ब्रवीमि ।

(अन्वयार्थ) (दिट्ठिमं) पदार्थ के यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला (परिनिव्वुडे) रागद्वेषरहित शान्त मुनि (पेसलं धम्मं) उत्तम धर्मको (संखाय) जानकर (उवसग्गे) उपसर्गोंको (नियामित्ता) वशमें करके (आमोक्खाय) मोक्षप्राप्तिपर्य्यन्त (परिव्वए) संयमका अनुष्ठान करे ।

(भावार्थ) पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला शान्त मुनि इस उत्तम धर्मको जानकर तथा उपसर्गोंको सहन करता हुआ मोक्षपर्य्यन्त संयमका अनुष्ठान करे ।

(टीका) किं कृत्वैतद्विधेयमिति दर्शयितुमाह-'संखाये' त्यादि, संख्याय-ज्ञात्वा कं ?-'धर्म' सर्वज्ञप्रणीतं श्रुतचारित्राख्यभेदभिन्नं 'पेशलम्' इति सुश्लिष्टं प्राणिनामहिंसादिप्रवृत्त्या प्रीतिकारणं, किम्भूतमिति दर्शयति-दर्शनं दृष्टिः सद्भूतपदार्थगता सम्यग्दर्शनमित्यर्थः सा विद्यते यस्यासौ दृष्टिमान् यथावस्थितपदार्थ-परिच्छेदवानित्यर्थः, तथा 'परिनिर्वृतो' रागद्वेषविरहाच्छान्तीभूतस्तदेवं धर्मं पेशलं परिसंख्याय दृष्टिमान् परिनिर्वृत उपसर्गाननुकूलप्रतिकूलान्नियम्य-संयम्य सोढा, नोपसर्गैरुपसर्गितोऽसमञ्जसं विदध्यादित्येवम् 'आमोक्षाय' अशेपकर्मक्षयप्राप्तिं यावत् परि-समन्तात् व्रजेत्-संयमानुष्ठानोद्युक्तो भवेत् परिव्रजेद्, इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत्॥२१॥उपसर्गपरिज्ञायास्तृतीयोद्देशकः समाप्तः॥३

(टीकार्थ) क्या करके साधुको यह करना चाहिये सो दिखाने के लिये कहते हैं—जानकर क्या जानकर ? सर्वज्ञप्रणीत श्रुत और चारित्ररूप धर्मको जानकर, वह धर्म सुघटित है अर्थात् अहिंसा आदि में प्रवृत्ति होने के कारण प्राणियोंकी प्रीति का कारण है वह मुनि कैसा है ? सो दिखलाते हैं—पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप देखना अर्थात् सम्यग्दर्शन को दृष्टि कहते हैं वह दृष्टि जिसमें विद्यमान है उसे दृष्टिमान् कहते हैं। जो पुरुष पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जानता है उसे दृष्टिमान् कहते हैं। तथा जो रागद्वेष रहित होने के कारण शान्त स्वभाव है उसे परिनिर्वृत्त कहते हैं। इस प्रकार उक्त उत्तम धर्मको जानकर पदार्थ के यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला शान्तमुनि अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गोंको सहन (वशमें) करे। उपसर्गों की बाधा उपस्थित होने पर अनुचित कार्य्य न करे इस प्रकार वह मुनि जबतक समस्त कर्मोंका क्षय स्वरूप मोक्षकी प्राप्ति न हो तबतक अच्छी तरहसे संयमका अनुष्ठान करे। इति शब्द समाप्ति अर्थमें आया है। ब्रवीमि यह पूर्ववत् है। २१

इति तृतीयाध्ययनस्य तृतीय उद्देशकः समाप्तः ।

उपसर्गपरिज्ञाध्ययनका तीसरा उद्देशा समाप्त हुआ !



अथ तृतीयोपसर्गाध्ययने चतुर्थोद्देशकस्य प्रारम्भः ॥

उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थः समारभ्यते—

तीसरा अध्ययनका चौथा उद्देशक—

अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गाः प्रतिपादिताः तैश्च कदाचित्साधुः शीलात् प्रच्याव्येत—तस्य च स्खलितशीलस्य प्रज्ञापनाऽनेन प्रतिपाद्यते इति, अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिमं सूत्रम्—

तीसरा उद्देशक कहा जा चुका अब चौथा आरम्भ किया जाता है । इसका पूर्व उद्देशक के साथ सम्बन्ध यह है—पूर्व उद्देशक में अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गोंका वर्णन किया है । उन उपसर्गों के द्वारा कदाचित् साधु शील से भ्रष्ट भी होजाता है । वह शीलभ्रष्ट साधु जो उपदेश देता है वह इस उद्देशक में बताया जाता है । इस सम्बन्ध से आये हुए इस उद्देशकका यह पहला सूत्र है ।

(मूल) आहंसु महापुरिसा, पुव्विं तत्ततवोधणा ।
उदएण सिद्धिमावन्ना, तत्थ मंदो विसीयति ॥ १ ॥

(छाया) आहुर्महापुरुषाः पूर्वं तप्ततपोधनाः
उदकेन सिद्धिमापन्ना स्तत्र मन्दो विषीदति ।

(अन्वयार्थ) (आहंसु) कोई अज्ञानी कहते हैं कि (पुव्विं) पूर्व समय में (तत्ततवोधणा) तप करनाही जिनका धन है ऐसे (महापुरिसा) महापुरुष (उदएण) कच्चा जलका सेवन करके (सिद्धिमावन्ना) मुक्तिको प्राप्त हुए थे (मंदो) मूर्ख पुरुष यह सुनकर (तत्थ) शीतजल के सेवन आदि मे (विसीयति) प्रवृत्त होजाता है ।

(भावार्थ) कोई अज्ञानी पुरुष कहते हैं कि पूर्व कालमें तपरूपी धनका संचय करनेवाले महापुरुषोंने शीतल जलका उपभोग करके सिद्धिको प्राप्त कियाथा यह सुनकर मूर्ख मनुष्य शीतल जलके उपभोग में प्रवृत हो जाते हैं ।

(टीका) केचन अविदितपरमार्था 'आहुः' उक्तवन्तः, किं तदित्याह—यथा 'महापुरुषाः' प्रधानपुरुषा वल्कलचीरितारागणर्षि प्रभृतयः 'पूर्व' पूर्वस्मिन् काले तप्तम्—अनुष्ठितं तप एव धनं येषां ते तप्ततपोधनाः—पञ्चाग्न्यादितपोविशेषेण निष्टप्तदेहाः, त एवम्भूताः शीतोदकपरिभोगेन, उपलक्षणार्थत्वात् कन्दमूलफलाद्युपभोगेन च 'सिद्धिमापन्नाः' सिद्धिं गताः, 'तत्र' एवम्भूतार्थसमाकर्णने तदर्थसद्भावावेशात् 'मन्दः' अज्ञोऽस्नानादित्याजितः प्रासुकोदकपरिभोगभग्नः संयमानुष्ठाने विषीदति, यदिवा तत्रैव शीतोदकपरिभोगे विषीदति लगति निमज्जतीति-यावत्, न त्वसौ वराक एवमवधारयति, यथा—तेषां तापसादिव्रतानुष्ठायिनां कुतश्चिज्जातिस्मरणादिप्रत्ययादाविर्भूतसम्यग्दर्शनानां मौनीन्द्रभावसंयमप्रतिपत्त्या अपगतज्ञानावरणीयादिकर्मणां भरतादीनामिव मोक्षावाप्तिः न तु शीतोदकपरिभोगादिति ॥ १ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) परमार्थको न जाननेवाले कोई अज्ञानी यह कहते हैं । वे क्या कहते हैं सो बतलाते हैं—पूर्व समयमें वल्कलचीरी और तारागण ऋषि आदि महापुरुषोंने तपरूपी धनका अनुष्ठान तथा पञ्चाग्नि सेवन आदि तपस्याओंके द्वारा अपने शरीरको खूब तपाया था । उन महापुरुषोने शीतल जलका उपभोग तथा कन्द, मूल, फल आदिका उपभोग करके सिद्धि लाभ किया था । यह सुनकर इस बातको सत्य मानकर प्रासुक जलको पीने से तथा स्नान न करने से घबराया हुआ कोई पुरुष, संयम के अनुष्ठान में दुःख अनुभव करता है अथवा वह शीतल जल के उपभोगमे प्रवृत्त हो जाता है । वह मूर्ख यह नहीं सोचता है कि वे लोग तापस आदि के व्रतका अनुष्ठान करते थे उनको किसी कारणवश जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त होने से सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हुईथी और मौनीन्द्र सम्बन्धी भाव संयमकी प्राप्ति होने से उन के ज्ञानावरणीय आदि कर्म नष्ट हो गयेथे इस कारण भरत आदि के समान उनको मोक्ष प्राप्त हुआ था परन्तु शीतल जलका उपभोग करने से नहीं । १

(मूल) अभुंजिया नमी विदेही, रामगुत्ते य भुंजिआ ।
वाहुए उदगं भोच्चा, तहा नारायणे रिसी ॥ २ ॥

(छाया) अभुक्त्वा नमिर्वैदेही रामगुप्तश्चभुक्त्वा
वाहुक उदकं भुक्त्वा तथा तारागण ऋषिः ।

(अन्वयार्थ) (नमी विदेही अभुंजिया) विदेह देशका राजा नमिराजने आहार छोड़कर (य) और (रामगुत्ते) रामगुप्तने (भुंजिया) आहार खाकर (वाहुए) तथा वाहुकने शीतल जलका उपभोग कर (तहा) इसी तरह (तारागणो रिसी) तारागण ऋषिने (उदयं भोच्चा) जलका उपभोग करके सिद्धि लाभ कियाथा।

(भावार्थ) कोई अज्ञानी पुरुष, साधुको भ्रष्ट करने के लिये कहता है कि—विदेह देशका राजा नमीराजने आहार न खाकर सिद्धि प्राप्त की थी तथा रामगुप्तने आहार खाकर सिद्धि लाभ किया था एवं वाहुकने शीतल जल पी कर सिद्धि पाई थी तथा तारागण ऋषिने भी जल पी कर मोक्ष पाया था।

(टीका) केचन कुतीर्थिकाः साधुप्रतारणार्थमेवमूचुः, यदिवा स्ववर्ग्याः शीतलविहारिण एतद् वक्ष्यमाणमुक्तवन्तः, तद्यथा—नमीराजा विदेहो नाम जनपदस्तत्र भवा वैदेहाः–तन्निवासिनो लोकास्तेऽस्य सन्तीति वैदेही, स एवम्भूतो नमी राजा अशनादिकमभुक्त्वा सिद्धिमुपगतः तथा रामगुप्तश्च राजर्षिराहारादिकं 'भुक्त्वैव' भुञ्जान एव सिद्धिं प्राप्त इति तथा बाहुकः शीतोदकादिपरिभोगं कृत्वा तथा नारायणो नाम महर्षिः परिणतोदकादिपरिभोगात्सिद्ध इति ॥ २ ॥ अपिच—

(टीकार्थ) कोई कुतीर्थी साधुको धोखा देने के लिये इस प्रकार कहते हैं अथवा शीतल विहारी कोई स्ववर्गी यह आगे कही जानेवाली बातें कहते हैं जैसे कि–विदेह नामका देश विशेष है उसमें निवास करनेवाली प्रजाको 'वैदेह' कहते हैं वे प्राजा जिसके आधीन हैं उसे वैदेही कहते हैं अर्थात् विदेह देशमें रहनेवाली प्रजाके अधिपति नमी राजने अशन आदि आहारोंको छोड़कर सिद्धि प्राप्त की थी तथा राजर्षि रामगुप्तने आहार खा कर सिद्धिलाभ किया था। एवं वाहुकने शीतल जल आदिका उपभोग करके सिद्धि पाईथी। एवं नारायण महर्षिने पका हुआ जल आदिका परिभोग करके मोक्ष लाभ किया था। २

(मूल) आसिले देविले चेव, दीवायण महारिसी।
पारासरे दगं भोच्चा, बीयाणि हरियाणि य ॥३॥

(छाया) आसिलो देवलश्चैव, द्वैपायनो महाऋषिः
पराशर उदकं भुक्त्वा बीजानि हरितानि च।

(अन्वयार्थ) (आसिले) असिलऋषि (देविले) देवल ऋषि (महारीसी दीवायण) तथा महर्षि द्वैपायन (परासरे) एवं पराशर ऋषि इन लोगोने (दगं बीयाणि हरियाणि भोच्चा) शीतलजल, बीज और हरी वनस्पतियोंका आहार करके मोक्ष पायाथा।

(भावार्थ) आसिल, देवल, महर्षि द्वैपायन तथा पराशर ऋषिने शीतल जल बीज और हरी वनस्पतियोंको खा कर मोक्ष लाभ किया था।

(टीका) आसिलो नाम महर्षिस्तथा देविलो द्वैपायनश्च तथा पराशराख्य इत्येवमादयः शीतोदकबीजहरितादिपरिभोगादेव सिद्धा इति श्रूयते ॥ ३ ॥

(टीकार्थ) आसिल नामक महर्षि तथा देवल ऋषि, द्वैपायन ऋषि एवं पराशर नामक ऋषि इत्यादि ऋषियोंने शीतल जल, बीज और हरी वनस्पतियोंके उपभोग से ही सिद्धिलाभ किया था यह सुना जाता है। ३

(मूल) एते पुव्वं महापुरिसा, आहिता इह संमता।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा, इति मेयमणुस्सुअं ॥ ४ ॥

(छाया) एते पूर्वं महापुरुषा आख्याता इह सम्मताः
भुक्त्वा बीजोदकं सिद्धा इति मयानुश्रुतम्।

(अन्वयार्थ) (पुव्वं) पूर्व समयमें (एते महापुरिसा) ये महापुरुष (आहिया) सर्वजगत्प्रसिद्ध थे (इह) तथा इस जैन आगम में भी (संमता) माने गये हैं। (बीओदगं भोच्चा) इन लोगोंने बीज और शीतल जलका उपभोग करके (सिद्धा) सिद्धि पायीथी (इति) यह (मेयमणुस्सुअं) मैंने (महाभारत आदिमें) सुना है।

(भावार्थ) कोई अन्यतीर्थी साधुओंको संयमभ्रष्ट करनेके लिये कहता है कि पूर्व समयमें ये महापुरुष प्रसिद्ध थे और जैन आगममें भी इनमें से कई माने गये हैं इन लोगोंने शीतल जल और बीजका उपभोग करके सिद्धिलाभ कियाथा।

(टीका) एतदेव दर्शयितुमाह—एते पूर्वोक्ता नम्यादयो महर्षयः 'पूर्वमि'ति पूर्वस्मिन्काले त्रेताद्वापरादौ 'महापुरुषा' इति प्रधानपुरुषा आ—समन्तात् ख्याताः आख्याताः—प्रख्याता राजर्षित्वेन प्रसिद्धिमुपगता इहापि आर्हते प्रवचने ऋषिभाषितादौ केचन 'सम्मता' अभिप्रेता इत्येवं कुतीर्थिकाः स्वयूथ्या वा प्रोचुः, तद्यथा—एते सर्वेऽपि बीजोदकादिकं भुक्त्वा सिद्धा इत्येतन्मया भारतादौ पुराणे श्रुतम् ॥ ४ ॥ एतदुपसंहारद्वारेण परिहरन्नाह—

(टीकार्थ) पहले जो कहा गया है उसीको दर्शाने के लिये शास्त्रकार कहते हैं। ये पूर्वोक्त नमी आदि महाऋषि त्रेता द्वापर आदि पूर्वकालमें महापुरुष अर्थात् प्रधान पुरुष कहकर सर्वत्र

प्रसिद्ध थे तथा इन लोगोंने राजर्षि रूपसे प्रसिद्धि प्राप्त की थी और ऋषिभाषित आदि आर्हत प्रवचनमें भी इनमें से कई माने गये हैं, ये सभी लोग शीतल जल और बीजका उपभोग करके सिद्ध हुए थे यह मैंने महाभारत आदि पुराणोंमें सुना है यह कोई कुतीर्थी अथवा स्वयूथिक कहते हैं। ४ समाप्ति के द्वारा इस मतका परिहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

(मूल) तत्थ मंदा विसीअंति, वाहच्छिन्ना व गद्दभा।
पिट्ठतो परिसप्पंति, पिट्ठसप्पो य संभमे ॥ ५ ॥

(छाया) तत्र मन्दाः विषीदन्ति वाहच्छिन्ना इव गर्दभाः
पृष्ठतः परिसर्पन्ति पृष्ठसर्पी च संभ्रमे।

(अन्वयार्थ) (तत्थ) उस बुरी शिक्षा के उपसर्ग होने पर (मंदा) मूर्ख पुरुष (वाहच्छिन्ना) भारसे पीडित (गद्दभाव) गदहेकी तरह (विसीयंति) संयम पालन करनेमें दुःख अनुभव करते हैं। (संभमे) जैसे अग्नि आदिका उपद्रव होनेपर (पिट्ठसप्पी) लकडी के टुकडेकी सहायता से चलनेवाला पैर रहित पुरुष (पिट्ठतो परिसप्पंति) भागने वाले लोगोंके पीछे पीछे चलता है उसी तरह वह मूर्ख भी संयम पालनेमें सबसे पीछे होजाता है।

(भावार्थ) मिथ्यादृष्टियोंकी पूर्वोक्त बातोंको सुनकर कोई मूर्ख मनुष्य संयम पालन करनेमें इस प्रकार दुःखका अनुभव करते हैं जैसे भारसे पीडित गदहा उस भारको लेकर चलनेमें दुःख अनुभव करता है। तथा जैसे लकडी के टुकडोंको हाथमें लेकर सरक कर चलनेवाला लँगडा मनुष्य अग्नि आदिका भय होने पर भागे हुए मनुष्यों के पीछे पीछे जाता है परन्तु वह आगे तक जानेमे असमर्थ होकर वहीं नाशको प्राप्त होता है इसी तरह संयम पालन करनेमें दुःख अनुभव करनेवाले वे पुरुष मोक्ष तक नहीं पहुँच कर संसारमें ही भ्रमण करते रहते हैं।

(टीका) 'तत्र' तस्मिन् कुश्रुत्युपसर्गोदये 'मन्दा' अज्ञा नानाविधोपायसाध्यं सिद्धिगमनमवधार्य विषीदन्ति संयमानुष्ठाने न पुनरेतद्विदन्त्यज्ञाः, तद्यथा— येषां सिद्धिगमनमभूत् तेषां कुतश्चिन्निमित्तात् जातजातिस्मरणादिप्रत्ययानामवाप्तसम्यग्ज्ञानचारित्राणामेव वल्कलचीरिप्रभृतीनामिव सिद्धिगमनभूत्; न पुनः कदाचिदपि सर्वविरतिपरिणामभावलिङ्गमन्तरेण शीतोदकबीजाद्युपभोगेन जीवोपमर्दप्रायेण कर्मक्षयोऽवाप्यते, विषीदने दृष्टान्तमाह—वहनं वाहो—भारोद्वहनं तेन छिन्नाः—कर्षितास्त्रुटिता रासभा इव विषीदन्ति, यथा—रासभा गमनपथ एव

प्रोज्झितभाराः निपतन्ति, एवं तेऽपि प्रोज्झ्य संयमभारं शीतलविहारिणो भवन्ति, दृष्टान्तान्तरमाह–यथा 'पृष्ठसर्पिणो' भग्नगतयोऽग्न्यादिसम्भ्रमे सत्युद्भ्रान्तनयनाः समाकुलाः प्रनष्टजनस्य 'पृष्ठतः' पश्चात्परिसर्पन्ति नाग्रगामिनो भवन्ति, अपि तु तत्रैवाग्न्यादिसम्भ्रमे विनश्यन्ति, एवं तेऽपि शीतलविहारिणो मोक्षं प्रति प्रवृत्ता अपि तु न मोक्षगतयो भवन्ति अपि तु तस्मिन्नेव संसारे अनन्तमपि कालं यावदासत इति ॥ ५ ॥ मातान्तरं निराकर्तुं पूर्वपक्षयितुमाह—

(टीकार्थ) बुरी शिक्षा देनेवाली मिथ्या दृष्टियोंकी पूर्वोक्त प्ररूपणारूप उपसर्ग के उदय होनेपर अज्ञानी जीव अनेक उपायों से मोक्षको साध्य मानकर संयम के अनुष्ठान करनेमें दुःख अनुभव करते हैं। वे मूर्ख यह नहीं जानते हैं कि जिन लोगोंको मोक्षकी प्राप्ति हुईथी उनको किसी कारण वश जाति स्मरण आदि ज्ञानके उदय होनेसे सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र की प्राप्ति होने के कारण ही हुईथी, जैसे वल्कलचीरी आदिको मुक्ति प्राप्त हुईथी। सर्व विरति परिणाम तथा भावलिङ्ग के विना जीवोंको विनाश करनेवाला शीत जलका पान और बीज आदिके उपभोग से कभी भी कर्मक्षय रूप मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता है। मिथ्यादृष्टियों के उपदेश से संयम पालनमें दुःख अनुभव करनेवाले जीवो के विषयमें शास्त्रकार दृष्टान्त बतलाते हैं–'वाह' नाम भारका है उसके ढोनेसे दुर्बल गदहा जैसे दुःख अनुभव करता है उसी तरह उक्त साधु संयम पालन करने में कष्ट अनुभव करता है। जैसे वह गदहा मार्गमेंही भारको गिराकर स्वयं गिरजाता है इसी तरह उक्त साधु भी संयम रूपी भारको छोड़कर शीतलविहारी होजाता है। इस विषयमें शास्त्रकार दूसरा दृष्टान्त बतलाते हैं–जैसे अग्नि आदिका भय उपस्थित होने पर लँगडा मनुष्य घबडाकर तथा चञ्चल नेत्र होकर अग्नि भयसे भागनेवाले लोगोंके पीछे पीछे भागता है परन्तु वह आगे तक नहीं जा सकता है किन्तु उसी जगह अग्नि आदि के द्वारा नाश को प्राप्त हो जाता है इसी तरह शीतलविहारी पुरुष मोक्ष के लिये प्रवृत्त होकर भी मोक्ष तक पहुँच नहीं पाता है किन्तु अनन्त काल तक उसी संसारमें भ्रमण करता रहता है। ५

(मूल) इहमेगे उ भासंति, सातं सातेण विज्जती।
जे तत्थ आरियं मग्गं, परमं च समाहिए(यं) ॥ ६ ॥

(छाया) इहैके तु भाषन्ते सातं सातेन विद्यत
ये तत्र आर्य्य मार्गं परमञ्च समाधिकम्।

(अन्वयार्थ) (इह) इस मोक्ष प्राप्ति के विषयमें (एगे) कोई (भासंति) कहते हैं कि (सातं) सुख (सातेन) सुखसेही (विज्जई) प्राप्त होता है। (तत्थ) परन्तु इस मोक्ष के विषयमें (आरियं) समस्त हेय धर्मोंसे दूर रहनेवाला तीर्थङ्करप्रतिपादित जो मोक्ष मार्ग है (परमं समाहिए) जो परम शान्तिको देनेवाला ज्ञानदर्शन और चारित्ररूप है उसे (जे) जो लोग छोड़ते हैं वे मूर्ख हैं।

(भावार्थ) कोई मिथ्यादृष्टि कहते हैं कि सुखसे ही सुखकी प्राप्ति होती है परन्तु वे मूर्ख हैं क्योंकि परम शान्तिको देनेवाला तीर्थङ्करप्रतिपादित जो ज्ञानदर्शन और चारित्ररूप मोक्षमार्ग है उसे जो छोड़ते हैं वे मूर्ख हैं।

(टीका) मतान्तरं निराकर्तुं पूर्वपक्षयितुमाह–'इहे'ति मोक्षगमनविचारप्रस्तावे 'एके' शाक्यादयः स्वयूथ्या वा लोचादिनोपतप्ताः, तुशब्दः पूर्वस्मात् शीतोदकादिपरिभोगाद्विशेषमाह, 'भाषन्ते' ब्रुवते मन्यन्ते वा क्वचित्पाठः, किं तदित्याह— 'सातं' सुखं 'सातेन' सुखेनैव 'विद्यते' भवतीति, तथा च वक्तारो भवन्ति— "सर्वाणि सत्त्वानि सुखे रतानि, सर्वाणि दुःखाच्च समुद्विजन्ते। तस्मात्सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुखप्रदाता लभते सुखानि॥ १॥" युक्तिरप्येवमेव स्थिता, यतः कारणानुरूपं कार्यमुत्पद्यते, तद्यथा–शालिबीजाच्छाल्यङ्कुरो जायते न यवाङ्कुर इत्येवमिहत्यात् सुखान्मुक्तिसुखमुपजायते, न तु लोचादिरूपात् दुःखादिति, तथा ह्यागमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः–"मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं सयणासणं। मणुण्णंसि अगारंसि, मणुण्णं झायए मुणी॥ १॥" तथा "मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे। द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः॥ १॥" इत्यतो मनोज्ञाहारविहारादेश्चित्तस्वास्थ्यं ततः समाधिरुत्पद्यते समाधेश्च मुक्त्यवाप्तिः, अतः स्थितमेतत्–सुखेनैव सुखावाप्तिः न पुनः कदाचनापि लोचादिना कायक्लेशेन सुखावाप्तिरिति स्थितं, इत्येवं व्यामूढमतयो ये केचन शाक्यादयः 'तत्र' तस्मिन्मोक्षविचारप्रस्तावे समुपस्थिते आराद्यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यो मार्गो जैनेन्द्रशासनप्रतिपादितो मोक्षमार्गस्तं ये परिहरन्ति, तथा च–'परमं च समाधिं' ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकं ये त्यजन्ति तेऽज्ञाः संसारान्तर्वर्तिनः सदा भवन्ति, तथाहि–यत्तैरभिहितं–कारणानुरूपं कार्यमिति, तन्नायमेकान्तो, यतः शृङ्गाच्छरो जायते गोयमाद्वृश्चिको गोलोमाविलोमादिभ्यो दूर्वेति, यदपि मनोज्ञाहारादिकमुपन्यस्तं सुखकारणत्वेन तदपि

२ मनोज्ञं भोजनं भुक्त्वा मनोज्ञे शयनासने। मनोज्ञेऽगारे मनोज्ञं ध्यायेन्मुनिः॥१॥

विशूचिकादिसंभवाद्व्यभिचारीति, अपिच—इदं वैषयिकं सुखं दुःखप्रतीकारहेतुत्वात् सुखाभासतया सुखमेव न भवति, तदुक्तम्—" दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमानः, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः । उत्कीर्णवर्णपदपङ्क्तिरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात् ॥ १ ॥ " इति, कुतस्तत्परमानन्दरूपस्यात्यन्तिकस्य मोक्षसुखस्य कारणं भवति, यदपि च लोचभूशयनभिक्षाटनपरपरिभवक्षुत्पिपासादंशमशकादिकं दुःखकारणत्वेन भवतोपन्यस्तं तदत्यन्तालपसत्त्वानामपरमार्थदृशां, महापुरुषाणां तु स्वार्थाभ्युपगमप्रवृत्तानां परमार्थचिन्तैकतानानां महासत्त्वतया सर्वमेवैतत्सुखायैवेति, तथा चोक्तम्—" तणसंथारनिविण्णोवि मुनिवरो भट्ठरागमयमोहो । जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टीवि ? ॥१॥ " तथा । " दुःखं दुष्कृतसंक्षयाय महतां क्षान्तेः पदं वैरिणः, कायस्याशुचिता विरागपदवी संवेगहेतुर्जरा । सर्वत्यागमहोत्सवाय मरणं जातिः सुहृत्प्रीतये, संपद्भिः परिपूरितं जगदिदं स्थानं विपत्तेः कुतः ? ॥ १ ॥ " इति, अपिच—एकान्तेन सुखेनैव सुखेऽभ्युपगम्यमाने विचित्रसंसाराभावः स्यात्, तथा स्वर्गस्थानां नित्यसुखिनां पुनरपि सुखानुभूतेस्तत्रैवोत्पत्तिः स्यात्, तथा नारकाणां च पुनर्दुःखानुभवात्तत्रैवोत्पत्तेः, न नानागत्या विचित्रता संसारस्य स्यात्, नचैतत् दृष्टमिष्टं चेति ॥ ६ ॥ अतो व्यपदिश्यते—

(टीकार्थ) अब शास्त्रकार दूसरे मतका खण्डन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हुए कहते हैं—इस मोक्ष प्राप्ति के विचार के प्रकरणमें शाक्य आदि तथा लोच आदि से पीडित कोई स्वयूथिक यह कहते हैं—इस गाथामें 'तु' शब्द पूर्वोक्त शीतल जल आदि के परिभोगसे विशेषता बताने के लिये आया है । वे क्या कहते हैं सो बताया जाता है—सुख सुखसेही प्राप्त होता है । तथा वे कहते हैं कि (सर्वाणि) सभी प्राणी सुखमें रत रहते हैं और सभी दुःख से डरते हैं इस लिए सुख चाहने वाला पुरुष सुखही देवे क्योंकि सुख देने वाला पुरुष सुख प्राप्त करता है । युक्ति भी इसी तरह की है क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य्य होता है जैसेकि शालिके बीजसे शालिका ही अङ्कुर उत्पन्न होता है यवका नहीं. इसी तरह इसलोक के सुख से परलोक में मुक्ति सुखकी प्राप्ति होती है परन्तु लोच आदि दुःख से मुक्ति नहीं मिलती है । तथा आगम भी यही कहता है जैसे कि—(मणुन्नं) अर्थात् मुनिको मनोज्ञ आहार

२ तृणसंस्तारनिषण्णोऽपि मुनिवरो भ्रष्टरागमदमोहः । यत्प्राप्नोति मुक्तिसुखं कुतस्तत् चक्रवर्त्यपि ? ॥ १ ॥

खाकर मनोज्ञ शय्या और आसन पर मनोज्ञ घरमें सुख भोग करना चाहिये। तथा (मृद्वी) साधुको मुलायम शय्या पर सोना चाहिये और सवेरे ऊठकर दुग्धादि पदार्थ पीना चाहिये एवं दो पहरके समय भात खाना चाहिये तथा सायंकालमें शर्वत पीना चाहिये एवं आधी रातके समय दाख और मिश्री खाना चाहिये इस प्रकार कार्य्य करने से अन्तमें मोक्ष होना शाक्यपुत्रने देखा है मनोज्ञ आहार और विहार आदि करने से चित्तमें प्रसन्नता उत्पन्न होती है और चित्त प्रसन्न होनेपर एकाग्रता उत्पन्न होती है और एकाग्रता से मुक्तिकी प्राप्ति होती है इसलिये यह सिद्ध हुआ कि सुखसेही सुखकी प्राप्ति होती है परन्तु लोच आदि काय-कष्ट से कभी भी मुक्ति नहीं होती। इस प्रकारकी प्ररूपणा करनेवाले जो शाक्य आदि, इस मोक्ष विचार के प्रकरणमें समस्त हेय धर्मो से दूर रहनेवाला जैनेन्द्रशासनप्रतिपादित परम शान्ति को उत्पन्न करनेवाला सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र स्वरूप मोक्ष मार्गको छोड़देते हैं वे मूर्ख हैं वे सदा संसारमें भ्रमण करते रहते हैं क्योंकि उन्होंने जो कहा है कि कारण के अनुरूपही कार्य्य होता है यह एकान्त नहीं है क्योंकि सींग से शर नामकी वनस्पति की उत्पत्ति होती है और गोवर से विच्छुकी उत्पत्ति होती है एवं गाय और भेडके बालोंसे दूबकी उत्पत्ति होती है। तथा मनोज्ञ आहारको जो सुखका कारण कहा है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि मनोज्ञ आहार से विशूचिका (हैजा) भी उत्पन्न होती है इस लिए मनोज्ञ आहार एकान्त रूपसे सुखका कारण नहीं है। वस्तुतः यह विषयजनित सुख दुःखके प्रतीकारका हेतु होने के कारण सुखका आभासमात्र है वह सुख है ही नहीं कहाभी है——

(दुःखात्मकेषु) दुःख स्वरूप विषयोंको सुख मानना और सुख स्वरूप नियमोंको दुःख समझना इस प्रकार उलट है जैसे खुदे हुए अक्षरोंकी पङ्क्ति उलट दीखती है। जैसे खुदे हुए अक्षरोंकी पङ्क्तिको उलट रखने से अक्षरोका रूप सीधा दीखता है इसी वरह विषय भोगको दुःख और नियम आदिको सुख समझने से उनका रूप ठीक प्रतीत होता है। अतः दुःख स्वरूप विषय भोग, परमानन्दस्वरूप एकान्तिक और आत्यन्तिक मोक्षसुखका कारण कैसे हो सकता है? । तथा केशका लुञ्चन, पृथिवीपर शयन, भिक्षा माँगना, दूसरेका अपमान सहन, भूख, प्यास, तथा दंश मशकका कष्ट, इनको जो आपने दुःखका कारण बताया है वे भी अत्यन्त कमजोर हृदयवाले जो पुरुष परमार्थदर्शी नहीं हैं उनके लिये ही दुःख के कारण है परन्तु जो महापुरुष परमार्थदर्शी और परमार्थकी चिन्तामें तत्पर तथा अपने स्वार्थके साधनमें प्रवृत्त हैं उनके लिये ये सब दुःख नहीं हैं किन्तु उनकी महान् शक्ति के प्रभावसे ये सब सुख के साधन स्वरूप हैं। कहाभी है (तण संथार) अर्थात् राग, मद, और मोह रहित मुनि, तृणकी शय्या पर सोया हुआ भी जिस परमानन्दरूप मुक्ति सुखका अनुभव

करता है, चक्रवर्ती भी उसे कहाँ पा सकता है ? ! तथा (दुःखम्) अर्थात् दुःख होनेसे वडे लोग दुःखी नहीं होते किन्तु यह जानकर वे सुखी होते हैं कि दुःख होने से पापका नाश होता है और क्षमा से वैरी की शान्ति होती है । एवं शरीरकी मलिनता, वैराग्यका मार्ग है और वृद्धता वैराग्यका कारण है तथा समस्त वस्तुओंका त्यागरूप महान् उत्सव के लिये मरण होता है अतः यह जगत् संपत्तिसे भरा हुआ है इसमें दुःखका स्थान ही कहाँ है ? । तथा एकान्त रूपसे सुखसे ही सुखकी उत्पत्ति मानने पर विचित्र संसारका होना नहीं बनसकता है क्योंकि स्वर्गमें निवास करनेवाले जो सदा सुखका ही भोग किया करते हैं उनकी उत्पत्ति, सुखभोग के कारण फिर स्वर्गमेही होगी तथा नरकमें रहनेवाले जीवोंकी दु.खभोग के कारण फिर नरकमेंही उत्पत्ति होगी । इस प्रकार भिन्न भिन्न गतिओंमें जाने के कारण जो जगत्की विचित्रता होती है वह नहीं हो सकेगी परन्तु यह शास्त्रसम्मत नहीं और इष्ट भी नहीं । ६

(मूल) मा एयं अवमन्नंता, अप्पेणं लुंपहा बहुं ।
एतस्स(उ)असोक्खाए, अओहारिव्व जूरह ॥ ७ ॥

(छाया) मैनमवमन्यमाना अल्पेन लुम्पथ बहु
एतस्यत्वमोक्षे अयोहारीव जूरयथ ।

(अन्वयार्थ) (एवं) इस जिनमार्गको (अवमन्नंता) तिरस्कार करते हुए तुमलोग (अप्पेण) अल्प अर्थात् तुच्छ विषयसुखके लोभसे (बहु) अति मूल्यवान् मोक्षसुखको (मा लुंपह) मत विगाडो (एतस्स) सुखसे सुख होता है इस असत्पक्षको (असोक्खाए) नहीं छोड़नेपर (अओहारिव्व) सोना छोड़कर लोह लेनेवाला वनियाकी तरह (जूरह) पश्चात्ताप करोगे

(भावार्थ) सुखसेही सुख होता है इस असत्पक्षको मानकर जिन शासनका त्याग करनेवाले अन्य दर्शनीको कल्याणार्थ शास्त्रकार उपदेश करते हैं कि तुम इस जिनशासनको तिरस्कार करके तुच्छ विषय सुख के लोभसे अति दुर्लभ मोक्ष सुखको मत विगाडो । सुखसेही सुख होता है इस असत्पक्षको यदि तुम न छोडोगे तो सोना आदि छोड़कर लोहा लेनेवाला वनिया जैसे पश्चातापं करता है उसी तरह पश्चात्ताप करोगे ।

(टीका) 'एनम्' आर्य मार्ग जैनेन्द्रप्रवचनं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमोक्षमार्गप्रतिपादकं 'सुखं सुखेनैव विद्यते' इत्यादिमोहेन मोहिता 'अवमन्यमानाः' परिहरन्तः 'अल्पेन' वैषयिकेण सुखेन मा 'बहु' परमार्थसुखं मोक्षाख्यं 'लुम्पथ' विध्वंसथ, तथाहि-मनोज्ञाऽऽहारादिना कामोद्रेकः, तदुद्रेकाच्च चित्तास्वास्थ्यं न

पुनः समाधिरिति, अपि च 'एतस्य' असत्पक्षाभ्युपगमस्य 'अमोक्षे' अपत्यागे सति 'अयोहारिव्व जूरह'त्ति आत्मानं यूयं कदर्थयथ, केवलं, यथाऽसौ अयसो-लोहस्याऽऽहर्त्ता अपान्तराले रूप्यादिलाभे सत्यपि दूरमानीतमितिकृत्वा नोज्झितवान्, पश्चात् स्वावस्थानावाप्तावल्पलाभे सति जूरितवान्-पश्चात्तापं कृतवान् एवं भवन्तोऽपि जूरयिष्यन्तीति ॥ ७ ॥

(टीकार्थ) सुखसेही सुख मिलता है इस मोह से मोहित होकर, सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप मोक्ष मार्गको बताने वाले इस आर्य्य मार्ग जैनेन्द्र प्रवचनको तिरस्कार करते हुए तुम तुच्छ विषय सुख के लोभ से सर्वोत्कृष्ट परमार्थरूप मोक्ष सुखको मत विगाडो। क्योंकि मनोज्ञ आहार आदि करने से कामकी वृद्धि होती है और कामकी वृद्धि होनेपर चित्त स्थिर नहीं रह सकता है अतः मनोज्ञ आहार करने वालेको समाधि नहीं मिल सकती है। सुखसेही सुख मिलता है इस असत्पक्ष को यदि तुम नहीं छोडोगे तो सोना आदि छोड़कर लोहा लेने वाले वनियोंकी तरह केवल अपने को खराब करोगे। जैसे लोहाका भार लेकर आता हुआ किसी वनियाने मार्गमें रूपा और सोना मिलने पर भी उस लोह के भारको छोड़कर उन्हें इस लिये नहीं लिया कि "इस लोहको मैं दूर से लाया हूं इसे क्यों छडूं" पश्चात् घर जाकर लोहका मूल्य कम पा कर वह पश्चात्ताप करने लगा इसी तरह आप लोग भी पश्चात्ताप करेंगे। ७

(मूल) पाणाइवाते वट्टंता, मुसावादे असंजता।
अदिन्नादाणे वट्टंता, मेहुणे य परिग्गहे ॥ ८ ॥

(छाया) प्राणातिपाते वर्तमानाः मृषावादेऽसंयताः
अदत्तादाने वर्तमानाः मैथुने च परिग्रहे।

(अन्वयार्थ) (पाणाइवाते) जीवहिंसा (मुसावादे) मिथ्याभाषण (अदिन्नादाणे) न दी हुई वस्तु लेने (मेहुणे) मैथुन (परिग्गहे) और परिग्रह में (वट्टंता) आप लोग वर्तमान रहते हैं इस लिये (असंजता) आपलोग संयमी नहीं हैं।

(भावार्थ) सुखसे ही सुख होता है इस मिथ्या सिद्धान्त को मानने वाले शाक्य आदिको शास्त्रकार कहते हैं कि-आपलोग जीव हिंसा करते हैं और झूठ बोलते हैं तथा विना दीहुई वस्तु लेते हैं एवं मैथुन और परिग्रहमें भी वर्तमान रहते हैं इस कारण आप लोग संयमी नहीं हैं।

(टीका) पुनरपि 'सातेन सात'मित्येवंवादिनां शाक्यानां दोषोद्बिभावयिषयाह्— प्राणातिपातमृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहेषु वर्तमाना असंयता यूयं वर्तमानसुखैषिणोऽल्पेन वैषयिकसुखाभासेन पारमार्थिकमेकान्तात्यन्तिकं बहु मोक्षसुखं विलुम्पथेति, किमिति ?, यतः पचनपाचनादिषु क्रियासु वर्तमानाः सावद्यानुष्ठानारम्भतया प्राणातिपातमाचरथ तथा येषां जीवानां शरीरोपभोगो भवद्भिः क्रियते तानि शरीराणि तत्स्वामिभिरदत्तानीत्यदत्तादानाचरणं तथा गोमहिष्यजोष्ट्रादिपरिग्रहात्तन्मैथुनानुमोदनादब्रह्मेति तथा प्रव्रजिता वयमित्येवमुत्थाय गृहस्थाचरणानुष्ठान्मृषावादः तथा धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिपरिग्रहात्परिग्रह इति ॥ ८ ॥ साम्प्रतं मतान्तरदूषणाय पूर्वपक्षयितुमाह—

(टीकार्थ) सुखसे ही सुख मिलता है इस सिद्धान्त को मानने वाले शाक्य भिक्षुओं के मत में दोष बताने के लिये फिर शास्त्रकार कहते हैं—आपलोग जीवघात, मिथ्या भाषण, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रहमें वर्तमान रहने के कारण संयमहीन हैं। आपलोग वर्तमान सुखकी इच्छा करते हुए तुच्छ विजय सुख, जो वस्तुतः सुखका आभास मात्र है उसके लोभमें पड़कर सत्य ऐकान्तिक आत्यन्तिक तथा महान् मोक्षसुखका नाश कर रहे हैं। आपलोग पचन और पाचन आदि क्रियाओंमें वर्तमान रहते हुए सावद्य कार्य्यका अनुष्ठान करके जीव हिंसा करते हैं। तथा आप लोग जिन जीवों के शरीरका उपभोग करते है वे शरीर उनके स्वामिओ के द्वारा आपको नहीं मिले हैं इस लिये आप अदत्तादानका आचरण करते हैं। तथा आप लोग गाय, भैंस, और ऊंट आदि पशुओको रखकर उनके मैथुनका अनुमोदन करते हैं इसलिये आप अब्रह्मचर्य्यका आचरण करते हैं। एवं आप अपनेको प्रव्रजित कहकर ऊठे हुए भी गृहस्थों के आचरणका अनुष्टान करते हैं इसलिये आप मिथ्याभाषणका सेवन करते हैं। तथा आप लोग धन, धान्य, द्विपद और चतुष्पदरूप परिग्रह रखते हैं इस लिये आप परिग्रह में वर्तमान हैं। ८ अब दूसरे मतको दूषित करने के लिये शास्त्रकार पूर्वपक्ष करते हुए कहते हैं।

(मूल) एवमेगे [1] उ [2] पासत्था, पन्नवंति [3] अणारिया।
इत्थीवसं गया बाला, जिणसासणपरम्मुहा ॥ ९ ॥

(छाया) एवमेके तु पार्श्वस्थाः प्रज्ञापयन्त्यनार्य्याः
स्त्रीवशङ्गता बालाः जिनशासनपराङ्मुखाः।

(अन्वयार्थ) (इत्थीवसंगया) स्त्रीके वशमें रहनेवाले (बाला) अज्ञानी (जिणसासणपरंमुहा) जैनेन्द्र के शासनसे पराङ्मुख (अणारिया) अनार्य्य (एगे पासत्था) कोई पार्श्वस्थ (एवं) इस प्रकार (पन्नवंति) कहते हैं।

(भावार्थ) स्त्रीके वशमें रहनेवाले अज्ञानी जैनशास्त्रसे विमुख अनार्य्य कोई पार्श्वस्थ आगेकी गाथाओं द्वारा कही जानेवाली बातें कहते हैं।

(टीका) तुशब्दः पूर्वस्माद्विशेषणार्थः, 'एवमि'ति वक्ष्यमाणया नीत्या, यदिवा प्राक्तन एव श्लोकोऽत्रापि सम्बन्धनीयः, एवमिति प्राणातिपातादिषु वर्तमाना 'एके' इति बौद्धविशेषा नीलपटादयो नाथवादिकमण्डलप्रविष्टा वा शैवविशेषाः, सदनुष्ठानात् पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः, स्वयूथ्या वा पार्श्वस्थावसन्न कुशीलादयः स्त्रीपरीषहपराजिताः, त एवं 'प्रज्ञापयन्ति' प्ररूपयन्ति अनार्याः, अनार्यकर्मकारित्वात्, तथाहि ते वदन्ति—"प्रियादर्शनमेवास्तु, किमन्यैर्दर्शनान्तरैः? । प्राप्यते येन निर्वाणं, सरागेणापि चेतसा ॥ १ ॥" किमित्येवं तेऽभिदधतीत्याह—'स्त्रीवशं गताः' यतो युवतीनामाज्ञायां वर्तन्ते 'बाला' अज्ञा रागद्वेषोपहतचेतस इति, रागद्वेषजितो जिनास्तेषां शासनम्—आज्ञा कषायमोहोपशमहेतुभूता तत्पराङ्मुखाः संसाराभिष्वङ्गिणो जैनमार्गविद्वेषिणः 'एतद्' वक्ष्यमाणमूचुरिति ॥ ९ ॥

(टीकार्थ) इस गाथामें 'तु' शब्द पूर्वोक्त मतसे विशेषता बताने के लिये आया है इस लिये कोई मिथ्यादृष्टि आगे कही जानेवाली नीतिका आश्रय लेकर इस प्रकार कहते हैं यह इसका अर्थ है। अथवा पहले के श्लोकका ही यहां भी सम्बन्ध करना चाहिये। एवं अर्थात् प्राणातिपात आदिमें वर्तमान रहनेवाले कोई बौद्धविशेष अथवा नाथ कहकर प्रसिद्ध सङ्घविशेषमें रहनेवाले नीलवस्त्रधारी शैवविशेष, जो उत्तम अनुष्ठानसे दूर रहने के कारण पार्श्वस्थ हैं अथवा अवसन्न और कुशील आदि स्वयूथिक जो पार्श्वस्थ हैं वे स्त्रीपरीषह से हार कर इस प्रकार कहते हैं। वे अनार्य्य कर्म करने के कारण अनार्य्य हैं। वे कहते हैं कि—"प्रिया" अर्थात् मुझको प्रियाका दर्शन होना चाहिये दूसरे दर्शनों से क्या प्रयोजन है? क्योंकि प्रियाके दर्शन से सरागचित्त के द्वारा भी निर्वाण सुख प्राप्त होता है। वे लोग ऐसा क्यों कहते हैं सो बतलाते हैं। वे स्त्रियों के वशीभूत हैं इस लिये वे युवती स्त्रियों की आज्ञामें रहते हैं। उनका चित्त राग और द्वेष से नष्ट हो जानेके कारण वे मूर्ख हैं राग और द्वेषको जीतनेवाले पुरुषको जिन कहते हैं उन जिन भगवानकी कषाय और मोहको शान्त करनेवाली जो आज्ञा

२ चक्षुपेति प्र० ।

है उस से वे विमुख होकर संसारमें आसक्त रहते हुए जैन मार्ग से द्वेष करते हैं । उन लोगोंने आगे की गाथाओं द्वारा कही जानेवाली बातें कही हैं । ९

(मूल) जहा गंडं पिलागं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तगं ।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ?॥१०॥

(छाया) यथा गण्डं पिटकं वा, परिपीडयेत मुहूर्त्तकम् ।
एवं वीज्ञापनीस्त्रीषु दोषस्तत्र कुतः स्यात् ।

(अन्वयार्थ) (जहा) जैसे (गण्डं) फुन्सी (पिलागं वा) अथवा फोडेको (मुहुत्तगं) मुहूर्तभर (परिपीलेज्ज) दबा देना चाहिये इसी तरह (विन्नविणीत्थीसु) समागमकी प्रार्थना करनेवाली स्त्रीके साथ समागम करना चाहिये (तत्थ) इस कार्य्य में (दोसो) दोष (कओ· सिया) कहाँसे होसकता है ?

(भावार्थ) वे अन्यतीर्थी कहते हैं कि—जैसे फुन्सी या फोडेको दबाकर उसके मावाद निकाल देनेसे थोडी देरके बादही सुखी हो जाते हैं इसी तरह समागमकी प्रार्थना करनेवाली स्त्रीके साथ समागम करनेसे थोडी देरके बादही खेदकी शान्ति होजाती है अतः इस कार्य्यमें दोष कैसे होसकता है ? ।

(टीका) यदूचुस्तदाह—यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, 'यथा' येन प्रकारेण कश्चित् गण्डी पुरुषो गण्डं समुत्थितं पिटकं वा तज्जातीयकमेव तदाकूतोपशमनार्थं 'परिपीड्य' पूयरुधिरादिकं निर्गाल्य मुहूर्तमात्रं सुखितो भवति, न च दोषेणानुषज्यते, एवमत्रापि 'स्त्रीविज्ञापनायां' युवतिप्रार्थनायां रमणीसम्बन्धे गण्डपरिपीडनकल्पे दोषस्तत्र कुतः स्यात् ?, न ह्येतावता क्लेशापगममात्रेण दोषो भवेदिति ॥ १० ॥

(टीकार्थ) पूर्व गाथामें जिनकी सूचना की गई है उन अन्यतीर्थियोंने जो कहा है सो इस गाथा द्वारा बतलाते हैं—' यथा ' शब्द उदाहरण बतलाने के लिये आया है । जैसे कोई फोडा फुन्सीवाला पुरुष, अपने शरीरमें उत्पन्न फोडा या उसी तरह के कोई दूसरे व्रण को शान्त करने के लिये उसे दबाकर उसके पीव और विकृत रक्त को निकाल कर थोडी देरके बादही सुखी होजाता है परन्तु फोडेको दबाने से उसको किसी प्रकारका दोष नहीं होता है इसी तरह समागम के लिये युवती स्त्री के प्रार्थना करने पर उसके साथ फोडाको फोडने के समान समागम करने से दोष कैसे हो सकता है ? स्त्री समागम द्वारा अपने खेदको विनाश करने मात्र से दोष नहीं हो सकता है । १०

२ आकोपः वि० प० तदाकृतो० प्र७ ।

(मूल) जहा मंधादए नाम, थिमिअं भुंजती दगं ।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ?॥११॥

(छाया) यथा मन्धादनो नाम स्तिमितं भुङ्क्ते दकम्
एवं विज्ञापनीस्त्रीषु, दोषस्तत्र कुतः स्यात् ।

(अन्वयार्थ) (जहा) जैसे (मंधादए नाम) भेड़ (थिमियं) विना हिलाये (दगं) जल (भुंजती) पीती है (एवं) इसीतरह (विन्नविणीत्थीसु) समागमकी प्रार्थना करनेवाली स्त्रीके साथ समागम करनेसे (तत्थ) इसमें (दोसो कओ सिया) दोष कैसे होसकता है ?

(भावार्थ) जैसे भेड़ विना हिलाये जल पीती है ऐसा करनेसे किसी जीवका उपघात न होने से उसको दोष नहीं होता है, इसी तरह समागम के लिये प्रार्थना करने वाली युवती स्त्री के साथ समागम करने से किसीको पीडा न होने के कारण कोई दोष नहीं होता है यह वे अन्यतीर्थी कहते हैं ।

(टीका) स्यात्तत्र दोषो यदि काचित्पीडा भवेत्. न चासाविहास्तीति दृष्टान्तेन दर्शयति—'यथे' त्ययमुदाहरणोपन्यासार्थः, 'मन्धादन' इति मेषः नामशब्दः सम्भावनायां यथा मेषः तिमितम् अनालोडयन्नुदकं पिबत्यात्मानं प्रीणयति, न च तथाऽन्येषां किञ्चनोपघातं विधत्ते, एवमत्रापि स्त्रीसम्बन्धे न काचिदन्यस्य पीडा आत्मनश्च प्रीणनम्, अतः कुतस्तत्र दोषः स्यादिति ॥ ११ ॥

(टीकार्थ) वे अन्यतीर्थी कहते हैं कि समागमकी प्रार्थना करनेवाली युवती स्त्री के साथ समागम करने से यदि कोई पीडा होती तो अवश्य इस कार्य्यमें दोष होता परन्तु वह इसमें नहीं होता है यही बात दृष्टान्त देकर वतलाते हैं—यहां 'यथा' शब्द दृष्टान्त वताने के लिये आया है । मन्धादन नाम मेड़का है । 'नाम' शब्द संभावना अर्थमें आया है । आशय यह है कि जैसे भेड़ विना हिलाये जल पीती है और इस प्रकार अपनी तृप्ति करलेती है । वह इस क्रियासे किसी जीवको पीडा नहीं देती है इसी तरह स्त्री के साथ समागम करनेसे किसी दूसरे जीवको पीडा नहीं होती है और अपनी भी तृप्ति हो जाती है इसलिये इस कार्य्यमें दोष कहाँसे होसकता है ? ११

(मूल) जहा विहंगमा पिंगा, थिमिअं भुंजती दगं ।
एवं विन्नवणित्थिसु, दोसो त कओ सिआ !॥१२॥

(छाया) यथा विहङ्गमा पिङ्गा, स्तिमितं भुङ्क्ते दकम्
एवं विज्ञापनीस्त्रीषु दोषस्तत्र कुतः स्यात् ।

(अन्वयार्थ) (जहा) जैसे (पिंगा) पिङ्ग नामक (विहंगमा) पक्षिणी (थिमिअं) विना हिलाये (दगं) जल (भुंजंती) पान करती है (एवं) इसी तरह (विन्नवणित्थीसु) समागमकी प्रार्थना करनेवाली स्त्री के साथ समागम करने पर (तत्थ) उसमें (दोसो कओ सिआ) दोष कहाँसे हो सकता है ?।

(भावार्थ) कामासक्त अन्यतीर्थी कहते है कि जैसे पिङ्ग नामक पक्षिणी विना हिलाये जल पान करती है इस लिये किसी जीवको उसके जलपान से दुःख नहीं होता है और उसकी तृप्ति भी हो जाती है इसी तरह समागमकी प्रार्थना करनेवाली स्त्रीके साथ समागम करने से किसी जीवको दुःख नहीं होता है और अपनी तृप्ति भी होजाती है इस लिये इस कार्य्य में दोष कहाँसे हो सकता है ?।

(टीका) अस्मिन्नेवानुपयातार्थे दृष्टान्तबहुत्वख्यापनार्थं दृष्टान्तान्तरमाह— 'यथा' येन प्रकारेण विहायसा गच्छतीति विहंगमा–पक्षिणी–'पिंगे'ति कपिञ्जला साऽऽकाश एव वर्तमानाः 'तिमितं' निभृतमुदकमापिबति, एवमत्रापि दर्भप्रदानपूर्विकया क्रियया अरक्तद्विष्टस्य पुत्राद्यर्थं स्त्रीसम्बन्धं कुर्वतोऽपि कपिञ्जलाया इव न तस्य दोष इति, साम्प्रतमेतेषां गण्डपीडनतुल्यं स्त्रीपरिभोगं मन्यमानानां तथैडकोदकपानसदृशं परपीडाऽनुत्पादकत्वेन परात्मनोश्च सुखोत्पादकत्वेन किल मैथुनं जायत इत्यध्यवसायिनां तथा कपिञ्जलोदकपानं यथा तडागोदकासंस्पर्शेन किल भवत्येवमरक्तद्विष्टतया दर्भाद्युत्तारणात् स्त्रीगात्रासंस्पर्शेन पुत्रार्थं न कामार्थं ऋतुकालाभिगामितया शास्त्रोक्तविधानेन मैथुनेऽपि न दोषानुषङ्गः, तथा चोचुस्ते– "धर्मार्थं पुत्रकामस्य, स्वदारेष्वधिकारिणः । ऋतुकाले विधानेन, दोषस्तत्र न विद्यते ॥ १ ॥" इति एवमुदासीनत्वेन व्यवस्थितानां दृष्टान्तेनैव निर्युक्तिकारो गाथात्रयेणोत्तरदानायाह—

जह णाम मंडलग्गेण सिरं छेत्तूण कस्सइ मणुस्सो ।
अच्छेज्ज पराहुत्तो किं नाम ततो ण घिप्पेज्जा ? ॥ ५३ ॥

जह वा विसगंडूसं कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को ।
अण्णेण अदीसंतो किं नाम ततो न व मरेज्जा ! ॥ ५४ ॥

जहा नाम सिरिघराओ कोइ रयणाणि घेत्तूणं ।
अच्छेज्ज पराहुतो किं णाम ततो न घेप्पेज्जा ? ॥ ५५ ॥

यथा [ग्रन्थाग्रन्थम् २०००] नाम कश्चिन्मण्डलाग्रेण कस्यचिच्छिरश्छित्त्वा पराङ्मुखस्तिष्ठेत्, किमेतावतोदासीनभावावलम्बनेन 'न गृह्येत्' नापराधी भवेत्? । तथा-यथा कश्चिद्विषगण्डूषं 'गृहीत्वा' पीत्वा नाम तूष्णींभावं भजेदन्येन चादृश्यमानोऽसौ किं नाम 'ततः' असावन्यादर्शनात् न म्रियेत ? । तथा-यथा कश्चित् श्रीगृहाद्-भाण्डागाराद्रत्नानि महार्घाणि गृहीत्वा पराङ्मुखस्तिष्ठेत्, किमेतावताऽसौ न गृह्येतेति? । अत्र च यथा-कश्चित् शठतया अज्ञतया वा शिरश्छेदविषयगण्डूपरत्नापहाराख्ये सत्यपि दोषत्रये माध्यस्थ्यमवलम्बेत, न च तस्य तदवलम्बनेऽपि निर्दोषतेति, एवमत्राप्यवश्यंभाविरागकार्ये मैथुने सर्वदोषास्पदे संसारवर्द्धके कुतो निर्दोषतेति, तथा चोक्तम्—" प्राणिनां बाधकं चैतच्छास्त्रे गीतं महर्षिभिः । नलिकातप्तकणकप्रवेशज्ञाततस्तथा ॥ १ ॥ मूलं चैतदधर्मस्य, भवभावप्रवर्धनम् । तस्माद्विषान्नवत्त्याज्यमिदं पापमनिच्छता ॥ २ ॥ " इति निर्युक्तिगाथात्रयतात्पर्यार्थः ॥ साम्प्रतं सूत्रकार उपसंहारव्याजेन गण्डपीडनादिदृष्टान्तवादिनां दोषोद्भिभावयिषयाह—

(टीकार्थ) समागकी प्रार्थना करनेवाली स्त्री के साथ समागम करनेमें कोई जीवघातरूप दोष नहीं होता है इस विषयमें दृष्टान्तोंकी बहुलता बताने के लिये फिर दूसरा दृष्टान्त बतलाते हैं—जिस प्रकार आकाशमें चलनेवाली कपिञ्जल नामकी चिडिया आकाशमें ही रहकर बिना हिलाये जलको पी लेती है इसी तरह जो पुरुष रागद्वेष रहित बुद्धिसे पुत्रोत्पत्तिके लिये स्त्रीके शरीरको कुशासे ढँक कर उसके साथ समागम करता है उसको उक्त कपिञ्जल पक्षीकी तरह दोष नहीं होता है। यहाँ मैथुन के विषयमें अन्यतीर्थियोंकी मान्यता तीन प्रकारकी कही गई है। कोई कहते हैं कि जैसे फोडेको दबाकर उसका मावाद निकाल दिया जाता है इसी तरह स्त्रीके साथ समागम किया जाता है। कोई कहते हैं कि जैसे भेड़का दूसरे को पीडा न देते हुए जल पीना है इसी तरह दूसरेको पीडा न देनेवाला अपना तथा दूसरेका सुखोत्पादक मैथुन है। इसी तरह तीसरे की मान्यता है कि जैसे कपिञ्जल पक्षी केवल चोंच के अग्र भाग के सिवाय दूसरे अङ्गोद्वारा तालावके जलको स्पर्श न करती हुई जलपान करती है इसी तरह जो पुरुष रागद्वेष रहित बुद्धिसे स्त्री के शरीरको कुशासे ढँक कर उसके शरीरको न छुते हुए पुत्र के निमित्त परन्तु काम के निमित्त नहीं, शास्त्रोक्त विधान के अनुसार ऋतु कालमें समागम करता है उसको दोष नहीं होता है। इसी प्रकार उन्होने अपने शास्त्रमें कहा है—(धर्मार्थम्) अर्थात् धर्मरक्षा के लिये पुत्रोत्पत्ति के निमित्त अपनी स्त्रीमें अधिकार रखनेवाले पुरुष के लिये। ऋतुकालमें स्त्री समागमका शास्त्रीय विधान होनेसे इसमें दोष नहीं होता है।

इस प्रकार उदासीन होकर रहनेवाले अन्यतीर्थियोंका दृष्टान्त के द्वारा ही तीन गाथाओंसे उत्तर देने के लिये निर्युक्तिकार कहते हैं—जैसे कोई मनुष्य तलवारसे किसीका शिर काट कर यदि पराङ्मुख होकर स्थित होजाय तो क्या इस प्रकार उदासीन भाव के अवलम्बन करनेसे वह अपराधी नहीं हो सकता है? । तथा कोई मनुष्य यदि जहरका गण्डूष (घूट) लेकर उसे पी जाय और वह चुपचाप रहे तथा उसे कोई देखे भी नहीं तो क्या दूसरेके न देखने से वह मृत्युको नहीं प्राप्त होगा? । इसी तरह कोई मनुष्य किसी लक्ष्मीवान के भाण्डार से बहुमूल्य रत्नोको चुराकर पराङ्मुख होकर रहे तो क्या वह चोर समझकर नहीं पकडा जायगा? यहां कहनेका आशय यह है कि यदि कोई मनुष्य शठता या मूर्खता वश किसीका शिर काटकर विष पीकर अथवा रत्न चुराकर मध्यस्थ वृत्तिका आश्रय लेवे तो भी वह निर्दोष नहीं हो सकता है इसी तरह राग होने परही उत्पन्न होनेवाला समस्त दोषोंका स्थान संसारवर्धक मैथुन सेवनमे निर्दोषता किसी तरहभी नहीं होसकती है? । इस विषयमें विद्वानोने कहा है कि—(प्राणिनाम्) शास्त्रमे महर्षियोने मैथुनको प्राणियोंका विनाशक बताया है । जैसे नली के भीतर तप्त अग्निके कण डालनेसे शीघ्र उसके अन्दरकी चीजोंका नाश होजाता हैं इसीतरह मैथुन सेवन से आत्मिक शक्तिका नाश होजाता है। मैथुन सेवन, अधर्मका मूल है, संसारको बढानेवाला है, अतः पापकी इच्छा न करनेवाले पुरुषको विषयुक्त अन्नकी तरह इसका त्याग करना चाहिये । निर्युक्तिकी तीन गाथाओंका यही तात्पर्य्यार्थ है । १२

अब शास्त्रकार इस प्रकरणको समाप्त करते हुए फोडेका मवाद निकालनेके समान मैथुनको सुखदायी बतानेवाले लोगोके मतको दूषित करनेके लिये कहते हैं—

(मूल) एवमेगे उ पासत्था, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
अज्झोववन्ना कामेहिं, पूयणा इव तरुणए ॥ १३ ॥

(छाया) एव मेके तु पार्श्वस्थाः मिथ्यादृष्टयोऽनार्य्याः
अध्युपपन्नाः कामेषु पूतना इव तरुणके ।

(अन्वयार्थ) (एवं) पूर्वोक्त रूपसे मैथुनको निरवद्य माननेवाले (एगेतु) कोई (पासत्था) पार्श्वस्थ (मिच्छदिट्ठी) मिथ्यादृष्टि हैं (अणारिया) अनार्य्य हैं (कामेहिं अज्झोववन्ना) कामभोगमें वे अत्यन्त मूर्च्छित हैं (तरुणए पूयणा इव) जैसे पूतना नामक डाकिनी बालकोंपर आसक्त रहती है ।

(भावार्थ) पूर्वोक्त प्रकारसे मैथुन सेवनको निरवद्य बतानेवाले पुरुष पार्श्वस्थ हैं मिथ्यादृष्टि है तथा अनार्य्य हैं वे कामभोगमे अत्यन्त आसक्त हैं जैसे पूतना डाकिनी बालकोंपर आसक्त रहती है ।

(टीका) 'एव' मिति गण्डपीडनादिदृष्टान्तबलेन निर्दोषं मैथुनमिति मन्यमाना 'एके' स्त्रीपरीषहपराजिताः सदनुष्ठानात्पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्था नाथवादिकमण्डलचारिणः, तुशब्दात् स्वयूथ्या वा, तथा मिथ्या–विपरीता तत्त्वाग्राहिणी दृष्टिः–दर्शनं येषां ते तथा, आरात्–दूरे याता–गताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः न आर्या अनार्याः धर्मविरुद्धानुष्ठानात्, त एवंविधा 'अध्युपपन्ना' गृध्नव इच्छामदनरूपेषु कामेषु कामैर्वा करणभूतैः सावद्यानुष्ठानेष्विति, अत्र लौकिकं दृष्टान्तमाह–यथा वा 'पूतना' डाकिनी 'तरुणके' स्तनन्धयेऽध्युपपन्ना, एवं तेऽप्यनार्याः कामेष्विति, यदिवा 'पूयण'त्ति गड्डरिका आत्मीयेऽपत्येऽध्युपपन्ना, एवं तेऽपीति, कथानकं चात्र–यथा किल सर्वपशूनामपत्यानि निरुदके कूपेऽपत्यस्नेहपरीक्षार्थं क्षिप्तानि, तत्र चापरा मातरः स्वकीयस्तनन्धयशब्दाकर्णनेऽपि कूपतटस्था रुदन्त्यस्तिष्ठन्ति, उरभ्री त्वपत्यातिस्नेहेनान्धा अपायमनपेक्ष्य तत्रैवात्मानं क्षिप्तवतीत्यतोऽपरपशुभ्यः स्वापत्येऽध्युपपन्नेति, एवं तेऽपि ॥ १३ ॥ कामाभिष्वङ्गिणां दोषमाविष्कुर्वन्नाह—

(टीकार्थ) फोड़ाको फोड़कर उसका मर्ज बाहर निकालने के समान मैथुन सेवनको निरवद्य माननेवाले अन्यतीर्थी स्त्रीपरीषहसे जीते जाचुके हैं। वे शुभ अनुष्ठान से अलग रहते हैं। वे अपनेको नाथ कहनेवाले मण्डलमें विचरते हैं तथा 'तु' शब्द से कोई स्वयूथिकभी इस सिद्धान्तके अनुयायी हैं। इनको दृष्टि वस्तुस्वरूपको ग्रहण करनेवाली नहीं है। जो त्याग करने योग्य समस्त धर्मोंसे दूर रहता है उसे आर्य्य कहते हैं। पूर्वोक्त मतवादी आर्य्य नहीं किन्तु अनार्य्य हैं क्योंकि वे विरुद्ध धर्मका अनुष्ठान करते हैं। इस प्रकार के सिद्धान्तको माननेवाले पुरुप इच्छा मदनरूप काम भोगमें अत्यन्त आसक्त हैं। अथवा वे कामके द्वारा सावद्यानुष्ठान में अत्यन्त आसक्त हैं। इस विषय में शास्त्रकार लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त बतलाते हैं–जैसे पूतना डाकिनी स्तनपीनेवाले बालकोंपर आसक्त रहती है इसी तरह वे अनार्य्य काममें आसक्त रहते हैं। अथवा पूतना, भेड़का नाम है वह जैसे अपने बच्चोंपर आसक्त रहती है इसी तरह वे अनार्य्य कामभोगमें आसक्त हैं। भेड़ अपने बच्चोपर अत्यन्त आसक्त रहती है इस विषय में एक कहानी प्रसिद्ध है–किसी समय पशुओं के अपत्यस्नेहकी परीक्षा करनेके लिये सर्व पशुओं के बच्चे जलरहित किसी कूप में रख दिये गये। उस समय उन बच्चोंकी मातायें अपने अपने बच्चोंके शब्द सुनकर कूपके तटपरही रोती हुई खडी रहीं परन्तु भेड़ अपने बच्चोके प्रेममें अन्धी होकर मृत्युकी परवाह न करके उस कूपमें कूद पडी इससे जैसे समस्त पशुओंमें भेड़का अपने

वन्चेमें अधिक स्नेह सिद्ध हुआ इसी तरह उन अन्यतीर्थियोंका कामभोग में अधिक स्नेह सिद्ध होता है । १३ काममें आसक्त रहनेवाले पुरुषोंका दोष बताने के लिये शास्त्रकार कहते हैं ।

(मूल) अणागयमपस्संता, पच्चुप्पन्नगवेसगा ।
ते पच्छा परितप्पंति, खीणे आउंमि जोव्वणे ॥ १४ ॥

(छाया) अनागतमपश्यन्तः प्रत्युत्पन्नगवेषकाः
ते पश्चात् परितप्यन्ते क्षीणे आयुषि यौवने ।

(अन्वयार्थ) (अणागयमपस्संता) भविष्यमें होनेवाले दुःखको न देखते हुए (पच्चुप्पन्नगवेसगा) जो लोग वर्तमान सुखकी खोजमें लगे रहते हैं (ते) वे (पच्छा) पीछे (आउंमि जोव्वणे खीणे) आयु और युवावस्थाके नष्ट होनेपर (परितप्पंति) पश्चात्ताप करते हैं ।

(भावार्थ) असत् कर्मके अनुष्ठान से भविष्य में होनेवाली यातनाओंको न देखते हुए जो लोग वर्तमान सुखकी खोज में रत रहते हैं वे युवावस्था और आयु क्षीण होनेपर पश्चात्ताप करते हैं ।

(टीका) 'अनागतम्' एष्यत्कामानिवृत्तानां नरकादियातनास्थानेषु महत् दुःखम् 'अपश्यन्तः' अपर्यालोचयन्तः, तथा 'प्रत्युत्पन्नं' वर्तमानमेव वैषयिकं सुखाभासम् 'अन्वेषयन्तो' मृगयमाणा नानाविधैरुपायैर्भोगान्प्रार्थयन्तः ते पश्चात् क्षीणे स्वायुषि जातसंवेगा यौवने वाऽपगते 'परितप्यन्ते' शोचन्ते पश्चात्तापं विदधति, उक्तं च–" हतं मुष्टिभिराकाशं, तुषाणां कण्डनं कृतम् । यन्मया प्राप्य मानुष्यं, सदर्थे नादरः कृतः ॥ १ ॥" तथा–" विहवावलेवनडिएहिं जाइं कीरंति जोव्वणमएणं । वयपरिणामे सरियाइं ताइं हिअए खुडुक्कंति ॥१॥" ॥१४॥

(टीकार्थ) जो पुरुष कामभोगसे निवृत्त नहीं हैं उनको नरक आदि स्थानों में जो यातनायें होती हैं उनपर दृष्टि न देते हुए जो लोग सुखके आभास मात्र आधुनिक विषय-सुखको नानाप्रकार के उपायों द्वारा प्रार्थना करते हैं वे आयु और युवावस्थाका नाश होने-पर वैराग्ययुक्त होकर पश्चात्ताप करते हैं । वे कहते हैं कि–मनुष्य जन्म पाकर मैंने जो शुभ

---

२ विभवावलेपनटितैर्यानि न क्रियन्ते यौवनमदेन । वयःपरिणामे स्मृतानि तानि हृदयं व्यथन्ते ॥ १ ॥

वस्तुका आदर नहीं किया सो मैंने मुक्के से आकाशका ताड़न किया तथा चावल निकालनेके लिये भूस्सेका कण्डन किया (कूटा)। तथा धन के घमण्ड से और युवावस्था के मद से जो कार्य्य नहीं किये जाते हैं वे जब उमर वीतनेपर याद आते हैं तो हृदयको अत्यन्त पीडित करते हैं।

(मूल) जेहिं काले परिक्कंतं, न पच्छा परितप्पए।
ते धीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीविअं ॥ १५ ॥

(छाया) यैः काले पराक्रान्तं, न पश्चात् परितप्यन्ते
ते धीरा बन्धनोन्मुक्ताः, नावकाङ्क्षन्ति जीवितम्।

(अन्वयार्थ) (जेहिं) जिन पुरुषोंने (काले) धर्मोपार्जनकालमें (परक्कंत) धर्मोपार्जन किया है (ते) वे (पच्छा) पीछे (न परितप्पए) पश्चात्ताप नहीं करते हैं। (बंधणुम्मुक्का) बन्धन से छुटे हुए (ते धीरा) वे धीर पुरुष (जीविअं) असंयम जीवनकी (नावकंखंति) इच्छा नहीं करते हैं।

(भावार्थ) धर्मोपार्जन के समयमें जिन पुरुषोने धर्मोपार्जन किया है वे पश्चात्ताप नहीं करते हैं। वन्धन से छुटे हुए वे धीर पुरुष असंयम जीवनकी इच्छा नहीं करते हैं।

(टीका) ये तूत्तमसत्त्वतया अनागतमेव तपश्चरणादावुद्यमं विदधति न ते पश्चाच्छोचन्तीति दर्शयितुमाह—'यैः' आत्महितकर्तृभिः 'काले' धर्मार्जनावसरे 'पराक्रान्तम्' इन्द्रियकषायपराजयायोद्यमो विहितो न ते 'पश्चात्' मरणकाले वृद्धावस्थायां वा 'परितप्यन्ते' न शोकाकुला भवन्ति, एकवचननिर्देशस्तु सौत्रश्छान्दसत्वादिति, धर्मार्जनकालस्तु विवेकिनां प्रायशः सर्व एव यस्मात्स एव प्रधानपुरुषार्थः, प्रधान एव च प्रायशः क्रियमाणो घटां प्राञ्चति, ततश्च ये बाल्यात्प्रभृत्यकृतविषयासङ्गतया कृततपश्चरणाः ते 'धीराः' कर्मविदारणसहिष्णवो बन्धनेन—स्नेहात्मकेन कर्मणा चोद्—प्राबल्येन मुक्ता नावकाङ्क्षन्ति' असंयमजीवितं, यदिवा—जीविते मरणे वा निःस्पृहाः संयमोद्यममतयो भवन्तीति ॥१५॥ अन्यच्च—

(टीकार्थ) जो पुरुष उत्तम पराक्रमी होनेके कारण पहलेही तपस्या आदिका आचरण करते हैं वे पीछे पश्चात्ताप नहीं करते हैं यह दर्शानेके लिये शास्त्रकार कहते हैं—अपने आत्माका हित सम्पादन करनेवाले जिन पुरुषोंने धर्म के उपार्जनकालमें इन्द्रिय और कषायोंको विजय करने के लिये खूब उद्योग किया है वे मरणकाल मे अथवा वृद्धावस्था में पश्चात्ताप नहीं करते हैं। यहाँ "परितप्पए" इस पदमें एकवचन निर्देश सूत्र होने के कारण

छान्दस समझना चाहिये। जो पुरुष विवेकसम्पन्न हैं उनके लिये प्रायः सभी समय धर्मोपार्जनका ही काल है क्योंकि धर्मोपार्जन ही प्रधान पुरुषार्थ है अतः प्रधान पुरुषार्थ के लिये उद्योग करना ही सबसे उत्तम है। जो पुरुष बाल्यकालसे ही विषयभोगका संसर्ग न करते हुए तपस्या में प्रवृत्त रह चुके हैं वे कर्म को विदारण करने में समर्थ धीर हैं। वे पुरुष स्नेहात्मक बन्धन से अत्यन्त छुटे हुए असंयम जीवनकी इच्छा नहीं करते हैं। अथवा वे जीवन और मरण में निःस्पृह रहकर संयम के अनुष्ठान में चित्त रखते हैं। १५

(मूल) जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमता।
एवं लोगंसि नारीओ, दुरुत्तरा अमईमया ॥ १६ ॥

(छाया) यथा नदी वैतरणी दुस्तरेह सम्मता
एवं लोके नार्यो दुस्तरा अमतिमता।

(अन्वयार्थ) जहा जैसे (इह) इसलोकमें (वेयरणी नदी) वैतरणी नदी (दुत्तरा संमता) दुस्तर मानी गई है (एवं) इसीतरह (लोगंसि) लोकमें (नारीओ) स्त्रियाँ (अमईमया) निर्विवेकी मनुष्य से (दुत्तरा) दुस्तर मानी गई हैं।

(भावार्थ) जैसे अतिवेगवती वैतरणी नदी दुस्तर है इसी तरह निर्विवेकी पुरुष से स्त्रियाँ दुस्तर हैं।

(टीका) यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, यथा वैतरणी नदीनां मध्येऽत्यन्तवेगवाहित्वात् विषमतटत्वाच्च 'दुस्तरा' दुर्लङ्घ्या 'एवम्' अस्मिन्नपि लोके नार्यः 'अमतिमता' निर्विवेकेन हीनसत्त्वेन दुःखेनोत्तीर्यन्ते. तथाहि—ताः हावभावैः कृतविद्यानपि स्वीकुर्वन्ति, तथा चोक्तम्—" सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां, लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव। भ्रूचापाक्षेपमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते, यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति ॥१॥" तदेवं वैतरणीनदीवत् दुस्तरा नार्यो भवन्तीति॥१॥अपिच—

(टीकार्थ) यथा शब्द उदाहरण बताने के आया है। जैसे नदीओं में वैतरणी नदी अतिवेगवती और विषमतटवाली होनेके कारण दुःखसे लङ्घन करने योग्य है इसी तरह इसलोक में पराक्रमहीन विवेकरहित पुरुषोसे स्त्रियाँ दुस्तर हैं। स्त्रियाँ हावभाव के द्वारा विद्वानोको वश कर लेती हैं। किसी कविने कहा है कि पुरुष शुभ कर्म में तभीतक स्थित रहता है और इन्द्रियोंपर तभीतक अपना प्रभुत्व रखता है तथा लज्जा भी तभी तक करता है

एवं विनय भी तभीतक धारण करता है जबतक लीलावती स्त्रियों के द्वारा भ्रुकुटिरूपी धनुषको कानतक खींचकर चलाये हुए नीलपक्षवाले दृष्टिबाण, उसके ऊपर नहीं गिरते हैं अतः स्त्रियाँ वैतरणी नदी के समान दुस्तर हैं। १६

(मूल) जेहिं नारीण संजोगा, पूयणा पिट्ठतो कता।
सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए ॥ १७ ॥

(छाया) यैर्नारीणां संयोगाः पूजना पृष्ठतः कृता
सर्व मेतन्निराकृत्य ते स्थिताः सुसमाधिना।

(अन्वयार्थ) (जेहिं) जिन पुरुषोंने (नारीणं संजोगा। स्त्रियोंका सम्बन्ध (पूयणा) और कामशृंगार को (पिट्ठतो कता) छोड़दिया है (ते) वे पुरुष (एयं सव्वं निराकिच्चा) समस्त उपसर्गोंको तिरस्कार करके (सुसमाहिए ठिआ) प्रसन्नचित्त होकर रहते हैं।

(भावार्थ) जिन पुरुषोंने स्त्रीसंसर्ग और कामशृंगार को छोड दिया है वे समस्त उपसर्गों को जीत कर उत्तम समाधि के साथ निवास करते हैं।

(टिका) 'यैः' उत्तमसत्त्वैः स्त्रीसङ्गविपाकवेदिभिः पर्यन्तकटवो नारीसंयोगाः परित्यक्ताः, तथा तत्सङ्गार्थमेव वस्त्रालङ्कारमाल्यादिभिरात्मनः 'पूजना' कामविभूषा 'पृष्ठतः कृता' परित्यक्तेत्यर्थः, 'सर्वमेतत्' स्त्रीप्रसङ्गादिकं क्षुत्पिपासादिप्रतिकूलोपसर्गकदम्बकं च निराकृत्य ये महापुरुषसेवितपन्थानं प्रति प्रवृत्तास्ते सुसमाधिना—स्वस्थचित्तवृत्तिरूपेण व्यवस्थिताः, नोपसर्गैरनुकूलप्रतिकूलरूपैः प्रक्षोभ्यन्ते, अन्ये तु विषयाभिष्वङ्गिणः स्त्र्यादिपरीषहपराजिता अङ्गारोपरिपतितमीनवद्रागाग्निना दह्यमाना असमाधिना तिष्ठन्तीति ॥१७॥ स्त्र्यादिपरीषहपराजयस्य फलं दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) स्त्री संसर्ग के फलको जानने वाले जिन पुरुषोंने अन्तमें कटु फल देने वाले स्त्रीसंसर्ग को त्याग दिया है तथा स्त्रीसंसर्ग के लियेही जो वस्त्र अलङ्कार और फूलमालादि के द्वारा अपने शरीर को मण्डित कियाजाता है उस कामभूषणको भी त्याग दिया है वे पुरुष, स्त्री प्रसङ्ग आदि तथा क्षुधापिपासा (प्यास) आदि अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गोंको जीतकर महापुरुषोंसे सेवित मार्ग में प्रवृत्त हैं अतः वे प्रसन्न चित्तवृत्ति रूप उत्तम समाधि के साथ स्थित रहते हैं वे पुरुष अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों से कदापि चञ्चल नही होते है

परन्तु दूसरे पुरुष जो विषयलोलुप तथा स्त्री आदि परीषहों से जीते जाचुके हैं वे आग पर पडी हुई मच्छलीकी तरह रागरूपी अग्नि में जलते हुए अशान्ति के साथ निवास करते हैं। १७

स्त्री आदि के परीषह को जितनेका फल बतानेके लिए शास्त्रकार कहते हैं।

(मूल) एते ओघं तरिस्संति, समुद्दं ववहारिणो।
जत्थ पाणा विसन्नासि, किच्चंती सयकम्मुणा ॥१८॥

(छाया) एते ओघं तरिष्यन्ति समुद्रं व्यवहारिणः
यत्र प्राणाः विषण्णाः कृत्यन्ते स्वककर्मणा।

(अन्वयार्थ) (एते) अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गोंको जीतनेवाले ये पूर्वोक्त पुरुष (ओघं) संसारको (तरिस्संति) पार करेंगे (समुद्दं) जैसे समुद्रको (ववहारिणो) व्यापार करनेवाले वणिक् पार करते हैं। (जत्थ) जिस संसारमें (विसन्ना) पडे हुए (पाणा) प्राणी (सयकम्मुणा) अपने कर्मोंसे (किच्चंती) पीडित किये जाते हैं।

(भावार्थ) अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गोंको जीतकर महापुरुषोंद्वारा सेवित मार्ग से चलने वाले धीर पुरुष, जिस संसारसागरमें पडे हुए जीव अपने कर्मोंके प्रभाव से नाना प्रकारकी पीडा भोगते हैं उसको इस प्रकार पार करेंगे जैसे समुद्र के दूसरे पारमे जाकर व्यापार करनेवाला वणिक् लवणसमुद्रको पार करता है।

(टिका) य एते अनन्तरोक्ता अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गजेतार एते सर्वेऽपि 'ओघं' संसारं दुस्तरमपि तरिष्यन्ति, द्रव्यौघदृष्टान्तमाह—'समुद्रं' लवणसागरमिव यथा 'व्यवहारिणः' सांयात्रिका यानपात्रेण तरन्ति, एवं भावौघमपि संसारं संयमयानपात्रेण यतयस्तरिष्यन्ति, तथा तीर्णास्तरन्ति चेति, भावौघमेव विशिनष्टि—'यत्र' यस्मिन् भावौघे संसारसागरे 'प्राणाः' प्राणिनः स्त्रीविषयसङ्गाद्विषण्णाः सन्तः 'कृत्यन्ते' पीड्यन्ते 'स्वकृतेन' आत्मनाऽनुष्ठितेन पापेन 'कर्मणा' असद्वेदनीयोदयरूपेणे ति ॥ १८ ॥ साम्प्रतमुपसंहारव्याजेनोपदेशान्तरदित्सयाह—

(टीकार्थ) अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गोंको जीतनेवाले जो पुरुष पहले कहे गये हैं वे सभी दुस्तर भीसं सार सागरको पार करेगे। इस विषयमें द्रव्य ओघका दृष्टान्त बतलाते हैं—जैसे जहाजों के द्वारा यात्रा करनेवाले पुरुष जहाज द्वारा लवण समुद्रको पार करते हैं इसी तरह पूर्वोक्त साधु पुरुष भावरूपी ओघको अर्थात् संसारसागरको संयमरूपी जहाज के द्वारा पार करेंगे तथा किया है और कर रहे हैं। यह भावरूपी ओघ कैसा है सो विशेषण के द्वारा शास्त्रकार

वतलाते हैं—जिस भावरूपी ओघमें अर्थात् संसार सागरमें स्त्रीसंसर्ग के कारण पडे हुए जीव अपने किये हुए असातावेदनीय के उदय रूपी पाप कर्मके प्रभावसे दुःख भोगते हैं। १८

अबं शास्त्रकार इस प्रकरणको समाप्त करते हुए दूसरा उपदेश देनेके लिये कहते हैं—

(मूल) तं च भिक्खू परिण्णाय, सुव्वते समिते चरे।
मुसावायं च वज्जिज्जा, अदिन्नादाणं च वोसिरे ॥ १९ ॥

(छाया) तच्च भिक्षुः परिज्ञाय सुव्रतः समितश्चरेत्
मृषावादश्च वर्जयेददत्तादनञ्च व्युत्सृजेत्।

(अन्वयार्थ) (भिक्खू) साधु (तंच परिण्णाय) पूर्वोक्त बातोंको जानकर (सुव्वते) उत्तम व्रतों से युक्त तथा (समिते) समितिओंके सहित रहकर (चरे) विचरे)। (मुसावायं च वज्जिज्जा) मृषावादको छोड़देवे और (अदिन्नादाणं च वोसिरे) अदत्तादान को त्याग देवे।

(भावार्थ) पूर्वोक्त गाथाओंमें जो वातें कही गई हैं उन्हें जाकर साधु उत्तम व्रत तथा समिति से युक्त होकर रहे एवं मृषावाद और अदत्तादान को त्याग दे।

(टीका) तदेतद्यत्प्रागुक्तं यथा—वैतरणीनदीवत् दुस्तरा नार्यो यैः परित्यक्तास्ते समाधिस्थाः संसारं तरन्ति, स्त्रीसङ्गिनश्च संसारान्तर्गताः स्वकृतकर्मणा कृत्यन्त इति तदेतत्सर्वं भिक्षणशीलो भिक्षुः 'परिज्ञाय' हेयोपादेयतया बुध्ध्वा शोभनानि व्रतान्यस्य सुव्रतः पञ्चभिः समितिभिः समित इत्यनेनोत्तरगुणावेदनं कृतमित्येवंभूतः 'चरेत्' संयमानुष्ठानं विदध्यात्, तथा 'मृषावादम्' असद्भूतार्थभाषणं विशेषेण वर्जयेत्, तथा 'अदत्तादानं च व्युत्सृजेद्' दन्तशोधनमात्रमप्यदत्तं न गृह्णीयात्, आदिग्रहणान्मैथुनादेः परिग्रह इति, तच्च मैथुनादिकं यावज्जीवमात्महितं मन्यमानः परिहरेत् ॥ १९ ॥ अपरव्रतानामहिंसाया वृत्तिकल्पत्वात् तत्प्राधान्यख्यापनार्थमाह—

(टीकार्थ) पहले जो कहा गया है कि "स्त्रियाँ वैतरणी नदीकी तरह दुस्तर हैं अतः जिसने उनका त्याग करदिया है वे पुरुप समाधियुक्त होकर संसारको पार करते हैं और स्त्री के साथ संसर्ग करनेवाले पुरुप संसारमें रहकर अपने कर्मोंके द्वारा पीडित किये जाते हैं" इन सव वातोंको साधु पुरुप जानकर अर्थात् स्त्री संसर्गको त्याग करने योग्य और संयमको आदरने योग्य समझकर सुन्दर व्रतों से युक्त और समितियों से सहित होकर संयमका अनुष्ठान करे। यहां समितियुक्त होकर रहना वताकर उत्तर गुणोंका कथन किया गया है। इस प्रकार रहता

हुआ साधु मिथ्या भाषण को विशेष रूपसे वर्जित करे तथा अदत्तादान को सर्वथा त्याग करे। विना दिये दाँतको शुद्ध करने के लिये तृणादि भी न लेवे। आदि शब्द से मैथुन आदिका ग्रहण अभीष्ट है इस लिये अपना कल्याण समझकर साधु यावज्जीवन मैथुन आदि न करे। १९

दूसरे व्रत, अहिंसाकी वृत्ति अर्थात् बाड़ के समान हैं परन्तु अहिंसा प्रधान व्रत है इस बातको बताने के लिये शास्त्रकार कहते हैं।

(मूल) उड्ढमहे तिरियं वा, जे केई तसथावरा।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥ २० ॥

(छाया) ऊर्ध्व मध स्तिर्य्यक्षु ये केचित् त्रसस्थावराः
सर्वत्र विरतिं कुर्य्यात् शान्तिर्निर्वाणमाख्यातम्।

(अन्वयार्थ) (उड्ढं) ऊपर (अहे) नीचे (तिरियंच) अथवा तिरछा (जे केई तसथावरा) जो कोई त्रस और स्थावर प्राणी हैं (सव्वत्थ) सबकालमें (विरतिं) विरति अर्थात् उनके नाशसे निवृत्ति (कुज्जा) करनी चाहिये। (संति निव्वाणमाहियं) ऐसा करने से शान्तिरूपी निर्वाणपदकी प्राप्ति कही गई है।

(भावार्थ) ऊपर नीचे अथवा तिरिछा जो त्रस और स्थावर जीव निवास करते हैं उनकी हिंसा से सब कालमें निवृत्त रहना चाहिये। ऐसा करनेसे जीवको शान्तिरूपी निर्वाणपद प्राप्त होता है।

(टीका) ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्ष्वित्यनेन क्षेत्रप्राणातिपातो गृहीतः, तत्र ये केचन त्रसन्तीति त्रसा-द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाः पर्याप्तापर्याप्तकभेदभिन्नाः, तथा तिष्ठन्तीति स्थावराः-पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः सूक्ष्मवादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्ना इति, अनेन च द्रव्यप्राणातिपातो गृहीतः, सर्वत्र काले सर्वास्ववस्थास्वित्यनेनापि काल-भावभेदभिन्नः प्राणातिपात उपात्तो द्रष्टव्यः, तदेवं चतुर्दशस्वपि जीवस्थानेषु कृत-कारितानुमतिभिर्मनोवाक्कायैः प्राणातिपातविरतिं कुर्यादित्यनेन पादोनेनापि श्लोक-द्वयेन प्राणातिपातविरत्यादयो मूलगुणाः ख्यापिताः, साम्प्रतमेतेषां सर्वेषामेव मूलो-त्तरगुणानां फलमुद्देशेनाह—'शान्तिः' इति कर्मदाहोपशमस्तदेव च 'निर्वाणं' मोक्षपदं यद् 'आख्यातं' प्रतिपादितं सर्वद्वन्द्वापगमरूपं तदस्यावश्यं चरणकरणा-नुष्ठायिनः साधोर्भवतीति ॥ २० ॥ समस्ताध्ययनार्थोपसंहारार्थमाह—

(टीकार्थ) ऊपर नीचे और तिरिछा कहकर क्षेत्र प्राणातिपातका ग्रहण किया गया है। जो प्राणी भय पाते हैं वे त्रस कहलाते हैं उन त्रस प्राणियों के द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, पर्य्याप्त और अपर्य्याप्त भेद होते हैं। तथा जो प्राणी चलते फिरते नहीं किन्तु सदा स्थित रहते हैं वे स्थावर कहेजाते हैं। उन स्थावर प्राणियोंके पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति, सूक्ष्म, वादर पर्य्याप्त और अपर्य्याप्त रूप भेद होते हैं। यहां त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसाका निषेध करके द्रव्यप्राणातिपातका ग्रहण किया गया है। तथा सब कालमें अर्थात् सभी अवस्थाओंमें प्राणियोंकी हिंसा न करनी चाहिये यह कहकर काल और भाव भेदसे भिन्न प्राणातिपातका ग्रहण किया गया है। इस प्रकार चौदह ही जीवस्थानों में तीनों करण और तीनों योगों से प्राणातिपात से निवृत्त होजाना चाहिये यह कहकर एक चरण कम दो श्लोकों के द्वारा प्राणातिपात विरति आदि मूल गुणोंका कथन किया गया है। अब इन समस्त मूलगुण और उत्तर गुणोंका फल, नाम लेकर बताने के लिये चौथा चरण कहते हैं—कर्मरूपी दाहकी शान्तिको शान्ति कहते हैं वह शान्ति ही निर्वाण अर्थात् मोक्षपद कहा गया है वह समस्त दुःखोंकी निवृत्तिस्वरूप है वह चरण करणका अनुष्ठान करनेवाले साधुको ही अवश्य प्राप्त होता है। २०

(मूल) इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेदितं।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए॥ २१॥

(छाया) इमञ्च धर्ममादाय काश्यपेन प्रवेदितम्
कुर्य्याद् भिक्षुर्ग्लानस्याग्लानतया समाहितः।

(अन्वयार्थ) (कासवेण पवेदितं) काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा कहे हुए (इमंच धम्ममादाय) इस धर्मको स्वीकार करके (समाहिए) समाधियुक्त (भिक्खू) साधु (अगिलाए) अग्लानभावसे (गिलाणस्स) ग्लान साधुकी सेवा करे।

(भावार्थ) काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा कहे हुए इस धर्मको स्वीकार करके साधु समाधि युक्त रहता हुआ अग्लान भावसे ग्लान साधुकी सेवा करे।

(टिका) 'इमं च धम्ममि'त्यादि, 'इम' मिति पूर्वोक्तं मूलोत्तरगुणरूपं श्रुतचारित्राख्यं वा दुर्गतिधारणात् धर्मम् 'आदाय' आचार्योपदेशेन गृहीत्वा किम्भूतमिति तदेव विशिनष्टि—'काश्यपेन' श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिना समुत्पन्नदिव्यज्ञानेन भव्यसत्त्वाभ्युद्धरणाभिलाषिणा 'प्रवेदितम्' आख्यातं समधिगम्य

'भिक्षुः' साधुः परीषहोपसर्गैरतर्जितो ग्लानस्यापरस्य साधोर्वैयावृत्त्यं कुर्यात्, कथमिति ?, स्वतोऽग्लानतया यथाशक्ति 'समाहित' इति समाधिं प्राप्तः, इदमुक्तं भवति–कृतकृत्योऽहमिति मन्यमानो वैयावृत्त्यादिकं कुर्यादिति ॥ २१ ॥ अन्यच्च–

(टीकार्थ) अब शास्त्रकार समस्त अध्ययनकी समाप्ति करनेके लिये कहते हैं कि पहले कहे हुए मूल और उत्तर गुणरूप अथवा श्रुत चरित्ररूप, दुर्गति से धारण करनेवाले धर्मको आचार्य्य के उपदेश से ग्रहण करके साधु रोगी साधुका व्यावच करे। यह धर्म कैसा है सो बताने के लिये इसका विशेषण बतलाते हैं–जिनको दिव्यज्ञान उत्पन्न हुआ था तथा जो भव्य जीवोंके उद्धारकी इच्छा करते थे ऐसे श्रीमान् महावीर वर्धमान स्वामीने इस धर्मको कहाथा। इस धर्मको प्राप्त करके परीषह तथा उपसर्गों से न घबडाता हुआ साधु दूसरे रोगी साधुका व्यावच करे। किस प्रकार करे सो बताते हैं। स्वयं ग्लान न होते हुए यथाशक्ति समाधिको प्राप्त होकर करे। आशय यह है कि मैं कृतकृत्य हुआ यह मानता हुआ, रोगी साधुका व्यावच करे। २१

(मूल) संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे।
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२२॥त्तिबेमि॥
इति उवसग्गपरिन्नाणामं तइयं अज्झयणं सम्मत्तं ॥ [गाथाग्रं २५६]

(छाया) संख्याय पेशलं धर्मं दृष्टिमान् परिनिर्वृतः
उपसर्गान् नियम्य आमोक्षाय परिव्रजेत्।

(अन्वयार्थ) (दिट्ठिमं) सम्यग्दृष्टि, (परिनिव्वुडे) शान्त पुरुष (पेसलं धम्मं संखाय) मुक्ति देनेमें कुशल इस धर्मको अच्छी तरह जानकर (उवसग्गे) (उपसर्गोंको) (नियामित्ता) सहन करके (आमोक्खाय) मोक्ष प्राप्ति पर्य्यन्त (परिव्वए) संयमका अनुष्ठान करे।

(भावार्थ) सम्यग्दृष्टि शान्त पुरुष मोक्ष देनेमें कुशल इस धर्मको अच्छी तरह जानकर उपसर्गोंको सहन करता हुआ मोक्ष प्राप्ति पर्य्यन्त संयमका अनुष्ठान करे।

(टीका) 'संख्याये'ति सम्यक् ज्ञात्वा स्वसम्मत्या अन्यतो वा–श्रुत्वा 'पेशलं'ति मोक्षगमनं प्रत्यनुकूलं, किं तद् ?–'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं 'दृष्टिमान्' सम्यग्दर्शनी 'परिनिर्वृत' इति कषायोपशमाच्छीतीभूतः परिनिर्वृतकल्पो वा

---

१ सहसन्मत्येति तात्पर्यं प्राकृतानुकरणं चेदम्।

'उपसर्गान्' अनुकूलप्रतिकूलान् सम्यग् 'नियम्य' अतिसह्य 'आमोक्षाय' मोक्षं यावत् परि–समन्तात् 'व्रजेत्' संयमानुष्ठानेन गच्छेदिति, इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत्, नयचर्चाऽपि तथैवेति ॥ २२ ॥

(टीकार्थ) अपनी बुद्धि से अथवा दूसरे से सुनकर मोक्ष देनेमें अनुकूल इस श्रुत चारित्र-रूप धर्मको सुनकर सम्यग्दर्शनयुक्त तथा कषायों के नष्ट होजानेसे शान्तभूत, अथवा मुक्त के तुल्य पुरुष अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गोंको सहन करता हुआ मोक्ष प्राप्तिपर्य्यन्त संयमका अनुष्ठान करे। इति शब्द समाप्ति अर्थमें है। ब्रवीमि यह पूर्ववत् है नयोंकी चर्चाभी पूर्ववत्‌ही है। २२

उपसर्गपरिज्ञायाः समाप्तश्चतुर्थोद्देशकः, तत्परिसमाप्तौ च समाप्तं तृतीयमध्ययनमिति। ग्रंथाग्रं ७७९ ॥

उपसर्गपरिज्ञाध्ययनका चतुर्थ उद्देशक समाप्त हुआ और उसके समाप्त होनेसे यह तीसरा अध्ययन समाप्त हुआ।



॥ अथ चतुर्थं स्त्रीपरिज्ञाध्ययनं प्रारभ्यते ॥

(टीका) उक्तं तृतीयमध्ययनं, साम्प्रतं चतुर्थमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तराध्ययने उपसर्गाः प्रतिपादिताः, तेषां च प्रायोऽनुकूला दुःसहाः, ततोऽपि स्त्रीकृताः, अतस्तज्जयार्थमिदमध्ययनमुपदिश्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति. तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा–अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारः प्राग्वत् निर्युक्तिकृता 'थीदोपविवज्जणा चेवे'त्यनेन स्वयमेव प्रतिपादितः, उद्देशार्थाधिकारं तूत्तरत्र निर्युक्तिकृदेव भणिष्यति, साम्प्रतं निक्षेपः, स चौघनामसूत्रालापकभेदात्त्रिधा, तत्रौघनिष्पन्ने निक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने 'स्त्रीपरिज्ञे'ति नाम, तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य स्त्रीशब्दस्य द्रव्यादिनिक्षेपार्थमाह—

दव्वाभिलावचिंधे वेदे भावे य इत्थिणिक्खेवो ।
अहिलावे जह सिद्धी भावे वेयंमि उवउत्तो ॥ ५६ ॥

(टीकार्थ) तीसरा अध्ययन कहा जाचुका अब चौथा आरम्भ किया जाता है । इस अध्ययनका पूर्व अध्ययन के साथ सम्बन्ध यह है–पूर्व अध्ययनमें उपसर्ग कहे गये हैं उनमें प्रायः अनुकूल उपसर्ग दुःसह होते हैं उन अनुकूल उपसर्गोंमे भी स्त्रीसे किया हुआ उपसर्ग अति दुःसह होता है अतः स्त्रीकृत उपसर्गोंका विजय के लिये इस चतुर्थ अध्ययनका उपदेश किया जाता है । इस सम्बन्ध से आये हुए इस अध्ययनके उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार होते हैं । उनमें उपक्रममें अर्थाधिकार दो प्रकारका है । अध्ययनार्थाधिकार और उद्देशार्थाधिकार, उनमे अध्ययनार्थाधिकार को निर्युक्तिकारने प्रथम अध्ययनकी प्रस्तावनामे 'थीदोसविवज्जणा चेव' इस गाथा के द्वारा स्वयमेव बतादिया है । तथा उद्देशार्थाधिकारको आगे चलकर निर्युक्तिकार स्वयमेव कहेंगे । अब निक्षेप कहा जाता है–वह निक्षेप, ओघ नाम और सूत्रालापक भेद से तीन प्रकारका है । उनमें ओघ निक्षेपमे यह समस्त अध्ययन है और नामनिक्षेप में इस अध्ययनका नाम स्त्री परिज्ञाध्ययन है । इनमे नाम और स्थापनाको अभ्यास में आने के कारण छोड़कर स्त्री शब्दका द्रव्य आदि निक्षेप बताने के लिये निर्युक्तिकार कहते हैं—

(टीका) तत्र द्रव्यस्त्री द्वेधा–आगमतो नोआगमतश्च, आगमतः स्त्रीपदार्थज्ञस्तत्र चानुपयुक्तः, अनुपयोगो द्रव्यमितिकृत्वा, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता

त्रिधा, एकभविका बद्धायुष्काभिमुखनामगोत्रा चेति, चिह्नयते–ज्ञायतेऽनेनेति चिह्नं स्तननेपथ्यादिकं, चिह्नमात्रेण स्त्री चिह्नस्त्री अपगतस्त्रीवेदश्छद्मस्थः केवली वा अन्यो वा स्त्रीवेषधारी यः कश्चिदिति, वेदस्त्री तु पुरुषाभिलाषरूपः स्त्रीवेदोदयः, अभिलापभावौ तु निर्युक्तिकृदेव गाथापश्चार्द्धेनाह–अभिलप्यते इत्यभिलापः स्त्रीलिङ्गाभिधानः शब्दः, तद्यथा–शाला माला सिद्धिरिति, भावस्त्री तु द्वेधा–आगमतो नोआगमतश्च, आगमतः स्त्रीपदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्तः, 'उपयोगो भाव' इतिकृत्वा, नोआगमतस्तु भावविषये निक्षेपे 'वेदे' स्त्रीवेदरूपे वस्तुन्युपयुक्ता तदुपयोगानन्यत्वाद्भावस्त्री भवति, यथाऽग्नावुपयुक्तो माणवकोऽग्निरेव भवति, एवमत्रापि, यदिवा–स्त्रीवेदनिर्वर्तकान्युदयप्राप्तानि यानि कर्माणि तेषु 'उपयक्ते'ति तान्यनुभवन्ती भावस्त्रीति, एतावानेव स्त्रियो निक्षेप इति. परिज्ञानिक्षेपस्तु शस्त्रपरिज्ञावद् द्रष्टव्यः ॥ साम्प्रतं स्त्रीविपक्षभूतं पुरुषनिक्षेपार्थमाह—

(टीकार्थ) द्रव्य स्त्री दो प्रकारकी है–आगमसे (ज्ञानसे) और नो आगम से। जो पुरुष स्त्री पदार्थको जानता है परन्तु उसमें उपयोग नहीं रखता है वह आगमसे द्रव्य स्त्री है क्योंकि उपयोग न रखना ही द्रव्य है। ज्ञशरीर और भव्य शरीरसे व्यतिरक्त द्रव्य स्त्रीके नो आगमसे तीन भेद हैं। एक भविका, (जो एक भवके बाद ही स्त्रीभवको प्राप्त करनेवाला है) बद्धायुष्का (जिसने स्त्रीकी आयु बाँधली है) अभिमुखनामगोत्रा (स्त्री नाम गोत्र जिसके अभिमुख है वह जीव)। जिसके द्वारा वस्तु पहिचानी जाती है उसे चिन्ह कहते हैं स्तन और स्त्रीकी तरह कपडा आदि पहनना स्त्रीके चिन्ह हैं। जो चिन्ह मात्रसे स्त्री है उसे चिन्ह स्त्री कहते हैं। जिसका स्त्रीवेद नष्ट होगया है ऐसा छद्मस्थ अथवा केवली अथवा अन्य कोई जीव जो स्त्रीका वेष धारण करता है वह चिन्हस्त्री है। पुरुष भोगने की इच्छा रूप स्त्रीवेदके उदयको वेदस्त्री कहते हैं।

अभिलापस्त्री और भावस्त्रीको निर्युक्तिकार गाथाका उत्तरार्ध के द्वारा बतलाते हैं। जो कहा जाता है उसे अभिलाप कहते हैं, स्त्री लिङ्गको कहनेवाला शब्द अभिलाप स्त्री है, जैसे शाला माला और सिद्धि इत्यादि शब्द। भाव स्त्री दो प्रकारकी है–आगमसे और नोआगमसे। जो जीव स्त्रीपदार्थको जानता हुआ उसमें उपयोग रखता है वह आगमसे भावस्त्री है क्योंकि वस्तुमें उपयोग रखना भाव कहलाता है। नो आगमसे भावस्त्री वह है जो स्त्रीवेदरूप वस्तुमें उपयोग रखता है क्योंकि उपयोग उस जीवसे भिन्न नहीं है जैसे अग्निमें उपयोग रखनेवाला

१ व्यतिरिक्तभेदाः।

बालक अग्नि ही हो जाता है इसी तरह यहांभी समझना चाहिये। अथवा स्त्री वेदको उत्पन्न करनेवाले उदयको प्राप्त जो कर्म हैं उनमें जो उपयोग रखता है अर्थात् स्त्रीवेदनीय कर्मोंको जो अनुभव करता है वह नो आगमसे भावस्त्री है। स्त्रीका निक्षेप इतनाही है। परिज्ञाका निक्षेप शास्त्रपरिज्ञाकी तरह समझना चाहिये। अब स्त्रीके विपक्षभूत पुरुषका निक्षेप करने के लिये कहते है।

णामं ठवणा दविए खेत्ते काले य पज्जणणकंमे।
भोगे गुणे य भावे दस एए पुरिसणिक्खेवा ॥ ५७ ॥

(टीका) 'नम' इति संज्ञा तन्मात्रेण पुरुषो नामपुरुषः—यथा घटः पट इति, यस्य वा पुरुष इति नामेति, 'स्थापनापुरुषः' काष्ठादिनिर्वर्तितो जिनप्रतिमादिकः, द्रव्यपुरुषो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो नोआगमत एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्चेति, द्रव्यप्रधानो वा मम्मणवणिगादिरिति, यो यस्मिन् सुराष्ट्रादौ क्षेत्रे भवः स क्षेत्रपुरुषो यथा सौराष्ट्रिक इति, यस्य वा यत् क्षेत्रमाश्रित्य पुंस्त्वं भवतीति, यो यावन्तं कालं पुरुषवेदवेद्यानि कर्माणि वेदयते स कालपुरुष इति, यथा–'पुरिसे णं भंते! पुरिसोत्ति कालओ केवचिरं होइ? गो०, जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं जो जम्मि काले पुरिसो भवइ, जहा कोइ एगंमि पक्खे पुरिसो एगंमि नपुंसगो'त्ति। प्रजन्यतेऽपत्यं येन तत्प्रजननं शिश्नम्—लिङ्गम् तत्प्रधानः पुरुषः अपरपुरुषकार्यरहितत्वात् प्रजननपुरुषः, कर्म—अनुष्ठानं तत्प्रधानः पुरुषः कर्मपुरुषः—कर्मकरादिकः, तथा भोगप्रधानः पुरुषो भोगपुरुषः—चक्रवर्त्यादिः—तथा गुणाः—व्यायामविक्रमधैर्यसत्त्वादिकास्तत्प्रधानः पुरुषो गुणपुरुषः, भावपुरुषस्तु पुंवेदोदये वर्तमानस्तद्वेद्यानि कर्माण्यनुभवन्निति, एते दश पुरुषनिक्षेपा भवन्ति। साम्प्रतं प्रागुल्लिङ्गितमुद्देशार्थाधिकारमधिकृत्याह—

(टीकार्थ) संज्ञाको नाम कहते हैं। जो संज्ञा मात्रसे पुरुष है वह नाम पुरुष कहलाता है जैसे घट पट शब्द नाम पुरुष हैं। अथवा जिसका नाम पुरुष है वह नाम पुरुष है। स्थापना पुरुष लकडी आदिकी बनाई हुई जिन प्रतिमा (यक्ष प्रतिमा मनुष्य प्रतिमा) आदि हैं। द्रव्यपुरुष ज्ञशरीर भव्यशरीर से व्यतिरक्त नोआगम से तीन प्रकारके हैं। जैसेकि—एकभविक, बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र। अथवा धनमें जिसका अत्यन्त मन होता है उस द्रव्यप्रधान पुरुषको द्रव्यपुरुष कहते हैं जैसे मम्मण वणिक् आदि।

क्षेत्र पुरुष वह है जो जिस देशमें जन्मा है, जैसे सुराष्ट्र देशमें जन्मा हुआ पुरुष सौराष्ट्रिक कहलाता है। अथवा जिसको जिस क्षेत्र के आश्रयसे पुरुषत्व प्राप्त होता है वह उस क्षेत्रका क्षेत्र पुरुष है। तथा जो जितने कालतक पुरुषवेदनीय कर्मोंको भोगता है वह कालपुरुष है जैसेकि—" (पुरिसेणं) हे भगवन्! पुरुष, कालसे कबतक पुरुषपनमें होता है ? हे गोतम ? जघन्य एक समय और उत्कृष्ट जो जिस कालमें स्वयं पुरुषपनको अनुभव करता है जैसे कोई एक पक्षमें पुरुषपनको अनुभव करता है और दूसरे पक्षमें नपुंसकपनेको भोगता है। जिससे प्रजा वगैरह उत्पन्न होती है उसे प्रजनन कहते हैं वह पुरुषका चिन्ह है। जिसको वही प्रधान है वह प्रजनन पुरुष है! कारण यह है कि उससे पुरुष के योग्य दूसरा कार्य्य नहीं होता है इस लिये उसे प्रजनन पुरुष कहते हैं। अनुष्ठानको कर्म कहते हैं, वह कर्म जिसमें प्रधान है उसे कर्मपुरुष कहते हैं। मँजूर और कारीगर आदि कर्मपुरुष हैं। तथा भोगप्रधान पुरुष को भोगपुरुष कहते है। चक्रवर्ती आदि भोगपुरुष हैं। तथा व्यायाम (कसरत) विक्रम (बल) धैर्य सत्व आदि गुण हैं, ये गुण जिसमें प्रधान हैं उसे गुण पुरुष कहते हैं। भावपुरुष वह है जो पुरुषवेदनीय कर्मके उदयमें वर्तमान रहकर पुरुष वेदनीय कर्मोंको अनुभव कर रहा है। इस प्रकार पुरुष के दश निक्षेप होते हैं। अब पूर्वमें जिसकी सूचना की गई है उस उद्देशार्थाधिकार के विषयमें निर्युक्तिकार कहते हैं।

पढमे संथवसंलवमाइहि खलणा उ होति सीलस्स।
बितिए इहेव खलियस्स अवत्था कम्मबंधो य॥ ५८॥

(टीका) प्रथमे उद्देशके अयमर्थाधिकारः, तद्यथा—स्त्रीभिः सार्धं 'संस्तवेन' परिचयेन तथा 'संलापेन' भिन्नकथाद्यालापेन, आदिग्रहणादङ्गनिरीक्षणादिना कमोत्कोचकारिणा भवेदल्पसत्त्वस्य 'शीलस्य' चारित्रस्य स्खलना तुशब्दात्तत्परित्यागो वेति, द्वितीये त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा—शीलस्खलितस्य साधोः 'इहैव' अस्मिन्नेव जन्मनि स्वपक्षपरपक्षकृता तिरस्कारादिका विडम्बना तत्प्रत्ययश्च कर्मबन्धः, ततश्च संसारसागरपर्यटनमिति, किं स्त्रीभिः कश्चित् शीलात् प्रच्याव्यात्मवशः कृतो येनैवमुच्यते ?, कृत इति दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) प्रथम उद्देशमें कहा है कि स्त्रियों के साथ परिचय रखनेसे तथा भिन्नकथा वगैरह (चारित्रको नाश करनेवाली) वातोंका आलाप करने से तथा आदि शब्द से कामको उत्पन्न करनेवाले उन स्त्रियोंके अङ्गोपाङ्गों को देखने आदि से अल्प पराक्रमी पुरुष के शील यानी

चारित्रकी स्खलना (व्रतभङ्ग) होती हैं अथवा तु शब्द से जानना चाहिये कि वह पुरुष दीक्षाको छोड़ देता है। द्वितीय उद्देशमें यह कहा है कि–शीलभ्रष्ट साधुकी इसी जन्ममें अपने पक्ष और पर पक्षकी तरफ से तिरस्कार वगैरह का दुःख होता है तथा शीलको भङ्ग करने से अशुभ कर्मका बन्ध होता है और उसे संसारसागरमें भ्रमण करना पड़ता है। क्या स्त्रियोंने किसीको शीलभ्रष्ट करके अपने वशमें किया है जिस से तुम ऐसा कहते हो? हाँ, किया है सो कहते हैं—

सूरा मो मन्नंता कइतवियाहिं उवहिप्पहाणाहिं।
गहिया हु अभयपज्जोयकूलवालादिणो बहवे॥ ५९॥

(टीका) बहवः पुरुषा अभयप्रद्योतकूलवालादयः शूरा वयमित्येवं मन्यमानाः, मो इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थः, 'कृत्रिमाभिः' सद्भावरहिताभिः स्त्रीभिस्तथा उपधिः–माया तत्प्रधानाभिः कृतकपटशताभिः 'गृहीता' आत्मवशतां नीताः केचन राज्यादपरे शीलात् भ्रंश्याऽत्रैहैव विडम्बनां प्रापिताः, अभयकुमारादिकथानकानि च मूलादावश्यकादवगन्तव्यानि, कथानकत्रयोपन्यासस्तु यथाक्रमं अत्यन्तबुद्धिविक्रमतपस्वित्वख्यापनार्थ इति॥ यत एवं ततो यत्कर्तव्यं तदाह—

(टीकार्थ) अभय, प्रद्योत और कूलवाल वगैरह बहुत से पुरुष अपनेको शूरवीर मानते थे (मो शब्द निपात है वाक्यकी शोभा के लिये आया है) परन्तु वे कृत्रिम अर्थात् अन्दर के भावसे वर्जित तथा सैकडो माया करनेवाली स्त्रियोंके द्वारा वश किये जाचुके हैं। कईतो स्त्रियोंके द्वारा राज्य से भ्रष्ट किये गये हैं और कई शीलसे भ्रष्ट किये जाकर इसी जन्ममें तिरस्कार भागी हुए हैं। अभयकुमार आदि की कथायें मूल अवश्यक से जाननी चाहिये। तीनोंकी कथा बतानेका कारण यह है कि अभयकुमारमें अत्यन्त बुद्धि थी और प्रद्योत शूर वीर था और कुलवाल महान् तपस्वी था। इन तीनोको स्त्रियोने कपट से वशमें कियाथा। अतः क्या करना चाहिये सो बताते हैं—

तम्हा ण उ वीसंभो गंतव्वो णिच्चमेव इत्थीसुं।
पढमुद्देसे भणिया जे दोसा ते गणंतेणं॥ ६०॥

(टीका) यस्मात् स्त्रियः सुगतिमार्गार्गला मायाप्रधाना वञ्चनानिपुणास्तस्मादेतदवगम्य नैव 'विश्रम्भो' विश्वासस्तासां विवेकिना 'नित्यं' सदा 'गन्तव्यो'

यातव्यः, कर्तव्य इत्यर्थः, ये दोषाः प्रथमोद्देशके अस्योपलक्षणार्थत्वात् द्वितीये च तान् 'गणयता' पर्यालोचयता, तासां मूर्तिमत्कपटराशिभूतानामात्महितमिच्छता न विश्वसनीयमिति ॥ अपिच—

(टीकार्थ) इसलिये स्त्रियोंको सुगतिमार्गकी अर्गला अर्थात् विघ्नकारिणी, कपट से भरी हुई और पुरुषको ठगनेमें अति निपुण जानकर विवेकी पुरुषको हमेशः उनका विश्वास न करना चाहिये। स्त्रियोंके दोष प्रथम उद्देशकमें तथा उपलक्षण होनेके कारण द्वितीय उद्देशकमें जो बताये गए हैं उनको विचार कर स्त्रियोंको कपट राशिकी मूर्ति समझकर अपना हित चाहनेवाले पुरुषको उनका विश्वास न करना चाहिये।

सुसमत्थाऽवऽसमत्था कीरंती अप्पसत्तिया पुरिसा।
दीसंती सूरवादी णारीवसगा ण ते सूरा ॥ ६१ ॥

(टीका) परानीकविजयादौ सुष्ठु समर्था अपि सन्तः पुरुषाः स्त्रीभिरात्मवशीकृता 'असमर्था' भ्रूक्षेपमात्रभीरवः क्रियन्ते—अल्पसात्त्विकाः स्त्रीणामपि पादपतनादिचाटुकरणेन निःसाराः क्रियन्ते, तथा 'दृश्यन्ते' प्रत्यक्षेणोपलभ्यन्ते शूरमात्मानं वदितुं शीलं येषां ते शूरवादिनोऽपि नारीवशगाः, सन्तो दीनतां गताः, एवम्भूताश्च न ते शूरा इति, तस्मात् स्थितमेतद्—अविश्वास्याः स्त्रिय इति, उक्तं च— "[1]को वीससेज्ज तासिं कतिवयभरियाण दुवियड्ढाणं! । खणरत्तविरत्ताणं धिरत्थु इत्थीण हिययाणं ॥ १ ॥[2]अण्णं भणंति पुरओ अण्णं पासे णिवज्जमाणीओ। अन्नं तासिं हियए जं च खमं तं करिंति पुणो ॥ २ ॥ [3]को एयाणं णाहिइ वेत्तलयागुम्मगुविलहिययाणं। भावं भग्गासाणं तत्थुप्पन्नं भणंतीणं ॥ ३ ॥ [4]महिला य रत्तमेत्ता उच्छुखंडं च सक्करा चेव। सा पुण विरत्तमित्ता णिवंकूरे विसेसेइ ॥ ४ ॥ [5]महिला दिज्ज करेज्ज व मारिज्ज व [6]संठविज्ज व मणुस्सं। तुट्ठा जीवाविज्जा अहव णरं वंच-

---

१ को विश्वस्यात्तासु कैतवभृत्सु दुर्विदग्धासु। क्षणरक्तविरक्तासु धिगस्तु स्त्रीहृदयानां ॥ १ ॥ २ अन्यद् भणन्ति पुरतोऽन्यत्पार्श्वे निपीडयन्त्यः। अन्यत्तासां हृदये यच्च क्षमं तत्कुर्वन्ति पुनः ॥ १ ॥ ३ क एतासां ज्ञास्यति वेत्रलतागुल्मगुपिलहृदयानां। भावं भग्नाशानां तत्रोत्पन्न भणंतीनां ॥ १ ॥ ४ महिला च रक्तमात्रेक्षुखंडेव शर्करेव च। सा पुनर्विरक्तमात्रा निम्बाङ्कुरं विशेषयति ॥ १ ॥ ५ महिला दद्यात्कुर्याद्वा मारयेद्वा संस्थापयेद्वा मानुष्यं। तुष्टा जीवापयेत् अथ च नरं वंचयेद् ॥ १ ॥ ६ संथविज्ज प्र० संवहेज्ज प्र०।

यावेज्जा ॥ ५ ॥ णवि रक्खंते सुकयं णवि णेहं णवि य दाणसम्माणं । ण कुलं ण पुव्वयं आयतिं च सीलं महिलियाओ ॥ ६ ॥ मा वीसंभह ताणं महिलाहियायाण कवडभरियाणं ॥ णिण्णेहनिद्दयाण अलियवयणजंपणरयाणं ॥ ७ ॥ मारेइ जियंतंपिहु मयंपि अणुमरइ काइ भत्तारं । विसहरगइव्व चरियं वंकविवंकं महेलाणं ॥ ८ ॥ गंगाए वालुया सागरे जलं हिमवओ य परिमाणं । जाणंति बुद्धिमंता महिलाहिययं ण जाणंति ॥ ९ ॥ रोवावंति रुवंति य अलियं जंपंति पत्तियावंति । कवडेण य खंति विसं मरंति णय जंति सब्भावं ॥ १० ॥ चिंतिंति कज्जमण्णं अण्णं संठवइ भासई अण्णं । जाढवइ कुणइ अण्णं माइवग्गो णियडिसारो ॥ ११ ॥ असयारंभाण तहा सव्वेसिं लोगगरहणिज्जाणं । परलोगवेरियाणं कारणयं चेव इत्थीओ ॥ १२ ॥ अहवा को जुवईणं जाणइ चरियं सहावकुडिलाणं । दोसाण आगरो च्चिय जाण सरीरे वसइ कामो ॥ १३ ॥ मूलं दुच्चरियाणं हवइ उ णरयस्स वत्तणी विउला । मोक्खस्स महाविग्घं वज्जेयव्वा सया नारी ॥ १४ ॥ धंण्णा ते वरपुरिसा जे च्चिय मोत्तूण णिययजुवईओ । पव्वइया कयनियमा सिवमयलमणुत्तरं पत्ता ॥ १५ ॥"

अधुना यादृक्षः शूरो भवति तादृक्षं दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) शत्रुसैन्यको विजय करने आदिमें खूब समर्थ पुरुषोंको भी स्त्रियोंने अपने नेत्र के पलक मात्र से वशीभूत तथा असमर्थ, डरपोक बनादिया हैं । तथा वे पुरुष अल्प पराक्रमी बनकर स्त्रियोंके पैरपर पड़ना आदि खुशामद करते हुए सार रहित बना दिये जाते हैं । यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि अपने को शूर मानने वाले पुरुष भी स्त्रिके वश में होकर

---

२ नापि रक्षन्ति सुकृतं नापि स्नेहं नापि दानसन्माने च । न कुलं न पूर्वज नायतिं च शीलं महिला॰ ॥ १ ॥ ३ मा विश्रम्भ तेषां महिलाहृदयानां कपटभृतां । निःस्नेहनिर्दयानां अलीकवचनजल्पनरतानाम् ॥ १ ॥ ४ मारयन्ति जीवन्तमप्येव मृतमप्यनुम्रियते काचिद्भर्तारं । विषधरगतिरिव चरितं वक्रविवक्रं महेलानां ॥ १ ॥ ५ गंगायां वालुकाः सागरे जलं हिमवतश्च परिमाणं जानंति बुद्धिमन्तो महिलाहृदयं न जानन्ति ॥ १ ॥ ६ रोदयन्ति रुदन्ति च अलीकं जल्पन्ति प्रत्याययन्ति । कपटेन खादन्ति विषं म्रियन्ते न च यान्ति सद्भावम् ॥ १ ॥ ७ चिन्तयन्ति कार्यमन्यदन्यत् संस्थापयन्ति भाषतेऽन्यत् । आरभते करोत्यन्यन्मायिवर्गो निकृतिसारः ॥ १ ॥ ८ असदारंभाणां तथा सर्वेषां लोकगर्हणीयाणां । परलोकवैरिकाणां कारणं चैव स्त्रियः ॥ १ ॥ ९ अथवा को युवतीनां जानाति चरितं स्वभावकुटिलानां । दोषाणामाकरश्चैव यासां शरीरे वसति कामः ॥ १ ॥ १० मूलं दुश्चरितानां भवति तु नरकस्य वर्तनी विपुला । मोक्षस्य महाविघ्नं वर्जयितव्या सदा नारी ॥ १ ॥ ११ धन्यास्ते वरपुरुषा ये चैव मुक्त्वा निजकयुवतीः । प्रव्रजिताः कृतनियमाः शिवमचलमनुत्तरं प्राप्ताः ॥ १ ॥

दीन हो चुके हैं वस्तुतः ऐसे पुरुष शूर नहीं हैं। इससे सिद्ध हुआ कि स्त्रियोंका विश्वास न करना चाहिये। कहाभी है–(को वीससेज्ज) कपटसे भरी हुई और दुःख से समझाने योग्य तथा क्षण मात्रमें राग करनेवाली और क्षणमें ही विरक्त होनेवाली स्त्रियों पर कौन विश्वास कर सकता है? पूर्वोक्त दुर्गुणों से भरे हुए स्त्रीके हृदयको धिक्कार है। स्त्रियां सामने दूसरा कहती हैं और दूसरे के पास बैठती हैं। हृदयमें दूसराही होता है तथा जो मनमें धारती हैं वह करती हैं। २ ऐसा कौन पुरुष विद्वान् है जो वेत्रलता की गुच्छासे भी गाढ हृदयवाली स्त्रियोंके भावको जाने? । ३ अनुरक्त होनेपर स्त्री ऊख की तरह तथा शक्कर की तरह मधुर प्रतीत होती है परन्तु विरक्त होनेपर वह निम्ब के अङ्कुरसे भी अधिक कटु हो जाती है।४ स्त्री, मनुष्यको देती है, उसका कार्य्य करती है, तथा वह मनुष्यको मार डालती भी है। वह मनुष्यको स्थान पर स्थापित करती है तथा प्रसन्न होकर उसे जीलाती है अथवा ठगती है। ५ स्त्रियां पुण्यकी रक्षा नहीं करती हैं। स्नेह नहीं करती है तथा दान सम्मान की रक्षा नहीं करती हैं। वे, कुल, पूर्वकी कीर्ति, भविष्यकी उन्नति तथा शीलका नाश कर देती हैं। ६ कपटसे भरे हुए, स्नेह तथा दया से रहित झूठ बोलनेमें तत्पर ऐसी स्त्रियोंके हृदयका विश्वास न करो ७ स्त्रियां जीते हुए पतिको मार डालती हैं और कोई अपनी प्रतिष्ठा के लिये मरे हुए पतिके पीछे मरजाती हैं अतः स्त्रियोंका चरित्र सर्पके समान टेढा से भी टेढा होता है। ८ गङ्गाकी रेतीके कणोंको तथा समुद्र के जलको एवं हिमालय पर्वत के परिमाणको बुद्धिमान् पुरुष जानते हैं परन्तु वे स्त्रियोंके हृदयको नहीं जानते हैं। ९ स्त्रियां दूसरेको रुलाती हैं और आप भी रोती हैं, झूठ बोलती हैं, शपथ खाकर विश्वास उत्पन्न करती हैं, कपट से विष भक्षण करती हैं, मरजाती हैं परन्तु उनके हृदयके सच्चे भावको कोई जानता नहीं है। १० स्त्रियां मनमें दूसरा कार्य्य सोचती हैं और बाहरसे दूसरा कार्य्य स्थापन करती हैं। वचनसे वे दूसरा कार्य्य बताती हैं परन्तु अन्य कार्य्यको आरम्भ करती हैं। वे आरम्भ किये हुए कार्य्यसे भिन्न कार्य्य करके बताती हैं अतः स्त्रियां मायाकी राशि हैं। दूसरे को ठगनाही इनका सार है। ११ लोकमें निन्दाके योग्य तथा परलोकमें वैरी के समान जितने आरम्भ हैं उन सबके कारण स्त्रियां हैं। १२ अथवा स्वभावसे कुटिल युवतियों के चरित्रको कौन जान सकता है क्योंकि दोषोका भाण्डार कामदेव उनके शरीरमें निवास करता है। १३ स्त्रियां, दुष्ट आचरण के मूल हैं, नरकका विशाल मार्ग हैं, मोक्ष जानेमें महा विघ्न करनेवाली हैं अतः स्त्रियां सदा छोड़ने योग्य हैं। १४ वे श्रेष्ठ पुरुष धन्य हैं, जो अपनी सुन्दरी स्त्रीको छोड़ दीक्षा धारण करके यम नियमका पालन करके अचल अनुत्तर कल्याण स्थान (सिद्धि) को प्राप्त हुए है। १५ वीर पुरुष कैसे होते हैं सो बताने के लिये निर्युक्तिकार कहते हैं—

धम्मंमि जो दढा मई सो सूरो सत्तिओ य वीरो य ।
णहु धम्मणिरुस्साहो पुरिसो सूरो सुवलिओऽवि ॥ ६२ ॥

(टीका) 'धर्मे' श्रुतचारित्राख्ये दृढा—निश्चला मतिर्यस्य स तथा एवम्भूतः स इन्द्रियनोइन्द्रियारिजयाच्छूरः तथा 'सात्त्विको' महासत्त्वोपेतोऽसावेव 'वीरः' स्वकर्मदारणसमर्थो ऽसावेवेति, किमिति ?, यतो नैव धर्मनिरुत्साहः' सदनुष्ठाननिरुद्यमः सत्पुरुषाचीर्णमार्गपरिभ्रष्टः पुरुषः सुष्ठु बलवानपि शूरो भवतीति ॥ एतानेव दोषान् पुरुषसम्बन्धेन स्त्रीणामपि दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) श्रुत और चारित्र धर्ममें जिस पुरुषकी निश्चल मति है, तथा जो इन्द्रिय और मनरूपी शत्रुको जय करनेवाला है वही शूर है । वही पुरुष सात्विक अर्थात् महाशक्तियुक्त वीर है और वही अपने कर्मोंको नाश करनेमें समर्थ है । प्रश्न—ऐसे पुरुषको शूर वीर क्यों कहते हैं ? उ० जो पुरुष धर्माचरण करनेमें उत्साह नहीं रखता किन्तु सत् अनुष्ठान में उद्यम रहित होता है तथा सत्पुरुषों द्वारा आचरण किये हुए मार्गसे भ्रष्ट होता है वह चाहे कितनाही बलवान् हो शूर नहीं कहा जासकता है । ६२ स्त्रियोंके सम्बन्धसे पुरुषमें उत्पन्न होनेवाले जितने दोष बताये गये हैं उतनेही पुरुषके सम्बन्ध से स्त्रीमें भी उत्पन्न होते हैं, यह बताने के लिये निर्युक्तिकार कहते हैं—

एते चेव य दोसा पुरिससमाएवि इत्थीयाणंपि ।
तम्हा उ अप्पमाओ विरागमग्गंमि तासिं तु ॥ ६३ ॥

(टीका) ये प्राक् शीलप्रध्वंसादयः स्त्रीपरिचयादिभ्यः पुरुषाणां दोषा अभिहिता एत एवान्यूनाधिकाः पुरुषेण सह यः समायः—सम्बन्धस्तस्मिन् स्त्रीणामपि, यस्माद्दोषा भवन्ति तस्मात् तासामपि विरागमार्गे प्रवृत्तानां पुरुषपरिचयादिपरिहारलक्षणोऽप्रमाद एव श्रेयानिति । एवं यदुक्तं 'स्त्रीपरिज्ञे'ति तत्पुरुषोत्तमधर्मप्रतिपादनार्थम्, अन्यथा 'पुरुषपरिज्ञे'त्यपि वक्तव्येति, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

(टीकार्थ) पहले शीलका नाश आदि दोष जो स्त्रियोंके सम्बन्ध से पुरुषमें उत्पन्न होने वाले कहे गये हैं वे सभी दोष उतनेही कम ज्यादा नहीं पुरुषों के सम्बन्धसे स्त्रियोंमें भी उत्पन्न होते हैं अतः दीक्षा धारण की हुई साध्वियों को भी पुरुषके साथ परिचय आदिको

त्यागमें प्रमाद रहित होना ही कल्याणकारी है। इस अध्ययनमें स्त्रीके संसर्ग से पुरुषमें होने वाले दोषों के समान ही पुरुष के संसर्ग से स्त्री में होनेवाले दोष भी बताये गयेहैं तथापि इसका नाम 'पुरुषपरिज्ञा' न रखकर 'स्त्रीपरिज्ञा' रखनेका कारण यह है कि स्त्रीकी अपेक्षा पुरुष में धर्मकी विशेषता होती है। अन्यथा पुरुषपरिज्ञा भी इस अध्ययनको कहते। अब सूत्रानुगममें अस्खलित आदि गुणोंसे युक्त सूत्रका उच्चारण करना चाहिये वह सूत्र यह है।

(मूल) जे मायरं च पियरं च, विप्पजहाय पुव्वसंजोगं।
एगे सहिते चरिस्सामि, आरतमेहुणो विवित्तेसु ॥ १ ॥

(छाया) यः मातरं च पितरं च विप्रहाय पूर्वसंयोगम्
एकः सहितश्चरिष्यामि आरतमैथुनो विविक्तेषु।

(अन्वयार्थ) (जे) जो पुरुष इस विचार से दीक्षा ग्रहण करता है कि मैं (मायरं पियरं) मातापिता (पुव्वसंजोगं) तथा पूर्व सम्बन्ध को (विप्पजहाय) छोडकर (आरतमेहुणो) एवं मैथुन रहित होकर (एगे सहिए) अकेला, ज्ञानदर्शन और चारित्र से युक्त रहता हुआ (विवित्तेसु) स्त्री पशु और नपुंसक रहित स्थानों में (चरिस्सामि) विचरूंगा।

(भावार्थ) जो पुरुष इस अभिप्राय से दीक्षा ग्रहण करता है कि मैं माता पिता तथा पूर्व सम्बन्धों को छोडकर तथा मैथुन वर्जित रहकर ज्ञान दर्शन और चारित्रका पालन करता हुआ अकेला पवित्र स्थानों में विचरूंगा उसको स्त्रियां कपटसे अपने वशमें करनेका प्रयत्न करती हैं।

(टीका) अस्य चायमनन्तरसूत्रेण सह सम्बन्धः, तद्यथा—अनन्तरसूत्रेऽभिहितम्, आमोक्षाय परिव्रजेदिति, एतच्चाशेषाभिष्वङ्गवर्जितस्य भवतीत्यतोऽनेन तदभिष्वङ्गवर्जनमभिधीयते, 'यः' कश्चिदुत्तमसत्त्वो 'मातरं पितरं' जननीं जनयितारम्, एतद्ग्रहणादन्यदपि भ्रातृपुत्रादिकं पूर्वसंयोगं तथा श्वश्रूश्वशुरादिकं पश्चात्संयोगं च 'विप्रहाय' त्यक्त्वा, चकारौ समुच्चयार्थौ, 'एको' मातापित्राद्यभिष्वङ्गवर्जितः कषायरहितो वा तथा सहितो ज्ञानदर्शनचारित्रैः स्वस्मै वा हितः स्वहितः—परमार्थानुष्ठानविधायी 'चरिष्यामि' संयमं करिष्यामीत्येवं कृतप्रतिज्ञः, तामेव प्रतिज्ञां सर्वप्रधानभूतां लेशतो दर्शयति—'आरतम्' उपरतं मैथुनं-कामाभिलाषो यस्यासावारतमैथुनः, तदेवम्भूतो 'विविक्तेषु' स्त्रीपशुपण्डकवर्जितेषु स्थानेषु चरि-

प्यामीत्येवं सम्यगुत्थानेनोत्थाय विहरतीति, क्वचित्पाठो 'विवित्तेसित्ति' 'विवि-क्तं'-स्त्रीपण्डकादिरहितं स्थानं संयमानुपरोध्येषितुं शीलमस्य तथेति ॥ १ ॥ तस्यैवं कृतप्रतिज्ञस्य साधोर्यच्छत्यविवेकिजनाचरितमाह—

(टीकार्थ) पूर्व सूत्रके साथ इस सूत्रका सम्बन्ध यह है—पूर्व सूत्रमें कहा है कि साधु मोक्ष पाने तक संयमका पालन करे। परन्तु यह मोक्ष सकल परिग्रहसे रहित और स्त्रियोंको छोड़े हुए पुरुषको प्राप्त होता है इसलिये इस अध्ययनमें स्त्रीसङ्ग छोड़नेके पक्षमें उपदेश किया जाता है। जो कोई उत्तम साधु माता पिताको तथा भाई पुत्र आदि पूर्व सम्बन्धियोंको एवं सास ससुर आदि पीछेके सम्बन्धियोंको छोड़कर माता पिता आदिके सम्बन्धसे रहित अकेला अथवा कषाय रहित एवं ज्ञान दर्शन और चारित्रसहित अथवा अपने हितका यानी परमार्थका अनुष्ठान करनेवाला होकर "मैं संयमका पालन करूंगा" ऐसी प्रतिज्ञा किया हुआ है, यह प्रतिज्ञा सर्वप्रधान है अतः संयत, शान्तचित्त, जिसकी कामवासना दूर हो गयी है तथा जो मैं स्त्री पशु और नपुंसक रहित स्थानोंमें विचरूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करके सम्यक् चारित्रका पालन करता हुआ विचरता है। कहीं प्रतिमें "विवित्तेसि" यह पाठ है—विविक्त, यानी स्त्री पशु और नपुंसक रहित जो स्थान है उस पवित्र स्थानको शील पालन करनेके लिये जो अन्वेषण करता है ऐसे साधुका अविवेकी स्त्रियोंके द्वारा क्या होता है सो बताते हैं। १

(मूल) सुहुमेणं तं परिक्कम्म, छन्नपएण इत्थिओ मंदा।
उवायंपि ताउ जाणंसु जहा लिस्संति भिक्खुणो एगे ॥२॥

(छाया) सूक्ष्मेण तं परिक्रम्य छन्नपदेन स्त्रियो मन्दाः
उपायमपि ताः जानन्ति यथा श्लिष्यन्ति भिक्षव एके।

(अन्वयार्थ) (मंदा इत्थिओ) अविवेकिनी स्त्रियाँ (सुहुमेण) छलसे (तं परिक्कम्म) साधुके पास आकर (छन्नपएण) कपटसे अथवा गूढार्थ शब्दसे साधुको शीलभ्रष्ट करनेका प्रयत्न करती हैं (ता उवायमपि जाणंति) स्त्रियां वह उपाय भी जानती हैं (जहा एगे भिक्खुणो लिस्संति) जिससे कोई साधु उनके साथ संग करलेते हैं।

(भावार्थ) अविवेकिनी स्त्रियाँ किसी छलसे साधुके निकट आकर कपट से अथवा गूढार्थ शब्दके द्वारा साधुको शीलसे भ्रष्ट करनेका प्रयत्न करती हैं। वे वह उपाय भी जानती हैं जिससे कोई साधु उनका संग करलेते हैं।

(टीका) 'सुहुमेणं' इत्यादि, 'तं' महापुरुषं साधुं 'सूक्ष्मेण' अपरकार्यव्यपदेशभूतेन 'छन्नपदेने'ति छद्मना-कपटजालेन 'पराक्रम्य' तत्समीपमागत्य, यदिवा-'पराक्रम्ये'ति शीलस्खलनयोग्यतापत्त्या अभिभूय, काः ?-'स्त्रियः' कूलवालुकादीनामिव मागधगणिकाद्या नानाविधकपटशतकरणदक्षा विविधविब्वोकवत्यो भाव-मन्दाः—कामोद्रेकविधायितया सदसद्विवेकविकलाः समीपमागत्य शीलाद् ध्वंसयन्ति, एतदुक्तं भवति-भ्रातृपुत्रव्यपदेशेन साधुसमीपमागत्य संयमाद् भ्रंशयन्ति, तथा चोक्तम्—"पियपुत्त भाइकिडगा णत्तूकिडगा य सयणकिडगा य। एते जोवणकिडगा पच्छन्नपई महिलियाणं ॥ १ ॥" यदिवा-छन्नपदेनेति-गुप्ताभिधानेन, तद्यथा-"काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघान्धकारासु च शर्वरीषु। मिथ्या न भाषामि विशालनेत्रे!, ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु ॥ १ ॥" इत्यादि, ताः स्त्रियो मायाप्रधानाः प्रतारणोपायमपि जानन्ति-उत्पन्नप्रतिभतया विदन्ति, पाठान्तरं वा ज्ञातवत्यः, यथा 'श्लिष्यन्ते' विवेकिनोऽपि साधव एके तथाविधकर्मोदयात् तासु सङ्गमुपयान्ति ॥ २ ॥ तानेव सूक्ष्मप्रतारणोपायान् दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) उस महापुरुषको किसी दूसरे कार्य्यके बहानेसे कपट करके स्त्रियाँ पास आकर शील भ्रष्ट कर देती हैं। अथवा उस महापुरुषको ब्रह्मचर्य्य भ्रष्ट होने योग्य बनाकर शीलभ्रष्ट कर देती हैं। जैसे कूलवालुक आदि तपस्वियोंको नाना प्रकारके कपट करनेमें निपुण तथा अनेक प्रकारके काम विलासों को उत्पन्न करनेवाली भले और बुरेके विचार से रहित मूर्ख मागधवेश्या आदि स्त्रियोंने शीलभ्रष्ट करडाला था इसी तरह स्त्रियाँ साधुको शीलभ्रष्ट करडालती हैं। आशय यह है कि—भाई पुत्र आदि के बहाने से स्त्रियाँ साधुके पास आकर संयमसे भ्रष्ट कर देती हैं। कहाभी है—प्रिय पुत्र प्रिय भाई प्रिय नाती तथा स्वजन आदिक संसारी सम्बन्ध के बहाने से गुप्त पति करना स्त्रियोंकी रीति है। अथवा गुप्त नामके द्वारा स्त्रियां जाल रचती हैं जैसे " काले प्रसुप्तस्य " इत्यादि श्लोक के द्वारा छिपाकर अपना अभिप्राय प्रकट करती हैं। (इस श्लोकका भाव यह है कि इस श्लोकके चारो चरणों के प्रथम अक्षरोंकी योजना करके तुम मेरा अभिप्राय समझो। प्रथम अक्षरोंकी योजना करने पर " कामेमि ते " यह वाक्य बनता है। इसका अर्थ है कि मै तुम्हारी कामना करता हूं। इस प्रकार माया

२ प्रियपुत्रभ्रातृक्रीडका नप्तृक्रीडकाश्च स्वजनक्रीडकाश्च एते यौवनक्रीडकाः प्राप्ताः प्रच्छन्नपतयो महिलानां ॥ १ ॥

प्रधान स्त्रियाँ प्रतिभायुक्त होनेके कारण प्रतारण करने के उपायोंको भी जानती हैं जिससे विवेकी साधु भी उस प्रकारके कर्मके उदयके कारण उनमें आसक्त होजाते हैं। २

(मूल) पासे भिसं णिसीयंति अभिक्खणं पोसवत्थं परिहिंति।
कायं अहेवि दंसंति, बाहू उद्धट्टु कक्खमणुव्वजे ॥ ३ ॥

(छाया) पार्श्वे भृशं निषीदन्ति, अभीक्ष्णं पोषवस्त्रं परिदधति
कायमधोऽपि दर्शयति बाहुमुद्धृत्य कक्षामनुव्रजेत्।

(अन्वयार्थ) (पासे) साधुके निकट (भिसं) अत्यन्त (णिसीयंति) बैठती हैं। (अभिक्खणं) निरन्तर (पोसवत्थं) कामको उत्पन्न करनेवाले सुन्दर वस्त्र (परिहिंति) पहिनती हैं। (अहेविकायं) शरीरके नीचले भागको भी (दंसंति) दीखलाती हैं। (बाहू उद्धट्टु) तथा भुजाको ऊठाकर (कक्खमणुव्वजे) काँख दीखलाती हुई साधुके सामने जाती हैं।

(भावार्थ) स्त्रियां साधुको ठगने के लिये उनके निकट बहुत ज्यादा बैठती हैं और निरन्तर सुन्दर वस्त्रको ढीला होनेका बहना बनाकर पहिनती हैं। तथा शरीर के नीचले भागको भी काम उद्दीपित करनेके लिये साधुको दीखलाती हैं एवं भुजा उठाकर कांख दीखलाती हुई साधु के सामने आती हैं।

(टीका) 'पार्श्वे' समीपे 'भृशम्' अत्यर्थमूरूपपीडमतिस्नेहमाविष्कुर्वन्त्यो 'निषीदन्ति' विश्रम्भमापादयितुमुपविशन्तीति, तथा कामं पुष्णातीति पोषं—कामोत्कोचकारि शोभनमित्यर्थः तच्च तद्वस्त्रं पोषवस्त्रं तद् 'अभीक्ष्णं' अनवरतं तेन शिथिलादिव्यपदेशेन परिदधति, स्वाभिलाषमावेदयन्त्यः साधुप्रतारणार्थं परिधानं शिथिलीकृत्य पुनर्निबध्नन्तीति, तथा 'अधःकायम्' ऊर्वादिकमनङ्गोद्दीपनाय 'दर्शयन्ति' प्रकटयन्ति, तथा 'बाहुमुद्धृत्य' कक्षामादर्श्य 'अनुकूलं' साध्वभिमुखं 'व्रजेत्' गच्छेत्। सम्भावनायां लिङ्, सम्भाव्यते एतदङ्गप्रत्यङ्गसन्दर्शकत्वं स्त्रीणामिति ॥ ३ ॥ अपि च—

(टीकार्थ) साधुको ठगने के लिये स्त्रियां जो सूक्ष्म उपाय करती हैं उन उपायोंको बतानेके लिये शास्त्रकार कहते हैं। स्त्रियां अपना अत्यन्त स्नेह प्रकट करती हुई साधुके पास अत्यन्त बैठती हैं वे विश्वास उत्पन्न करनेके लिये साधु के निकट बैठती हैं।

जो वस्त्र कामकी उत्पत्ति करता है उसे पोषवस्त्र कहते हैं, उस कामवर्धक सुन्दर वस्त्रको स्त्रियां ढीला होनेका बहाना बनाकर बार बार पहिनती हैं आशय यह है कि अपना

अभिलाष प्रकट करती हुई साधुको ठगने के लिये वस्त्रको ढीला करके वे वार वार बाँधती हैं। तथा साधुका काम जगाने के लिये वे जंघा आदि अङ्गोंको भी दीखलाती हैं। तथा भुजा उठाकर कांख दीखलाती हुई साधुके सामने जाती हैं। यहां सम्भावना अर्थमें लिङ् है अतः स्त्रियां साधुको अपना अङ्ग प्रत्यङ्ग दीखावें यह संभव है। ३

(मूल) सयणासणेहिं जोगेहिं इत्थिओ एगता णिमंतंति।
एयाणि चेव से जाणे, पसाणि विरूवरूवाणि ॥ ४ ॥

(छाया) शयनासनेन योग्येन स्त्रिय एकदा निमन्त्रयन्ति
एतानि चैव स जानीयात् पाशान् विरूपरूपान्।

(अन्वयार्थ) (एकता) किसी समय (इत्थिओ) स्त्रियां (जोगेहिं) उपभोग करने योग्य (सयणासणेहिं) पलंग और आसन आदिका उपभोग करनेके लिये (णिमंतंति) साधुको आमन्त्रित करती हैं (से) वह साधु (एयाणि) इन्ही बातोंको (विरूवरूवाणि) नाना प्रकारका (पासाणि) पाशबन्धन (जाणे) जाने।

(भावार्थ) कभी एकान्त स्थानमें स्त्रियां साधुको पलंग पर तथा उत्तम आसनपर बैठनेके लिये स्वीकार कराती हैं। परमार्थदर्शी साधु इन्ही बातोंको नाना प्रकारका पाशबन्धन समझे।

(टीका) 'सयणासणे' इत्यादि, शय्यतेऽस्मिन्निति शयनं-पर्यङ्कादि तथाऽऽस्यतेऽस्मिन्नित्यासनम्-आसंदकादीत्येवमादिना 'योग्येन' उपभोगार्हेण कालोचितेन 'स्त्रियो' योषित 'एकदा' इति विविक्तदेशकालादौ 'निमन्त्रयन्ति' अभ्युपगमं ग्राहयन्ति, इदमुक्तं भवति-शयनासनाद्युपभोगं प्रति साधुं प्रार्थयन्ति, 'एतानेव' शयनासननिमन्त्रणरूपान् स साधुर्विदितवेद्यः परमार्थदर्शी 'जानीयाद्' अवबुध्येत स्त्रीसम्बन्धकारिणः पाशयन्ति-बध्नन्तीति पाशास्तान् 'विरूपरूपान्' नानाप्रकारानिति। इदमुक्तं भवति-स्त्रियो ह्यासन्नगामिन्यो भवन्ति, तथा चोक्तम्—"अंबं[३] वा निंबं वा अब्भासगुणेण आरुहइ वल्ली एवं इत्थीतोवि य जं आसन्नं तमिच्छन्ति ॥ १ ॥" तदेवम्भूताः स्त्रियो ज्ञात्वा न ताभिः सार्धं साधुः सङ्गं कुर्यात्, यतस्तदुपचारादिकः सङ्गो दुष्परिहार्यो भवति, तदुक्तम्—"जं[४] इच्छसि

२ ०सनादिनि० प्र०। ३ आम्रं वा निम्बं वाभ्यासगुणेनारोहति वल्ली। एवं स्त्रियोऽपि य एवासन्नस्तमिच्छंति ॥ १ ॥ ४ यान् ग्रहीतुमिच्छसि तानामिषेण पूर्वं गृहाण। यदामिषपाशनिबद्धः करिष्यति कार्यमकार्यं वा ॥ १ ॥

घेत्तुं जे पुव्विं तं आमिसेण गिण्हाहि। आमिसपासनिबद्धो काहिइ कज्जं अकज्जं वा ॥ १ ॥" ॥ ४ ॥ किञ्च—

(टीकार्थ) जिसके ऊपर शयन किया जाता है उसे शयन कहते हैं। पलंग आदि शयन कहलाते हैं तथा जिसपर बैठते हैं उसे आसन कहते हैं। वह कुर्सी आदि है। उपभोग करने योग्य इन वस्तुओको ग्रहण करने के लिये स्त्रियां एकान्त स्थान तथा काल देखकर साधु से प्रार्थना करती हैं। आशय यह है कि—स्त्रियां शयन और आशन आदिका उपभोग करनेके लिये साधु से प्रार्थना करती हैं परन्तु जानने योग्य बातोंको जाननेवाला परमार्थदर्शी साधु इन्हीं शयन आसन आदिके आमन्त्रणोंको स्त्रीके साथ फँसानेवाला नाना प्रकारका पाश बन्धन जाने। कहनेका आशय यह है कि—स्त्रियां पासमें रहनेवाले पुरुषको ग्रहण करती हैं। कहा है कि आम हो चाहे निम्ब हो पासके वृक्षपर स्वभावसे ही वेल चढती है इसी तरह स्त्रियां भी जो पासमें पुरुष होता है उसीकी इच्छा करती हैं। अतः साधु स्त्रियोंको इस प्रकार समझकर उनके साथ संग न करे। क्योंकि स्त्रियोंकी सेवाभक्ति के कारण उनके साथ संग दुस्त्यज होता है। कहा है कि यदि तुम स्त्रियो से कोई वस्तु लेना चाहते हो तो उसे आमिष अर्थात् प्रलोभनीय वस्तु समझो क्योंकि उस प्रलोभनीय वस्तुके पाश में वँधकर जीव कार्य्य और अकार्य्य सभी करने में प्रवृत्त होजाता है। ४

(मूल) नो तासु चक्खु संधेज्जा, नोवि य साहसं समभिजाणे।
णो सहियंपि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ॥ ५ ॥

(छाया) न तासु चक्षुः संदध्यात् नाऽपि च साहसं समभिजानीयात्
न सहितोऽपि विहरेदेवमात्मा सुरक्षितो भवति।

(अन्वयार्थ) (तासु) उन स्त्रियोंपर (चक्खू) आंख (न संधेज्जा) न लगावे। (नो विय साहसं समभिजाणे) तथा उनके साथ कुकर्म करना भी स्वीकार न करे (सहियंपि नो विहरेज्जा) उनके साथ ग्राम आदिमें विहार न करे। (एवमप्पा सुरक्खिओ होइ) इस प्रकार साधुका आत्मा सुरक्षित होता है।

(भावार्थ) साधु स्त्रियोंपर अपनी दृष्टि न लगावे तथा उनके साथ कुकर्म करनेका साहस न करे एवं उनके साथ ग्राम आदिकमें विहार न करे इस प्रकार साधुका आत्मा सुरक्षित होता है।

(टीका) 'नो' नैव 'तासु' शयनासनोपनिमन्त्रणपाशावपाशिकासु स्त्रीषु

'चक्षुः' नेत्रं 'सन्दध्यात्' सन्धयेद्वा न तद्दृष्टौ स्वदृष्टिं निवेशयेत्, सति च प्रयोजने ईषदवज्ञया निरीक्षेत, तथा चोक्तम्—"कार्येऽपीषन्मतिमान्निरीक्षते योषिदङ्गमस्थिरया। अस्निग्धया दृशाऽवज्ञया ह्यकुपितोऽपि कुपित इव ॥ १ ॥" तथा नापि च साहसम्—अकार्यकरणं तत्प्रार्थनया 'समनुजानीयात्' प्रतिपद्येत, तथा ह्यतिसाहसमेतत्सङ्ग्रामावतरणवद्यन्नरकपातादिविपाकवेदिनोऽपि साधोर्योषिदासञ्जनमिति, तथा नैव स्त्रीभिः सार्धं ग्रामादौ 'विहरेत्' गच्छेत्, अपिशब्दात् न ताभिः सार्धं विविक्तासनो भवेत्. ततो महापापस्थानमेतत् यतीनां यत् स्त्रीभिः सह साङ्गत्यमिति, तथा चोक्तम्—"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामः, पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति ॥ १ ॥" एवमनेन स्त्रीसङ्गवर्जनेनात्मा समस्तापायस्थानेभ्यो रक्षितो भवति, यतः—सर्वापायानां स्त्रीसम्बन्धः कारणम्, अतः स्वहितार्थी तत्सङ्गं दूरतः परिहरेदिति ॥ ५ ॥ कथं चैताः पाशा इव पाशिका इत्याह—

(टीकार्थ) स्त्रियां साधुको फँसानेके लिये शयन और आसन आदिको ग्रहण करनेकी साधुसे प्रार्थना करती हैं, यही प्रार्थना साधुओंको फँसानेका जाल है। अतः ऐसीं स्त्रियोंपर साधु अपनी दृष्टि न दे, उनकी दृष्टि से अपनी दृष्टि न मिलावें। प्रयोजनवश यदि उनपर दृष्टि देना पडे तो अवज्ञा के साथ थोडी दृष्टि देवे। कहा है कि बुद्धिमान् पुरुष स्त्री से काम पड़ने पर उसके अंगपर स्नेह रहित अस्थिर दृष्टि देवे मानो क्रोध न होनेपर भी वह क्रोधितसा प्रतीत हो। तथा स्त्री की प्रार्थना से साधु उसके साथ कुकृत्य करना स्वीकार न करे। कारण यह है कि सङ्ग्राममें उतरने के समान नरकरूपी विपाक को जाननेवाले साधुका स्त्री के साथ संसर्ग करना अति साहसका कार्य्य है। तथा साधु स्त्रियों के साथ ग्रामादिकमें विहार न करे। अपि शब्द से उनके साथ एकान्त में न बैठे। स्त्रियोंके साथ संगति करना साधुके लिये महान् पापका स्थान है। कहा है कि माता वहिन और अपनी लड़की के साथ भी एकान्त स्थानमें नहीं बैठना चाहिये क्योंकि इन्द्रियोंका समूह बडा ही बलवान् है, उनके वश में होकर पण्डित भी अकार्य्य कर बैठते हैं। इस प्रकार स्त्रीके सम्बन्धको वर्जित करने से आत्मा समस्त नाशों से बँच जाता है क्योंकि समस्त नाशोंका कारण स्त्रीसम्बन्ध ही है अतः अपना हित चाहनेवाला पुरुष दूर से ही स्त्रीसम्बन्धको त्याग करे। ५

(मूल) आमंतिय उस्सविया भिक्खुं आयसा निमंतंति।
एताणि चेव से जाणे, सद्दाणि विरूवरूवाणि ॥ ६ ॥

(छाया) आमन्त्र्य संस्थाप्य भिक्षुमात्मना निमन्त्रयन्ति
एताँश्चैव स जानीयात्, शब्दान् विरूपरूपान् ।

(अन्वयार्थ) (आमंतिय) स्त्रियां साधुको संकेत देकर यानी मैं आपके पास अमुक समय आउंगी इत्यादि आमन्त्रण करके (उस्सविय) और अनेक प्रकारके वार्तालाप से विश्वास देकर (भिक्खु) साधुको (आयसा) अपने साथ भोग करने के लिये (निमंतंति) निमन्त्रित करती हैं। (से) अतः साधु (एयाणि सद्दाणि) स्त्री सम्बन्धी इन शब्दोंको (विरूवरूवाणि जाणे) नाना प्रकारका पाशबन्ध जाने ।

(भावार्थ) स्त्रियां साधुको संकेत देती हैं कि मैं अमुक समयमें आपके पास आऊंगी । तथा नाना प्रकारके वार्तालापो से विश्वास उत्पन्न करती हैं । इसके पश्चात् वे अपने साथ भोग करने के लिये साधुको आमन्त्रित करती हैं अतः विवेकी साधु स्त्रीसम्बन्धी इन शब्दो को नानाप्रकारका पाशबन्धन जाने ।

(टीका) 'आमंतिय' इत्यादि, स्त्रियो हि स्वभावेनैवाकर्तव्यप्रवणाः साधुमामन्त्र्य यथाऽहममुकस्यां वेलायां भवदन्तिकमागमिष्यामीत्येवं सङ्केतं ग्राहयित्वा तथा 'उस्सविय'त्ति संस्थाप्योच्चावचैर्विश्रम्भजनकैरालापैर्विश्रम्भे पातयित्वा पुनरकार्यकरणायात्मना निमन्त्रयन्ति, आत्मनोपभोगेन साधुमभ्युपगमं कारयन्ति । यदिवा-साधोर्भयापहरणार्थं ता एव योषितः प्रोचुः, तद्यथा-भर्तारमामन्त्र्यापृच्छ्याहमिहाऽऽयाता, तथा संस्थाप्य-भोजनपादधावनशयनादिकया क्रिययोपचर्य ततस्तवान्तिकमागतेत्यतो भवता सर्वा भर्तृजनितामाशङ्कां परित्यज्य निर्भयेन भाव्यमित्येवमादिकैर्वचोभिर्विश्रम्भमुत्पाद्य भिक्षुमात्मना निमन्त्रयन्ते, युष्मदीयमिदं शरीरकं यादृक्षस्य क्षोदीयसोगरीयसो वा कार्यस्य क्षमं तत्रैव नियोज्यतामित्येवमुपप्रलोभयन्ति, स च भिक्षुरवगतपरमार्थः एतानेव 'विरूपरूपान्' नानाप्रकारान् 'शब्दादीन्' विषयान् तत्स्वरूपनिरूपणतो ज्ञपरिज्ञया जानीयात्, यथैते स्त्रीसंसर्गापादिताः शब्दादयो विषया दुर्गतिगमनैकहेतवः सन्मार्गार्गलारूपा इत्येवमवबुध्येत, तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तद्विपाकावगमेन परिहरेदिति ॥ ६ ॥ अन्यच्च—

(टीकार्थ) स्त्रियां पुरुषको पाश के समान किसप्रकार फँसाने वाली हैं ? सो शास्त्रकार बतलाते हैं—स्त्रियां स्वभावसे ही अकर्त्तव्यमें तत्पर रहती हैं वे साधुको आमन्त्रण करती हैं, जैसेकि—" मैं अमुक समय में आपके पास आउंगी " इस प्रकार संकेत देकर ऊँचनीच

वचनों के द्वारा विश्वास उत्पन्न करके फिर अपने साथ कुकर्म करनेकेलिये साधुको आमन्त्रित करती हैं अर्थात् वे अपने साथ उपभोग करनेके लिये साधुको स्वीकार कराती हैं। अथवा साधुका भय दूर करनेके लिये स्त्रियां कहती हैं कि—मैं अपने पतिसे पूछकर आपके पास आई हूं। तथा अपने पति को भोजन कराकर, उनका पैर धोकर एवं उन्हें सोलाकर आपके पास आई हूं इसलिये आप मेरे पतिकी शंका छोडकर निर्भय हो कार्य्य कीजिए इस प्रकारके वचनों से साधुको विश्वास उत्पन्न कराकर अपने साथ भोग करनेके लिये स्त्रियां आमन्त्रित करती है। वे कहती हैं कि यह मेरा शरीर आपका ही है यह छोटा मोटा जिस कार्य्य के लिये समर्थ हो उस कार्य्यमें आप इसे लगावें, यह कहकर स्त्रियां साधुको प्रलोभित करती हैं परन्तु परमार्थको जाननेवाला भिक्षु इन स्त्रीसम्बन्धी नाना प्रकारके शब्दादि विषयोंको ज्ञपरिज्ञा से पाशस्वरूप जाने क्यों कि—-ये स्त्रीसम्बन्धी शब्दादि विषय दुर्गतिमें जानेके कारण हैं तथा उत्तम मार्ग के अर्गला हैं इस प्रकार समझे। तथा इनका विपाक बुरा होता है यह जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से इनको त्याग देवे। ६

(मूल) मणवंधणेहिं णेगेहिं, कलुण विणीयमुवगसित्ताणं।
अदु मंजुलाइं भासंति, आणवयंति भिन्नकहाहिं ॥ ७ ॥

(छाया) मनोबन्धनैरनेकैः करुणविनीतमुपश्लिष्य
अथ मञ्जुलानि भाषन्ते, आज्ञापयन्ति भिन्नकथाभिः।

(अन्वयार्थ) (णेगेहिं मणवंधणेहिं) अनेक प्रकार के मनको हरनेवाले उपायों के द्वारा (कलुण विणीयमुवगसित्ताणं) तथा करुणोत्पादक वाक्य और विनीतभावसे साधुके पास आकर (अदु मंजुलाइं भासंति) मधुर भाषण करती हैं (भिन्नकहाहिं आणवयंति) और कामसम्बन्धी आलापके द्वारा साधुको कुकर्म करनेकी आज्ञा देती हैं।

(भावार्थ) स्त्रियां साधुके चित्तको हरनेके लिये अनेक प्रकारके उपाय करती हैं। वे करुणा जनक वाक्य बोलकर तथा विनीतभाव से साधुके समीप आती हैं। वे, साधुके पास आकर मधुर भाषण करती हैं और काम सम्बन्धी आलाप के द्वारा साधुको, अपने साथ भोग करनेकी आज्ञा देती हैं।

(टीका) मनो बध्यते यैस्तानि मनोबन्धनानि—मञ्जुलालापस्निग्धावलोकनाङ्ग-प्रत्यङ्गप्रकटनादीनि, तथा चोक्तम्—"णाहे पिय कंत सामिय दइय जिंयाओ तुमं

---

१ नाथ कान्त प्रिय स्वामिन्दयित ! जीवितादपि त्वं मम प्रिय इति जीवति जीवामि अहं प्रभुरसि त्वं मे शरीरस्य ॥ १ ॥ २ इयय आउ तं प्र०।

मह पिओत्ति । जीए जीयामि अहं पहवसि तं मे सरीरस्स ॥ १ ॥" इत्यादिभिरनेकैः प्रपञ्चैः करुणालापविनयपूर्वकं 'उवगसित्ताणं'ति उपसंश्लिष्य समीपमागत्य 'अथ' तदनंतरं 'मञ्जुलानि' पेशलानि विश्रम्भजनकानि कामोत्कोचकानि वा भाषन्ते, तदुक्तम्—" मितमँहुररिमियजंपुल्लएहि ईसीकडक्खहसिएहिं । सविगारेहि वरागं हिययं पिहियं मयच्छीए ॥ १ ॥" तथा 'भिन्नकथाभी' रहस्यालापैर्मैथुनसम्बद्धैर्वचोभिः साधोश्चित्तमादाय तमकार्यकरणं प्रति 'आज्ञापयन्ति' प्रवर्तयन्ति, स्ववशं वा ज्ञात्वा कर्मकरवदाज्ञां कारयन्तीति ॥ ७ ॥ अपिच—

(टीकार्थ) जिन बातों से मन बँध जाता है उन्हें मनोबन्धन कहते हैं । मनोहर वचन बोलना, स्नेहभरी दृष्टि से देखना तथा अपने अङ्ग प्रत्यङ्गोंको दीखलाना इत्यादि मनको बाँधनेवाले हैं । जैसे कि कहा है—

हे नाथ ! हे प्रिय ! हे कान्त ! हे स्वामिन् ! हे दयित ! तुम मेरे जीवनसे भी अधिक प्रिय हो, मैं तुम्हारे जीनेसे जीती हूं, आप मेरे शरीरके मालिक हैं, इत्यादि अनेक प्रपञ्चों से तथा करुणालाप और विनयपूर्वक समीप में आकर स्त्रियां विश्वासजनक अथवा कामजनक मधुर भाषण करती हैं । जैसाक्ति कहा है—(मितमहुर) इत्यादि, अर्थात् मृगनयनी स्त्रीका हृदय, परिमित मधुर भाषण से भींगे हुए कटाक्ष और मन्द हास्यरूप विकारों से ढँका हुआ होता है । स्त्रियां रहस्य आलाप अर्थात् मैथुन सम्बन्धी वार्तालापों से साधुके चित्तको हरकर अपने साथ कुकर्म करनेकी आज्ञा देती हैं, अथवा साधुको अपने वशमें जानकर नोकर की तरह उन पर आज्ञा चलाती हैं । ७

(मूल) सीहं जहा व कुणिमेणं, निब्भयमेगचरंति पासेणं ।
एवित्थियाउ बंधंति, संवुडं एगतियमणगारं ॥ ८ ॥

(छाया) सिंहं यथा मांसेन निर्भयमेकचरं पाशेन
एवं स्त्रियो बध्नन्ति संवृतमेकतयमनगारम् ।

(अन्वयार्थ) (जहा) जैसे (निब्भयं) निर्भय (एगचरं) एकेला विचरनेवाले (सीहं) सिंहको (कुणिमेणं) मॉस देकर (पासेणं) पाशके द्वारा (बंधंति) सिंह पकडनेवाले बाँध लेते

---

१ तुमं प्र० । २ मितमधुररिभितजल्पाद्रैरीपत्कटाक्षहसितैः । सविकारैर्वराकं हृदयं पिहितं मृगाक्ष्याः ॥ १ ॥

हैं (एवं) इसी तरह (इत्थियाउ) स्त्रियां (संवुडं) मन वचन और कायसे गुप्त रहनेवाले (एगतयं अनगारं) किसी साधुको (बंधंति) अपने पाशमें बांधलेती हैं।

(भावार्थ) जैसे सिंहको पकडनेवाले सिकारी मांसका लोभ दे कर अकेले निर्भय विचरनेवाले सिंह को पाशमें बाँध लेते हैं इसी तरह स्त्रियां मन वचन और काय से गुप्त रहनेवाले साधुको भी अपने पाशमें बाँध लेती हैं।

(टीका) 'सीहं जहे' त्यादि, यथेति दृष्टान्तोपदर्शनार्थे यथा बन्धनविधिज्ञाः सिंहं पिशितादिनाऽऽमिषेणोपप्रलोभ्य 'निर्भयं' गतभीकं निर्भयत्वादेव एकचरं 'पाशेन' गलयन्त्रादिना बध्नन्ति बद्ध्वा च बहुप्रकारं कदर्थयन्ति, एवं स्त्रियो नानाविधैरुपायैः पेशलभाषणादिभिः 'एगतियन्ति' कञ्चन तथाविधम् 'अनगारं' साधुं 'संवृतमपि' मनोवाक्कायगुप्तमपि 'बध्नन्ति' स्ववशं कुर्वन्तीति, संवृतग्रहश्च स्त्रीणां सामर्थ्योपदर्शनार्थं, तथाहि-संवृतोऽपि ताभिर्बध्यते, किं पुनरपरोऽसंवृत इति ॥ ८ ॥ किञ्च—

(टीकार्थ) यहां अथ शब्द दृष्टान्त बतानेके लिये आया है। जैसे सिंहको बांधनेका उपाय जाननेवाले पुरुष मांस आदिका लोभ देकर भयरहित तथा भयरहित होनेके कारण अकेला विचरनेवाले सिंहको गलेका पाश आदि पदार्थों से बांध लेते हैं, तथा बांधकर उसे तरह तरहकी पीडा देते हैं इसी तरह स्त्रियां अनेक प्रकारके उपायोंसे, मधुर भाषण आदिके द्वारा मन वचन और काय से गुप्त रहनेवाले साधुको भी अपने वशमें करलेती हैं। यहां संवृत पद स्त्रियोंका सामर्थ्य बतानेके लिये दिया गया है अर्थात् स्त्रियां मन वचन और काय से गुप्त रहनेवाले साधुको भी वश कर लेती हैं फिर जो मन वचन और कायसे गुप्त नहीं हैं उनकी तो बात ही क्या है?।

(मूल) अह तत्थ पुणो णमयंती, रहकारो व णेमि आणुपुव्वीए।
बद्धे मिए व पासेणं, फंदंते वि ण मुच्चए ताहे ॥ ९ ॥

(छाया) अथ तत्र पुनर्नमयन्ति, रथकार इव नेमिमानुपूर्व्या
बद्धो मृग इव पाशेन स्पन्दमानोऽपि न मुच्यते तस्मात्।

(अन्वयार्थ) (रहकारो) रथकार (आणुपुव्वीए) क्रमशः (णेमिव) जैसे नेमिको नवाता है इसी तरह स्त्रियाँ साधुको (अह) अपने वशमें करने के पश्चात् (तत्थ) अपने इष्ट अर्थमें क्रमशः (नमयंती) झुका लेती हैं। (मिएव) मृगकी तरह (पासेणं) पाशसे (बद्धे) बँधा हुआ

साधु (फंदंतेवि) पाश से छुटने के लिये प्रयत्न करता हुआ भी (ताहे) उससे (ण मुच्चए) नहीं छुटता है।

(भावार्थ) जैसे रथकार रथकी नेमि (पुट्ठी) को क्रमशः नवा देता है इसी तरह स्त्रियां साधुको वश करके उसे क्रमशः अपने इष्ट अर्थ में झुका लेती हैं। जैसे पाशमें बंधा हुआ मृग छट पटाता हुआ भी पाश से मुक्त नहीं होता है इसी तरह स्त्रीके पाशमें बंधा हुआ साधु प्रयत्न करने परभी उस पाश से नहीं छुटता है।

(टीका) 'अथ' इति स्ववशीकरणानन्तरं पुनस्तत्र–स्वाभिप्रेते वस्तुनि 'नमयन्ति' प्रह्वं कुर्वन्ति, यथा–'रथकारो' वर्धकिः 'नेमिकाष्टं' चक्रबाह्यभ्रमिरूपमानुपूर्व्या नमयति, एवं ता अपि साधुं स्वकार्यानुकूल्ये प्रवर्तयन्ति, स च साधुर्मृगवत्, पाशेन बद्धो मोक्षार्थं स्पन्दमानोऽपि ततः पाशान्न मुच्यत इति ॥९॥ किञ्च–

(टीकार्थ) अपने वशमें करने के पश्चात् स्त्रियां साधुको अपने इष्ट अर्थमें नवा देती हैं, जैसे रथकार चक्रके बाहरके गोलाकार नेमि (पुट्ठे) को अनुक्रमसे नवाता है इसी तरह स्त्रियां भी साधुको क्रमशः अपने अनुकूल कार्य्यमें प्रेरित करती है। स्त्रीके पाशमें बँधा हुआ वह साधु पाशमें बंधा हुआ मृगकी तरह उससे छुटनेका प्रयत्न करता हुआ भी उससे मुक्त नहीं होता है। ९

(मूल) अह सेऽणुतप्पई पच्छा, भोच्चा पायसं व विसमिस्सं।
एवं विवेगमादाय, संवासो नवि कप्पए दविए ॥ १० ॥

(छाया) अथ सोऽनुतप्यते पश्चात् भुक्त्वा पायसमिव विषमिश्रम्
एवं विवेकमादाय संवासो नाऽपि कल्पते द्रव्ये।

(अन्वयार्थ) (अह) स्त्रीके वशमें होनेके पश्चात् (से) वह साधु (पच्छा अणुतप्पई) पश्चात्ताप करता है। (विसमिस्सं) जैसे विषसे मिला हुआ पायस (खीर) (भोच्चा) खाकर मनुष्य पश्चात्ताप करता है। (एवं) इस प्रकार (विवेगमादाय) विवेकको ग्रहण करके (दविए) मुक्तिगमनयोग्य साधुको (संवासो) स्त्रियोंके साथ एक स्थानमें रहना (नवि कप्पए) ठीक नहीं है।

(भावार्थ) जैसे विषसे मिले हुए पायस (खीर) को खाकर मनुष्य पश्चात्ताप करता है इसी तरह स्त्रीके वशमे होनेपर मनुष्य पश्चात्ताप करता है अतः इस बातको जानकर मुक्ति गमनयोग्यसाधु स्त्रीके साथ एक स्थानमें न रहे।

(टीका) 'अह से' इत्यादि, अथासौ साधुः स्त्रीपाशावबद्धो मृगवत् कूटके पतितः सन् कुटुम्बकृते अहर्निशं क्लिश्यमानः पश्चादनुतप्यते, तथाहि-गृहान्तर्गतानामेतदवश्यं सम्भाव्यते, तद्यथा-"कोद्धयओ को समचित्तु काहोवणाहिं काहो दिज्जउ वित्त को उग्घाडउ परिहियउ परिणीयउ को व कुमारउ पडियतो जीव खडप्फडेहि पर बंधइ पावह भारओ ॥ १ ॥" तथा तत्-"मया परिजनस्यार्थे, कृतं कर्म सुदारुणम् । एकाकी तेन दह्येऽहं, गतास्ते फलभोगिनः ॥ १ ॥" इत्येवं बहुप्रकारं महामोहात्मके कुटुम्बकूटके पतिता अनुतप्यन्ते, अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति-यथा कश्चिद्विषमिश्रं भोजनं भुक्त्वा पश्चात्तत्र कृतावेगाकुलितोऽनुतप्यते, तद्यथा-किमेतन्मया पापेन साम्प्रतेक्षिणा सुखरसिकतया विपाककटुकमेवम्भूतं भोजनमास्वादितमिति, एवमसावपि पुत्रपौत्रदुहितृजामातृस्वसृभ्रातृव्यभागिनेयादीनां भोजनपरिणयनालङ्कारजातमृतकर्मतद्व्याधिचिकित्साचिन्ताकुलोऽपगतस्वशरीरकर्तव्यः प्रनष्टैहिकामुष्मिकानुष्ठानोऽहर्निशं तद्व्यापारव्याकुलितमतिः परितप्यते, तदेवम् अनन्तरोक्तया नीत्या विपाकं स्वानुष्ठानस्य 'आदाय' प्राप्य, विवेकमिति वा क्वचित्पाठः, तद्विपाकं विवेकं वा 'आदाय'-गृहीत्वा स्त्रीभिश्चारित्रपरिपन्थिनीभिः सार्धं संवासोऽवश्यं विवेकिनामपि सदनुष्ठानविघातकारीति ॥ १० ॥ स्त्रीसम्बन्धदोषानुपदर्श्योपसंहरन्नाह—

(टीकार्थ) इसके पश्चात् स्त्रीके पाशमें बँधा हुआ वह साधु जैसे कूटपाशमें बँधा हुआ मृग दुःख पाता है इसी तरह अपने कुटुम्बका पोषण करने के लिये रात दिन क्लेश भोगता हुआ पश्चात्ताप करता है। कारण यह है कि गृहमें निवास करनेवाले पुरुषोंको ये बातें अवश्य होती हैं, जैसे कि—कौन क्रोधी है, कौन समचित्त है, कैसे उसे वश करूं, वह मुझको कैसे धन दे, किस दानीको मैंने छोड़दिया है? कौन विवाहित है और कौन कुमार है, इस प्रकार चिन्ता करता हुआ जीव पापका भार वांधता है। तथा वह जीव पश्चात्ताप करता हुआ कहता है कि मैंने कुटुम्बका पोषण करनेके लिये अनेक कुकर्म किये, उन कुकर्मों के कारण मैं अकेला दुःख भोगता हूं परन्तु फल भोगनेवाले अन्यत्र चले गये। इस प्रकार अनेक रीति से महामोहात्मक कुटुम्बपाशमे पडा हुआ पुरुष पश्चात्ताप करता है। इसी वातको शास्त्रकार दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं। जैसे कोई पुरुष विषमिश्रित अन्न खाकर

---

२ क्रोधिकः कः समचित्तः कथं उपनय कथं ददातु वित्तं कः उद्घाटकः परिहितः परिणीतः कों वा कुमारकः पतितो जीवः खण्डस्फेटैः प्रबध्नाति पापभारं ॥ १ ॥

पीछे जहर के वेग से आकुल होकर पश्चात्ताप करता है कि वर्तमान सुखका रसिक बनकर मुझ पापीने परिणाम में कष्ट देनेवाला ऐसा भोजन क्यों खाया ? इसी तरह स्त्रीके पाशमें बंधा हुआ पुरुप भी पुत्र, पौत्र, कन्या दामाद, बहिन, भतीजा और भान्जा आदिके लिये भोजन, वस्त्र, विवाह, भूपण तथा उनका जातकर्म और मृतकर्म एवं उनके रोगकी चिकित्सा आदि की चिन्ता से आकुल होकर अपने शरीरका कर्त्तव्य भी भूल जाता है, वह इस लोक तथा परलोक के अनुष्ठान से रहित होकर अपने कुटुम्ब पोषण के व्यापारमें ही व्याकुलचित्त रहता हुआ पश्चात्ताप करता है। अतः ऊपर कहे हुए विपाकको विचार कर (कई पुस्तकों में 'विवेकं' यह पाठ है) अथवा विवेक को ग्रहण करके चारित्र की विघ्नकारिणी स्त्रियों के साथ एक स्थानमें निवास करना मुक्तिगमनयोग्य अथवा रागद्वेपवर्जित साधुको उचित नहीं है क्यो कि—स्त्रियों के साथ निवास करना विवेकी पुरुपोंके भी उत्तम अनुष्ठानका विघातक होता है।-१० स्त्रीके सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले दोषोंको दिखलाकर अब शास्त्रकार उसका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

(मूल) तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कंटगं नच्चा।
ओए कुलाणि वसवत्ती, आघाते ण सेवि णिग्गंथे ॥११॥

(छाया) तस्मात्तु वर्जयेत् स्त्रीः, विपलिप्तमिव कण्टकं ज्ञात्वा
एकः कुलानि वशवर्ती आख्याति न सोऽपि निग्रन्थः।

(अन्वयार्थ) (तम्हा उ) इसलिये (विसमित्त व कंटगं नच्चा) स्त्रीको विपसे लिप्त कण्टक के समान जानकर (इत्थी वज्जए) साधु स्त्रीको वर्जित करे। (वसवत्ती) स्त्रीके वशमें रहनेवाला जो पुरुप (ओए कुलाणि) गृहस्थ के घरमें जाकर अकेला धर्मका कथन करता है (णसेवि णिग्गंथे) वहभी निग्रन्थ नहीं है।

(भावार्थ) स्त्रियोको विपलिप्त कण्टक के समान जानकर साधु दूरसे ही उनको त्याग करे। जो स्त्रीके वशमें होकर गृहस्थों के घरमं अकेला जाकर धर्मकथा सुनाता है वह साधु नहीं है।

(टीका) यस्मात् विपाककटुः स्त्रीभिः सह सम्पर्कस्तस्मात्कारणात् स्त्रियो वर्जयेत् तु शब्दात्तदालापमपि न कुर्यात्, किंवदित्याह—विपोपलिप्तं कण्टकमिव 'ज्ञात्वा' अवगम्य स्त्रियं वर्जयेदिति, अपिच—विपदिग्धकण्टकः शरीरावयवे भग्नः सन्ननर्थमापादयेत् स्त्रियस्तु स्मरणादपि, तदुक्तम्—" विपस्स विपयाणां च, दूरमत्यन्तमन्त-

रम् । उपभुक्तं विषं हन्ति, विषयाः स्मरणादपि ॥ १ ॥" तथा—"वंरि विस खइयं न विसयसुहु इक्कसि विसिण मरंति । विसयामिस पुण घारिया णर णरएहि पडंति ॥ १ ॥" तथा 'ओजः' एकः असहायः सन् 'कुलानि' गृहस्थानां गृहाणि गत्वा स्त्रीणां वशवर्ती तन्निर्दिष्टवेलागमनेन तदानुकूल्यं भजमानो धर्ममाख्याति योऽसावपि 'न निर्ग्रन्थो' न सम्यक् प्रव्रजितो, निषिद्धाचरणसेवनादवश्यं तत्रापायसम्भवादिति, यदा पुनः काचित्कुतश्चिन्निमित्तादागन्तुमसमर्था वृद्धा वा भवेत्तदाऽपरसहायसाध्वभावे एकाक्यपि गत्वा अपरस्त्रीवृन्दमध्यगतायाः पुरुषसमन्विताया वा स्त्रीनिन्दाविषयजुगुप्साप्रधानं वैराग्यजननं विधिना धर्मं कथयेदपीति ॥११॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः सुगमो भवतीत्यभिप्रायवानाह—

(टीकार्थ) स्त्रियोंका संसर्ग परिणाम में कटु होता है इसलिये स्त्रीका संसर्ग वर्जित करना चाहिये । तु शब्द से यह बताया गया है कि—स्त्रियोंके साथ आलाप भी नहीं करना चाहिये । किसकी तरह ? सो बतलाते हैं—विषसे लिप्त कण्टक के समान समझकर स्त्रियोंको वर्जित करना चाहिये । विषसे लिप्त कण्टकतो शरीरके किसी अङ्गमें टूटा हुआ अनर्थ उत्पन्न करता है परन्तु स्त्रियां स्मरणसे भी अनर्थ उत्पन्न करती हैं । अतएव कहा है कि (विषस्य) अर्थात् विष और विषयका परस्पर अत्यन्त अन्तर है, विषतो खानेपर प्राणका हरण करता है परन्तु विषय स्मरण से भी प्राणका नाश करते हैं । तथा विष खाना अच्छा परन्तु विषयका सेवन अच्छा नहीं क्योंकि विष खाने से जीव एकही वार मरण कष्ट पाता है परन्तु विषयरूपी मांस के सेवन से मनुष्य नरक में गिरकर वार वार दुःख भोगता है । जो पुरुष स्त्रीके वशमें होकर उसे अनुकूल करनेके लिये उसके बताये हुए समय पर अकेले गृहस्थ के घरमें जाकर धर्मका कथन करता है वह भी निर्ग्रंथ अर्थात् यथार्थ साधु नहीं है क्योंकि निषिद्ध आचरण के सेवनकरने से उसका पतित होना संभव है । परन्तु यदि कोई स्त्री किसी कारणवश साधुके स्थान पर आनेमें असमर्थ हो अथवा कोई वृद्धा स्त्री हो तो दूसरे सहायक साधुओंके न होनेपर अकेला भी साधु उसके पास जाकर दूसरी स्त्रियों से वेष्टित अथवा पुरुषों से युक्त उस स्त्रीको स्त्रीनिन्दा एवं विषय निन्दाप्रधान वैराग्योत्पादक धर्म कहे तो कोई आपत्ति नहीं है । ११ अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा कहा हुआ अर्थ सुगम होता है इस अभिप्राय से शास्त्रकार 'जे एयं उंछं' इत्यादि गाथा कहते हैं ।

---

२ वरं विषं जग्धं न विषयसुखं एकशो विषेण म्रियते । विषयामिषघातिताः पुनर्नरा नरकेषु पतन्ति ॥ १ ॥

(मूल) जे एयं उंछं अणुगिद्धा, अन्नयरा हुंति कुसीलाणं ।
सुतवस्सिएवि से भिक्खू, नो विहरे सह णमित्थीसु ॥ १२ ॥

(छाया) य एतदुञ्छमनुगृद्धा अन्यतरास्ते भवन्ति कुशीलानाम्
सुतपस्व्यपि स भिक्षुः न विहरेत् सार्धं स्त्रीभिः ।

(अन्वयार्थ) (जे) जो पुरुष (एयं) इस स्त्री संसर्गरूपी (उंछं) निन्दनीय कर्ममें (अणुगिद्धा) आसक्त हैं (ते) वे (कुसीलाणं) कुशीलोंमें से (अन्नयरा) कोई एक हैं । (से भिक्खू) इस लिये वह साधु चाहे (सुतवस्सिएवि) उत्तम तपस्वी हो तो भी (इत्थीसुनह) स्त्रियोंके साथ (णो विहरे) विहार न करे ।

(भावार्थ) जो पुरुष स्त्रीसंसर्गरूपी निन्दनीय कर्ममें आसक्त हैं वे कुशील हैं अतः साधु चाहे उत्तम तपस्वी हो तो भी स्त्रियों के साथ विहार न करे ।

(टीका) 'जे एयं उंछ' मित्यादि, 'ये' मन्दमतयः पश्चात्कृतसदनुष्ठानाः साम्प्रतेक्षिण एतद्—अनन्तरोक्तम् उंछन्ति जुगुप्सनीयं गर्ह्यं तदत्र स्त्रीसम्बन्धादिकं एकाकिस्त्रीधर्मकथनादिकं वा द्रष्टव्यं, तदनु—तत्प्रति ये 'गृद्धा' अध्युपपन्ना मूर्च्छिताः, ते हि 'कुशीलानां' पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दरूपाणामन्यतरा भवन्ति, यदिवा—काथिकपश्यकसम्प्रसारकमामकरूपाणां वा कुशीलानामन्यतरा भवन्ति, तन्मध्यवर्तिनस्तेऽपि कुशीला भवन्तीत्यर्थः, यत एवमतः 'सुतपस्व्यपि' विकृष्टतपोनिष्टप्तदेहोऽपि 'भिक्षुः' साधुः आत्महितमिच्छन् 'स्त्रीभि.' समाधिपरिपन्थिनीभिः सह 'न विहरेत' क्वचिद्गच्छन्नापि सन्तिष्ठेत्, तृतीयार्थे सप्तमी, णमिति वाक्यालङ्कारे, ज्वलिताङ्गारपुञ्जवद्दूरतः स्त्रियो वर्जयेदितिभावः ॥ १२ ॥ कतमाभिः पुनः स्त्रीभिः सार्धं न विहर्तव्यमित्येतदाशङ्क्याह—

(टीकार्थ) जो मूर्खबुद्धि, उत्तम अनुष्ठान को छोड़कर वर्तमान सुखकी ओर दृष्टि देते हुए पूर्वोक्त स्त्री संसर्ग आदि तथा अकेले गृहस्थके घर जाकर किसी स्त्रीको धर्मसुनाना आदि निन्दनीय कार्य्योंमें आसक्त रहते हैं वे पार्श्वस्थ, अवसन्न कुशील संसक्त और यथाच्छन्द रूप कुशीलोंमें से कोई एक कुशीलस्वरूप हैं । अथवा काथिक, पश्यक सम्प्रसारक और मामकरूप कुशीलोंमें से वे कोई एक कुशील हैं अर्थात् वे भी इनके मध्यमें रहने के कारण कुशील हैं । स्त्री संसर्ग आदि निन्दनीय कर्मोंका सेवन करने से साधु कुशील हो जाता है अतः उत्तम तपस्याके द्वारा जिसने अपने शरीरको अत्यन्त तपाया है

ऐसा उत्तम तपस्वी साधु भी यदि अपना कल्याण चाहता है तो चारित्रको नष्ट करनेवाली स्त्रियोंके साथ किसी जगह न जावे और उनके साथ कहीं न बैठे। यहां तृतीयाके अर्थमें सप्तमीका प्रयोग हुआ है 'णं' शब्द वाक्य के अलङ्कारमें आया है। साधु स्त्रीको जलते हुए अङ्गार के पुञ्जकी तरह दूरसे ही वर्जित करे यह इस गाथाका भाव है। १२

(मूळ) अवि धयराहि सुण्हाहिं, धातीहिं अदुव दासीहिं।
महतीहि वा कुमारीहिं, संथवं से न कुज्जा अणगारे ॥ १३ ॥

(छाया) अपि दुहितृभिः स्नूषाभिः धात्रीभि रथवा दासीभिः
महतीभिर्वा कुमारीभिः संस्तवं स न कुर्य्यादनगारः।

(अन्वयार्थ) (अविधूयराहिं) अपनी कन्याके साथ (सुण्हाहिं) पुत्रवधूके साथ (धातीहिं अदुव दासीहिं) दूध पीलानेवाली धाईके साथ अथवा दासीके साथ (महतीहिं वा कुमारीहिं) बडी स्त्रीके साथ अथवा कुमारीके साथ (से अणगारे) वह साधु (संथवं) परिचय (न कुजा) न करे।

(भावार्थ) अपनी कन्या हो, चाहे अपने पुत्रको वधू हो, अथवा दूध पिलानेवाली धाई हो अथवा दासी हो, बडी स्त्री हो या छोटी कन्या हो उनके साथ साधुको परिचय नहीं करना चाहिये।

(टीका) अपिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, 'धूयराहि'त्ति दुहितृभिरपि सार्धं न विहरेत तथा 'स्नुषाः' सुतभार्यास्ताभिरपि सार्धं न विविक्तासनादौ स्थातव्यं, तथा 'धात्र्यः' पञ्चप्रकाराः स्तन्यदादयो जननीकल्पास्ताभिश्च सार्कं न स्थेयं, अथवाऽऽसतां तावदपरा योपितो या अप्येता 'दास्यो' घटयोपितः सर्वापसदास्ताभिरपि सह सम्पर्कं परिहरेत्, तथा महतीभिः कुमारीभिर्वाशब्दाल्लघ्वीभिश्च सार्धं 'संस्तवं' परिचयं प्रत्यासत्तिरूपं सोऽनगारो न कुर्यादिति, यद्यपि तस्यां दुहितरि स्नुपादौ वा न चित्तान्यथात्वमुत्पद्यते तथापि च तत्र विविक्तासनादावपरस्य शङ्कोत्पद्यते अतस्तच्छङ्कानिरासार्थं स्त्रीसम्पर्कः परिहर्तव्य इति ॥ १३ ॥ अपरस्य शङ्का यथोत्पद्यते तथा दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) अपि शब्दका प्रत्येक पदोंके साथ सम्बन्ध है। साधु अपनी कन्या के साथ भी कहीं न जावे। स्नुषा पुत्रकी स्त्रीका नाम है उनके साथ भी एकान्त स्थान आदिमें न बैठे। तथा धाई पांच प्रकारकी होती हैं जिन्होंने बाल्यकालमें दूध पिलाया है तथा सेवा आदि की

हैं, वे माता के तुल्य होती हैं उनके साथ भी साधु एकान्त स्थानमें न रहे। दूसरी स्त्रियोंको तो जाने दीजिए सबसे नीच जो पानी भरनेवाली स्त्रियां हैं उनके साथ भी साधु सम्पर्क न रखे। बड़ी स्त्री हो चाहे कुमारी हो अथवा वा शब्द से कोई साध्वी हो उनके साथ भी साधु अपना सम्पर्करूप परिचय न करे। यद्यपि अपनी कन्या अथवा अपने पुत्र-वधूके साथ एकान्त स्थानमें रहने से साधुका चित्त विकृत नहीं होसकता है तथापि दूसरे लोगोंको स्त्रीके साथ साधुको एकान्त स्थानमें रहते देखकर शङ्का उत्पन्न हो सकती है अतः उस शङ्काकी निवृत्ति के लिये स्त्रीसम्पर्क छोड़ देना चाहिये। १२ स्त्रीके साथ एकान्त स्थानमें बैठनेवाले साधुको देखकर दूसरे लोगोंको जिस प्रकार शङ्का उत्पन्न होती है सो दिखाने के लिये शास्त्रकार कहते हैं।

(मूल) अदु णाइणं च सुहीणं वा, अप्पियं दट्ठु एगता होति।
गिद्धा सत्ता कामेहिं, रक्खणपोसणे मणुस्सोऽसि ॥ १४ ॥

(छाया) अथ ज्ञातीनां सुहृदां वा दृष्ट्वा एकदा भवति
गृद्धाः सत्त्वाः कामेषु रक्षणपोषणे मनुष्योऽसि।

(अन्वयार्थ) (एकता) किसी समय (दट्ठु) एकान्त स्थानमें स्त्री के साथ बैठे हुए साधुको देखकर (णाइणं सुहीणं च) उस स्त्रीके ज्ञातिको तथा उसके सुहृदोंको (अप्पियं होति) दुःख उत्पन्न होता है, वे कहते हैं कि (सत्ता कामेहिं गिद्धा) जैसे दूसरे प्राणी काममें आसक्त हैं इसी तरह यह साधु भी है (रक्खण पोसणे मणुस्सो सि) तथा वे कहते हैं कि तुम इस स्त्रीका भरण पोषण भी करो क्योंकि तू इसका मनुष्य है।

(भावार्थ) किसी स्त्रीके साथ एकान्त स्थान में बैठे हुए साधुको देखकर उस स्त्रीके ज्ञाति और सुहृदोंको कभी कभी चित्तमें दुःखभी उत्पन्न होता है और वे समझते हैं कि जैसे दूसरे पुरुष काम में आसक्त रहते हैं इसी तरह यह साधु भी कामासक्त है। फिर वे क्रोधित होकर कहते हैं कि तुम इसका भरण पोषण क्यो नहीं करते क्योंकि तूं इसका मनुष्य है।

(टीका) 'अदु णाइणम्' इत्यादि, विविक्तयोषिता सार्धमनगारमथैकदा दृष्ट्वा योषिज्ज्ञातीनां सुहृदां वा 'अप्रियं' चित्तदुःखासिका भवति, एवं च ते समाशङ्केरन्, यथा-सत्त्वाः-प्राणिन इच्छामदनकामैः 'गृद्धा' अध्युपपन्नाः, तथाहि-एवम्भूतो ऽप्ययं श्रमणः स्त्रीवदनावलोकनासक्तचेताः परित्यक्तनिजव्यापारोऽनया सार्धं निर्ह्रीकस्तिष्ठति, तदुक्तम्-"मुण्डं शिरो वदनमेतदनिष्टगन्धं, भिक्षाशनेन

---

२ भिक्षाटनेन प्र०।

भरणं च हतोदरस्य । गात्रं मलेन मलिनं गतसर्वशोभं, चित्रं तथापि मनसो मदनेऽस्ति वाञ्छा ॥ १ ॥" तथातिक्रोधाध्मातमानसाश्चैवमूचुर्यथा—रक्षणं पोषणं चेति विगृह्य समाहारद्वन्द्वस्तस्मिन् रक्षणपोषणे सदाऽऽदरं कुरु यतस्त्वमस्याः 'मनुष्योऽसि' मनुष्यो वर्तसे, यदिवा यदि परं वयमस्या रक्षणपोषणव्यापृतास्त्वमेव मनुष्यो वर्तसे, यतस्त्वयैव सार्धमियमेकाकिन्यहर्निशं परित्यक्तनिजव्यापारा तिष्ठतीति ॥ १४ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) अकेली स्त्रीके साथ एकान्त स्थानमें बैठे हुए साधुको देखकर उस स्त्रीके जातिवाले अथवा उसके सुहृदजनों के चित्तमें दुःख होता है । तथा वे शंका करते हैं कि जैसे दूसरे प्राणी कामभोगमें आसक्त हैं इसी तरह यह साधु भी कामासक्त है क्योंकि यह साधु अपने सम्पूर्ण व्यापारोंको छोड़कर सदा इस स्त्रीका मुख देखता हुआ निर्लज्ज होकर इसके साथ बैठा रहता है । कहा भी है (मुण्डं शिरो) अर्थात् शिरतो मुण्डित है और मुख से बुरी वदबू निकलती है, एवं भिक्षान्न के द्वारा इस नीच पेटका भरण होता है, एवं सम्पूर्ण शरीर मल से मलिन और शोभा रहित है तो भी आश्चर्य है कि मनकी इच्छा कामभोग में लगी है । तथा उस स्त्रीके ज्ञातिवाले क्रोधित होकर कहते हैं कि तूं इस स्त्रीका भरण पोषण भी करो क्योंकि तूं इसका पति है । यहां (रक्षणपोषणे) इस पदमें समाहार द्वन्द्व हुआ है । अथवा उस स्त्रीके जातिवाले कहते हैं कि हम लोगतो इस स्त्रीका केवल भरण पोषण करनेवाले हैं इसका पति तो तूं है क्योंकि यह अपने समस्त व्यापारोंको छोड़कर निरन्तर तुम्हारे साथ बैठी रहती है । १४

(मूल) समणंपि दट्ठुदासीणं, तत्थवि ताव एगे कुप्पंति ।
अदुवा भोयणेहिं णत्थेहिं, इत्थीदोसं संकिणो होंति ॥ १५ ॥

(छाया) श्रमणमपि दृष्ट्वोदासीनं, तत्रापि तावदेके कुप्यन्ति
अथवा भोजनैर्न्यस्तैः स्त्रीदोषशङ्किनो भवन्ति ।

(अन्वयार्थ) (दासीणंपि समणं) रागद्वेषवर्जित तपस्वी साधुको भी (दट्ठु) स्त्रीके साथ एकान्त में वातचीत करते हुए देखकर (तत्थवि एगे कुप्पंति) कोई कोई क्रोधित होजाते हैं ! (इत्थीदोसं संकिणो होंति) और वे स्त्रीके दोषकी शङ्का करते हैं । (भोयणेहिं णत्थेहिं) वे समझते हैं कि यह स्त्री साधुकी प्रेमिका है इसी लिये यह नाना प्रकारका आहार तय्यार करके साधुको देती है ।

---

२ विहितो विहितो० ।

(भावार्थ) रागद्वेष से वर्जित और तपस्वी भी साधु यदि एकान्त में किसी स्त्रीके साथ वार्तालाप करता है तो उसे देखकर कोई क्रोधित हो जाते हैं और वे स्त्रीमें दोषकी शंका करने लगते हैं। वे समझते हैं कि यह स्त्री साधुकी प्रेमिका है इसी लिये यह नाना प्रकारका आहार बनाकर साधुको दिया करती है।

(टीका) श्राम्यतीति श्रमणः-साधुः अपिशब्दो भिन्नक्रमः तम् 'उदासीनमपि' रागद्वेषविरहान्मध्यस्थमपि दृष्ट्वा, श्रमणग्रहणं तपः-खिन्नदेहोपलक्षणार्थं, तत्रैवम्भूतेऽपि विषयद्वेषिण्यपि साधौ तावदेके केचन रहस्स्त्रीजल्पनकृतदोषत्वात्कुप्यन्ति, यदिवा पाठान्तरं "समणं दट्ठूणुदासीणं" 'श्रमणं' प्रव्रजितं 'उदासीनम्' परित्यक्तनिजव्यापारं स्त्रिया सह जल्पन्तं 'दृष्ट्वा' उपलभ्य तत्राप्येके केचन तावत् कुप्यन्ति, किं पुनः कृतविकारमितिभावः, अथवा स्त्रीदोषाशङ्किनश्च ते भवन्ति, ते चामी स्त्रीदोषाः 'भोजनैः' नानाविधैराहारैः 'न्यस्तैः' साध्वर्थमुपकल्पितैरेतदर्थमेव संस्कृतैरियमेनमुपचरति तेनायमहर्निशमिहागच्छतीति, यदि-वा-भोजनैः श्वशुरादीनां न्यस्तैः' अर्धदत्तैः सद्भिः सा वधूः साध्वागमनेन समाकुलीभूता सत्यन्यस्मिन् दातव्येऽन्यद्दद्यात्, ततस्ते स्त्रीदोषाशङ्किनो भवेयुर्यथेयं दुःशीलाऽनेनैव सहास्त इति, निदर्शनमत्र यथा—कयाचिद्वध्वा ग्राममध्यप्रारब्धनटप्रेक्षणैकगतचित्तया पतिश्वशुरयोर्भोजनार्थमुपविष्टयोस्तण्डुला इतिकृत्वा राइकाः संस्कृत्य दत्ताः, ततोऽसौ श्वशुरेणोपलक्षिता, निजपतिना क्रुद्धेन ताडिता, अन्यपुरुषगतचित्तेत्याशङ्क्य स्वगृहान्निर्धाटितेति ॥ १५ ॥ किञ्चान्यत्-

(टीकार्थ) जो तप करता है उसे श्रमण कहते हैं। साधुको श्रमण कहते हैं। यहां अपि शब्दका क्रम भिन्न है। जो पुरुष रागद्वेष रहित होनेके कारण मध्यस्थ है और तपस्या से खिन्न शरीर है अर्थात् जो विषय सुखका द्वेषी है ऐसे साधुको भी एकान्तमें स्त्रीके साथ वार्तालाप करते देखकर कोई क्रोधित होते हैं। यहां 'श्रमण' शब्दका ग्रहण तपस्या से खिन्न शरीरका उपलक्षण है। अथवा यहां "समणं दट्ठूणुदासीणं" यह पाठान्तर पाया जाता है। अर्थात् जो साधु अपना व्यापार छोड़कर स्त्रीके साथ वार्तालाप करता है उसे देखकर कोई क्रोधित होते हैं। जब कि रागद्वेषवर्जित और तपस्वी साधुको भी स्त्रीके साथ एकान्त में वार्तालाप करते देखकर कोई पुरुष क्रोधित होजाते हैं तब फिर जिस साधु में स्त्रीके संसर्ग से विकार उत्पन्न हो गया है उसको तो बात ही क्या है ?। अथवा स्त्रीके साथ एकान्तमें वार्तालाप करते हुए साधुको देखकर लोग स्त्रीके विषयमें दोष की आशंका करते हैं, वे स्त्रीसम्बन्धी

दोष ये हैं—वे, समझते हैं कि यह स्त्री नाना प्रकारका आहार इस साधुके लिये बनाकर इसे देती है इसी लिये यह साधु निरन्तर यहां आया करता है। अथवा वह स्त्री श्वशूर आदिको आधा आहार परोस कर साधुके आनेपर चञ्चलचित्त होती हुई दूसरी वस्तु के स्थानमें दूसरी वस्तु श्वशूर आदिको यदि दे देती है तो वे लोग उस स्त्रीपर शंका करते हैं कि यह दुःशीला इस साधु के साथ रहती है। इस विषयमें यह दृष्टान्त है—कोई स्त्री आसन पर बैठे हुए अपने श्वशूर और पतिको भोजन परोस रहीथी परन्तु उसका चित्त उस समय ग्राममें होनेवाले नटके नृत्य देखने में था इस लिये उसने चावल के धोखेसे राई उबालकर अपने श्वशूर और पतिको परोसा। श्वशूरने जानलिया कि इसका चित्त ठीकाने नाहीं है और पतिने क्रोधित होकर उसे पीटा तथा यह अन्य पुरुष में चित्त रखती है यह जानकर उसे अपने घरसे निकाल दिया। १५

(मूल) कुव्वंति संथवं ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं।
तम्हा समणा ण समेंति, आयहियाए सण्णिसेज्जाओ ॥१६॥

(छया) कुर्वन्ति संस्तवं ताभिः प्रभ्रष्टाः समाधियोगेभ्यः
तस्मात् श्रमणाः न संयन्ति आत्महिताय संनिषद्याः।

(अन्वयार्थ) (समाहिजोगेहिं) समाधियोग अर्थात् धर्मध्यान से (पब्भट्ठा) भ्रष्ट पुरुषही (ताहिं संथवं कुव्वंति) स्त्रियोंके साथ परिचय करते हैं। (तम्हा) इसलिये (समणा) साधु (आयहियाए) अपने कल्याण के लिये (संण्णिसेज्जाओ) स्त्रियोंके स्थानपर (न समेंति) नहीं जाते हैं।

(भावार्थ) धर्मध्यान से भ्रष्ट पुरुष ही स्त्रियों के साथ परिचय करते हैं परन्तु साधु पुरुष अपने कल्याण के लिये स्त्रियों के स्थानपर नहीं जाते हैं।

(टीका) 'कुव्वंति'त्यादि, 'ताभि': स्त्रीभिः—सन्मार्गार्गलाभिः सह 'संस्तवं' तद्गृहगमनालापदानसम्प्रेक्षणादिरूपं परिचयं तथाविधमोहोदयात् 'कुर्वन्ति' विदधति, किम्भूताः?—प्रकर्षेण भ्रष्टाः—स्खलिताः 'समाधियोगेभ्यः' समाधिः—धर्मध्यानं तदर्थं तत्प्रधाना वा योगा—मनोवाक्कायव्यापारास्तेभ्यः प्रच्युताः शीतलविहारिण इति, यस्मात् स्त्रीसंस्तवात्समाधियोगपरिभ्रंशो भवति तस्मात्कारणात् 'श्रमणाः' सत्साधवो 'न समेन्ति' न गच्छन्ति, सत्[2] शोभना

---

२ सदिति शोभनः पा०।

सुखोत्पादकतयाऽनुकूलत्वान्निषद्या इव निषद्या स्त्रीभिः कृता माया, यदिवा स्त्रीवसतीरिति, 'आत्महिताय' स्वहितं मन्यमानाः, एतच्च स्त्रीसम्बन्धपरिहरणं तासामप्यैहिकामुष्मिकापायपरिहाराद्धितमिति, क्वचित्पश्चार्द्धमेवं पठ्यते—"तम्हा समणा उ जहाहि अहिताओ सन्निसेज्जाओ" अयमस्यार्थः—यस्मात्स्त्रीसम्बन्धोऽनर्थाय भवति, तस्मात् हे श्रमण!—साधो!, तुशब्दो विशेषणार्थः, विशेषेण संनिषद्या—स्त्रीवसतीस्तत्कृतोपचाररूपा वा माया आत्महिताद्धेतोः 'जहाहि' परित्यजेति ॥१६॥ किं केचनाभ्युपगम्यापि प्रव्रज्यां स्त्रीसम्बन्धं कुर्युः?, येनैवमुच्यते, ओमित्याह—

(टीकार्थ) स्त्रियाँ सत् मार्गकी अर्गला स्वरूप हैं इस लिये उनके घरपर जाना, उनके साथ आलाप संलाप करना, उनसे दान लेना तथा उनको देखना इत्यादि परिचय, उस प्रकारके मोहके उदय से लोग करते हैं। जो लोग स्त्रियों के साथ परिचय करते हैं वे कैसे हैं? वे समाधि अर्थात् धर्मध्यान से अत्यन्त भ्रष्ट हैं अथवा धर्मध्यान जिनमें प्रधान है ऐसे मन वचन और काय के व्यापारों से वे भ्रष्ट हैं, वे पुरुष शीतल विहारी हैं। स्त्रियों के साथ परिचय करने से समाधियोगका नाश होता है इस लिये उत्तम साधु स्त्रियोंकी माया के पास नहीं जाते हैं। जो सुखका उत्पादक होने से अनुकूल होनेके कारण निषद्या अर्थात् निवासस्थान के समान है उसे निषद्या कहते हैं वह स्त्रियों से की हुई माया है, उस माया के पास उत्तम साधु नहीं जाते हैं अथवा स्त्रियोंके निवासस्थान को निषद्या कहते हैं उस निषद्याके पास अपने कल्याणकी इच्छा करने वाले साधु नहीं जाते हैं। यह जो स्त्रीके साथ सम्बन्ध छोड़नेका उपदेश किया है वह स्त्रियोको भी इस लोक तथा परलोककी हानि से बचाने के कारण हितकर है। कहीं कहीं इस गाथा के उत्तरार्ध में यह पाठ है—"तम्हा समणा उ जहाहि अहिताओ सन्निसेज्जाओ" इसका अर्थ यह है—स्त्रीका सम्बन्ध अनर्थका कारण है इस लिये हे श्रमण! (यहां तु शब्द विशेषणार्थक है) तुम विशेषरूप से स्त्रियों के निवासस्थानको तथा स्त्रियों से की हुई सेवा भक्तिरूप माया को अपने कल्याण के निमित्त त्याग दो। १६ क्या कोई प्रव्रज्या स्वीकार करके भी स्त्रीके साथ सम्बन्ध करसकते हैं जिस से यह कहा जाता है? हां, कर सकते हैं यह शास्त्रकार बतलाते हैं।

(मूल) बहवे गिहाइं अवहट्टु, मिस्सीभावं पत्थुया[२] य एगे।
धुवमग्गमेव पवयंति, वाया वीरियं कुसीलाणं ॥ १७ ॥

२ पण्णता पा०।

(छाया) बहवो गृहाणि अवहृत्य मिश्रीभावं प्रस्तुताश्च एके
ध्रुवमार्गमेव प्रवदन्ति वाचा वीर्य्यं कुशीलानाम् ।

(अन्वयार्थ) (बहवे एगे) बहुत से लोग (गिहाइं अवहट्टु) घरसे निकलकर अर्थात् प्रव्रजित होकर भी (मिस्सीभावं पत्थुया) मिश्रमार्ग अर्थात् कुछ गहस्थ और कुछ साधुके आचारको स्वीकार करलेते हैं । (धुवमग्गमेव पवयंति) परन्तु वे अपने आचारको मोक्षका ही मार्ग कहेते हैं (वायावीरियं कुसीलाणं) कुशीलोंके वचनमेंही वीर्य्य होता हैं (अनुष्ठान में नहीं)

(भावार्थ) बहुतलोग प्रव्रज्या लेकर भी कुछ गृहस्थ और कुछ साधु के आचार को सेवन करते हैं । वे लोग अपने इस मिश्रित आचार को ही मोक्षका मार्ग कहते हैं क्योंकि कुशीलोंकी वाणीमें ही बल होता है कार्य्य में नहीं ।

(टीका) 'बहवः' केचन गृहाणि 'अपहृत्य' परित्यज्य पुनस्तथाविधमोहोदयात् मिश्रीभावम् इति द्रव्यलिङ्गमात्रसद्भावाद्भावतस्तु गृहस्थसमकल्पा इत्येवम्भूता मिश्रीभावं 'प्रस्तुताः' समनुप्राप्ता न गृहस्था एकान्ततो नापि प्रव्रजिताः, तदेवम्भूता अपि सन्तो ध्रुवो-मोक्षः संयमो वा तन्मार्गमेव प्रवदन्ति, तथाहि-ते वक्तारो भवन्ति यथाऽयमेवास्मदारब्धो मध्यमः पन्थाः श्रेयान्, तथा हि—अनेन प्रवृत्तानां प्रव्रज्यानिर्वहणं भवतीति, तदेतत्कुशीलानां वाचा कृतं वीर्यं नानुष्ठानकृतं, तथाहि—ते द्रव्यलिङ्गधारिणो वाङ्मात्रेणैव वयं प्रव्रजिता इति ब्रुवते नतु तेषां सातगौरवविषयसुखप्रतिबद्धानां शीतलविहारिणां सदनुष्ठानकृतं वीर्यमस्तीति ॥१७॥
अपिच—

(टीकार्थ) बहुतोने घर छोड़कर भी फिर उस प्रकारके मोह के उदय होने से मिश्र अवस्थाको प्राप्त किया है । वे द्रव्यलिङ्ग को ग्रहण करने मात्र से साधु और गृहस्थ के समान आचरण करने से गृहस्थ है, इस प्रकार वे मिश्रमार्गको प्राप्त हुए हैं । वे न तो एकान्त गृहस्थही हैं और न एकान्त साधु ही हैं । वे ऐसे होकर भी अपने मार्गको ही ध्रुव अर्थात् मोक्ष या संयमका मार्ग बतलाते हैं । वे कहते हैं कि—हमने जो इस मध्यम मार्गका आचरण करना आरम्भ किया है यही मार्ग सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि इस मार्गसे प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषकी प्रव्रज्या अच्छी तरह पाली जाती है । परन्तु यह उन कुशीलोंके वाणीका वीर्य्य समझना चाहिये अनुष्ठान का नहीं क्योंकि वे द्रव्यलिङ्गी पुरुष वचनमात्र से अपने को प्रव्रजित कहते हैं परन्तु उनमें उत्तम अनुष्ठान का वीर्य नहीं है क्योंकि वे साता गौरव और विषय सुख में आसक्त तथा शीतल विहारी हैं । १७

(मूल) सुद्धं रवति परिसाए, अह रहस्संमि दुक्कडं करेंति ।
जाणंति, य णं तहाविहा, माइल्ले महासढेऽयंति ॥ १८ ॥

(छाया) शुद्धं रौति परिषदि, अथ रहसि दुष्कृतं करोति ।
जानन्ति च तथाविदो मयावी महाशठ इति ।

(अन्वयार्थ) (परिसाए) वह कुशील पुरुष सभामें (सुद्धं रवति) अपनेको शुद्ध बतलाता है (अह रहस्संमि) परन्तु एकान्त में (दुक्कडं करेंति) पाप करता है । (तहाविहा) ऐसे लोगों को अङ्गचेष्टाका ज्ञान रखनेवाले पुरुष (जाणंति) जानलेतते हैं कि (माइल्लो महासढेत्ति) ये मायावी और महाशठ हैं ।

(भावार्थ) कुशील पुरुष सभा में अपने को शुद्ध बतलाता है परन्तु छिपकर पाप करता है । इनकी अङ्गचेष्टा आदिका ज्ञान रखनेवाले लोग जान लेते हैं कि ये मायावी और महान् शठ हैं ।

(टीका) स कुशीलो वाङ्मात्रेणाविष्कृतवीर्यः 'पर्षदि' व्यवस्थितो धर्मदेशनावसरे सत्यात्मानं 'शुद्धम्' अपगतदोषमात्मानमात्मीयानुष्ठानं वा 'रौति' भाषते अथानन्तरं 'रहस्ये' कान्ते 'दुष्कृतं' पापं तत्कारणं वाऽसदनुष्ठानं 'करोति' विदधाति, तच्च तस्यासदनुष्ठानं गोपायतोऽपि 'जानन्ति' विदन्ति, के?–तथारूपमनुष्ठानं विदन्तीति तथाविदः—इङ्गिताकारकुशला निपुणास्तद्विद इत्यर्थः यदिवा सर्वज्ञाः, एतदुक्तं भवति—यद्यप्यपरः कश्चिदकर्तव्यं तेषां न वेत्ति तथापि सर्वज्ञा विदन्ति, तत्परिज्ञानेनैव किं न पर्याप्तं ?, यदिवा—मायावी महाशठश्चायमित्येवं तथाविदस्तद्विदो जानन्ति, तथाहि—प्रच्छन्नाकार्यकारी न मां कश्चिज्जानात्येवं रागान्धो मन्यते, अथ च तं तद्विदो विदन्ति, तथा चोक्तम्—"न यं लोणं लोणिज्जइ ण य तुप्पिज्जइ घयं व तेल्लं वा । किह सक्को वंचेउं अत्ता अणुहूयकल्लाणो ॥ १ ॥" ॥ १८ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) वह कुशील वचनमात्र से अपने वीर्य्यको प्रकट करता हुआ धर्मोपदेशके समय सभा में बैठकर अपनेको तथा अपने अनुष्ठानको दोषरहित शुद्ध बतलाता है परन्तु पीछे से छिपकर एकान्तमें पाप अथवा पापजनक असत् अनुष्ठान करता है । यद्यपि वह

२ ०चेट्ठ। प्र० । ३ न च लवणं लवणीयते न म्रक्ष्यते घृतं च तैलं च । किं शक्यो वंचयितु मात्माऽनुभूतकल्याणः ॥ ४ सक्का प्र० ।

अपने उस असत् अनुष्ठानको छिपाता है तो भी लोग जान लेते हैं। कौन जानलेते हैं ? । कहते हैं कि उस प्रकारके अनुष्ठानको जाननेवाले जो पुरुष अङ्गचेष्टा और आकारको जानने में निपुण हैं वे उसके असत् अनुष्ठानको जानलेते हैं। अथवा सर्वज्ञ पुरुष उसके उस अनुष्ठानको जानलेते हैं। भाव यह है कि उस कुशील पुरुष के अकर्त्तव्य को दूसरा चाहे न जाने परन्तु सर्वज्ञ पुरुषतो जानलेते ही हैं। क्या सर्वज्ञ पुरुषका जान लेना जाना जाना नहीं है ? अथवा उसके असत् अनुष्ठानको जाननेवाले पुरुष जानते हैं कि यह मायावी और महा शठ है। रागान्ध पुरुष छिपकर असत् अनुष्ठान करता है और मनमें समझता है कि मुझको कोई जानता नहीं है परन्तु उसे जाननेवाले जानलेते हैं। कहा है (नय लोणं) अथात् जैसे नमकका खारापन और तेल घृतका चिकनापन छिपाया नहीं जा सकता इसी तरह बुरा कर्म करनेवाला आत्मा छिपाया नहीं जा सकता है। १८

(मूल) सयं दुक्कडं च न वदति, आइट्ठोवि पकत्थति बाले।
वेयाणुवीइ मा कासी, चोइज्जंतो गिलाइ से भुज्जो॥ १९॥

(छाया) स्वयं दुष्कृतं च न वदति, आदिष्टोऽपि प्रकत्थते बालः
वेदानुवीचि मा कार्षीः चोद्यमानो ग्लायति स भूयः।

(अन्वयार्थ) (बाले) अज्ञानी जीव (सयं दुक्कडं) स्वयं अपने पापको (न वदति) नहीं कहता है (आइट्टोवि पकत्थति) जब दूसरा कोई उसे उसका पाप कहनेके लिये प्रेरणा करता है तब वह अपनी प्रशंसा करने लगता है (वेयाणुवीइ मा कासी) तुम मैथुनकी इच्छा मत करो इस प्रकार आचार्य्य आदिके द्वारा (भुज्जो) वार वार (चोइज्जंतो) कहा जाता हुआ (से) वह कुशील (गिलाइ) ग्लानिको प्राप्त होता है।

(भावार्थ) द्रव्यलिङ्गी अज्ञानी पुरुष स्वयं अपना पाप अपने आचार्य्य से नहीं कहता है और दूसरेकी प्रेरणा करने पर वह अपनी प्रशंसा करने लगता है आचार्य्य आदि उसे वार वार जब यह कहते हैं कि तुम मैथुन मत करो तब वह ग्लानि को प्राप्त होता है।

(टीका) 'स्वयम्' आत्मना प्रच्छन्नं यद्दुष्कृतं कृतं तदपरेणाचार्यादिना पृष्टो न 'वदति' न कथयति, यथा अहमस्याकार्यस्य कारीति, स च प्रच्छन्नपापो मायावी स्वयमवदन् यदा परेण 'आदिष्टः' चोदितोऽपि सन् 'बालः' अज्ञो रागद्वेषकलितो वा 'प्रकत्थते' आत्मानं श्लाघमानोऽकार्यमपलपति, वदति च—यथा-ऽहमेवम्भूतमकार्यं कथं करिष्ये इत्येवं धार्ष्ट्यात्प्रकत्थते, तथा—वेदः—पुंवेदोदय-

स्तस्य 'अनुवीचि' आनुकूल्यं मैथुनाभिलापं तन्मा कार्षीरित्येवं 'भूयः' पुनः चोद्यमानोऽसौ 'ग्लायति' ग्लानिमुपयाति—अकर्णश्रुतं विधत्ते, मर्मविद्धो वा सखेदमिव भाषते, तथा चोक्तम्—"सम्भाव्यमानपापोऽहमपापेनापि किं मया ?। निर्विषस्यापि सर्पस्य, भृशमुद्विजते जनः ॥ १ ॥" इति ॥ १९ ॥ अपिच—

(टीकार्थ) कुशील पुरुष अपने किये हुए प्रच्छन्न पापको आचार्य्य आदिके पूछने पर नहीं कहता है कि मैंने अमुक बुरा कार्य्य किया है। वह पच्छन्नपापी मायावी स्वयं तो कहता नहीं और जब दूसरा कोई उसे कहनेके लिये कहता है तो वह अज्ञानी अथवा राग-द्वेषयुक्त पुरुष अपनी प्रशंसा करता हुआ अपने बुरे कार्यको झूठा बतलाता है। वह कहता है कि—मैं ऐसा अनुचित कार्य्य कैसे कर सकता हूं, इस प्रकार वह धृष्टता के कारण कहता है। यहां वेद शब्द से पुरुषवेदका उदय लेना चाहिये उसके अनुकूल मैथुनकी इच्छा अनुवीचि कहलाता है। अतः तुम मैथुनकी इच्छा मत करो इस प्रकार गुरु आदिके द्वारा वार वार कहा हुआ वह कुशील ग्लानिको प्राप्त होता है अथवा उस बातको नहीं सुनी जैसा कर देता है अथवा वह उस बात से मर्म स्थानमें वेध पाया हुआसा खेद युक्त होकर कहता है कि—मेरे में जब पापकी शङ्का कीजाती है तब मुझे पाप रहित होने से भी क्या लाभ ? क्योंकि निर्विष सर्प से भी लोग बहुत डरते हैं। १९

(मूल) ओसियावि इत्थिपोसेसु, पुरिसा इत्थिवेयखेदन्ना।
पण्णासमन्निता वेगे, नारीणं वसं उवकसंति ॥ २० ॥

(छाया) उषिता अपि स्त्रीपोषेषु पुरुषाः स्त्रीवेदखेदज्ञाः
प्रज्ञासमन्विता एके नारीणां वशमुपकषन्ति।

(अन्वयार्थ) (इत्थिपोसेसु उसियावि पुरिसा) जो पुरुष स्त्रियोंका पोषण कर चूके हैं (इत्थिवेदखेदन्ना) अतएव स्त्रियों के द्वारा उत्पन्न होनेवाले खेदोंके ज्ञाता हैं (पण्णासमन्निता) एवं प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि से युक्त हैं (वेगे) ऐसे भी कोई (नारीणं वसं उवकसंति) स्त्रियों के वशीभूत होजाते हैं।

(भावार्थ) स्त्रीको पोषण करनेके लिये पुरुषको जो जो व्यापार करने पडते हैं उनका सम्पादन करके जो पुरुष भुक्तभोगी हो चुके हैं तथा स्त्रीजाति मायाप्रधान होती है यह भी जो जानते हैं तथा औत्पातिकी आदि बुद्धि से जो युक्त हैं ऐसे भी कोई पुरुष स्त्रियों के वशमें हो जाते हैं।

(टीका) स्त्रियं पोषयन्तीति स्त्रीपोषका—अनुष्ठानविशेषास्तेषु 'उषिता अपि' व्यवस्थिता अपि 'पुरुषा' मनुष्या भुक्तभोगिनोऽपीत्यर्थः, तथा—'स्त्रीवेदखेदज्ञाः सीवेदो मायाप्रधान इत्येवं निपुणा अपि तथा प्रज्ञया औत्पत्तिक्यादिबुद्ध्या समन्विता-युक्ता अपि 'एके' महामोहान्धचेतसो 'नारीणां' स्त्रीणांसंसारावतरणवीथीनां 'वशं' तदायत्ततामुप-सामीप्येन 'कषन्ति' व्रजन्ति, यद्यत्ताः स्वमायमाना अपि कार्यमकार्यं वा ब्रुवते तत्तत्कुर्वते, न पुनरेतज्जानन्ति यथैता एवम्भूता भवन्तीति, तद्यथा—"एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतोर्विश्वासयन्ति च नरं न च विश्वसन्ति। तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन, नार्यः श्मशानघटिका इव वर्जनीयाः ॥ १ ॥" तथा—"समुद्रवीचीव चलस्वभावाः, सन्ध्याभ्ररेखेव मुहूर्तरागाः। स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं, निष्पीडितालक्तकवत्त्यजन्ति ॥ २ ॥" अत्र च स्त्रीस्वभावपरिज्ञाने कथानकमिदम्-तद्यथा-एको युवा स्वगृहान्निर्गत्य वैशिकं कामशास्त्रमध्येतुं पाटलिपुत्रं प्रस्थितः, तदन्तराले अन्यतरग्रामवर्तिन्यैकया योषिताऽभिहितः, तद्यथा-सुकुमारपाणिपादः शोभनाकृतिस्त्वं क्व प्रस्थितोऽसि ?, तेनापि यथास्थितमेव तस्याः कथितं तया चोक्तम्-वैशिकं पठित्वा मम मध्येनागन्तव्यं, तेनापि तथैवाभ्युपगतम्, अधीत्य चासौ मध्येनायातः, तया च स्नानभोजनादिना सम्यगुपचरितो विविधहावभावैश्चापहृतहृदयः संस्तां हस्तेन गृह्णाति, ततस्तया महताशब्देन फूत्कृत्य जनागमनावसरे मस्तके वारिवर्धनिका प्रक्षिप्ता, ततो लोकस्य समाकुले एवमाचष्टे-यथाऽयं गले लग्नेनोदकेन मनाक् न मृतः, ततो मयोदकेन सिक्त इति। गते च लोके सा पृष्टवती-किं त्वया वैशिकशास्त्रोपदेशेन स्त्रीस्वभावानां परिज्ञातमिति ?, एवं स्त्रीचरित्रं दुर्विज्ञेयमिति नात्रास्था कर्तव्येति, तथा चोक्तम्-"हृद्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यत्पुरोऽथ पृष्ठेऽन्यत्। अन्यत्तव मम चान्यत् स्त्रीणां सर्वं किमप्यन्यत् ॥ १ ॥" ॥ २० ॥ साम्प्रतमिहलोक एव स्त्रीसम्बन्धविपाकं दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) जो व्यापार स्त्रीको पोषण करने के लिए किए जाते हैं उन्हें स्त्रीपोषक कहते है। उन स्त्रीपोषक व्यापारों के अनुष्ठानमें जो प्रवृत्त रहचुके हैं अतएव स्त्रीरक्षण करने के दोषोंको जो जान गये हैं तथा जो स्त्रीवेद के खेदको जाननेवाले हैं अर्थात् स्त्रीवेद मायाप्रधान होता है यह जाननेमें जो निपुण हैं एवं औत्पातिकी आदि बुद्धि से जो युक्त है ऐसे भी कोई पुरुष महामोहसे अन्धे होकर संसारमें उतरने के लिये मार्ग स्वरूप स्त्रियोंके वशमें हो जाते हैं।

१ स्त्रियः प्र०।

स्त्रियाँ स्वप्न में बड बडाती हुई भी भला या बुरा जो कार्य्य करनेके लिये उनसे कहती हैं वे उसे करते हैं। वे यह नहीं सोचते हैं कि स्त्रियां इस प्रकारकी होती हैं, जैसेकि—स्त्रियां, कार्य्यके लिये हँसती हैं और रोती हैं, पुरुषको विश्वास देती हैं परन्तु स्वयं उसपर विश्वास नहीं करती हैं अतःकुल और शील से युक्त पुरुष, श्मशान के घडेके समान स्त्रियोंको वर्जित कर दें। तथा—समुद्रकी तरङ्गें जिस प्रकार चञ्चल होती हैं उसी तरह स्त्रियां चञ्चल स्वभाव की होती हैं, जैसे संध्याकाल के मेघमें थोडी देरतक राग रहता है इसी तरह स्त्रियोंका भी थोडी देर तक राग रहता है। स्त्रियां जब अपना प्रयोजन पुरुष से सिद्ध करलेती हैं तब जैसे महावरका रंग निकालकर उसकी रूईको फेंक देते हैं उसी तरह वे पुरुषको त्याग देती हैं। यहाँ स्त्रीका स्वभाव जानने के लिये यह कथानक है एक युवा पुरुष वैशिक कामशास्त्र अर्थात् स्त्रीके स्वभावको बतानेवाले शास्त्रको पढने के लिये अपने घरसे निकलकर पटना जाने लगा। बीच मार्गमें किसी ग्राममें रहनेवाली किसी स्त्रीने कहा कि तुम्हारे हाथ पैर सुकुमार हैं और तुम्हारी आकृति भी सुन्दर है, तुम कहां जा रहा है ?। उस युवकने भी सच्ची बात उस स्त्री से कह सुनाई। इसके पश्चात् उस स्त्रीने कहा कि वैशिक कामशास्त्र-को पढकर इधरसे ही आना, युवकने भी यह स्वीकार किया। वैशिक कामशास्त्र पढकर वह युवक उस स्त्रीके मार्गसे ही आया उस स्त्रीने उस पुरुषको स्नान भोजन आदिके द्वारा अच्छी तरह सेवा की। तथा अपने हावभाव कटाक्षों से उसका मन हर लिया। वह पुरुष उस स्त्री पर आसक्त होकर ज्योंही उसका हाथ पकड़ना चाहा त्योंही वह जोरसे चिल्लाती हुई लोगोंके आनेका अवसर देखकर उसके शिरपर जलका घड़ा डाल दिया। इसके पश्चात् लोगों की भीड़ होनेपर वह इस प्रकार कहने लगी कि—इनके गले के अन्दर पानी लगगया था इससे इनके मरने में थोडी कसर रह गईथी यह देखकर मैंने इनको जल से नहला दिया। जब लोग सब चले गये तब वह पूछने लगी कि वैशिक कामशास्त्रको पढकर तुमने स्त्री स्व-भावका क्या ज्ञान प्राप्त किया है ? वस्तुतः स्त्रीचरित्र दुर्विज्ञेय होता है इस लिये मनुष्यको स्त्रीके स्वभाव पर विश्वास नहीं करना चाहिये। कहा भी है कि—स्त्रियों के हृदयमें अन्य होता है और वाणी में अन्य होता है, सामने अन्य होता है और पीछे अन्य होता है तुम्हारे लिये अन्य होता है और मेरे लिये अन्य होता है वस्तुतः स्त्रियोंका सब कुछ अन्यही होता है। २०

(मूल) अवि हत्थपादछेदाए, अदुवा वद्धमंसउक्कंते।
अवि तेयसाभितावणाणि, तच्छियखारसिंचणाइं च॥२१॥

(छाया) अपि हस्तपादच्छेदाय, अथवा वर्धमांसोत्कर्त्तनम्
अपि तेजसाऽभितापनानि तक्षयित्वा क्षारसिञ्चनानि च।

(अन्वयार्थ) (अवि हत्थपादछेदाए) इस लोकमें परस्त्रीके साथ सम्पर्क करना हाथ और पैर का छेदन रूप दण्ड के लिये होता है (अथबा वधमंसउक्कंते) अथवा चमडा और मांसको कतरना रूप दण्ड के लिये होता है. (अवि तेयसाभितावणाइं) अथवा आग से जलाने रूप दण्ड के लिये होता है (तच्छियखारसिंचणाइं च) एवं अङ्गका छेदन करके खार द्वारा सींचनेरूप दण्ड के लिये होता है।

(भावार्थ) जो लोग परस्त्री सेवन करते हैं उनके हाथ पैर काट लिये जाते हैं, अथवा उनका चमडा और माँस काट लिये जाते हैं, तथा अग्नि के द्वारा वे तपाये जाते हैं एवं उनका अङ्ग काट कर खारके द्वारा सिञ्चन किया जाता है।

(टीका) स्त्रीसम्पर्को हि रागिणां हस्तपादच्छेदाय भवति, 'अपिः' सम्भावने सम्भाव्यत एतन्मोहातुराणां स्त्रीसम्बन्धाद्धस्तपादच्छेदादिकम्, अथवा वर्धमांसोत्कर्तनमपि 'तेजसा, अग्निना 'अभितापनानि' स्त्रीसम्बन्धिभिरुत्तेजित राजपुरुषैर्भटित्रकाण्यपि क्रियन्ते पारदारिकाः, तथा वास्यादिना तक्षयित्वा क्षारोदकसेचनानि च प्रापयन्तीति ॥२१॥ अपिच—

(टीकार्थ) परस्त्रीका संसर्ग, रागी पुरुषों के हाथ पैर का छेदन के लिये होता है। अपि शब्द सम्भावना अर्थ में आया है, परस्त्री में मोहातुर पुरुषोंके हाथ और पैरका छेदन संभव है। अथवा परस्त्रीलम्पट पुरुषका चर्म और मांस भी कतरा जाना संभव है, तथा स्त्रीके स्वजनवर्ग द्वारा उत्तेजित किये हुए राजपुरुष, पारदारिकोंको भट्टीपर चढाकर भी तपाते हैं, एवं वँसूला आदिके द्वारा उसे छिलकर उस पर खार जलका सिंचन भी करते हैं। २१

**(मूल) अदु कण्णणासच्छेदं, कंठच्छेदणं तितिक्खंती।
इति इत्थ पावसंतत्ता, नय बिंति पुणो न काहिंति ॥२२॥**

(छाया) अथ कर्णनासिकाच्छेदं कण्ठच्छेदनं तितिक्षन्तो,
इत्यत्र पापसन्तप्ताः, न च ब्रुवते न पुनः करिष्यामः।

(अन्वयार्थ) (पावसंतत्ता) पापी पुरुष (इत्थ) इस लोकमें (कण्णणासच्छेदं) कान और

नाकका छेदन एवं (कंठछेदणं तितिक्खंती) कण्ठका छेदन सहलेते हैं (नय विंति) परन्तु यह नहीं कहते हैं कि (न पुणो काहिंति) अब हम फिर पाप नहीं करेंगे ।

(भावार्थ) पापी पुरुष अपने पापके बदले कान नाक और कण्ठका छेदन सहन करते हैं परन्तु यह नहीं निश्चय कर लेते कि हम अब पाप नहीं करेंगे ।

(टीका) अथ कर्णनासिकाच्छेदं तथा कण्ठच्छेदनं च 'तितिक्षन्ते' स्वकृतदोषात्सहन्ते इति, एवं बहुविधां विडम्बनाम् 'अस्मिन्नेव' मानुषे च जन्मनि पापेन—पापकर्मणा संतप्ता नरकातिरिक्तां वेदनामनुभवन्तीति न च पुनरेतदेवम्भूतमनुष्ठानं न करिष्याम इति ब्रुवत इत्यवधारयन्तीतियावत्, तदेवमैहिकामुष्मिका दुःखविडम्बना अप्यङ्गीकुर्वन्ति न पुनस्तदकरणतया निवृत्तिं प्रतिपद्यन्त इति भावः ॥ २२ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) पापी पुरुष अपने किये हुए पापके दोष से कान और नाकका छेदन तथा कण्ठका छेदन सहन करते हैं । इस प्रकार पापी पुरुष अपने पाप कर्म से संतप्त होकर नरक के सिवाय अनेक प्रकारका कष्ट इसी लोकमें भोगते हैं परन्तु अब हम ऐसा अनुष्ठान नहीं करेंगे ऐसा मनमें दृढ संकल्प नहीं करते हैं । इस प्रकार पापी पुरुष इस लोक तथा परलोक में दुःख स्वीकार करते हैं परन्तु पाप कर्म करने से निवृत्त नहीं होते हैं । २२

(मूल) सुतमेवमेगेसिं, इत्थीवेदेति हु सुयक्खायं ।
एवंपि ता वदित्ताणं, अदुवा कम्मुणा अवकरेंति ॥२३॥

(छाया) श्रुतमेतदेवमेकेषां, स्त्रीवेद इति हु स्वाख्यातम्
एवमपि ताउक्त्वा अथवा कर्मणा अपकुर्वन्ति ।

(अन्वयार्थ) (एत एवं सुतं) स्त्रीका सम्पर्क बुरा होता है यह हमने सुना है । (एगेसिं सुयक्खायं) कोई ऐसा कहते भी हैं । (इत्थीवेदेति हु) वैशिक कामशास्त्रका यह कहनाभी है कि (ता एवं वदित्तावि कम्मणा अवकरेंति) स्त्रियाँ अब मैं ऐसा न करूंगी यह कह कर भी अपकार करती हैं ।

(भावार्थ) स्त्रियोंका सम्पर्क बुरा है यह हमने सुना है, तथा कोई ऐसा कहते भी हैं एवं वैशिक कामशास्त्रका यही कहना है अब मैं इस प्रकार न करूंगी यह कहकर भी स्त्रियां अपकार करती हैं ।

(टीका) 'श्रुतम्' उपलब्धं गुर्वादेः सकाशाल्लोकतो वा 'एतद्' इति यत्पूर्वमाख्यातं, तद्यथा--दुर्विज्ञेयंस्त्रीणां चित्तं दारुणः स्त्रीसम्बन्धविपाकः तथा चलस्वभावाःस्त्रियो दुष्परिचारा अदीर्घप्रेक्षिण्यः प्रकृत्या लघ्व्यो भवन्त्यात्मगर्विताश्च 'इति' एवमेकेषां स्वाख्यातं भवति लोकश्रुतिपरम्परया चिरन्तनाख्यायिकासु वा परिज्ञातं भवति. स्त्रियं यथावस्थितस्वभावतस्तत्सम्बन्धविपाकतश्च वेदयति--ज्ञापयतीति स्त्रीवेदो-वैशिकादिकं स्त्रीस्वभावाविर्भावकं शास्त्रमिति, तदुक्तम्--दुर्ग्राह्यं हृदयं यथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतं, भावः पर्वतमार्गदुर्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते चित्तं पुष्करपत्रतोयतरलं नैकत्र सन्तिष्ठते, नार्यो नाम विषाङ्कुररिव लता दोषैः समं वर्धिताः ॥ १ ॥" अपिच--"सुट्टुवि जियासु सुट्टुवि पियासु सुट्टुविय लद्धपसरासु। अडईसु महिलियासु य वीसंभो नेव कायव्वो ॥ १ ॥ उब्भेउ अंगुली सो पुरिसो सयलंमि जीवलोयम्मि। कामं तएण नारी जेण न पत्ताइं दुक्खाइं ॥ २ ॥ अह एयाणं पगई सव्वस्स करेंति वेमणस्साइं। तस्स ण करेंति णवरं जस्स अलं चेव कामेहिं ॥ ३ ॥" किञ्च-अकार्यमहं न करिष्यामीत्येवमुक्त्वापि वाचा 'अदुव'त्ति तथापि कर्मणा-क्रियया 'अपकुर्वन्ति' इति विरूपमाचरन्ति, यदिवा अग्रतः प्रतिपद्यापि च शास्तुरेवापकुर्वन्तीति ॥ २३ ॥ सूत्रकार एव तत्स्वभावाविष्करणायाह--

(टीकार्थ) दूसरी बात यह है कि--पहले जो कहा गया है यह सब मैंने गुरु आदि से सुन रखा है, तथा लोक से भी सुना है। जैसे कि--स्त्रियोंकाचित्त दुर्विज्ञेय होता है तथा इनके साथ सम्बन्ध करनेका फल भी बुरा होता है, स्त्रियाँ चञ्चल स्वभावकी होती हैं इनकी सेवा कठिन होती है, तथा स्त्रियां अदूरदर्शिनी और तुच्छ स्वभावकी होती हैं इनमें आत्मगर्व बहुत ज्यादा होता है इस प्रकार कोई कहते हैं तथा लौकिक श्रुतिपरम्परा से भी यह सुना जाता है और पुरानी आख्यायिकाओं से भी यह ज्ञात होता है। स्त्रियोंका स्वभाव और उनके संसर्गका फल बतानेवाला वैशिक कामशास्त्रको 'स्त्रीवेद' कहते हैं, यह शास्त्र स्त्रियों के स्वभावको प्रकट करता है, यह शास्त्र कहता है कि जैसे दर्पण में पड़ी हुई मुखकी छाया दुर्ग्राह्य होती है इसी तरह स्त्रियोंका हृदय नहीं ग्रहण किया जा सकता। स्त्रियोंका

१ ०सुक्ष्मार्ग वि०। २ सुष्ठु विजितासु सुष्ठ्वपि प्रीतासु सुष्ठ्वपि च लब्धप्रसरासु अटवीषु महिलासु च विश्रम्भो नैव कार्यः ॥१॥ २ ऊर्ध्वयतु अंगुलिं स पुरुषः सकले जीवलोके कामयता नारीवेषामपि कुर्वन्ति नवरं यस्यालं चैव कामैः ॥ १ ॥

अभिप्राय पर्वत के दुर्ग मार्ग के समान गहन होने के कारण नहीं जाना जाता है उनका चित्त कमलके पत्ते पर रखे हुए जल बिन्दु के समान अति चन्चल होता है इसलिये वह एक स्थानपर नहीं ठरता है, जैसे विषके अङ्कुर से विषलता उत्पन्न होती है उसी तरह स्त्रियां दोषोंके साथ उत्पन्न हुई हैं। अच्छी तरह विजय की हुई तथा अत्यन्त प्रसन्न की हुई एवं अत्यन्त परिचय की हुई भी अटवी और स्त्रीमें विश्वास नहीं करना चाहिये। १ इस समस्त जीव लोकमें कोई पुरुष अंगुलि ऊठा के कह सकता है? जिसने स्त्रीकी कामना करके दुःख न पाया हो,। २ स्त्रियोंका स्वभाव है कि वे सबका तिरस्कार करती हैं केवल उसका तिरस्कार नहीं करती हैं जिसको स्त्रीकी कामना नहीं है। स्त्रियां अब हम ऐसा नहीं करेंगी यह वचनद्वारा कहकर भी कर्म से विपरीत आचरण करती हैं अथवा सामने स्वीकार करके भी शिक्षा देनेवालेका ही अपकार करती है। २३

(मूल) अन्नं मणेण चिंतेति, वाया अन्न च कम्मुणा अन्नं ।
तम्हा ण सद्दह भिक्खू, वहुमायाओ इत्थिओ णच्चा ॥२४॥

(छाया) अन्यन्मनसा चिन्तयन्ति वाचा अन्यच कर्मणाऽन्यत्
तस्मान्न श्रद्दधीत भिक्षुः वहुमायाः स्त्रियोः ज्ञात्वा ।

(अन्वयार्थ (मणेण अन्नं चिंतेति) स्त्रियां मनसे दूसरा सोचती हैं (वाया अन्नं) वाणीसे और कहती हैं (कम्मुणा अन्नं) और कर्मसे और करती हैं (तम्हा) इस लिये (वहुमायाओ इत्थिओ णच्चा) वहुत मायावाली स्त्रियोंकों जानकर (भिक्खू) साधु (णसद्दह) उनमें श्रद्धा न करे ।

भावार्थ स्त्रियां मनमें दूसरा विचारती हैं और वाणी से दूसरा कहती हैं एवं कर्म से और ही करती है इस लिये साधु पुरुष बहुत माया करनेवाली स्त्रियोंको जानकर उनपर विश्वास न करे ।

(टीका) पातालोदरगम्भीरेण मनसाऽन्यच्चिन्तयन्ति तथा श्रुतिमात्रपेशलया विपाकदारुणया वाचा अन्यद्भापन्ते तथा 'कर्मणा' अनुष्ठानेनान्यन्निष्पादयन्ति, यत एवं बहुमायाः स्त्रिय इति, एवं ज्ञात्वा 'तस्मात्' तासां 'भिक्षुः' साधुः 'न श्रद्दधीत' तत्कृतया माययात्मानं न प्रतारयेत्, दत्तावैशिकवत्, अत्र चैतत्कथानकम्—दत्तावैशिक एकया गणिकया तैस्तैः प्रकारैः प्रतार्यमाणोऽपि तां नेष्टवान्, ततस्तयोक्तम्—किं मया दौर्भाग्यकलङ्काङ्कितया जीवन्त्या प्रयोज-

नम् ?, अहं त्वत्परित्यक्ताऽग्निं प्रविशामि, ततोऽसाववोचत्—मायया इदमप्यस्ति वैशिके, तदाऽसौ पूर्वसुरङ्गामुखे काष्ठसमुदयं कृत्वा तं प्रज्वाल्य तत्रानुप्रविश्य सुरङ्गया गृहमागता, दत्तकोऽपि च इदमपि अस्ति वैशिके इत्येवमसौ विलपन्नपि धूर्तैश्चितायां प्रक्षिप्तः, तथापि नासौ तासु श्रद्धानं कृतवान् एवमन्येनापि न श्रद्धातव्यमिति ॥ २४ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) अब सूत्रकार ही स्त्रियोंका स्वभाव प्रकट करने के लिये कहते हैं—स्त्रियाँ पातालका उदरके समान अति गम्भीर अपने मनसे दूसरा सोचती हैं, और सुनने में मधुर प्रतीत होनेवाली तथा विपाक में दारुण अपनी वाणी द्वारा दूसरा भाषण करती हैं, तथा कर्म से दूसरा ही करती हैं, स्त्रियां बहुत मायावाली होती है इसलिये साधु उनपर विश्वास न करे, उनकी माया से अपने आत्माको वञ्चित न होने दे। जैसे दत्तावैशिक स्त्रीकी माया से वञ्चित नहीं हुए। इस विषय में एक कथानक है दत्तावैशिकको ठगने के लिये एक वेश्याने नाना प्रकारके उपाय किये परन्तु उन्होने उसकी कामना नहीं की, इसके पश्चात् उस वेश्याने कहा कि—दुर्भाग्यरूपी कलङ्कसे कलङ्कित मुझको जीने से क्या प्रयोजन है ? मुझको आपने छोड़दिया है इसलिये मैं अग्नि में प्रवेश करूंगी। यह सुनकर दत्तावैशिकने कहाकि—स्त्रियां माया करके अग्नि में प्रवेश भी कर सकती हैं। इसके पश्चात् उस वेश्याने सुरङ्ग के पूर्व द्वारमे काष्ठराशि इकट्ठा करके उसे जलाकर सुरंगा के द्वारा अपने घर पर चली आई। इसके पश्चात् दत्तकने कहा कि स्त्रियाँ ऐसी माया भी करती है। वह ऐसा कह रहे थे कि उनको विश्वास कराने के लिये धूर्तोंने उन्हे चितापर फेंकदिया तथापि उन्होंने स्त्रियों पर विश्वास नहीं किया। इसी तरह दूसरेको भी स्त्रियों पर विश्वास नहीं करना चाहिये। २४

(मूल) जुवती समणं बूया विचित्तलंकारवत्थगाणि परिहित्ता।
विरता चरिस्सहं रुक्खं, धम्ममाइक्ख णे भयंतारो ॥ २५ ॥

(छाया) युवतिः श्रमणं ब्रूयाद् विचित्रालङ्कारवस्त्रकाणि परिधाय
विरता चरिष्याम्यहं रुक्षं धर्ममाचक्ष्व नः भयत्रातः।

(अन्वयार्थ) (जुवती) कोई युवती स्त्री (विचित्तलंगारवत्थगाणि परिहित्ता) विचित्र

---

२ धूर्तैः वि० प०।

अलङ्कार और वस्त्र पहनकर (समणं बूया) साधु से कहे कि-(अहं विरता रुक्खं चरिस्स) मैं अब गृह बन्धन से विरक्त होकर संयम पालन करूंगी (भयंतारो) इसलिये हे भय से रक्षा करनेवाले साधो ! (णे धम्ममाइक्ख) मुझको आप धर्म सुनाइये ।

(भावार्थ) कोई युवती स्त्री विचित्र अलङ्कार और भूषण पहनकर साधु से कहे कि हे भयसे बँचानेवाले साधो ! मैं विरक्त होकर संयम पालन करुंगी इस लिये आप मुझको धर्म सुनाइये ।

(टीका) 'युवति') अभिनवयौवना स्त्री विचित्रवस्त्रालङ्कारविभूपितशरीरा मायया श्रमणं ब्रूयात्, तद्यथा-विरता अहं गृहपाशात् न ममानुकूलो भर्ता मह्यं वाऽसौ न रोचते परित्यक्ता वाऽहं तेनेत्येतत् 'चरिष्यामि' करिष्याम्यहं 'रूक्ष' मिति संयमं, मौनमिति वा कचित्पाठः तत्र मुनेरयं मौनः—संयमस्तमाचरिष्यामि, धर्ममाचक्ष्व 'णे'त्ति अस्माकं हे भयत्रातः !, यथाऽहमेवं दुखानां भाजनं न भवामि तथा धर्ममावेदयेति ॥ २५ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) कोई नवयौवना स्त्री विचित्र वस्त्र और अलंकारों से अपने शरीरको भूषित करके माया से साधुके प्रति कहे कि हे साधो ! मैं गृहपाश से विरक्त हूं, मेरा पति मेरे अनुकूल नहीं है अथवा वह मुझको पसन्द नहीं है अथवा उसने मुझको छोड़ रखा है अतः मैं संयम पालन करुंगी। कहीं कहीं 'मौनं' यह पाठ मिलता है इसका अर्थ यह है मुनिके भावको मौन कहते हैं वह संयम है उसे मैं पालूँगी इस लिये हे भयसे रक्षा 'करनेवाले साधो ! तुम मुझको धर्म सुनाओ जिससें मैं इस दुःखका पात्र न बनूं । २५

(मूल) अदु साविया पवाएणं, अहमंसि साहम्मिणी य समणाणं।
जतुकुंभे जहा उवज्जोई संवासे विदू विसीएज्जा ॥ २६॥

(छाया) अथ श्राविकाप्रवादेन, अहमस्मि साधर्मिणी श्रमणानाम्
जतुकुम्भः यथा उपज्योति, संवासे विद्वान् विपीदेत ।

(अन्वयार्थ) (अदु) इसके पश्चात् (सावियापवाएणं) श्रविका होने के बहाने से स्त्री साधु के निकट आती है (अहमंसि साहम्मिणी समणाणं) मैं श्रमणोकी साधार्मिणी हूं यह कह कर भी साधु के पास आती है। (जहा उवज्जोई जतुकुंभे) जैसे अग्नि के निकट लाखका घडा गल जाता है इसी तरह (विदू संवासे विसीएज्जा) विद्वान् पुरुष भी स्त्री के संसर्ग से शीतलविहारी होजाते हैं ।

(भावार्थ) स्त्री श्राविका होनेका वहाना वनाकर तथा मैं साधुकी साधर्मिणी हूं यह कहकर साधु के निकट आती है। जैसे आग के पास लाखका घडा गल जाता है इसी तरह स्त्रीके साथ रहने से विद्वान् पुरुष भी शीतलविहारी होजाते हैं।

(टीका अथवानेन 'प्रवादेन' व्याजेन साध्वन्तिकं योषिदुपसर्पेत्— यथाऽहं श्राविकेतिकृत्वा युष्माकं श्रमणानां साधर्मिणीत्येवं प्रपञ्चेन नेदीयसीभूत्वा कूलवालुकमिव साधुं धर्माद्भ्रंशयति, एतदुक्तं भवति—योषित्सान्निध्यं ब्रह्मचारिणो महतेऽनर्थाय, तथा चोक्तम्—"तज्ज्ञानं, तच्च विज्ञानं, तत्तपः स च संयमः। सर्वमेकपदे भ्रष्टं, सर्वथा किमपि स्त्रियः॥ १ ॥" अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह— यथा जातुषः कुम्भो 'ज्योतिषः' अग्नेः समीपे व्यवस्थित उपज्योतिर्वर्ती 'विलीयते' द्रवति, एवं योषितां 'संवासे' सान्निध्ये विद्वानपि आस्तां तावदितरो योऽपि विदितवेद्योऽसावपि धर्मानुष्ठानं प्रति 'विषीदेत' शीतलविहारी भवेदिति॥ २६ ॥ एवं तावत्स्त्रीसान्निध्ये दोषान् प्रदर्श्य तत्संस्पर्शजं दोषं दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) अथवा स्त्री साधु के पास इस वहाने से आती है कि मैं श्रविका हूं इस लिये मैं साधुओंकी साधर्मिणी हूं। ऐसा प्रपञ्च रचकर स्त्री साधु के पास आकर कुलवालुक की तरह साधुको धर्मसे भ्रष्ट कर देती है। आशय यह है कि—स्त्रीका संसर्ग ब्रह्मचारियों के लिये महान् अनर्थका कारण होता है, कहा भी है—वह ज्ञान और वह विज्ञान, वह तप और वह संयम, ये सभी एकही वार नष्ट हो गये, स्त्रियां कैसी अनर्थ की मूल हैं। इस विषय में शास्त्रकार दृष्टान्त वतलाते हैं, जैसे लाखका घडा आग के पास गल जाता है इसी तरह स्त्रीके साथ निवास करनेसे विद्वान् पुरुष जो जानने योग्य पदार्थोंको जानते हैं वे भी धर्मानुष्ठान करने में शीतलविहारी होजाते हैं फिर दूसरे पुरुषोंकी तो वातही क्या है। २६

(मूल) जतुकुंभे जोइउवगूढे, आसुऽभितत्ते णासमुवयाइ।
एविंत्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति ॥२७॥

(छाया) जतुकुम्भो ज्योतिरुपगूढः आश्वभितप्तो नाशमुपयाति,
एवं स्त्रीभिरनगाराः संवासेन नाशमुपयान्ति।

(अन्वयार्थ) (जोइउवगूढे, जतुकुंभे) जैसे अग्निसे स्पर्श किया हुआ लाहका वडा (आसुभितत्ते णासमुवयाइ) शीघ्र तप्त होकर नाशको प्राप्त होजाता है (एविंत्थियाहिं संवा-

र्गेण अणगारा) दुर्नीतिग्रह स्त्रियों के संसर्ग से अनगार पुरुष (णास मुवयंति) नाशको प्राप्त होजाते हैं ।

(भावार्थ) जैसे अग्निके द्वारा आलिङ्गन किया हुआ लाहका घड़ा चारो तर्फ से तप्त होकर शीघ्र ही गल जाता है इसी तरह अनगार पुरुष स्त्रियों के संसर्ग से शीघ्र ही नष्ट होजाते हैं ।

(टीका) यथा जातुषः कुम्भो 'ज्योतिषा' अग्निनोपगूढः-समालिङ्गितोऽभितप्तोऽग्निनाभिमुख्येन सन्तापितः क्षिप्रं 'नाशमुपयाति' द्रवीभूय विनश्यति, एवं स्त्रीभिः सार्धं 'संवसनेन' परिभोगेनानगारा नाशमुपयान्ति, सर्वथा जातुषकुम्भवत् व्रतकाठिन्यं परित्यज्य संयमशरीराद् भ्रश्यन्ति ॥ २७ ॥ अपिच—

(टीकार्थ) इस प्रकार स्त्रीके संनिधान से होनेवाले दोषोंको बताकर उसके स्पर्श से होनेवाले दोषोंको दिखाने के लिये शास्त्रकार कहते हैं—जैसे अग्नि से आलिङ्गन किया हुआ लाहका घड़ा चारो ओर से अग्नि द्वारा सन्तापित किया हुआ शीघ्र ही द्रव होकर नष्ट होजाता है इसी तरह साधु पुरुष भी स्त्रीका परिभोग करके शीघ्र ही नष्ट होजाते हैं, वे कठिन व्रतका आचरण करना छोड़कर संयम से भ्रष्ट होजाते हैं । २७

(मूल) कुव्वंति पावगं कम्मं पुट्ठा वेगेवमाहिंसु ।
नोऽहं करेमि पावंति, अंकेसाइणी ममेसत्ति ॥ २८ ॥

(छाया) कुर्वन्ति पापकं कर्म, पृष्टा एके एवमाहुः
नाऽहं करोमि पापमिति अङ्कशायिनी ममैषेति ।

(अन्वयार्थ) (एगे पावगं कम्मं कुव्वंति) कोई पाप कर्म करते हैं (पुट्ठा एवमाहिंसु) और पूछनेपर ऐसा कहते हैं (अहं पावंनो करेमित्ति) मैं पाप कर्म नहीं करता हूं (एसा मम अंके साइणीत्ति) किन्तु यह स्त्री लड़कपनमें मेरे अङ्कमे सोई है ।

(टीकार्थ) कोई भ्रष्टाचारी पुरुष पापकर्म करते हैं परन्तु आचार्यके पूछनेपर कहते हैं कि—मैं पाप कर्म नहीं करता हूं किन्तु यह स्त्री बालावस्थामें मेरे अङ्कमें सोई हुई है ।

(टीका) तासु संसाराभिष्वङ्गिणीष्वभिषक्ता अवधीरितैहिकामुष्मिकापायाः 'पापं कर्म' मैथुनासेवनादिकं 'कुर्वन्ति' विदधति, परिभ्रष्टाः सदनुष्ठानाद् 'एके' केचनोत्कटमोहा आचार्यादिना चोद्यमाना 'एवमाहुः' वक्ष्यमाणमुक्तवन्तः,

तद्यथा—नाहमेवम्भूतकुलप्रसूतः एतदकार्यं पापोपादानभूतं करिष्यामि, ममैषा दुहितृकल्पा पूर्वम् अङ्कशायिनी आसीत्, तदेषा पूर्वाभ्यासेनैव मय्येवमाचरति, न पुनरहं विदितसंसारस्वभावः प्राणात्ययेऽपि व्रतभङ्गं विधास्य इति ॥ २८ ॥ किञ्च—

(टीकार्थ) दूसरी बात यह है कि—संसार में फँसाने वाली स्त्री में आसक्त एवं उत्तम अनुष्ठान से भ्रष्ट तथा इस लोक और परलोक के नाश से नहीं डरनेवाले कोई पापकर्म करते हैं परन्तु उत्कट मोहवाले वे पुरुष आचार्य्य आदि के पूछने पर इस प्रकार कहते हैं कि मैं ऐसे कुलमें उत्पन्न नहीं हूं कि ऐसा पापका कारण स्वरूप अनुचित कर्म करुंगा। यह स्त्री मेरी पुत्रीके समान है यह बाल्य कालमें मेरे अङ्कमें सोतीथी अतः यह उस पूर्व अभ्यास के कारण ही मेरे साथ ऐसा आचरण करती है वस्तुतः मैं संसारके स्वभावको जाननेवाला हूं मैं प्राण नष्ट होनेपर भी व्रतभङ्ग नहीं करुंगा। २८

(मूल) बालस्स मंदयं बीयं, जं च कडं अवजाणई भुज्जो।
दुगुणं करेइ से पावं, पूयणकामो विसन्नेसी ॥ २९ ॥

(छाया) बालस्य मान्द्यं द्वितीयं, यच्च कृतमपजानीते भूयः
द्विगुणं करोति स पापं पूजनकामो विषण्णैषी।

(अन्वयार्थ) (बालस्स) मूर्ख पुरुषकी (बीयं मंदयं) दूसरी मूर्खता यह है कि (जंच कडं भुज्जो अवजाणई) वह किये हुए पाप कर्मको नहीं किया हुआ कहता है। (से दुगुणं पावं करेइ) अतः वह पुरुष दूना पाप करता है (पूयणकामो विसन्नेसी) वह जगत्में अपनी पूजा चाहता है और असंयम की इच्छा करता है।

(भावार्थ) उस मूर्ख पुरुषकी दूसरी मूर्खता यह है कि वह पापकर्म करके फिर उसे इनकार करता है, इस प्रकार वह दूना पाप करता है, वह संसारमें अपनी पूजा चाहता हुआ असंयम की इच्छा करता है।

(टीका) 'बालस्य' अज्ञस्य रागद्वेषाकुलितस्यापरमार्थदृश एतद्द्वितीयं 'मान्द्यं' अज्ञत्वम् एकं तावदकार्यकरणेन चतुर्थव्रतभङ्गो द्वितीयं तदपलपनेन मृषावादः, तदेव दर्शयति—यत्कृतमसदाचरणं 'भूयः' पुनरपरेण चोद्यमानः 'अप-

---

२ ममैषिका प्र०।

जानीते' अपलपति—नैतन्मया कृतमिति, स एवम्भूतः असदनुष्ठानेन तदपलपनेन च द्विगुणं पापं करोति, किमर्थमपलपतीत्याह—पूजनं—सत्कारपुरस्कारस्तत्-कामः—तदभिलाषी मा मे लोके अवर्णवादः स्यादित्यकार्यं प्रच्छादयति विषण्णः—असंयमस्तमेषितुं शीलमस्येति विषण्णैषी ॥ २९ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) रागद्वेष से आकुल बुद्धिवाले अपरमार्थदर्शी मूर्खकी यह दूसरी मूर्खता है, एकतो अकार्य करने से चतुर्थ व्रतका भङ्ग और दूसरा उस अकार्य्य को नहीं स्वीकार करके मिथ्याभाषण करना, यही शास्त्रकार दिखलाते हैं—उस मूर्खने जो बुरा अनुष्ठान किया है उसके विषयमें दूसरे के पूछनेपर उसे इनकार करता हुआ कहता है कि "मैंने यह अनुचित कार्य्य नहीं किया है" अतः वह पुरुष असत् अनुष्ठान करके और उसे इनकार करके दूना पाप करता है वह पाप करके भी क्यों इनकार करता है ? सो शास्त्रकार बतलाते हैं वह लोकमें अपनी पूजा चाहता है, लोकमें मेरी निन्दा न हो इस लिये वह अपने अकार्य्यको छिपाता है, वस्तुतः वह पुरुष असंयमको इच्छा करनेवाला है । २९

(मूल) संलोकणिज्जमणगारं, आयगयं निमंतणेणाहंसु ।
वत्थं च ताइ ! पायं वा, अन्नं पाणगं पडिग्गाहे ॥ ३० ॥

(छाया) संलोकनीयमनगार मात्मगतं निमन्त्रणेनाहुः
वस्त्रञ्च त्रायिन् पात्रंवा अन्नं पानकं प्रतिगृहाण ।

(अन्वयार्थ) (संलोकणिज्जं) देखनेमें सुन्दर (आयगतं) आत्मज्ञानी (अणगारं) साधुको (निमंतणेणाहंसु) स्त्रियां निमन्त्रण देती हुई कहती हैं कि (ताइ !) हे भवसागर से रक्षा करनेवाले साधो ! (वत्थं च पायंवा अन्नं पाणगं पडिग्गाहे) वस्त्र पात्र अन्न और पान आप मेरे से स्वीकार करें ।

(भावार्थ) देखने में सुन्दर साधुको स्त्रियां आमन्त्रण करती हुई कहती हैं कि हे भवसागर से रक्षा करनेवाले साधो ! आप मेरे यहां वस्त्र पात्र अन्न और पान ग्रहण करें ।

(टीका) संलोकनीयं—संदर्शनीयमाकृतिमन्तं कञ्चन 'अनगारं' साधुमात्मनि गतमात्मगतम् आत्मज्ञमित्यर्थः, तदेवम्भूतं काश्चन स्वैरिण्यो 'निमन्त्रणेन' निमन्त्रणपुरःसरम् 'आहुः' उक्तवत्यः, तद्यथा—हे त्रायिन् ! साधो वस्त्रं पात्रमन्यद्वा पानादिकं येन केनचिद्भवतः प्रयोजनं तदहं भवते सर्वं ददामीति मद्गृहमागत्य प्रतिगृहाण त्वमिति ॥ ३० ॥ उपसंहारार्थमाह—

(टीकार्थ) दूसरी बात यह है कि देखनेमें सुन्दर उत्तम आकृतिवाले आत्मज्ञानी साधुको कोई व्यभिचारिणी स्त्रियां आमन्त्रण करती हुई कहती हैं कि हे रक्षा करनेवाले साधो ! वस्त्र, पात्र अथवा और भी पीने योग्य वस्तु आदि जिस से आपको प्रयोजन हो वह सब मैं आपको दूंगी आप मेरे घर आकर ग्रहण करें। ३०

(मूल) णीवारमेवं बुज्झेज्जा, णो इच्छे अगारमागंतुं[३] ।
बद्धे विसयपासेहिं, मोहमावज्जइ पुणो मंदे त्तिबेमि॥३१॥

(छाया) नीवारमेवं बुध्येत, नेच्छेदगारमागन्तुम्
बद्धो विषयपाशेन मोहमापद्यते पुनर्मन्दः । इति ब्रवीमि

(अन्वयार्थ) (एवं) इसप्रकारके प्रलोभनको साधु (णीवारं बुज्झेज्जा) सूअरको फँसाने वाले चावलके दानेके समान समझे (अगार मागंतु णोइच्छे) घर आनेकी इच्छा न करे (विसयपासेहिं बद्धे मंदे) विषय पाशसे बँधा हुआ मूर्ख पुरुष (मोहमावज्जइ) मोहको प्राप्त होता है । (त्तिबेमि) यह मैं कहता हूं ।

(भावार्थ) पूर्वोक्त प्रकारके प्रलोभनोंको साधु, सूअरको लुभानेवाले चावलके दानोंके समान समझे । विषयरूपी पाशसे बँधा हुआ मूर्ख पुरुष मोहको प्राप्त होता है ।

(टीका) एतद्योपितां वस्त्रादिकमामन्त्रणं नीवारकल्पं 'बुध्येत' जानीयात्, यथा हि नीवारेण केनचिद्भक्ष्यविशेषेण सूकरादिर्वशमानीयते, एवमसावपि तेनामन्त्रणेन वशमानीयते, अतस्तन्नेच्छेद् 'अगारं' गृहं गन्तुं, यदिवा-गृहमेवावर्तो गृहावर्तो गृहभ्रमस्तं 'नेच्छेत्' नाभिलषेत्, किमिति?, यतो 'बद्धो' वशीकृतो विषया एव शब्दादयः 'पाशा' रज्जूबन्धनानि तैर्बद्धः—परवशीकृतः स्नेहपाशानपत्रोटयितुमसमर्थः सन् 'मोहं' चित्तव्याकुलत्वमागच्छति—किंकर्तव्यतामूढो भवति पौनः पुन्येन 'मन्दः' अज्ञो जड इतिः परिसमाप्तौ । ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ ३१ ॥ इति स्त्रीपरिज्ञायां प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥ ४-१ ॥

(टीकार्थ) अब इस उद्देशकका उपसंहार करने के लिये कहते हैं—स्त्रियों द्वारा किये गये वस्त्र पात्र आदि देने रूप आमन्त्रण को साधु चावल के दानेके समान समझे । जैसे

---

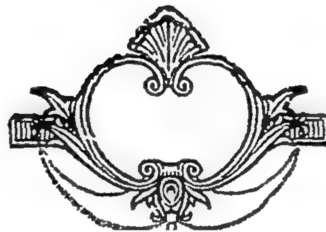
३ ०मावट्टंति पाठान्तरंभवः ।

चावलके दानोंको छिटकर शूकर आदिको वश करते हैं इसी तरह स्त्री भी वस्त्र पात्र आदि के दानरूप आमन्त्रण के द्वारा साधुको वश करती है। अतः साधु फिर उस स्त्री के घर जानेकी इच्छा न करे अथवा गृहरूपी भँवर में पडनेकी फिर इच्छा न करे। पाशके समान शब्दादि विषयों के द्वारा बँधा हुआ अज्ञ जीव, स्नेह पाशको तोडने में समर्थ नहीं होता है वह वार वार व्याकुल चित्त होता है उसे अपने कर्त्तव्यका ज्ञान नहीं होता। इति शब्द समाप्ति अर्थ में आया है ब्रवीमि यह पूर्ववत् है। ३१

इति स्त्रीपरिज्ञायाः प्रथम उद्देशः समाप्तः।

स्त्री परिज्ञाध्ययनका प्रथम उद्देशक समाप्त हुआ।

इति इत्थीपरिन्नाए पढमोद्देसो समत्तो॥ ४—१॥ (गाथाग्र. २८७)



अथ चतुर्थोपसर्गाध्ययने द्वितीयोद्देशकस्य प्रारम्भः ॥

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरोद्देशके स्त्रीसंस्तवाच्चारित्रस्खलनमुक्तं, स्खलितशीलस्य या अवस्था इहैव प्रादुर्भवति तत्कृतकर्मबन्धश्च तदिह प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

(टीकार्थ) प्रथम उद्देशक कहा गया, अब दूसरा प्रारम्भ किया जाता है, इसका सम्बन्ध यह है—इस पूर्व उद्देशक में स्त्रीके सम्पर्क से चरित्रका विगडना कहा गया है अब शील भ्रष्ट पुरुषकी जो इसी लोकमें अवस्था होती है और कर्मबन्ध होता है सो इस उद्देशक में कहाजाता है, इस सम्बन्ध से आये हुए इस उद्देशकका यह पहला सूत्र है—

(मूल) ओए सया ण रज्जेज्जा, भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा ।
भोगे समणाणं सुणेह, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे ॥१॥

(छाया) ओजः सदा न रज्येत, भोगकामी पुनर्विरज्येत
भोगे श्रमणानां शृणुत, यथा भुञ्जन्ति भिक्षव एके ।

(अन्वयार्थ) (ओए सया ण रज्जेज्जा) साधु रागद्वेष रहित होकर भोगमें कभी चित्त न लगावे । (भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा (यदि भोगमे चित्त जाय तो उसे ज्ञानके द्वारा हटादे । (भोगे समणाणं) साधुको भोग भोगना हँसीकी बात है (जह एगे भिक्खवो भुंजंति सुणेह) तोभी कोई साधु जिस प्रकार भोग भोगते है सो सुनो ।

(भावार्थ) रागद्वेप रहित साधुको भोग में चित्त नहीं लगाना चाहिये । यदि दैववश लगजाय तो ज्ञानरूपी अंकुश से मार कर उसे हटा देना चाहिये भोग भोगना साधु के लिये हँसीकी बात हे तो भी कोई साधु भोग भोगते है सो सुनो ।

(टीका) अस्य चानन्तरपरम्परसूत्रसम्बन्धो वक्तव्यः, स चायं सम्बन्धो—विपयपाशैर्मोहमागच्छति यतोऽत 'ओज एको रागद्वेपवियुतः स्त्रीपु रागं न कुर्यात्, परम्परसूत्रसम्बन्धस्तु संलोकनीयमनगारं दृष्ट्वा च यदि काचिद्योपित् साधुमशनादिना नीवारकल्पेन प्रतारयेत् तत्रौजः सन्न रज्येतेति, तत्रौजो द्रव्यतः परमाणुः भावतस्तु रागद्वेषवियुतः, स्त्रीषु रागादिहैव वक्ष्यमाणनीत्या नानाविधा विडम्बना भवन्ति तत्कृतश्च कर्मबन्धः तद्विपाकाच्चामुत्र नरकादौ तीव्रा वेदना भवन्ति यतोऽत

एतन्मत्वा भावौजः सन् 'सदा' सर्वकालं तास्वनर्थखनिषु स्त्रीषु न रज्येत, तथा यद्यपि मोहोदयात् भोगाभिलाषी भवेत् तथाप्यैहिकामुष्मिकापायान् परिगणय्य पुनस्ताभ्यो विरज्येत, एतदुक्तं भवति—कर्मोदयात्प्रवृत्तमपि चित्तं हेयोपादेयपर्यालोचनया ज्ञानाङ्कुशेन निवर्तयेदिति, तथा श्राम्यन्ति—तपसा खिद्यन्तीति श्रमणास्तेषामपि भोगा इत्येतच्छृणुत यूयं, एतदुक्तं भवति—गृहस्थानामपि भोगा विडम्बनाप्राया यतीनां तु भोगा इत्येतदेव विडम्बनाप्रायं, किं पुनस्तत्कृतावस्थाः तथा चोक्तम्—"मुण्डं शिर" इत्यादि पूर्ववत्, तथा यथा च भोगान् 'एके' अपुष्टधर्माणो 'भिक्षवो' यतयो विडम्बनाप्रायान् भुञ्जते तथोद्देशकसूत्रेणैव वक्ष्यमाणेनोत्तरत्र महता प्रबन्धेन दर्शयिष्यति, अन्यैरप्युक्तम्—"कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलः, क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालार्दितगलः। व्रणैः पूयक्लिन्नैः कृमिकुलशतैराविलतनुः, शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः ॥ १ ॥" इत्यादि, ॥ १ ॥ भोगिनां विडम्बनां दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) इस सूत्रका अनन्तर और परम्पर सूत्र के साथ सम्बन्ध कहना चाहिये। वह सम्बन्ध यह है—विषयपाश से मनुष्य मोहको प्राप्त होता है अत अकेला अर्थात् रागद्वेष रहित साधु स्त्रियोंमें राग न करे। परम्पर सूत्र के साथ सम्बन्ध यह है—देखने में सुन्दर किसी साधुको यदि कोई स्त्री पशुको लुभाने के लिये चावल के दानोंके समान भोजन आदि देकर ठगना चाहे तो साधु रागद्वेष रहित होकर उसमें अनुरक्त न होजाय। ओज दो प्रकारका होता है, द्रव्य ओज परमाणु है और भाव ओज रागद्वेष रहित पुरुष है। स्त्रीमें राग करने से इसी लोकमें आगे कहे अनुसार नाना प्रकारका कष्ट होता है और उस से कर्मबन्ध होता है तथा उस कर्मबन्ध के विपाक से नरक आदि में तीव्र पीडा भोगनी पड़ती है अतः साधु यह जानकर भाव से ओज अर्थात् रागद्वेष रहित होकर सर्वदा अनर्थकी खानि स्त्रियोंमें अनुरक्त न होवे। यदि कदाचित् मोहके उदय से साधु को भोगकी अभिलाषा हो तो इस लोक और पर लोकमें स्त्रीसंसर्ग से होनेवाले दुःखोंको विचार कर स्त्रियों से विरक्त होजाय। आशय यह है कि—कर्मके उदय से यदि चित्त स्त्रीमें प्रवृत्त होजाय तो भी त्याग करने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थोंको सोच कर साधु ज्ञान रूपी अङ्कुश से उसको हटा दे। जो तपस्या खूब करता हुआ खेदको प्राप्त होता है उसे श्रमण कहते है उन श्रमणोंका भी भोग भोगना तुम सुनो। आशय यह है कि—गृहस्थों के लिये भी भोग विडम्बनाप्राय

---

२ ऽर्पितगलः प्र० त्रि० पा० ।

है फिर यतियोंको तो कहना ही क्या है? उनको तो भोग सुतरां विडम्बनाप्राय है फिर भोग भोगने से जो अवस्था होती है उसकी तो बात ही क्या है? कहा भी है—"मुण्डं शिर" इत्यादि पूर्ववत् जानना चाहिये। तथा यह भोग विडम्बना प्राय है फिर भी इसे कोई ढीले साधु जिस प्रकार भोगते हैं सो, आगे कहे जानेवाले इस उद्देशक के सूत्रोंके द्वारा बहुत विस्तृत प्रबन्ध से शास्त्रकार दिखालावेंगे। कहा भी है—दुबला, काना, लँगडा, कानरहित, पुच्छरहित, क्षुधा से दुर्बल, ढीले अङ्गोंवाला, गलेमें लगेहुए कपाल के द्वारा पीडित, मवाद से भींगे घावों और सैकडों कीडों से भरा हुआ शरीरवाला कुत्ता कुत्ती के पीछे दौड़ता है, कामदेव मरेको भी मारता है। १

(मूल) अह तं तु भेदमावन्नं, मुच्छितं भिक्खुं काममतिवट्टं।
पलिभिंदिया णं तो पच्छा, पादुद्धट्टु मुद्धि पहणंति ॥२॥

(छाया) अथ तन्तु भेदमापन्नं मूर्च्छितं भिक्षुं काममतिवर्त्तम्
परिभिद्य तत्पश्चात् पादावुद्धृत्य मूर्ध्नि प्रघ्नन्ति।

(अन्वयार्थ) (अह भेदमावन्नं) इसके पश्चात् चारित्रसे भ्रष्ट (मुच्छितं) स्त्रीमें आसक्त (काममतिवट्टं) विषयभोगमें लग्नचित्त (तंतु भिक्खुं) उस साधुको वह स्त्री पलिभिंदियाणं अपने वशीभूत जानकर (तो पच्छा पादुद्धट्टु) अपना पैर उठाकर (मुद्धि पहणंति) उसके शिर पर पैरका प्रहार करती है

(भावार्थ) चारित्र से भ्रष्ट स्त्रीमें आसक्त, विषय भोगमें लग्नचित्त साधुको जानकर स्त्री उसके शिर पर पैरका प्रहार करती है।

(टीका) 'अथे' त्यानन्तर्यार्थः तुशब्दो विशेषणार्थः, स्त्रीसंस्तवादनन्तरं 'भिक्षुं' साधुं 'भेदं' शीलभेदं चारित्रस्खलनम् 'आपन्नं' प्राप्तं सन्तं स्त्रीषु 'मूर्च्छित' गृद्धमध्युपपन्नं, तमेव विशिनष्टि—कामेषु इच्छामदनरूपेषु मतेः—बुद्धे-र्मनसो वा वर्त्तो—वर्त्तनं प्रवृत्तिर्यस्यासौ काममतिवर्त्तः—कामाभिलाषुक इत्यर्थः, तमेवम्भूतं 'परिभिद्य' मदभ्युपगतः श्वेतकृष्णप्रतिपत्ता मद्वशक इत्येवं परिज्ञाय यदिवा—परिभिद्य—परिसार्यात्मकृतं तत्कृतं चोच्चारयति, तद्यथा—मया तव लुञ्चितशिरसो जल्लमलाविलतया दुर्गन्धस्य जुगुप्सनीयकक्षावक्षोबस्तिस्थानस्य कुल-शीलमर्यादालज्जाधर्मादीन् परित्यज्यात्मा दत्तः त्वं पुनरकिञ्चित्कर इत्यादि भणि-

---

१ ध्यान प्र०।

त्वा, प्रकुपितायाः तस्या असौ विषयमूर्च्छितस्तत्प्रत्यायनार्थं पादयोर्निपततति, तदुक्तम्—"व्याभिन्नकेसरबृहच्छिरसश्चसिंहा, नागाश्च दानमदराजिकृशैः कपोलैः। मेधाविनश्च पुरुषाः समरे च शूराः, स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति ॥ १ ॥" ततो विषयेष्वेकान्तेन मूर्च्छित इति परिज्ञानात् पश्चात् 'पादं' निजवामचरणम् 'उद्धृत्य' उत्क्षिप्य 'मूर्ध्नि' शिरसि 'प्रघ्नन्ति' ताडयन्ति, एवं विडम्बनां प्रापयन्तीति ॥ २ ॥ अन्यच्च—

(टीकार्थ) भोगमें आसक्त पुरुषकी दुर्दशा दिखाने के लिये शास्त्रकार कहते हैं—अथ शब्दका अनन्तर अर्थ है, तु शब्द विशेषणार्थक है, स्त्रीके साथ सम्पर्क होने के पश्चात् चारित्र से भ्रष्ट और स्त्रीमें आसक्त एवं इच्छामदनरूप काम भोगमें जिसके मनकी प्रवृत्ति है, ऐसे साधुको जब स्त्री जान जाती है कि मैं जिसको श्वेत या काला कहूंगा उसे यहभी ऐसा ही कहेगा क्योंकि यह मेरे वश है अथवा वह अपने किये हुए कार्य्यको खूब साधु पर आभार देती हुई और उस साधु के किये कार्यको कहती है जैसे कि—तुम लुञ्चित शिर हो और पसीना तथा मलसे भरा हुआ तुम्हारा काँख, छाती, और वस्तिस्थान दुर्गन्ध हैं तथापि मैंने अपना कुल, शील मर्य्यादा, लज्जा और धर्म आदिको छोड़कर अपना शरीर तुमको अर्पण कर दिया है परन्तु तुम मेरे लिये कुछ भी नहीं करते हो, इस प्रकार कहती हुई क्रोधित उस स्त्रीको प्रसन्न करने के लिये विषय मूर्च्छित वह साधु उसके पैर पर गिरता है। कहा भी है (व्याभिन्न) अर्थात् जिसके ऊपर केसर (बाल) खूब घने उत्पन्न हुए हैं अतएव विशाल शिरवाले सिंह और दान जल से जिसका कपोल दुर्बल हो गया है ऐसे हाथी तथा मेधावी पुरुष और समरमें शूरवीर पुरुष स्त्रीके सामने अत्यन्त कायर होजाते हैं। जब वह स्त्री जानजाती है कि यह साधु विषयमें अत्यन्त मूर्च्छित है तब वह अपना वाम पैर उठाकर उसके शिरपर प्रहार करती है। इस प्रकार वह उस साधुकी दुर्गति करती है। २

(मूल) जइ केसिआ णं मए भिक्खू, णो विहरे सह णमित्थीए।
केसाणविह लुंचिस्सं, नन्नत्थ मए चरिज्जासि ॥ ३ ॥

(छाया) यदि केशिकया मया भिक्षो ! नो विहरेः सहस्त्रिया
केशानिह लुंचिष्यामि नान्यत्र मया चरेः।

---

२ निपनति' प्र० ।

(अन्वयार्थ) (जइ) यदि (केसिया) केशवाली (मए) मुझ (इत्थीए) स्त्रीके साथ (भिक्खू) हे साधो ! (णो विहरे) नहीं विहार कर सकते तो (इह) इसी जगह (केसाणं लुंचिस्सं) केशोंका मैं लोच करदूंगी। (मए नन्नत्थ चरेज्जासि) तूं मेरे विना किसी दूसरे स्थानपर विहार मत करो।

(भावार्थ) स्त्री कहती है कि भिक्षो ! यदि मुझ केशवाली स्त्रीके साथ विहार करने में तूं लज्जित होता है तो मैं इसी जगह अपने केशोंको उखाड फेंकूंगी परन्तु मेरे विना तूं किसी दूसरी जगह न जाओ।

(टीका) केशा विद्यन्ते यस्याः सा केशिका णमिति वाक्यालङ्कारे, हे भिक्षो! यदि मया 'स्त्रिया' भार्यया केशवत्या सह नो विहरेस्त्वं, सकेशया स्त्रिया भोगान् भुञ्जानो व्रीडां यदि वहसि ततः केशानप्यहं त्वत्सङ्गमाकाङ्क्षिणी 'लुञ्चिष्यामि' अपनेष्यामि, आस्तां तावदलङ्कारादिकमित्यपिशब्दार्थः, अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद-न्यदपि यद् दुष्करं विदेशगमनादिकं तत्सर्वमहं करिष्ये, त्वं पुनर्मया रहितो नान्यत्र चरेः, इदमुक्तं भवति—मया रहितेन भवता क्षणमपि न स्थातव्यम्, एता-वदेवाहं भवन्तं प्रार्थयामि, अहमपि यद्भवानादिशति तत्सर्वं विधास्य इति ॥ ३ ॥ इत्येवमतिपेशलैर्विश्रम्भजननैरापातभद्रकैरालापैर्विश्रम्भयित्वा यत्कुर्वन्ति तद्दर्श-यितुमाह—

(टीकार्थ) जिसको केश होते हैं उसे केशिका कहते हैं 'णं' शब्द वाक्यालङ्कार में आया है। स्त्री कहती है कि हे साधो ! यदि मुझ केशवाली स्त्री के साथ तूं विहार नहीं कर-सकते, अर्थात् मुझ केशवाली स्त्रीके साथ भोग करने में तूं यदि लज्जित होता है तो मैं तुम्हारे सङ्गकी इच्छासे अपने केशोंका लोच कर दूंगी फिर दूसरे भूषणोंकी तो बातही क्या है ? यह अपि शब्दका अर्थ है। यह केशोंका लोच उपलक्षण मात्र है इसलिये और भी दूसरा विदेश गमन आदि जो दुष्कर कर्म है वह सब मैं सहन करुंगी परन्तु तुम मेरे विना अन्यत्र कहीं मत जाओ। आशय यह है कि मेरे विना तुम क्षणभर भी न रहो यही मैं आप से प्रार्थना करती हूं आप जो कुछ मुझको आज्ञा देंगे वह सब मैं करुंगी। ३

(मूल) अह णं से होई उवलद्धो, तो पेसंति तहाभूएहिं।
अलाउच्छेदं पेहेहि, वग्गुफलाइं आहराहित्ति ॥ ४ ॥

(छाया) अथ स भवत्युपलब्ध स्ततः प्रेषयन्ति तथाभूतैः
अलाबूच्छेदं प्रेक्षस्व वल्गुफलान्याहर इति।

(अन्वयार्थ) (अह) इसके पश्चात् (से उवलद्धो होइ) यह साधु मेरे वशमें हो गया है यह जब स्त्री जानलेती है (तो पेसंती तहाभूएहिं) तो वह उस साधुको दासके समान अपने कार्यमें प्रेरित करती है । (अलाउच्छेदं पेहेहि) वह कहती है कि तुम्बा काटनेके लिये छुरी ले आवो । (वग्गुफलाइं आहराहित्ति) तथा मेरे लिये अच्छे फल लावो ।

(भावार्थ) साधुकी चेष्टा और आकार आदि के द्वारा जब स्त्री यह जानलेती है कि यह मेरे वश में हो गया है तो वह अपने नोकर के समान कार्य्य करने के लिये उसे प्रेरित करती है । वह कहती है कि तुम्पा काटने के लिये छुरी लावो तथा मेरे लिये उत्तमोत्तम फल लाओ ।

(टीका) 'अथे'त्यानन्तर्यार्थः, णमिति वाक्यालङ्कारे, विश्रम्भालापानन्तरं यदाऽसौ साधुर्मदनुरक्त इत्येवम् 'उपलब्धो' भवति-आकारैरिङ्गितैश्चेष्टया वा मद्वशग इत्येवं परिज्ञातो भवति ताभिः स्त्रीभिः, ततः तदभिप्रायपरिज्ञानादुत्तरकालं 'तथाभूतैः' कर्मकरव्यापारैरपशब्दैः 'प्रेषयन्ति' नियोजयन्ति यदिवा-तथाभूतैरिति लिङ्गस्थयोग्यैर्व्यापारैः प्रेषयन्ति, तानेव दर्शयितुमाह—'अलाउ'त्ति अलाबु—तुम्बं छिद्यते येन तदलाबुच्छेदं—पिप्पलकादि शस्त्रं 'पेहाहि'त्ति प्रेक्षस्व निरूपय लभस्वेति, येन पिप्पलकादिना लब्धेन पात्रादेर्मुखादि क्रियत इति, तथा 'वल्गूनि' शोभनानि 'फलानि' नालिकेरादीनि अलाबुकानि वा त्वम् 'आहर' आनयेति, यदिवा-वाक्फलानि च धर्मकथारूपाया व्याकरणादिव्याख्यानरूपाया वा वाचो यानि फलानि—वस्त्रादिलाभरूपाणि तान्याहरेति ॥ ४ ॥ अपिच—

(टीकार्थ) पूर्वगाथाओंमें कहे अनुसार अतिमनोहर विश्वासजनक थोड़ी देर के लिये सुन्दर वचनों से साधुको विश्वास उत्पन्न करके स्त्रियाँ जो करती हैं उसे दिखाने के लिये शास्त्रकार कहते हैं । अथ शब्द आनन्तर्य्य अर्थ में आया है 'णं' शब्द वाक्यालङ्कार में है । विश्वासजनक आलाप के पश्चात् जब स्त्रियां साधु के आकार इङ्गित और चेष्टाओं से यह जानलेती हैं कि यह साधु मेरे में अनुरक्त है तब कपट नाटक खेलने में अति निपुण स्त्रियां नोकर के समान छोटे से छोटे कार्य्य में साधुको नियुक्त करती हैं । अथवा साधु के लिङ्गमें रहनेवाले पुरुष के योग्य कार्य्यमें नियुक्त करती हैं । उन्हीं कार्य्योंको दिखाने के लिये शास्त्रकार कहते हैं—जिसे तुम्बा काटा जाता है उसे अलाबुच्छेद कहते हैं, वह छुरी आदि शस्त्र हैं, स्त्री कहती है कि—हे साधो ! छुरी आदि शस्त्र ले आवो जिससे पात्रका मुख

---

१ शब्दैः प्र० खेटं पापमपशब्दमिति हेमः ।

आदि बनाया जाय, तथा नारियल आदि अथवा तुम्बा आदि फल लाओ। अथवा धर्म कथा रूप वाणी अथवा व्याकरण आदिका व्याख्यान रूप वाणीका फल जो वस्त्रादि लाभ हैं उन्हें लाओ। ४

(मूल) दारूणि सागपागाए, पज्जोओ वा भविस्सती राओ।
पाताणि य मे रयावेहि, एहि ता मे पिट्ठओमद्दे ॥ ५ ॥

(छाया) दारूणि शाकपाकाय, प्रद्योतो वा भविष्यति रात्रौ
पात्राणि च मे रञ्जय एहि तावन्मे पृष्ठं मर्दय।

(अन्वयार्थ) (सागपागाए) शाक पकाने के लिये (दारूणि) लकडी लाओ (पज्जोओवा भविस्सति) रातमें प्रकाश के लिये तेल आदि लाओ। (मे पाताणि रयावेहि) मेरे पात्रोंको अथवा पैरको रंगदो। (एहि) आवो (ता मे पिट्ठओ मद्दय) मेरी पीठ मलदो।

(भावार्थ) हे साधो! शाक पकाने के लिये लकडी लाओ, रात में प्रकाश के लिये तेल लाओ। मेरे पात्रों को अथवा मेरे पैरों को रँगदो। इधर आवो मेरी पीठ मलदो।

(टीका) तथा 'दारूणि' काष्ठानि शाकं टक्कवस्तुलादिकं पत्रशाकं तत्पाकार्थं, क्वचिद् अन्नपाकायेति पाठः, तत्रान्नम्--ओदनादिकमिति, 'रात्रौ' रजन्यां प्रद्योतो वा भविष्यतीतिकृत्वा, अतो अटवीतस्तमाहरेति, तथा--[ग्रन्थाग्रम् ३५००] 'पात्राणि' पतद्ग्रहादीनि 'रञ्जय' लेपय, येन सुखेनैव भिक्षाटनमहं करोमि, यदिवा-पादावलक्तकादिना रञ्जयेति, तथा-परित्यज्यापरं कर्म तावद् 'एहि' आगच्छ 'मे' मम पृष्ठम् उत्-प्राबल्येन मर्दय बाधते ममाङ्गमुपविष्टाया अतः संबाधय, पुनरपरं कार्यशेषं करिष्यसीति ॥ ५ ॥ किञ्च--

(टीकार्थ) हे साधो! शाक अर्थात् टक्क वस्तुल (बथुआ) आदि पत्रशाक पकाने के लिये लकडी लाओ। कहीं "अन्नपाकाय" यह पाठ है अर्थात् भात आदि अन्न पकाने के लिये अथवा रात में प्रकाश करने के लिये जङ्गल से लकडी लाओ। मेरे पात्रोंको रँगदो जिस से मैं सुखपूर्वक भिक्षाटन करुंगी। अथवा मेरे पैरोको महावरसे रँगदो। दूसरे कामोंको छोड़कर इधर आवो मेरी पीठ मलदो, बैठे बैठे मेरे अङ्गोंमें दर्द हो गया है इस लिये पहले मेरे अङ्गो को मर्दन करो पीछे दूसरा कार्य्य करना। ५

(मूल) वत्थाणि य मे पडिलेहेहि, अन्नं पाणं च आहराहित्ति ।
गंधं च रओहरणं च, कासवगं च मे समणुजाणाहि ॥ ६॥

(छाया) वस्त्राणि च मे प्रत्युपेक्षस्व, अन्नं पानञ्च आहर इति
गन्धञ्च रजोहरणञ्च काश्यपञ्च मे समनुजानीहि ।

(अन्वयार्थ) (वत्थाणि मे पडिलेहेहि) हे साधो ! मेरे वस्त्र पुराने होगये हैं इसलिये दूसरे नये कपडे लाओ। अथवा मेरे कपडे मैले हो गये हैं उन्हें धोबीको देदो । अथवा मेरे कपडोंकी सम्हाल करो जिसमें चूहे न खावें (अन्नं पानं च आहराहित्ति) मेरे लिये अन्न और जल माँगलाओ । (गंधं रयोहरणञ्च) मेरे लिये कपूर आदि सुगन्ध पदार्थ और रजोहरण लाओ (मे कासवयं समणुजाणीहि) मैं लोचकी पीडा नहीं सह सकती हूं इसलिये मुझको नाई से बाल कटाने की आज्ञा दो ।

(भावार्थ) हे साधो ! मेरे कपडे पुराने हो गये हैं इस लिये मुझको नये कपडे लाकर दो मेरे लिये अन्न और जल लाओ । तथा गन्ध और रजोहरण लाकर मुझको दो । मैं लोचकी पीडा नहीं सहसकती हूं इसलिये मुझको नाई से बाल कटानेकी आज्ञा दो ।

(टीका) 'वस्त्राणि च' अम्बराणि 'मे' मम जीर्णानि वर्तन्तेऽतः 'प्रत्युपेक्षस्व' अन्यानि निरूपय, यदिवा—मलिनानि रजकस्य समर्पय, मदुपधिं वा मूषिकादिभयात्प्रत्युपेक्षस्वेति, तथा अन्नपानादिकम् 'आहर' आनयेति, तथा 'गन्धं' कोष्टपुटादिकं ग्रन्थं वा हिरण्यं तथा शोभनं रजोहरणं तथा लोचं कारयितुमहमशक्तेत्यतः 'काश्यपं' नापितं मच्छिरोमुण्डनाय श्रमणानुजानीहि येनाहं बृहत्केशानपनयामीति ॥ ६ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) मेरे कपडे पुराने हो गये हैं इसलिये दूसरे कपडे मुझको लादो । अथवा मेरे कपडे मैले हो गये हैं, इन्हें धोबीको देदो, अथवा हमारे वस्त्र आदि उपकरणोंको चूहों के भय से बचाकर रखो । मेरे लिये अन्नपान आदि लाओ । तथा कोष्टपुट आदि गन्ध अथवा ग्रन्थ, यानी सोना चाँदी मेरे लिये लाओ । मुझे सुन्दर रजोहरण लाकर दो मैं अपने केशोंका लोच करनेमें असमर्थ हूं इसलिये मेरा शिर मुण्डन करने के लिये हे साधो ! नाईको आज्ञा दो ताकि मैं अपने बडे केशोंको कटा डालूं । ६

२ गंधं इति स्यात्पाठान्तरम् ।

(मूल) अदु अंजणिं अलंकारं, कुक्कयंयं मे पयच्छाहि ।
लोद्धं च लोद्धकुसुमं च, वेणुपलासियं च गुलियं च ॥७॥

(छाया) अथाञ्जनिकामलङ्कारं, खुंखुणकं मे प्रयच्छ
लोध्रश्च लोध्रकुसुमञ्च वेणुपलाशिकाञ्च गुलिकाञ्च ।

(अन्वयार्थ) (अदु अंजणिं अलंकारं कुक्कयं मे पयच्छाहि) हे साधो ! मुझको अञ्जनका पात्र, भूषण तथा घूघूरूदार वीणा लाकर दो । (लोद्धं च लोद्धकुसुमं च) लोध्रका फल और लोध्रका फूलभी लादो (वेणुपलासियं च गुलियंच) एवं एक बाँसकी लकडी और पौष्टिक औषधकी गोलीभी लाओ ।

(भावार्थ) स्त्री में अनुरक्त साधु से स्त्री कहती है कि हे साधो ! मुझको अञ्जनका पात्र भूषण तथा घुघूरूदार वीणा लाकर दो तथा लोध्रका फल और फूल लाओ एवं एक बाँसकी लकडी और पौष्टिक औषधकी गोली भी लाओ ।

(टीका) अथशब्दोऽधिकारान्तरप्रदर्शनार्थः पूर्वं लिङ्गस्थोपकरणान्यधिकृत्याभिहितम्, अधुना गृहस्थोपकरणान्यधिकृत्याभिधीयते, तद्यथा—'अंजणिमि'ति अञ्जणिकां कज्जलाधारभूतां नलिकां मम प्रयच्छस्वेत्युत्तरत्र क्रिया, तथा कटककेयूरादिकमलङ्कारं वा, तथा 'कुक्कयंयं'ति खुंखुणकं 'मे' मम प्रयच्छ, येनाहं सर्वालङ्कारविभूषिता वीणाविनोदेन भवन्तं विनोदयामि, तथा लोध्रं च लोध्रकुसुमं च, तथा 'वेणुपलासियं'ति वंशात्मिका श्लक्ष्णत्वक् काष्ठिका, सा दन्तैर्वामहस्तेन प्रगृह्य दक्षिणहस्तेन वीणावद्वाद्यते, तथौषधगुटिकां तथाभूतामानय येनाहमविनष्टयौवना भवामीति ॥ ७ ॥ तथा कुष्टम्—

(टीकार्थ) अथ शब्द दूसरा अधिकार बताने के लिये आया है । पहले साधु के लिङ्गमें रहनेवाले पुरुष के उपकरणों के विषयमें कहा है अब गृहस्थोंका उपकरण के विषय में कहते हैं । स्त्री कहती है कि हे प्रिय ! मुझको कज्जल रखने के लिये एक नली (पात्र) लाकर दो (यहां प्रयच्छस्व) यह क्रियापद आगे के चरण में है । तथा कटक और केयूर आदि अलङ्कार मुझको लाकर दो । हे प्रिय ! मुझको एक घूघूरुदार वीणा लाकर दो जिस से मैं सभी अलङ्कारों से भूषित होकर वीणा के विनोद से आपको प्रसन्न करूंगी । तथा मुझको लोध्र और लोध्रका फूल लाकर दो एवं चिक्कन छाल वाली बाँसकी एक वंशी लाकर दो जो दाँतों से

---

१ घर्घरमिति चि० प० । २ भिण्टलिजाए प्र० ।

वाम हाथ के द्वारा पकडकर दक्षिण हस्त से वीणा के समान बजाई जाती है तथा मुझको पौष्टिक औषधकी ऐसी गोली लाकर दो कि मैं सदा युवती बनी रहूं । ७

(मूल) कुट्ठं तगरं च अगरुं, संपिट्ठं सम्मं उसिरेणं ।
तेल्लं मुहभिलिजाए, वेणुफलाइं सन्निधानाए ॥ ८ ॥

(छाया) कुष्टं तगरञ्चागुरुं, सम्पिष्टं सममुशीरेण
तैलं मुखाभ्यङ्गाय, वेणुफलानि सन्निधानाय ।

(अन्वयार्थ) (कुट्ठं तगरं अगरुं) हे प्रिय ! कुष्ट तगर और अगर (उसीरेण सम्मं संपिट्ठं) उशीर (खस) के साथ पीसे हुए मुझको लाकर दो । (मुहभिजाए तेल्लं) तथा मुखमें लगाने के लिये तेल और (संनिधानाए वेणुफलाइं) वस्त्रादि रखने के लिये बाँसकी बनी हुई एक पेटी लावो ।

(भावार्थ) स्त्री कहती है कि हे प्रिय ! उशीर के जलमें पीसा हुआ कुष्ट तगर और अगर लाकर मुझको दो । तथा मुख में लगाने के लिये तेल और कपडा वगैरह रखने के लिये बाँसकी बनी हुई एक पेटी लाओ ।

(टीका) उत्पलकुष्टं तथाऽगरं तगरं च, एते द्वे अपि गन्धिकद्रव्ये, एतत्कुष्ठादिकम् 'उशीरेण' वीरणीमूलेन सम्पिष्टं सुगन्धि भवति यतस्तत्तथा कुरु, तथा 'तैलं' लोध्रकुङ्कुमादिना संस्कृतं मुखमाश्रित्य 'भिलिंजए'त्ति अभ्यङ्गाय ढौकयस्व, एतदुक्तं भवति-मुखाभ्यङ्गार्थं तथाविधं संस्कृतं तैलमुपाहरेति, येन कान्त्युपेतं मे मुखं जायते, 'वेणुफलाइं'ति वेणुकार्याणि करण्डकपेटुकादीनि सन्निधिः सन्निधानं—वस्त्रादेर्व्यवस्थापनं तदर्थमानयेति ॥ ८ ॥ किञ्च—

(टीकार्थ) कुष्ट कमलकुष्ट को कहते हैं तथा अगर और तगर ये भी दो सुगन्धि द्रव्य हैं, ये सब कुष्ट आदि सुगन्धि द्रव्य उशीर के जड़ में पीसे हुए सुगन्ध होते हैं इस लिये हे स्वामिन् तुम इन सबोंको उशीरके जड़ के साथ पीसो । तथा लोध्रके फूल आदि के द्वारा सुगन्ध किया हुआ तेल मुखमें लगाने के लिये लाओ । आशय यह है कि मुखमें लगाने के लिये इस प्रकारका तेल लाओ जिससे मेरा मुख कान्तियुक्त हो जाय । तथा मेरे कपडोंको रखने के लिये बाँसकी बनी हुई पेटी आदि लाओ । ८

२ कुक्कुइयं प्र० । ४ भिजाए । भिंइजाए० प्र० ।

(मूल) नंदीचूण्णगाइं पाहराहि, छत्तोवाणहं च जाणाहि ।
सत्थं च सूवच्छेज्जाए, आणीलं च वत्थयं रयावेहि॥ ९ ॥

(छाया) नन्दीचूर्णं प्राहर, छत्रोपानहौ च जानीहि
शस्त्रञ्च सूपच्छेदाय आनीलञ्च वस्त्रं रञ्जय ।

(अन्वयार्थ) (नंदीचुण्णगाइं पाहराहि) ओठ रंगनेकेलिये चूर्ण लाओ । (छत्तोपानहं च जाणाहि) छत्ता और जूता लाओ (सूवच्छेदाए सत्थं च) तथा शाक काटनेके लिये शस्त्र यानी छुरी लाओ (आनीलं च वत्थं रयावेहि) तथा नील वस्त्र रंगाकर लाओ ।

(भावार्थ) स्त्री अपने में अनुरक्त पुरुष से कहती है कि—हे प्रियतम ! मुझको ओठ रँगने के लिये चूर्ण लाओ तथा छाता जूता और शाक काटने के लिये छुरी लाओ मुझको नीलवस्त्र रँगाकर लादो ।

(टीका) 'नन्दीचुण्णगाइं' ति द्रव्यसंयोगनिष्पादितोष्ठम्रक्षणचूर्णोऽभिधीयते, तमेवम्भूतं चूर्णं प्रकर्षेण—येन केनचित्प्रकारेण 'आहर' आनयेति, तथाऽऽतपस्य वृष्टेर्वा संरक्षणाय छत्रं तथा उपनहौ च ममानुजानीहि, न मे शरीरमेभिर्विना वर्तते ततो ददस्वेति, तथा 'शस्त्रं' दात्रादिकं 'सूपच्छेदाय' पत्रशाकच्छेदनार्थं ढौकयस्व, तथा 'वस्त्रम्' अम्बरं परिधानार्थं गुलिकादिना रञ्जय यथा आनीलम्–ईषन्नीलं सामस्त्येन वा नीलं भवति, उपलक्षणार्थत्वाद्रक्तं वा यथा भवतीति ॥ ९ ॥ तथा—

(टीकार्थ) द्रव्यों के संयोग से बने हुए ओठ रँगने के चूर्णको 'नंदीचूर्णक' कहते हैं, ऐसा चूर्ण तुम जिस किसी प्रकारभी लाओ । तथा धूप और वर्षा से शरीरकी रक्षा करने के लिये छत्ता और जूता पहनने की मुझको आज्ञा दो । मेरा शरीर इनके विना ठीक नहीं रहता है इस लिये मुझको ये चीजें लादो । तथा पत्ता शाक काटने के लिये चाकू आदि शस्त्र लाकर दो एवं मेरे पहनने के लिये कपडा रँगदो जिस प्रकार मेरा वस्त्र थोडा नील अथवा पूरा नील अथवा उपलक्षण होनेसे कुछ रक्त वर्ण होजाय ऐसा रँगदो । ९

(मूल) सुफणिं च सागपागाए, आमलगाइं दगाहरणं च ।
तिलगकरणिमंजणसलागं, घिंसु मे विहूणयं विजाणेहि १०

(छाया) सुफणिश्च शाकपाकाय आमलकान्युदकाहरणञ्च
तिलककरण्यञ्जन शलाकां ग्रीष्मे विधूनकमपि जानीहि ।

(अन्वयार्थ) (सागपाकाए सुफणिं) हे प्रियतम ! शाक पकाने के लिये तपेली (वटलोई) लाओ (आमलगाइं दगाहरणं च) आँवला तथा जल रखनेका पात्र लाओ । (तिलक करणिमंजनसलागं) तिलक और अञ्जन लगानेके लिये सलाई लाओ । (घिसुमे विहूणयं जानीहि) तथा गर्मीमें हवा करनेके लिये पंखा लाओ ।

(भावार्थ) स्त्री शीलभ्रष्ट पुरुष से कहती है कि हे प्रियतम ! शाक पकाने के लिये तपेली लाओ तथा आँवला, जल रखनेका पात्र, तिलक और अंजन लगाने की सलाई एवं गर्मी में हवा करने के सिये पंखा लाकर मुझको दो ।

(टीका)सुष्ठु सुखेन वा फण्यते—क्वाथ्यते तक्रादिकं यत्र तत्सुफणि-स्थालीपिठरादिकं भाजनमभिधीयते तच्छाकपाकार्थमानय, तथा 'आमलकानि' धात्रीफलानि स्नानार्थं पित्तोपशमनायाभ्यवहारार्थं वा तथोदकमाह्रियते येन तदुदकाहरणं—कुटवर्धनिकादि, अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद् घृततैलाद्याहरणं सर्वं वा गृहोपस्करं ढौकयस्वेति, तिलकः क्रियते यया सा तिलककरणी-दन्तमयी सुवर्णात्मिका वा शलाका यया गोरोचनादियुक्तया तिलकः क्रियत इति, यदिवा गोरोचनया तिलकः क्रियते (इति) सैव तिलककरणीत्युच्यते, तिलका वा क्रियन्ते-पिष्यन्ते वा यत्र सा तिलककरणीत्युच्यते, तथा अञ्जनं-सौवीरकादि शलाका-अक्ष्णोरञ्जनार्थं शलाका अञ्जनशलाका नामाहरेति । तथा 'ग्रीष्मे' उष्णाभितापे सति 'मे' मम विधुनकं' व्यजनकं विजानीहि ॥ १० ॥ एवं—

(टीकार्थ) जिसमें सुख पूर्वक तक्र आदि पदार्थ पकाये जाते हैं उसे सुफणी कहते हैं, वटलोई और तपेली आदि भाजनोंको सुफणि कहते हैं । वह भाजन शाक पकानेके लिये लाओ । एवं स्नान करने के लिये तथा पित्तकी शान्ति के निमित्त, खानेके लिये आंवला लाओ । पानी रखने के लिये वर्तन लाओ । यह उपलक्षण रूप से कहा गया है इसलिये घी और तेल रखने के लिये पात्र तथा सभी घरके उपकरण लाओ । जिससे तिलक किया जाता है उसे तिलककरणी कहते हैं । दांतकी बनी हुई या सोनेकी बनी हुई सलाई होती है जिस से गोरोचन आदि लगाकर तिलक किया जाता है अथवा गोरोचनाको 'तिलक करणी' कहते हैं, अथवा जिसमें तिलक पीसा जाता है उसे तिलककरणी कहते हैं तथा आंख में अञ्जन लगाने के लिये जो सलाई होती है उसे अञ्जनशलाका कहते हैं, इन सब चीजोंको लाओ । तथा गर्मीके तापकी शान्ति के लिये मुझको पंखा लाकर दो । १०

(मूल) संडासगं च फणिहं च, सीहलिपासगं च आणाहि ।
आदंसगं च पयच्छाहि, दंतपक्खालणं पवेसाहि ॥ ११ ॥

(छया) संडासिकञ्च फणिहं च, सीहलिपाशकञ्चानय
आदर्शकञ्च प्रयच्छ दन्तप्रक्षालनकं प्रवेशय ।

(अन्वयार्थ) (संडासिकञ्च) कांखके केशोंको उपाडनेके लिये चिपीया लाओ । (फणिहंच) तथा केश संवारनेके लिये कंघी लाओ । सीहलिपासगंच) चोटी बांधनेके लिये ऊनकी बनीहुई (आंटी), (आणाहि) लाकर दो । (आदंसगंच पयपक्खालणे पवेसाहि) दांत साफ करनेके लिये दन्तमञ्जन लाओ ।

(भावार्थ) स्त्री कहती है कि हे प्रियतम ! नाक के केशों को उपाडने के लिये चिपीया लाओ, केश सँवारने के लिये कँघी और चोटी बाँधने के लिये ऊनकी बनी आँटी, मुख देखने के लिये दर्पण तथा दाँत साफ करने के लिये दन्तमज्जन लाओ ।

(टीका) 'संडासकं' नासिकाकेशोत्पाटनं 'फणिहं' केशसंयमनार्थं कङ्कतकं, तथा 'सीहलिपासगं'ति वेणीसंयमनार्थमूर्णामयं कङ्कणं च 'आनय' ढौकयेति, एवम् आ–समन्ताद्दृश्यते आत्मा यस्मिन् स एव आदर्शकस्तं 'प्रयच्छ' ददस्वेति. तथा दन्ताः प्रक्षाल्यन्ते—अपगतमलाः क्रियन्ते येन तद्दन्तप्रक्षालनं–दन्तकाष्ठं तन्ममान्तिके प्रवेशयेति ॥ ११ ॥

(टीकार्थ) जिससे नाक के केश उपाडे जाते हैं उसे संडासक कहते हैं तथा जिस से केश सँवारे जाते हैं उसे फणिह कहते हैं फणिह नाम कँघीका है तथा चोटी बाँधने के लिये ऊनके बने हुए कङ्कणको सीहलिपाशक कहते हैं, ये सब लाकर मुझको दो । जिसमें चारो तर्फ से अपना शरीर देखा जाता है उसे आदर्श कहते हैं आदर्शको ही आदर्शक कहते हैं आदर्शक नाम दर्पणका है वह मुझको लाकर दीजिये । जिसके द्वारा दाँत के मल दूर किये जाते हैं उसे दन्तप्रच्छालनक कहते हैं वह दातुन अथवा दाँतकामज्जन है वह मेरे पास लाओ । ११

(मूल) पूयफलं तंबोलयं, सूईसुत्तगं च जाणाहि ।
कोसं च मोयमेहाए, सुप्पुक्खलगं च खारगालणं च॥१२॥

(छाया) पूगीफलं ताम्बूलं, सूचिसूत्रञ्च जानीहि
कोशंच मोचमेहाय, शूर्पोखलञ्च क्षारगालनकम् ।

(अन्वयार्थ) (पूयफलं तम्बोलयं) सोपारी पान (सुईसुत्तगं च जाणीहि) तथा सुई सूत लाओ । (मोयमेहाय कोसंच) पेसाब करने के लिये पात्र (सुप्पुक्खलगंच) सूप और ऊखली (खार गालणंच) खार गलानेका वर्तन शीघ्र लाकर दो ।

(भावार्थ) स्त्री, कहती है कि हे प्रियतम ! पान, सोपारी, सूई सूत, पेसाब करने के लिये वर्तन, सूप, ऊखली, एवं खार गलानेका वर्तन लाकर दो ।

(टीका) पूगफलं प्रतीतं 'ताम्बूलं' नागवल्लीदलं तथा सूचीं च सूत्रं च सूच्यर्थं वा सूत्रं 'जानीहि' ददस्वेति, तथा 'कोशम्' इति वारकादिभाजनं तत् मोचमेहाय समाहर, तत्र मोचः—प्रस्रवणं कायिकेत्यर्थः तेन मेहः—सेचनं तदर्थं भाजनं ढौकय, एतदुक्तं भवति—बहिर्गमनं कर्तुमहमसमर्था रात्रौ भयाद्, अतो मम यथा रात्रौ बहिर्गमनं न भवति तथा कुरु, एतच्चान्यस्याप्यधमतमकर्तव्यस्योपलक्षणं द्रष्टव्यं, तथा 'शूर्पं' तन्दुलादिशोधनं तथोदूखलं तथा किञ्चन क्षारस्य—सर्जिकादेर्गालनकमित्येवमादिकमुपकरणं सर्वमप्यानयेति ॥१२॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) पूगीफल प्रसिद्ध है, सोपाडी को पूगीफल कहते हैं, नागरवेल के पत्तेको ताम्बूल (पान)कहते हैं तथा सूई और सूता अथवा सूईमें डालकर सीनेके लिये सूता मुझको दो । तथा कोश नाम पेशाब करने के पात्रका है वह पात्र मुझको लाकर दीजिए । आशय यह है कि मैं रातमें भयके कारण बाहर जाने के लिये समर्थ नहीं हूं इस लिए रातमें मुझको जिस प्रकार बाहर जाना न पडे ऐसा करो । यह दूसरे भी छोटे कामोंका उपलक्षण है तथा चावल वगैरहको शोधन करने के लिये सूपको शूर्प कहते हैं तथा ऊखली, और साजी गलानेका पात्र यह सब उपकरण मुझको लाकर दीजिये । १२

(मूल) चंदालगं च करगं च, वच्चघरं च आउसो ! खणाहि ।
सरपाययं च जायाए, गोरहगं च सामणेराए ॥ १३ ॥

(छाया) चन्दालकञ्च करकं वर्चोगृहञ्च आयुष्मन् ! खन
शरपातञ्च जाताय, गोरथकं श्रामणये ।

(अन्वयार्थ) (आउसो) हे आयुष्मन् ! (चंदालगं) देवताका पूजन करनेके लिये ताम्र भाजन (करगंच) जल अथवा मधु रखनेका पात्र (वच्चघरं) पाखाना (खणाहि) यह सब मेरे

लिये बनादो। (जायाए सरपायर्यंच) अपने पुत्रको खेलने के लिये एक धनुष् लादो। (सामणेराए गोरहगंच) श्रमण पुत्र अर्थात् तुम्हारे पुत्रको गाडीमें वहन करनेके लिये एक बैल लाओ।

(भावार्थ) स्त्री कहती है कि हे प्रियतम ! देवताका पूजन करने के लिये तांबाका पात्र तथा जल और मद्य रखनेका पात्र मुझको लादो। मेरे लिये पाखाना खोदादो अपने पुत्रको खेलने के लिये एक धनुष् लादो। तथा तीन वर्षका एक बैल लादो जो अपने पुत्रको गाडीमें वहन करेगा।

(टीका) 'चन्दालकम्' इति देवतार्चनिकाद्यर्थं ताम्रमयं भाजनं, एतच्च मथुरायां चन्दालकत्वेन प्रतीतमिति, तथा 'करको' जलाधारो मदिराभाजनं वा तदानयेति क्रिया, तथा 'वर्चोगृहं' पुरीषोत्सर्गस्थानं तदायुष्मन् ! मदर्थं 'खन' संस्कुरु, तथा शरा—इषवः पात्यन्ते—क्षिप्यन्ते येन तच्छरपातं—धनुः तत् 'जाताय' मत्पुत्राय कृते ढौकय, तथा 'गोरहगं'ति त्रिहायणं बलीवर्दं च ढौकयेति, 'सामणेराए'त्ति श्रमणस्यापत्यं श्रमणपुत्राय त्वत्पुत्राय गन्त्र्यादिकृते भविष्यतीति ॥ १३ ॥

(टीकार्थ) देवताका पूजन करनेके लिये ताम्रका भाजन लादो। मथुरामें इस पात्रको 'चन्दालक' कहते हैं तथा जलके आधारको करक कहते हैं अथवा मद्यके भाजनको करक कहते हैं वह मुझको ला दीजिए। तथा जिसमें टट्टी जाते हैं उस स्थानको वर्चोगृह कहते हैं वह गृह हे आयुष्मन् ! मेरे लिये खोदकर बना दीजिये। जिसपर रखकर बाण फेंके जाते हैं उसे शरपात कहते हैं शरपात धनुष् का नाम है वह धनुष् अपने पुत्र के खेलने के लिये लादो। तथा तीन वर्षका बैल लाओ जो तुम्हारे सन्तान की गाडी खींचने का काम करेगा। १३

(मूल) घडिगं च सडिंडिमयं च, चेलगोलं कुमारभूयाए।
वासं समभिआवण्णं, आवसहं च जाण भत्तं च ॥१४॥

(छाया) घटिकाञ्च सडिमडिमांच, चेलगोलकं च कुमारक्रीडाय,
वर्षञ्च समभ्यापन्न मावसथञ्च जानीहि भक्तञ्च।

---

१ श्रामणिपुत्राय प्र०। २ स्वपुत्राय प्र०।

(अन्वयार्थ) (वट्टियं च सडिमडिमयंच) मिट्टीकी गुडिया और बाजा (चेलगोलयंच कुमारभूयाए) तथा अपने लडकेको खेलने के लिये कपडेकी बनी हुई गेंद लाओ। (वासंच समभियावण्णं) वर्षा ऋतु पास आ गई है (आवसहं च भत्तच जाण) वर्षा से बचने के लिये घर और अन्नका शीघ्र प्रबन्ध करो।

(भावार्थ) शीलभ्रष्ट साधु से उसकी प्रियतमा कहती है कि हे प्रियतम! अपने कुमारको खेलने के लिये मिट्टिकी गुडिया, बाजा और कपडेकी बनी हुई गेंद लाओ। वर्षा ऋतु आगई है इस लिये वर्षा से बँचने के लिये मकान और अन्नका प्रबन्ध करो।

(टीका) तथा घटिकां मृन्मयकुल्लडिकां 'डिण्डिमेन' पटहकादिवादित्रविशेषेण सह, तथा 'चेलगोलं'ति वस्त्रात्मकं कन्दुकं 'कुमारभूताय' क्षुल्लकरूपाय राजकुमारभूताय वा मत्पुत्राय क्रीडनार्थमुपानयेति, तथा वर्षमिति प्रावृट्कालोऽयम् अभ्यापन्नः–अभिमुखं समापन्नोऽत 'आवसथं' गृहं प्रावृट्कालनिवासयोग्यं तथा 'भक्तं च' तन्दुलादिकं तत्कालयोग्यं 'जानीहि' निरूपय निष्पादय, येन सुखेनैवानागतपरिकल्पितावसथादिना प्रावृट्कालोऽतिवाह्यते इति, तदुक्तम्–"मासैरष्टभिरह्ना च, पूर्वेण वयसाऽऽयुषा। तत्कर्तव्यं मनुष्येण, यस्यान्ते सुखमेधते ॥ १४ ॥" इति ॥ १ ॥

(भावार्थ) हे प्रियतम! राजकुमारके समान छोटे मेरे पुत्रको खेलने के लिये मिट्टीकी गुडिया तथा बाजा और कपडेकी बनी हुई गेंद लाओ। हे प्रियतम! वर्षाकाल निकट है इसलिये वर्षाकालमें निवास करनेके योग्य मकान तथा उस कालके योग्य चावल आदिका प्रबन्ध करलो जिससे सुख पूर्वक वर्षाकाल व्यतीत किया जा सके। कहा है (मासैरष्टभिः) आठ मासोंमें ऐसा कार्य्य करना चाहिये जिससे वर्षाकालके चार मांसोमे सुख प्राप्त हो तथा दिनमें वह कार्य्य करलेना चाहिये जिस से रात्रि में आनन्द प्राप्त हो एवं आयु के पूर्वभाग में मनुष्यको वह कार्य्य करना चाहिये जिससे अन्त में सुख मिले। १४

(मूल) आसंदियं च नवसुत्तं, पाउल्लाइं संकमट्ठाए
अदू पुत्तदोहलट्ठाए आणप्पा हवंति दासा वा ॥ १५ ॥

(छाया) आसन्दिकाञ्च नवसूत्रां पादुकाः संक्रमणार्थाय
अथ पुत्रदोहदार्थाय, आज्ञप्ताः भवन्ति दासाइव।

---

२ अनागते परिकल्पितं यदावसथादि तेन।

(अन्वयार्थ) (नवसुत्तं च आसंदियं) नये सूतों से वनीहुई बैठने के लिये एक मँचिया लाओ । (संकमट्ठाए पाउल्लाइं) इधर उधर घूमने के लिये पादुका खडाउं लाओ (अदु पुत्तदोहलट्ठाए) मेरे पुत्र दोहद के लिये अमुक वस्तु लाओ (दासव्व अणप्पा हवंति) इस प्रकार स्त्रियां दासकी तरह पुरुषों पर आज्ञा करती हैं ।

(भावार्थ) हे प्रियतम ! नये सुतों से वनी हुई एक मँचिया वैठने के लिये लाओ तथा इधर उधर धूमने के लिये एक खडाऊं लाओ मुझको गर्भदोहद उत्पन्न हुआ है इस लिये अमुक वस्तु लाओ इस प्रकार स्त्रियां दासकी तरह पुरुषोंपर आज्ञा करती हैं ।

(टीका) तथा 'आसंदिय' मित्यादि, आसन्दिकामुपवेशनयोग्यां मञ्चिकां, तामेव विशिनष्टि नवं—प्रत्यग्रं सूत्रं वल्कवलितं यस्यां सा नवसूत्रा ताम् उपलक्षणार्थत्वाद्वध्रचर्मविनद्धां वा निरूपयेति वा एवं च—मौञ्जे काष्ठपादुके वा 'संक्रमणार्थं' पर्यटनार्थं निरूपय, यतो नाहं निरावरणपादा भूमौ पदमपि दातुं समर्थेति, अथवा–पुत्रे गर्भस्थे दौहृदः पुत्रदौहृदः–अन्तर्वर्त्नी फलादावभिलापविशेषस्तस्मै–तत्सम्पादनार्थं स्त्रीणां पुरुषाः स्ववशीकृता 'दासा इव' क्रयक्रीता इव 'आज्ञाप्या' आज्ञापनीया भवन्ति, यथा दासा अलज्जितैर्योग्यत्वादाज्ञाप्यन्ते एवं तेऽपि वराकाः स्नेहपाशावपाशिता विषयार्थिनः स्त्रीभिः संसारावतरणवीथीभिरादिश्यन्त इति ॥ १५ ॥ अन्यच्च—

(टीकार्थ) बैठने के योग्य एक मँचिया लाओ उसी मँचियाका विशेषण वतलाते हैं— जिसमें नये सूते लगेहों ऐसी मँचिया होनी चाहिये यहां सूताकी मँचिया उपलक्षण है इसलिये चमडे की वनीहुई मँचिया लाओ । तथा मुञ्जकी वनी हुई अथवा काठकी वनी हुई पादुका (खडाऊं) इधर उधर घूमने के लिये लाओ क्योंकि मैं खुले पैर पृथिवीपर एक पैर भी नहीं दे सकती हूं । अथवा पुत्र गर्भमें होनेपर जो स्त्रीको फल आदि खानेकी इच्छा उत्पन्न होती है उसे पुत्रदोहद कहते है उसको सम्पादन करने के लिये स्त्रियां खरीदे हुए दास के समान पुरुषों पर आज्ञा करती हैं । जैसे दास के ऊपर निर्लज्ज होकर लोग आज्ञा करते हैं इसी तरह स्नेहरूपी पाशसे वँधे हुए विषायार्थी विचारे पुरुषोंपर संसारमें उतरनेके लिये मार्ग स्वरूप स्त्रियाँ आज्ञा चलाती है । १५

(मूल) जाए फले समुप्पन्ने, गेण्हसु वा णं अहवा जहाहि ।
अहं पुत्तपोसिणो एगे, भारवहा हवंति उट्टा वा ॥ १६ ॥

२ अन्तर्वत्नी प्रागमुद्रिते, फलस्य पुत्रवाचिता उपरिष्टात्स्पष्टा ।

(छाया) जाते फले समुत्पन्ने, गृहाणैनमथवा जहाहि
अथ पुत्रपोषिण एके भरवहाः भवन्ति उष्ट्रा इव ।

(अन्वयार्थ) (जाते फले समुप्पन्ने) पुत्र उत्पन्न होना गृहस्थताका फल है उसके होनेपर (गेण्हसु वा णं जहाहि) स्त्री कुपित होकर कहती है कि–इस पुत्रको गोदमें लो अथवा छोड दो (अह एगे पुत्तपोसिणो उट्टावा भारवहा हवंति) कोई कोई पुरुष पुत्रका पोषण करनेके लिये ऊंटकी तरह भार वहन करते हैं ।

(भावार्थ) पुत्र जन्म होना गृहस्थताका फल है उस फलके उत्पन्न होनेपर स्त्री कुपित होकर अपने पतिसे कहती है कि इस लडकेको गोदमें लो अथवा छोडदो । कोई कोई पुत्रके पोषणमें आसक्त पुरुष ऊंटकी तरह भार वहन करते हैं ।

(टीका) जातः–पुत्रः स एव फलं गृहस्थानां, तथाहि–पुरुषाणां कामभोगाः फलं तेषामपि फलं–प्रधानकार्यं पुत्रजन्मेति, तदुक्तम्—"इदं तत्स्नेहसर्वस्वं, सममाढ्यदरिद्रयोः । अचन्दनमनौशीरं, हृदयस्यानुलेपनम् ॥ १ ॥ यत्तच्छपनिकेत्युक्तं, बालेनाव्यक्तभाषिणा । हित्वा सांख्यं च योगं च, तन्मे मनसि वर्तते ॥ २ ॥" यथा 'लोके पुत्रसु[मु]खं नाम, द्वितीयं सु[मु]खमात्मनः' इत्यादि, तदेवं पुत्रः पुरुषाणां परमाभ्युदयकारणं तस्मिन् 'समुत्पन्ने' जाते तदुद्देशेन या विम्बनाः पुरुषाणां भवन्ति ता दर्शयति–अमुं दारकं गृहाण त्वम्' अहं तु कर्माक्षणिका न मे ग्रहणावसरोऽस्ति, अथचैनं 'जहाहि' परित्यज नाहमस्य वार्तामपि पृच्छामि एवं कुपिता सती ब्रूते,मयाऽयं नव मासानुदरेणोढः त्वं पुनरुत्सङ्गेनाप्युद्वहन् स्तोकमपि कालमुद्विजस, इति, दासदृष्टान्तस्त्वादेशदानेनैव साम्यं भजते, नादेशनिष्पादनेन, तथाहि––दासो भयादुद्विजन्नादेशं विधत्ते, स तु स्त्रीवशगोऽनुग्रहं मन्यमानो मुदितश्च तदादेशं विधत्ते, तथा चोक्तम्—"यदेव रोचते मह्यं, तदेव कुरुते प्रिया । इति वेत्ति न जानाति, तत्प्रियं यत्करोत्यसौ ॥ १ ॥ ददाति प्रार्थितः प्राणान्, मातरं हन्ति तत्कृते । किं न दद्यात् न किं कुर्यात्स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः ॥ २ ॥ ददाति शौचपानीयं, पादौ प्रक्षालयत्यपि । श्लेष्माणमपि गृह्णाति, स्त्रीणां वशगतो नरः ॥ ३ ॥" तदेवं पुत्रनिमित्तमन्यद्वा यत्किञ्चिन्निमित्तमुद्दिश्य दासमिवादिशन्ति, अथ तेऽपि पुत्रान् पोषितुं शीलं येषां ते पुत्रपोषिण उपलक्षणार्थत्वाच्चास्य सर्वादेशकारिणः 'एके' केचन मोहोदये वर्तमानाः स्त्रीणां निर्देश-

१ एतच्छ्लोकद्वयमपि व्रतभ्रष्टेन धर्मकीर्तिना भाषितमिति वि० प० ।

वर्तिनोऽपहस्तितैहिकामुष्मिकापाया उष्ट्रा इव परवशा भारवाहा भवन्तीति ॥ १६ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) पुत्र उत्पन्न हुआ, वही गृहस्थोंका फल है क्योंकि कामभोग करना पुरुषोंका फल है और काम भोगोंका भी प्रधान फल पुत्रका जन्म है। कहा है कि (इदं) अर्थात् पुत्र जन्म होना, स्नेहका सर्वस्व हैं और धनवान् तथा दरिद्र दोनों के लिये यह सम है, यह चन्दन तथा उसीर के बिना हृदयको शीतल करनेवाला लेपन है। (१) तोतरी भाषा बोलनेवाले बालकने जो शयनिका कहने के स्थानमें शपनिका कहाथा वह शब्द, सांख्य और योग को छोड़कर मेरे हृदयमें वर्तमान रहता है (२) लोकमें पहला पुत्र सुख है और दूसरा अपने शरीरका सुख है, इस प्रकार पुरुषों के लिये पुत्र परम अभ्युदयका कारण है उस पुत्रके उत्पन्न होनेपर पुरुषोंको जो कष्ट सहन करना पड़ता है उसे शास्त्रकार दिखलाते हैं—स्त्री कहती है कि हे प्रियतम! इस पुत्रको तुम ग्रहण करो मैं कार्य्य करनेमें लगी हूं मुझको इसे ग्रहण करनेका अवकाश नहीं है, यदि तुम इसे नहीं ग्रहण करोगे तो मत करो मैं तो इसकी बात भी नहीं पूछूंगी इस प्रकार कुपित होकर वह कहती है। वह कहती है कि मैंने नव मास तक अपने पेटमें इसे वहन किया है परन्तु तुम थोडी देरतक इसे गोदमें लेने से भी घवडाते हो दासका दृष्टान्त जो दिया गया है वहभी पुरुषपर स्त्री नोकरकी तरह आदेश देती है इस तुल्यताको लेकर ही दिया गया है परन्तु पुरुष उसकी आज्ञा पालन करता है इस बातको लेकर नहीं क्योंकि दास अपने मालिक से डरकर उसकी आज्ञापालन करता है उसके हृदयमें हर्ष नहीं होता परन्तु स्त्रीवशीभूत पुरुष स्त्री के आदेशको अपनेपर कृपा मानता हुआ हर्षित होकर उसे पालन करता है। कहा है कि—स्त्रीवशीभूत पुरुष जानता है कि मुझको जो अच्छा लगता है वही मेरी प्रिया करती है परन्तु वस्तुतः वही उसका प्रिय करता है इसे वह नहीं जानता है। (१) पुरुष स्त्रीकी प्रार्थना करने पर अपना प्राणतक दे देता है, अपनी माताको भी उसके लिये मारडालता है वस्तुतः स्त्रीकी प्रार्थना करने पर पुरुष उसे क्या नहीं दे सकता और क्या नहीं कर डालता (२) स्त्री वशीभूत पुरुष शौचके निमित्त उसे जल देता है उसका पैर धोता है तथा उसका थूक भी अपने हाथपर ले लेता है (३) इस प्रकार स्त्रियां पुत्र के लिये तथा दूसरे प्रयोजनों के लिये दासकी तरह पुरुष पर आज्ञा करती हैं। इसके पश्चात् पुत्रका पोषण करनेवाले तथा पुत्र पोषण के उपलक्षण होने से स्त्रीकी सब आज्ञा पालन करनेवाले महामोह के उदयमें वर्तमान, स्त्रीके आज्ञाकारी इसलोक तथा परलोक के नाशकी परवाह नहीं करनेवाले कोई पुरुष ऊंटकी तरह भारवहन का कार्य्य करते हैं। १६

(मूल) राओवि उट्ठिया संता, दारगं च संठवंति धाई वा ।
सुहिरामणा वि ते संता, वत्थधोवा हवंति हंसा वा ॥१७॥

(छाया) रात्रावप्युत्थिताः सन्तः दारकं संस्थापयन्ति धात्रीव
सुहीमनसोऽपि ते सन्तः, वस्त्रधावका भवन्ति हंसावा ।

(अन्वयार्थ) (राओवि) रातमें भी (उट्ठिया संता) ऊठकर (धाईवा) धाईकी तरह (दारगंच संठवंति) लड़केको गोदमें लेते हैं (ते सुहिरामणावि संता) वे अत्यन्त लज्जाशील होते हुए भी (हंसावा वत्थधोवा हवंति) धोबीके समान स्त्री और लड़केका वस्त्र धोते हैं।

(भावार्थ) स्त्री वशीभूत पुरुष रातमें भी ऊठकर धाईकी तरह लड़केको गोदमें लेते हैं वे अत्यन्त लज्जाशील होते हुए भी धोबीकी तरह औरत और बच्चेका वस्त्र धोते हैं।

(टीका) रात्रावप्युत्थिताः सन्तो रुदन्तं दारकं धात्रीवत् संस्थापयन्त्यनेकप्रकारैरुल्लापनैः,—"सामिओसि णगरस्स य णक्कउरस्स य हत्थकप्पगिरिपट्टणसीहपुरस्स य उण्णयस्स निन्नस्स य कुच्छिपुरस्स य कण्णकुज्ज आयामुहसोरियपुरस्स य" इत्येवमादिभिरसम्बद्धैः क्रीडनकालापैः स्त्रीचित्तानुवर्तिनः पुरुषास्तत् कुर्वन्ति येनोपहास्यतां सर्वस्य व्रजन्ति, सुष्ठु ह्रीः-लज्जा तस्यां मनः-अन्तःकरणं येषां ते सुन्हीमनसो—लज्जालवोऽपि ते सन्तो विहाय लज्जां स्त्रीवचनात्सर्वजघन्यान्यपि कर्माणि कुर्वते, तान्येव सूत्रावयवेन दर्शयति—'वस्त्रधावका' वस्त्रप्रक्षालका हंसा इव-रजका इव भवन्ति, अस्य चोपलक्षणार्थत्वादन्यदप्युदकवहनादिकं कुर्वन्ति ॥१७॥ किमेतत्केचन कुर्वन्ति येनैवमभिधीयते ?, बाढं कुर्वन्तीत्याह—

(टीकार्थ) स्त्रीवशीभूत पुरुष रातमें भी ऊठकर रोतेहुए बालकको धाईके समान अनेक प्रकार के लालन के शब्दों से सान्त्वना देते हुए अपने गोदमें रखते हैं। जैसे कि—हे पुत्र ! तुम नक्रपुर हस्तिपत्तन, कल्पपत्तन, सिंहपुर; उन्नतस्थान, नीचास्थान, कुक्षिपुर, कान्यकुब्ज, पितामहमुख, और सौर्य्यपुर के स्वामी हो। इस प्रकार के अनेकों बालक के क्रीडाजनक आलापों से बालकको खेलाते हुए स्त्रीवशीभूत पुरुष ऐसा कार्य्य करते है जिस से वे सभी के हास्य के पात्र बनते हैं। जिनका मन अत्यन्त लज्जाशील है अर्थात् जो अत्यन्त लज्जाशील हैं ऐसे पुरुष भी लज्जा को छोड़कर स्त्री के वचन से सब से छोटा कर्म करते हैं, वही सूत्रके

२ स्वाम्यसि नगरस्य च नक्रपुरस्य च हस्तिकल्पगिरिपत्तनसिंहपुरस्य उन्नतस्य निम्नस्य कुक्षिपुरस्य च कान्यकुब्जपितामहमुखशौर्यपुरस्य च ॥

अवयवोंद्वारा शास्त्रकार दिखलाते हैं—वे पुरुष धोबीकी तरह वस्त्र धोते हैं। वस्त्र धोना तो उपलक्षण है इसलिये दूसरे कार्य्य जल लाना आदि भी वे पुरुष करते है। १७ क्या कोई पुरुष यह कार्य्य करते हैं जिससे तुम यह कहते हो, हाँ, करते हैं, यही शास्त्रकार बतलाते हैं—

(मूल) एवं बहुहिं कयपुव्वं, भोगत्थाए जेऽभियावन्ना।
दासे मिइव पेसे वा, पसुभूतेव से ण वा केई ॥१८॥

(छाया) एवं बहुभिः कृतपूर्वं, भोगार्थाय येऽभ्यापन्नाः
दासमृगाविव प्रेष्य इव पशूभूत इव स न वा कश्चित्।

अन्वयार्थ (एवं बहुभिः कयपुव्वं) इस प्रकार बहुत लोगोंने पहले किया है। (भोगत्थाए जेभियावन्ना) जो पुरुष भोग के लिये सावद्यकार्य्य में आसक्त हैं (दासेमिइव पेसेवा पसुभूतेव से णवा केइ) वे दास, मृग प्रेष्य (क्रीतदास) और पशु के समान हैं अथवा वे (सब से अधम) कुछभी नहीं हैं।

(भावार्थ) स्त्रीवशीभूत होकर बहुत लोगोंने स्त्रीकी आज्ञा पाली है। जो पुरुष भोगके निमित्त सावद्य कार्य्य में आसक्त हैं वे दास मृग क्रीतदास तथा पशु के समान हैं अथवा वे सबसे अधम तुच्छ हैं।

(टीका) 'एव' मिति पूर्वोक्तं स्त्रीणामादेशकरणं पुत्रपोषणवस्त्रधावनादिकं तद्बहुभिः संसाराभिष्वङ्गिभिः पूर्वं कृतं कृतपूर्वं तथा परे कुर्वन्ति करिष्यन्ति च ये 'भोगकृते, कामभोगार्थमैहिकामुष्मिकापायभयमपर्यालोच्य आभिमुख्येन—भोगानुकूल्येन आपन्ना—व्यवस्थिताः सावद्यानुष्ठानेषु प्रतिपन्ना इतियावत्, तथा यो रागान्धः स्त्रीभिर्वशीकृतः स दासवदशङ्किताभिस्ताभिः प्रत्यपरेऽपि कर्मणि नियोज्यते, तथा वागुरापतितः परवशो मृग इव धार्यते, नात्मवशो भोजनादिक्रिया अपि कर्तुं लभते, 'प्रेष्य इव' कर्मकर इव क्रयक्रीत इव वर्चःशोधनादावपि नियोज्यते, तथा—कर्तव्याकर्तव्यविवेकरहिततया हिताहितप्राप्तिपरिहारशून्यत्वात् पशुभूत इव, यथा हि पशुराहारभयमैथुनपरिग्रहाभिज्ञ एव केवलम्, एवमसावपि सदनुष्ठानरहितत्वात्पशुकल्पः, यदिवा—स स्त्रीवशगो दासमृगप्रेष्यपशुभ्योऽप्यधमत्वान्न कश्चित्, एतदुक्तं भवति—सर्वाधमत्वात्तस्य तत्तुल्यं नास्त्येव येनासावुपमीयते, अथवा—न स कश्चिदिति, उभयभ्रष्टत्वात्, तथाहि—न तावत्प्रव्र-

जितोऽसौ सदनुष्ठानरहितत्वात्, नापि गृहस्थः ताम्बूलादिपरिभोगरहितत्वाल्लोचिकामात्रधारित्वाच, यदिवा ऐहिकामुष्मिकानुष्ठायिनां मध्ये न कश्चिदिति ॥ १८ ॥ साम्प्रतमुपसंहारद्वारेण स्त्रीसङ्गपरिहारमाह——

(टीकार्थ) स्त्रीकी आज्ञा पालन करना, पुत्रका पोषण करना, वस्त्रधोना इत्यादि जो पहले कहे गये हैं ये सब बहुत से संसारी जीवोंने किये हैं और करते हैं तथा भविष्य में करेंगे। जो पुरुष काम भोगकी प्राप्ति के लिये इस लोक और परलोक के भयको नहीं सोचकर सावद्य अनुष्ठान में आसक्त हैं वे सभी पूर्वोक्त कार्य्य करते हैं। तथा जो पुरुष रागान्ध तथा स्त्रीवशीभूत हैं उसे दासकी तरह स्त्रियाँ निःशंक होकर पूर्वोक्त कार्य्यों से भिन्न कार्य्योंमें भी लगाती हैं। जैसे जालमें पडा हुआ मृग परवश होता है इसी तरह स्त्रीवशीभूत पुरुष परवश होता है वह अपनी इच्छा से भोजन आदि क्रियायें भी नहीं कर पाता है। स्त्रीवशीभूत पुरुष क्रीतदासकी तरह मलमूत्र फेंकने के काममें भी लगाया जाता है। स्त्रीवशीभूत पुरुष कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विवेक से शून्य तथा हितकी प्राप्ति तथा अहित के त्यागसे भी रहित पशु के समान होता है। जैसे पशु, केवल भोजन, भय, मैथुन और परिग्रहकोही जानता है इसी तरह स्त्रीवशीभूत पुरुष भी उत्तम अनुष्ठान से रहित होने के कारण पशु के समान ही है। अथवा स्त्रीवशीभूत पुरुष, दास, मृग, प्रेष्य (क्रीतदास) तथा पशुसे भी अधम होनेके कारण कुछ भी नहीं है, आशय यह है कि वह पुरुष सबसे अधम है इसलिये उसके समान दूसरा कोई नीच है ही नहीं जिससे उसकी उपमा दी जावे। अथवा उभय भ्रष्ट होने के कारण वह पुरुष कोई नहीं है। उत्तम अनुष्ठान से रहित होनेके कारण वह प्रव्रजित नहीं है तथा पान आदिका उपभोग न करने से और लोचमात्र करनेसे वह गृहस्थ भी नहीं है। अथवा इसलोक और परलोक का सम्पादन करने वाले पुरुषोंमें से वह कोई भी नहीं है। १८ अब शास्त्रकार इस अध्ययनको समाप्त करते हुए स्त्रीके साथ सङ्ग करनेका त्याग बतलाते हैं—

(मूल) एवं खु तासु विन्नप्पं, संथवं संवासं च वज्जेज्जा।
तज्जातिआ इमे कामा, वज्जकरा य एवमक्खाए ॥ १९ ॥

(छाया) एवं खलु तासु विज्ञप्तं, संस्तवं संवासंच वर्जयेत्
तज्जातिका इमे कामा अवद्यकरा एवमाख्याताः।

(अन्वयार्थ) (तासु) स्त्रियोंके विषयमें (एवं विनप्पं) इस प्रकारकी बातें बताई गई हैं (संथवं संवासं च वज्जएज्जा) इसलिये साधु स्त्रियों के साथ परिचय और सहवास वर्जित करे (तज्जातिया इमे कामा अवज्जकरा एव मक्खाए) स्त्रीके संसर्ग से उत्पन्न होनेवाला कामभोग पापको उत्पन्न करता है ऐसा तीर्थङ्करोंने कहा है।

(भावार्थ) स्त्रीके विषय में पूर्वोक्त शिक्षा दी गई है इसलिये साधु स्त्रीके साथ परिचय और सहवास न करे। स्त्रीके संसर्ग से उत्पन्न होनेवाला कामभोग पापको उत्पन्न करता है ऐसा तीर्थङ्करोंने कहा है।

(टीका) 'एतत्' पूर्वोक्तं खुशब्दो वाक्यालङ्कारे तासु यत् स्थितं तासां वा स्त्रीणां सम्बन्धि यद् विज्ञप्तम्--उक्तं, तद्यथा--यदि सकेशया मया सह न रमसे ततोऽहं केशानप्यपनयामीत्येवमादिकं, तथा स्त्रीभिः सार्धं 'संस्तवं' परिचयं तत्संवासं च स्त्रीभिः सहैकत्र निवासं चात्महितमनुवर्तमानः सर्वापायभीरुः 'त्यजेत्' जह्यात्, यतस्ताभ्यो-रमणीभ्यो जातिः--उत्पत्तिर्येषां तेऽमी कामास्तज्जातिका-रमणीसम्पर्कोत्थास्तथा 'अवद्यं' पापं वज्रं वा गुरुत्वादधःपातकत्वेन पापमेव तत्करणशीला अवद्यकरा वज्रकरा वेत्येवम् 'आख्याताः' तीर्थकरगणधरादिभिः प्रतिपादिता इति ॥ १९ ॥ सर्वोपसंहारार्थमाह—

(टीकार्थ) खु शब्द वाक्यालङ्कारमें आया है। पहले यह कहदिया गया है कि स्त्रियोंकी रीति इस प्रकारकी है तथा स्त्रियां जो साधु से प्रार्थना करती है कि मुझ केशवाली के साथ तुम्हारा चित्त नहीं लगता है तो मैं केशोंको उखाड़ दूं यह सब भी कहदिया गया है अतः अपने कल्याणकी इच्छा करता हुआ तथा सब प्रकार के नाशसे डरता हुआ पुरुष, स्त्रियों के साथ परिचय तथा उनके साथ एक जगह रहना त्याग देवे क्योंकि स्त्रीके सम्बन्ध से उत्पन्न कामभोग पापको उत्पन्न करता है यह तीर्थङ्कर और गणधर आदिने कहा है। १९ अब शास्त्रकार सबको समाप्त करते हुए कहते हैं—

(मूल) एयं भयं ण सेयाय, इइ से अप्पगं निरुंभित्ता।
णो इत्थिं णो पसुं भिक्खू, णो सयं पाणिणा णिलिज्जेज्जा॥२०

(छाया) एवं भयं न श्रेयसे, इति स आत्मानं निरुध्य
नो स्त्रीं नो पशुं भिक्षुः नो स्वयं पाणिना निलीयेत।

(अन्वयार्थ) (एयं भयं ण सेयाय) स्त्रीके साथ संसर्ग करने से पूर्वोक्त भय होता है

तथा वह कल्याण के लिये नहीं होता है (इह से अप्पगं निरोभित्ता) इसलिये साधु अपनेको स्त्री संसर्ग से रोककर (णो इत्थिं णो पसुं णो सयं पाणिणा भिक्खू णिलिज्जेज्जा) स्त्रीको पशुको अपने हाथ से स्पर्श न करे।

(भावार्थ) स्त्रीके साथ संसर्ग करने से पूर्वोक्त भय होता है तथा स्त्री संसर्ग कल्याणका नाशक है इसलिये साधु स्त्री तथा पशुको अपने हाथ से स्पर्श न करे।

(टीका) 'एवम्' अनन्तरनीत्या भयहेतुत्वात् स्त्रीभिर्विज्ञप्तं तथा संस्तवस्तत्संवासश्च भयमित्यतः स्त्रीभिः सार्धं सम्पर्को न श्रेयसे असदनुष्ठानहेतुत्वात्तस्येत्येवं परिज्ञाय स भिक्षुरवगतकामभोगविपाक आत्मानं स्त्रीसम्पर्कान्निरुध्य सन्मार्गे व्यवस्थाप्य यत्कुर्यात्तद्दर्शयति—न स्त्रियं नरकवीथीप्रायां नापि पशुं 'लीयेत' आश्रयेत स्त्रीपशुभ्यां सह संवासं परित्यजेत्, 'स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिता शय्ये'तिवचनात्, तथा स्वकीयेन 'पाणिना' हस्तेनावाच्यस्य 'न णिलिज्जेज्ज'त्ति न सम्बाधनं कुर्यात्, यतस्तदपि हस्तसम्बाधनं चारित्रं शवलीकरोति, यदिवा-स्त्रीपश्वादिकं स्वेन पाणिना न स्पृशेदिति ॥ २० ॥ अपि च—

(टीकार्थ) पहले कही हुई रीति के अनुसार स्त्रियोंकी प्रार्थना तथा उनके साथ परिचय और उनके साथ रहना भयका कारण है इसलिये वह भय है तथा स्त्रीका सम्पर्क अशुभ अनुष्ठानका कारण है इसलिये वह कल्याण के लिये नहीं है यह जानकर कामभोग के विपाकको जाननेवाला साधु स्त्रीसंसर्ग से अपने को रोककर तथा उत्तम मार्ग में अपने को रखकर जो कार्य्य करे सो शास्त्रकार दिखलाते हैं—नरक लेजानेका मार्गप्राय स्त्री तथा पशुका आश्रय साधु न लेवे अर्थात् साधु स्त्री और पशु के साथ संवास न करे। साधुकी शय्या स्त्री पशु और नपुंसक से वर्जित होनी चाहिये यह शास्त्रका वाक्य है। तथा अपने हाथ से अपने गुप्तेन्द्रियका पीडन न करे क्योंकि ऐसा करने से भी चारित्र बिगड़ जाता है अथवा स्त्री पशु आदिको अपने हाथ से साधु स्पर्श न करे। २०

(मूल) सुविसुद्धलेसे मेहावी, परकिरिअं च वज्जए नाणी।
मणसा वयसा कायेणं, सव्वफाससहे अणगारे ॥ २१ ॥

(छाया) सुविशुद्धलेश्यः मेधावी परक्रियाञ्च वर्जयेद्ज्ञानी
मनसा वचसा कायेन सर्वं स्पर्शसहोऽनगारः।

(अन्वयार्थ) (सुविसुद्धलेसे) विशुद्धचित्त (मेहावीनाणी) और मर्य्यादा में स्थित ज्ञानी पुरुष, (मणसा वयसा कायेण) मन वचन और कायसे (परकिरियंच वजए) दूसरेकी क्रियाको वर्जित करे। (सव्वकामसहे अणगारे) जो शीत उष्ण आदि सब स्पर्शोंको सहन करता है वही साधु है।

(भावार्थ) विशुद्ध चित्तवाला तथा मर्य्यादा में स्थित ज्ञानी साधु मन वचन और काय से दूसरे की क्रियाको वर्जित करे। जो पुरुष, शीत-उष्ण आदि सब स्पर्शोंको सहन करता है वही साधु है।

(टीका) सुष्ठु-विशेषेण शुद्धा—स्त्रीसम्पर्कपरिहाररूपतया निष्कलङ्का लेश्या—अन्तःकरणवृत्तिर्यस्य स तथा स एवम्भूतो 'मेधावी' मर्यादावर्ती परस्मै-स्त्र्यादिपदार्थाय क्रिया परक्रिया—विषयोपभोगद्वारेण परोपकारकरणं परेण वाऽऽत्मनः संबाधनादिका क्रिया परक्रिया तां च 'ज्ञानी' विदितवेद्यो 'वर्जयेत्' परिहरेत्, एतदुक्तं भवति—विषयोपभोगोपाधिना नान्यस्य किमपि कुर्यान्नाप्यात्मनः स्त्रिया पादधावनादिकमपि कारयेत्, एतच्च परक्रियावर्जनं मनसा वचसा कायेन वर्जयेत्, तथाहि—औदारिककामभोगार्थं मनसा न गच्छति नान्यं गमयति गच्छन्तमपरं नानुजानीते एवं वाचा कायेन च, सर्वेऽप्यौदारिके नव भेदाः, एवं दिव्येऽपि नव भेदाः, ततश्चाष्टादशभेदभिन्नमपि ब्रह्म बिभृयात्, यथा च स्त्रीस्पर्शपरीषहः सोढव्य एवं सर्वानपि शीतोष्णदंशमशकतृणादिस्पर्शानधिसहेत, एवं च सर्वस्पर्शसहोऽनगारः साधुर्भवतीति ॥ २१ ॥ क एवमाहेति दर्शयति—

(टीकार्थ) जिसकी चित्तवृत्ति विशेषरूप से स्त्री संसर्ग के त्यागरूप होनेके कारण निष्कलङ्क है तथा जो मर्य्यादामें स्थित और जानने योग्य पदार्थों को जाननेवाला ज्ञानवान् है वह पुरुष, परक्रिया न करे। स्त्री आदि पदार्थ के लिये जो क्रिया की जाती है उसे परक्रिया कहते हैं अर्थात् विषयका उपभोग देकर जो दूसरेका उपकार किया जाता है वह परक्रिया है। तथा दूसरे के द्वारा अपना पैर आदि दबवाना भी परक्रिया है उसेभी ज्ञानी पुरुष वर्जित करे। आशय यह है कि—विषयभोगकी सामग्री देकर ज्ञानी पुरुष दूसरेकी कुछ सहायता न करे तथा स्त्री आदिके द्वारा अपना भी पैर धोलाना आदि सेवा न करावे। साधु मन वचन और शरीर तीनों से परक्रियाओंको वर्जित करे। साधु औदारिक कामभोग के लिये मन से न जाय तथा दूसरेको भी मनसे न भेजे और जाते हुए को अच्छा नहीं जाने एवं वचन से और शरीर से भी समझना चाहिये। इस प्रकार औदारिक कामभोग के नौ भेद होते हैं इसी तरह दिव्य कामभोग के भी नौ भेद हैं। अतः साधु अठारह प्रकार से ब्रह्मचर्य व्रतको धारण

करे। जिस प्रकार साधु स्त्री परीषहको सहन करे इसी प्रकार शीत, उष्ण, दंश, मशक और तृण आदि सभी स्पर्शोंको सहन करे। इस प्रकार सम्पूर्ण स्पर्शोंको सहन करनेवाला अनगार साधु होता है। २१

(मूल) इच्चेवमाहु से वीरे. धुअरए धुअमोहे से भिक्खू।
तम्हा अज्झत्थविसुद्धे, सुविमुक्के आमोक्खाए परिव्वज्जासि त्तिवेमि २२

(छाया) इत्येवमाहुः स वीरः धुतरजाः धुतमोहः स भिक्षुः,
तस्मादात्मविशुद्धः सुविप्रमुक्तः आमोक्षाय परिव्रजेदिति।
ब्रवीमि (विहरेदामोक्षाय)

(अन्वयार्थ) (धुअरए धुअमोहे) जिसने स्त्रीसम्पर्कजनित रज यानी कर्मोंको दूर कर दिया था तथा जो रागद्वेष से रहित थे (से वीरे इच्चेव माहु) उस वीर प्रभुने यह कहा है (तम्हा अज्झत्थविसुद्धे) इसलिये निर्मलचित्त (सुविमुक्के से भिक्खू) और स्त्रीसम्पर्क वर्जित वह साधु (आमोक्खाय) मोक्ष पर्यन्त (परिव्वएज्जा) संयमके अनुष्ठानमें प्रवृत्त रहे (त्तिबेमि) यह मैं कहता हूं।

(भावार्थ) जिसने स्त्रीसम्पर्कजनित रज यानी कर्मोंको दूर करदिया था तथा जो राग-द्वेष से रहित थे उस वीर प्रभुने ये पूर्वोक्त बातें कहीं हैं इसलिये निर्मलचित्त और स्त्रीसम्पर्क वर्जित वह साधु मोक्षपर्य्यन्त संयम के अनुष्ठानमें प्रवृत्त रहे।

(टीका) 'इति' एवं यत्पूर्वमुक्तं तत्सर्वं स वीरो भगवानुत्पन्नदिव्यज्ञानः परहितैकरतः 'आह' उक्तवान्, यत एवमतो धूतम्—अपनीतं रजः—स्त्रीसम्पर्कादिकृतं कर्म येन स धूतरजाः तथा धूतो मोहो रागद्वेपरूपो येन स तथा। पाठान्तरं वा धूतः—अपनीतो रागमार्गो—रागपन्था यस्मिन् स्त्रीसंस्तवादिपरिहारे तत्तथा तत्सर्वं भगवान् वीर एवाह, यत एवं तस्मात् स भिक्षुः अध्यात्मविशुद्धः, सुविशुद्धान्तःकरणः सुष्ठु रागद्वेषात्मकेन स्त्रीसम्पर्केण मुक्तः सन् 'आमोक्षाय' अशेषकर्मक्षयं यावत्परि—समन्तात्संयमानुष्ठानेन 'व्रजेत्' गच्छेत्संयमोद्योगवान् भवेदिति, इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत्॥ २२॥ इति चतुर्थं स्त्रीपरिज्ञाध्ययनं परिसमाप्तम्॥

---

२ पा० विहरे आमुक्खाए।

(टीकार्थ) किसने यह कहाथा ? सो शास्त्रकार दिखलाते हैं—पहले जो कहा गया है सो सब दिव्यज्ञानी परहितमें तत्पर भगवान् महावीर स्वामीने कहा है। भगवान् महावीर स्वामीने स्त्रीसंपर्कजनित कर्मोंको दूर कर दिया था तथा रागद्वेषरूप मोहको भी जीत लिया था, यहां दूसरा पाठ भी पाया जाता है उसका अर्थ यह है—स्त्रीके साथ परिचय आदिके त्याग करनेमें जराभी ढीलाई नहीं करनी चाहिये किन्तु स्त्रीमें राग छोड देना चाहिये यह भगवान् वीरनेही कहा है इस लिये विशुद्ध अन्तःकरणवाला तथा रागद्वेषस्वरूप स्त्रीसम्पर्कसे मुक्त होकर साधु समस्त कर्मोंका क्षयपर्य्यन्त संयममें उद्योग करे। इति शब्द समाप्त्यर्थक है ब्रवीमि पूर्ववत् है यह चौथा स्त्रीपरिज्ञाध्ययन समाप्त हुआ।

इति श्रीइत्थीपरिन्ना चतुर्थाध्ययनं समत्तं ॥ (गाथाग्र० ३०९)



॥ अथ पंञ्चमं नरकविभक्त्यध्ययनं प्रारभ्यते ॥

अब पांचवाँ नरक विभक्त्यध्ययन प्रारम्भ किया जाता है ।

(टीका) उक्तं चतुर्थमध्ययनं, साम्प्रतं पञ्चममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहाद्ये अध्ययने स्वसमयपरसमयप्ररूपणाऽभिहिता, तदनन्तरं स्वसमये बोधो विधेय इत्येतद्‌द्वितीयेऽध्ययनेऽभिहितं, सम्बुद्धेन चानुकूलप्रतिकूला उपसर्गाः सम्यक् सोढव्या इत्येतत्तृतीयेऽध्ययने प्रतिपादितं तथा सम्बुद्धेनैव स्त्रीपरीषहश्च सम्यगेव सोढव्य इत्येतच्चतुर्थेऽध्ययने प्रतिपादितं, साम्प्रतमुपसर्गभीरोः स्त्रीवशगस्यावश्यं नरकपातो भवति तत्र च यादृक्षा वेदनाः प्रादुर्भवन्ति ता अनेनाध्ययनेन प्रतिपाद्यन्ते, तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि वक्तव्यानि, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा--अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारो निर्युक्तिकारेण प्रागेवाभिहितः, तद्यथा--'उवग्गभीरुणो थीवसस्स नरएसु होज्ज उववाओ' इत्यनेन, उद्देशार्थाधिकारस्तु निर्युक्तिकृता नाभिहितः, अध्ययनार्थाधिकारान्तर्गतत्वादिति । साम्प्रतं निक्षेपः, स च त्रिविधः, ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नः सूत्रालापकनिष्पन्नश्चेति, तत्रौघनिष्पन्ने निक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने तु नरकविभक्तिरिति द्विपदं नाम, तत्र नरकपदनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह--

(टीकार्थ) चौथा अध्ययन कहा जाचुका अब पांचवाँ आरम्भ किया जाता है इसका सम्बन्ध यह है--इस सूत्र के पहले अध्ययमें स्वसमय और पर समयकी प्ररूपणा की गई है इसके पश्चात् स्वसमयमें बोध प्राप्त करना चाहिये यह दूसरे अध्ययनमें कहा है । सम्यक् प्रकार से बोध पाये हुए पुरुषको अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गोंको अच्छी तरह सहन करना चाहिये यह तीसरे अध्ययनमें कहा है, तथा सम्यक् प्रकार से बोध पाये हुए पुरुषको स्त्रीपरीषह भी अच्छी तरह से सहन करना चाहिये यह चौथे अध्ययन में कहा है अब यह बताया जाता है कि जो पुरुष उपसर्गों से डरता है तथा स्त्रीवशीभूत है अवश्य वह नरक में गिरता है और वहां (नरक में) जैसी वेदनायें होती हैं वे इस अध्ययन के द्वारा बताई जाती हैं । इस सम्बन्ध से आये हुए इस अध्ययन के उपक्रम आदि चार अनुयोगद्वार कहने चाहिये उनमें उपक्रम में अर्थाधिकार दो प्रकारका है, अध्ययनार्थाधिकार और उद्देशार्थाधिकार । इनमें अध्ययनार्थाधिकारको निर्युक्तिकारने पहले ही बतादिया है जैसे कि--"जो पुरुष उपसर्गों से डरता है और स्त्रीवशीभूत है उसका अवश्य ही नरक में पात होता है ।" परन्तु

उद्देशार्थाधिकार को निर्युक्तिकारने नहीं बताया है क्योंकि उद्देशार्थाधिकार अध्ययन के अर्थाधिकार के अन्तर्गत है। अब निक्षेप बताया जाता है—वह तीन प्रकारका है ओघनिष्पन्न, नामनिष्पन्न और सूत्रालापकनिष्पन्न। इनमें से ओघनिष्पन्न निक्षेपमें यह सम्पूर्ण अध्ययन है और नामनिष्पन्न निक्षेपमें इसका 'नरक—विभक्ति' यह दो पदका नाम है अब नरक शब्दका निक्षेप बनाने के लिये निर्युक्तिकार कहते हैं।

णिरए छक्कं दव्वं णिरया उ इहेव जे भवे असुभा।
खेत्तं णिरओगासो कालो णिरएसु चेव ठिती ॥ ६४ ॥
भावे उ णिरयजीवा कम्मुदओ चेव णिरयपाओगो।
सोऊण णिरयदुक्खं तवचरणे होइ जइयव्वं ॥ ६५ ॥

(टीका) तत्र नरकशब्दस्य नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यनरक आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तः 'इहैव' मनुष्यभवे तिर्यग्भवे वा ये केचनाशुभकर्मकारित्वादशुभाः सत्त्वाः कालकसौकरिकादय इति, यदिवा यानि कानिचिदशुभानि स्थानानि चारकादीनि याश्च नरकप्रतिरूपा वेदनास्ताः सर्वा द्रव्यनरका इत्यभिधीयन्ते, यदिवा कर्मद्रव्यनोकर्मद्रव्यभेदाद् द्रव्यनरको द्वेधा, तत्र नरकवेद्यानि यानि बद्धानि कर्माणि तानि चैकभविकस्य बद्धायुष्कस्याभिमुखनामगोत्रस्य चाश्रित्य द्रव्यनरको भवति, नोकर्मद्रव्यनरकस्त्विहैव येऽशुभा रूपरसगन्धवर्णशब्दस्पर्शा इति, क्षेत्रनरकस्तु 'नरकावकाशः, कालमहाकालरौरवाप्रतिष्ठानाभिधानादिनरकाणां चतुरशीतिलक्षसंख्यानां विशिष्टो भूभागः, कालनरकस्तु यत्र यावती स्थितिरिति, भावनरकस्तु ये जीवा नरकायुष्कमनुभवन्ति तथा नरकप्रायोग्यः, कर्मोदय इति, एतदुक्तं भवति—नरकान्तर्वर्तिनो जीवास्तथा नारकायुष्कोदयापादितासातावेदनीयादिकर्मोदयाश्चैतद् द्वितयमपि भावनरक इत्यभिधीयते इति, तदेवं 'श्रुत्वा' अवगम्य तीव्रममह्यं 'नरकदुःखं क्रकचपाटनकुम्भीपाकादिकं परमाधार्मिकापादितं परस्परोदीरणाकृतं स्वाभाविकं च 'तपश्चरणे' संयमानुष्ठाने नरकपातपरिपन्थिनि स्वर्गापवर्गागमनैकहेतावात्महितमिच्छता 'प्रयतितव्यं' परित्यक्तान्यकर्तव्येन यत्नो विधेय इति ॥ साम्प्रतं विभक्तिपदनिपार्थमाह—

२ नारकास्तु प्र० १ ३ रूपं मूर्त्तिः (आकारः)। लावण्यं वा।

(टीकार्थ) नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव भेदसे नरक शब्द के छः निक्षेप होते हैं, इनमें सरल होने के कारण नाम और स्थापनाको छोड़कर द्रव्य नरक के विषयमें निर्युक्तिकार कहते हैं—द्रव्य नरक आगम से और नोआगम से होनेके कारण दो प्रकारका है। इनमें जो पुरुष नरकको जानता है परन्तु उसमें उपयोग नहीं रखता है वह आगम से 'द्रव्यनरक' है। नो आगमसे द्रव्यनरक, ज्ञ शरीर और भव्य शरीर से अतिरिक्त इसी लोकमें मनुष्यभव अथवा तिर्य्यग् भवमें अशुभ कर्म करने के कारण जो प्राणी अशुभ हैं जैसे कालक शौकरिकादिक आदि वे द्रव्य नरक हैं। अथवा जो कोई चारक (जेलखाना) आदि बुरे स्थान हैं अथवा जो नरक के समान वेदनायें हैं वे सब द्रव्य नरक कहलाते हैं। अथवा कर्मद्रव्य और नोकर्मद्रव्य भेदसे द्रव्यनरक दो प्रकारका है। उनमें जो नरकवेदनीय कर्म बाँधे जा चुके हैं वे एकभविक, बद्धायुष्क, और अभिमुखनामगोत्र के आश्रय से द्रव्यनरक है। नो कर्मद्रव्य नरक तो इसी लोकमें अशुभ रूप, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द और स्पर्श हैं। क्षेत्र नरक नरकोंका स्थान है वह चौरासीलाख संख्यावाले काल, महाकाल, रौरव महारौरव और अप्रतिष्ठान नाम वाले नरकोंका विशिष्ट भूमिभाग है। कालनरक वह है जहां जितनी स्थिति है। जो जीव नरककी आयु भोगते हैं वे भावनरक हैं। तथा नरक के योग्य कर्मके उदय को भावनरक कहते हैं। आशय यह है कि—नरकमें रहनेवाले जीव और नरक की आयुके उदय से उत्पन्न असाता वेदनीय आदि कर्मके उदयवाले जीव, ये दोनोंही 'भावनरक' कहलाते हैं। इस प्रकार, परम अधार्मिकों द्वारा किया हुआ आरासे शरीरका दारण (चीरना) और कुम्भीपाक आदिका दुःख तथा परस्पर उदीरणा से उत्पन्न स्वाभाविक असह्य तीव्र नरक दुःखको सुनकर अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको नरकगमन से रोकनेवाला तथा स्वर्ग और मोक्षप्राप्तिका कारण स्वरूप संयम के अनुष्ठान में दूसरे कर्तव्योंको छोड़कर प्रयत्न करना चाहिये। अब विभक्तिपदका निक्षेप बताने के लिये निर्युक्तिकार कहते हैं—

णामंठवणादविए खेत्ते काले तहेव भावे य।
एसो उ विभत्तीए णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ ६६ ॥

(टीका) विभक्तेर्नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् पोढा निक्षेपः, तत्र नामविभक्तिर्यस्य कस्यचित्सचित्तादेर्द्रव्यस्य विभक्तिरिति नाम क्रियते, तद्यथा—स्यादयोऽष्टौ विभक्तयस्तिबादयश्च, स्थापनाविभक्तिस्तु यत्र ता एव प्रातिपदिकाद्धातोर्वा परेण स्थाप्यन्ते पुस्तकपत्रकादिन्यस्ता वा, द्रव्यविभक्तिर्जीवाजीवभेदाद् द्विधा, तत्रापि—जीवविभक्तिः सांसारिकेतरभेदाद्विधा, तत्राप्यसांसारिकजीवविभ-

क्तिरिन्द्रियजातिभवभेदात्त्रिधा, तत्रेन्द्रियविभक्तिः—एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात्पञ्चधा, जातिविभक्तिः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसभेदात् षोढा, भवविभक्तिर्नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभेदाच्चतुर्धा, अजीवद्रव्यविभक्तिस्तु रूप्यरूपिद्रव्यभेदाद् द्विधा, तत्र रूपिद्रव्यविभक्तिश्चतुर्धा, तद्यथा—स्कन्धाः स्कन्धदेशाः स्कन्धप्रदेशाः परमाणुपुद्गलाश्च, अरूपिद्रव्यविभक्तिर्दशधा, तद्यथा—धर्मास्तिकायो धर्मास्तिकायस्य देशो धर्मास्तिकायस्य प्रदेशः, एवमधर्माकाशयोरपि प्रत्येकं त्रिभेदता द्रष्टव्या, अद्धासमयश्च दशम इति, क्षेत्रविभक्तिश्चतुर्धा, तद्यथा—स्थानं दिशं द्रव्यं स्वामित्वं चाश्रित्य, तत्र स्थानाश्रयणादूर्ध्वाधस्तिर्यग्विभागव्यवस्थितो लोको वैशाखस्थानस्थपुरुष इव कटिस्थकरयुग्म इव× द्रष्टव्यः, तत्राप्यधोलोकविभक्ती रत्नप्रभाद्याः सप्त नरकपृथिव्यः, तत्रापि सीमन्तकादिनरकेन्द्रकावलिकप्रविष्टपुष्पावकीर्णकवृत्तत्र्यस्रचतुरस्रादिनरकस्वरूपनिरूपणं, तिर्यग्लोकविभक्तिस्तु जम्बूद्वीपलवणसमुद्रधातकीखण्डकालोदसमुद्रेत्यादिद्विगुणद्विगुणवृद्ध्या द्वीपसागरस्वयम्भूरमणपर्यन्तस्वरूपनिरूपणं, उर्ध्वलोकविभक्तिः सौधर्माद्या उपर्युपरिव्यवस्थिता द्वादश देवलोकाः नव ग्रैवेयकानि पञ्च महाविमानानि, तत्रापि विमानेन्द्रकावलिकाप्रविष्टपुष्पावकीर्णकवृत्तत्र्यस्रचतुरस्रादिविमानस्वरूपनिरूपणमिति, दिगाश्रयणेन तु पूर्वस्यां दिशि व्यवस्थितं क्षेत्रमेवमपरास्वपीति, द्रव्याश्रयणाच्छालिक्षेत्रादिकं गृह्यते, स्वाम्याश्रयणाच्च देवदत्तस्य क्षेत्रं यज्ञदत्तस्य वेति, यदिवा—क्षेत्रविभक्तिरार्यानार्यक्षेत्रभेदाद् द्विधा, तत्राप्यार्यक्षेत्रमधपड्विंशतिजनपदोपलक्षितं राजगृहमगधादिकं गृह्यते, "रायगिह[1] मगह चंपा अंगा तह तामलित्ति वंगा य। कंचणपुरं कलिंगा वाणारसी[2] चेव कासी य ॥ १ ॥ साकेय कोसला गयपुरं च कुरु सोरियं कुसट्टा य। कंपिल्लं पंचाला अहिछत्ता जंगला चेव ॥ २ ॥ बारवई य सुरट्ठा मिहिल विदेहा य वच्छ कोसंबी। नंदिपुरं संडिब्भा भद्दिलपुरमेव मलया य ॥ ३ ॥ वइराड मच्छ वरणा अच्छा तह मित्तियावइ दसण्णा। सुत्तीमई य चेदी वीयभयं सिंधुसोवीरा ॥ ४ ॥ महुरा य

×इति ग्र० । १ राजगृहं मगधे चंपाङ्गे ताम्रलिप्तिर्वङ्गे काञ्चनपुरं कलिंगे वाणारसी काश्याम् ॥ १ ॥ साकेतं कौशले गजपुरं च कुशार्त्ते कांपिल्यं पंचालायां अहिच्छत्रं जंगलायां चैव ॥ २ ॥ द्वारवती सुराष्ट्रायां मिथिला विदेहेषु वत्से कौशाम्बी नंदीपुरं साण्डिल्ये भद्रिलपुरं मलये ॥ ३ ॥ वैराटं वच्छे वरणे अच्छा मृत्तिकावती दशार्णे शुक्तिमती चेदिके वीतभयं सिन्धौ सौवीरे मथुरा च ॥ ४ ॥ शूरसेने पापायां भंगं मासा पुर्यां श्रावस्तिश्च कुणालायां

सूरसेणा पावा भंगी य मासपुरिवट्टा । सावत्थी य कुणाला, कोडीवरिसं च लाढा य ॥ ५ ॥ सेयवियाविय णयरि केययअद्धं च आरियं भणियं । जत्थुप्पत्ति जिणाणं चक्कीणं रामकिण्हाणं ॥ ६ ॥" अनार्यक्षेत्रं धर्मसंज्ञारहितमनेकधा, तदुक्तम्—"सग[3] जवण सबर बब्बर कायमुरुंडो दुगोणपक्कणया । अक्खागहूणरोमस पारसखसखासिया चेव ॥ १ ॥ दुविलयलवोसबोस[4] बोक्कस भिल्लंद[5] पुलिंद कोंच भमर रूया । कोंचोय[6] चीण चंचुय मालय दमिला कुलक्खा य ॥ २ ॥ केकय[7] किराय हयमुह खरमुह गयतुरगमेढगमुहा[8] य । हयकण्णा गयकण्णा अण्णे य अणारिया बहवे ॥ ३ ॥ पावा[9] य चंडदंडा[10] अणारिया णिग्घिणिरणुकंपा[11] । धम्मोत्ति अक्खराइं जेसु ण णज्जंति सुविणेऽवि ॥ ४ ॥" कालविभक्तिस्तु अतीतानागतवर्तमानकालभेदात्त्रिधा, यदिवैकान्तसुषमादिकक्रमेणावसर्पिण्युत्सर्पिण्युपलक्षितं द्वादशारं कालचक्रं, अथवा—समयावलियमुहुत्ता[12] दिवसमहोरत्तपक्खमासा य । संवच्छरयुगपलिया सागर उस्सप्पि परियट्टे ॥ १ ॥" त्येवमादिका कालविभक्तिरिति, भावविभक्तिस्तु जीवाजीवभावभेदाद्द्विधा, तत्र जीवभावविभक्तिः औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकभेदात् षट्प्रकारा, तत्रौदयिको गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदक्रमेणैकविंशतिभेदभिन्नः, तथौपशमिकः सम्यक्त्वचारित्रभेदाद् द्विविधः, क्षायिकः सम्यक्त्वचारित्रज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदान्नवधा, क्षायोपशमिकस्तु ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः तथा सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमभेदक्रमेणाष्टादशधेति, पारिणामिको जीवभव्याभव्यत्वादिरूपः, सान्निपातिकस्तु द्विकादिभेदात् षड्विंशतिभेदः, संभवी तु षड्विधोऽयमेव गतिभेदात्पञ्चदशधेति । अजीवभावविभक्तिस्तु भूतानां वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानपरिणामः अमूर्तानां गतिस्थित्यवगाहवर्तनादिक इति, साम्प्रतं समस्तपदापेक्षया नरकविभक्तिरिति नरकाणां विभागो विभक्तिस्तामाह—

कोटीवर्षं च लाटे च ॥ ५ ॥ श्वेताम्बिकापि च नगरी केकेयार्द्धं चार्यं भाणित यत्रोत्पत्तिर्जिनानां चक्रिणां रामकृष्णानां ॥ ६ ॥ २ वाराणसी प्र० । ३ शकयवनशबरबर्बरकायमुरुंडउड्डगौडपक्कणिकाः आख्याकहूणरोमा. पारसखसखासिकाश्चैव ॥ १ ॥ ४ द्विबलश्चलौसबुक्काः भिल्लांध्रपुलिन्द्रक्रौंचभ्रमररुकाः क्रौंचाश्च चीनचंचुकमालवद्रमिलकुलाख्याश्च ॥ १ ॥ ५ भिलंध प्र० । ६ कोंचा य प्र० ७ केकेयकिरातहयमुखखरमुखाः गजतुरगमेंढमुखाश्च हयकर्णा गजकर्णाः अन्ये च अनार्या बहवः ॥ १ ॥ ८ तह प्र० । ९ पापाश्चंडदंडा. अनार्या निर्घृणा निरनुकंपाः धर्म

(टीकार्थ) नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावभेद से विभक्ति के छः निक्षेप होते हैं। इनमें जिस किसी सचित्त आदि द्रव्यका विभक्ति नाम रखते हैं वह नाम विभक्ति है। जैसे कि—सु आदि आठ विभक्ति हैं तथा तिप् आदि भी विभक्ति हैं। जहाँ वे ही विभक्तियाँ धातु अथवा प्रातिपदिक के उत्तर स्थापन की जाती है, अथवा पुस्तक और पत्रोंके ऊपर लिखी जाती हैं वे स्थापना विभक्ति कही जाती हैं। जीव और अजीव भेद से द्रव्यविभक्ति (विभाग) दो प्रकारकी है। इनमें भी जीवविभक्ति सांसारिक और असांसारिक भेद से दो प्रकारकी है। इनमें भी असांसारिक जीवविभक्ति, द्रव्य और कालभेद से दो प्रकारकी है, उसमें द्रव्यरूप से असांसारिक जीवविभक्ति, तीर्थसिद्ध अतीर्थसिद्ध आदि भेद से पन्द्रह प्रकारकी है। काल से असांसारिक जीवविभक्ति, प्रथमसमयसिद्ध आदि भेद से अनेक प्रकारकी है। सांसारिक जीवविभक्ति, इन्द्रिय, जाति और भव भेदसे तीन प्रकारकी है। उनमें इन्द्रिय विभक्ति, एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय भेद से पाँच प्रकारकी है। जातिविभक्ति, पृथिवी, जल, तेल, वायु, वनस्पति और त्रस भेद से छः प्रकारकी है। भवविभक्ति नारक, तिर्य्यञ्च, मनुष्य और अमर भेदसे चार प्रकारकी है। अजीव द्रव्यविभक्ति, रूपी और अरूपी द्रव्यके भेद से दो प्रकारकी है। उनमें रूपी द्रव्यविभक्ति चार प्रकारकी है जैसे कि—स्कन्ध, स्कन्धदेश स्कन्ध प्रदेश, और परमाणुपुद्गल। अरूपी द्रव्यविभक्ति, दश प्रकारकी है जैसे कि—धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकायका देश और प्रदेश इसी तरह अधर्म और आकाश के भी प्रत्येक के तीन तीन भेद करने चाहिये तथा दशवाँ अद्धासमय, इस प्रकार अरूपी द्रव्यकी विभक्ति दश प्रकारकी है। क्षेत्रविभक्ति चार प्रकारकी होती है जैसेकि—स्थान, दिशा, द्रव्य और स्वामित्व। इनमें स्थानके हिसाब से ऊपर नीचे और तिरछे विभागमें रहा हुआ यह लोक कमर पर दोनो हाथ रखे हुए नाट्यशालामें स्थित पुरुष के समान समझना चाहिये। एवं अधोलोक विभक्ति, रत्नप्रभा आदि सात नरककी भूमि समझनी चाहिये। उसमें भी सीमन्तक आदि वडे नरकों के मध्य में रहे हुए फूलमालाकी तरह गोलत्रिकोण, और चतुष्कोण नरकोंका स्वरूप जानना चाहिये। तिर्य्यग्लोककी विभक्ति, जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदसमुद्र, इत्यादि क्रमशः द्विगुण वडे होनेसे द्वीप, सागर, और स्वयम्भूरमण पर्य्यन्तोंका स्वरूप जो वताया गया है वह समझना चाहिये। ऊपर ऊपर रहनेवाले सौधर्मा आदि वारह देवलोक नव ग्रैवेयक और पाँच महाविमान ये

इति अक्षराणि यैर्न ज्ञायते स्वप्नेऽपि ॥१॥ १० रुद्दा प्र० । ११ निरणुताची प्र० १२ समय आवलिका मुहूर्त्तः दिवसोऽहोरात्रं पक्षो मासश्च सवत्सरं युगं पल्यं सागर उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो पुद्गलपरावर्त ॥१॥

ऊर्ध्वलोककी विभक्ति हैं। उनमें भी बडे बडे विमानों के मध्यमें स्थित फूलमालाकी तरह गोलत्रिकोण और चतुष्कोण विमानोंका स्वरूप जो शास्त्रमें वर्णित है वह जानना चाहिये। दिशाके आश्रय से पूर्वदिशामें स्थित क्षेत्र ही क्षेत्रकी विभक्ति है इसी तरह दूसरी दिशाओं में स्थित शालिक्षेत्र, क्षेत्रकी विभक्ति हैं। द्रव्य के आश्रय से शालिक्षेत्र आदि का ग्रहण है। स्वामी के आश्रय से देवदत्तका क्षेत्र अथवा यज्ञदत्तका क्षेत्र इत्यादि क्षेत्रविभक्ति समझनी चाहिये। अथवा आर्य्य और अनार्य्य के भेदसे क्षेत्रविभक्ति दो प्रकारकी है। उनमें भी साढे छव्वीस देशों से उपलक्षित राजगृह और मगध आदि आर्य्यक्षेत्र हैं। मगधमें राजगृह, और अङ्गमें चम्पा, वङ्गमें ताम्रलिप्ति, कलिङ्गमें काञ्चनपुर, और काशीमें वाराणसी। (१) कोशल में साकेत, कुरुमें गजपुर, कुशार्तमें सैरिक, पञ्चालमें काम्पिल्य, जङ्गलामें अहिच्छत्र, सुराष्ट्रमें द्वारवती, विदेहमें मिथिला, वत्समें कौशाम्बी, साण्डिल्यमें नन्दीपुर, मलयमें भद्रिलपुर, वच्छमें वैराट, वरणमें अच्छा, दशार्णमें मृगावती, चेदिकमें शुक्तिमती, सिन्धु सौवीरमें वीतभय, शूरसेनमें मथुरा, पंपामें भङ्ग, पुरीमें मासा, कुणालामें श्रावस्ति लाटदेशमें कोटीवर्ष, एवं श्वेताम्बिका नगरी और केकय देशका अर्धभाग ये आर्य्यदेश हैं इन्ही देशोंमें जिनवरोंकी और चक्रवर्ती रामकृष्णकी उत्पत्ति हुई है। धर्मज्ञान रहित अनार्य्यक्षेत्र अनेक प्रकारके हैं, जैसेकि— शक, यवन, शवर, वर्वर, काय, मुरुड, दुष्ट, गौड़, पक्कणिक, आल्याक, हुण, रोम, पारसख, सखासिका, द्विवल, चलौस, बुकस, भिल्ल, आन्ध्र, पुलिन्द्र क्रौञ्चभ्रमर, रुक, क्रौञ्च, चीन, चंचुक, मालव, द्रमिल, कुल, केकय, किरात, हयमुख, खरमुख, गजमुख, तुरगमुख, मेढमुख, हयकर्ण गजकर्ण, तथा दूसरे बहुत से अनार्य्य देश हैं। उस देशके रहनेवाले लोग पापी चण्ड दण्डवाले अनार्य्य, घृणारहित अनुकम्पा रहित होते हैं वे स्वप्नमें भी धर्म के अक्षर को भी नहीं जानते हैं। कालविभक्ति, अतीत अनागत, और वर्तमानकाल के भेद से तीन प्रकारकी होती है। अथवा एकान्त सुषमादि क्रम से अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी से युक्त बारह आरवाला कालचक्र कालविभक्ति है। अथवा समय, आवलिका, मुहूर्त्त, दिवस, अहोरात्र, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, पल्य, सागर, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी तथा पुद्गलपरावर्त्त, इत्यादिक कालविभक्ति है। भावविभक्ति, जीवभाव और अजीवभाव के भेद से दो प्रकारकी है। इनमें जीवभाव विभक्ति, औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सन्निपातिक भेदसे छः प्रकारकी है। उक्त भावविभक्तिओंमें औदयिक भाव, गति, कषाय, लिङ्ग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान असंयत, असिद्ध, लेश्या, ये क्रमशः चार, चार, तीन, एक, एक, और छः भेद से एकईस प्रकारका है। तथा औपशमिकभाव, सम्यक्त्व और चारित्र भेद से दो प्रकारका है। क्षायिकभाव, सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और

वीर्य्यभेद से नव प्रकारका है । क्षायोपशमिकभाव, ज्ञान, अज्ञान, दर्शन, और दान आदि लब्धियाँ क्रमशः चार, तीन, तीन, और पाँच कुल पन्द्रह भेदवाला है तथा सम्यक्त्व, चारित्र, और संयमासंयमभेद के क्रम से अठारह प्रकारका है । पारिणामिक भाव, जीवोंका भव्यत्व और अभव्यत्व आदिरूप है । सान्निपातिक भाव, द्विक आदि भेदसे छब्वीस प्रकारका है । परन्तु इनमें छः भेद ही संभव हैं । यही गतिभेद से पन्द्रह प्रकारका है । अजीव भावकी विभक्ति, मूर्त्तपदार्थोंका वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, और संस्थानका परिणाम है तथा अमूर्त्त पदार्थकी गति स्थिति अवगाहन और वर्त्तन आदिक है । यहां समस्तपद नरकविभक्ति है, नरक के विभागको नरकविभक्ति कहते हैं उसका वर्णन निर्युक्तिकार करते हैं ।

पुढवीफासं अण्णाणुवक्कम णिरयवालवहणं च ।
तिसु वेदेंति अताणा अणुभागं चेव सेसासु ॥ ६७ ॥

(टीका) पृथिव्याः—शीतोष्णरूपायास्तीव्रवेदनोत्पादको यः स्पर्शः—सम्पर्कः पृथिवीसंस्पर्शस्तमनुभवन्ति, तमेव विशिनष्टि—अन्येन देवादिना उपक्रमितुम्—उपशमयितुं यो न शक्यते सोऽन्यानुपक्रमस्तम्, अपराचिकित्स्यमित्यर्थः, तमेवम्भूतमपरासाध्यं पृथिवीस्पर्शं नारकाः समनुभवन्ति, उपलक्षणार्थत्वाच्चास्य [1]रूपरसगन्धस्पर्शशब्दानप्येकान्तेनाशुभान्निरुपमाननुभवन्ति, तथा नरकपालैः—पञ्चदशप्रकारैः परमाधार्मिकैः कृतं मुद्गरासिकुन्तक्रकचकुम्भीपाकादिकं वधमनुभवन्त्याद्यासु 'तिसृषु' रत्नशर्करावालुकाख्यासु पृथिवीषु स्वकृतकर्मफलभुजो नारका 'अत्राणा' अशरणाः प्रभूतकालं यावदनुभवन्ति, 'शेषासु' चतसृषु पृथिवीषु पङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाख्यासु अनुभावमेव परमाधार्मिकनरकपालाभावेऽपि स्वत एव तत्कृतवेदनायाः सकाशाद्यस्तीव्रतरोऽनुभावो विपाको वेदनासमुद्घातस्तमनुभवन्ति परस्परोदीरितदुःखाश्च भवन्तीति । साम्प्रतं परमाधार्मिकानामाद्यासु तिसृषु पृथिवीषु वेदनोत्पादकान् स्वनामग्राहं दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) नरक के जीव, तीव्रवेदनाको उत्पन्न करनेवाले शीतउष्णरूप पृथिवी के ठँढा और उष्ण स्पर्शको अनुभव करते हैं । उस स्पर्शकी विशेषता बतलाते हैं— वह शीत और उष्णस्पर्श किसी देवता आदि से शान्त करने योग्य नहीं किन्तु वह (चिकित्सा करने योग्य नहीं है) दूसरे से अचिकित्स्य है । इस प्रकार दूसरे से मिटाने के अयोग्य पृथिवी के स्पर्शको

---

१ गंध रस इति प्र०

नरक के जीव अनुभव करते हैं यह स्पर्श का अनुभव तो उपलक्षण है इसलिये नारकी जीव एकान्तरूपसे बुरे तथा जिसकी उपमा योग्य कोई पदार्थ नहीं ऐसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, और शब्दोंको अनुभव करते हैं। तथा नरकपाल जो पन्द्रह प्रकार के परमाधार्मिक हैं उनके द्वारा किये हुए मुद्गर, तलवार और कुन्त आदिका प्रहार तथा आराके द्वारा चीरा जाना और कुम्भीपाक आदि के द्वारा वधका अनुभव करते हैं। पहले की रत्न, शर्करा, और वालुका नामक तीन भूमिओं में अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगने वाले नरक के जीव रक्षक रहित होकर चिरकालतक यमपालों के द्वारा दुःख भोगते हैं। शेष पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमः प्रभा और महातमः प्रभा नामक चार भूमिओं में परम अधार्मिक नरकपालों के विना भी जीव अपने आप अपने किये हुए कर्म के फलस्वरूप तीव्र वेदना को भोगते हैं तथा परस्पर एक दूसरे पर ईर्ष्या करके दुःख देते हैं। अब निर्युक्तिकार प्रथम तीन नरकों में जो परमाधार्मिक दुःख देते हैं उनका नाम बताने के लिये कहते हैं।

अंबे अंबरिसी चेव, सामे य सबलेवि य।
रोद्दोवरुद्द काले य, महाकालेत्तिआवरे॥ ६८॥
असिपत्ते धणु कुंभे, वालु वेयरणीवि य।
खरस्सरे महाघोसे, एवं पण्णरसाहिया॥ ६९॥

(टीका) गाथाद्वयं प्रकटार्थम्, एवं ते चाम्बइत्यादयः परमाधार्मिका यादृक्षां वेदनामुत्पादयन्ति प्रायोऽन्वर्थसंज्ञत्वात्तादृशाभिधाना एव द्रष्टव्या इति, साम्प्रतं स्वाभिधानापेक्षया यो यां वेदनां परस्परोदीरणदुःखं चोत्पादयति तां दर्शयिमुमाह—

(टीकार्थ) दो गाथाओंका स्पष्ट अर्थ है। वे अम्ब इत्यादिक परमाधार्मिक, जैसी वेदना उत्पन्न करते हैं प्रायः अन्वर्थसंज्ञा (अर्थके अनुसार नाम) होने के कारण उनका वैसाही नाम जानना चाहिये। जो जैसी वेदना तथा परस्पर दुःख उत्पन्न करता है उसे दिखाने के लिये निर्युक्तिकार कहते हैं—

धाडेंति य हाडेंति य हणंति विंधंति तह णिसुंभंति।
मुंचंति अंबरतले अंबा खलु तत्थ णेरइया॥ ७०॥
ओहयहये य तहियं णिस्सन्ने कप्पणीहि कप्पंति।
विदुलगचडुलगछिन्ने अंबरिसी तत्थ णेरइए॥ ७१॥

साडणपाडणतोडण [1]वंधणरज्जुल्लयप्पहारेहिं ।
सामा णेरइयाणं पवत्तयंती अपुण्णाणं ॥ ७२ ॥
अंतगयफिप्फिसाणि य हियथं कालेज्ज फुप्फुसे वक्के ।
सवला णेरतियाणं कड्ढें ति तहिं अपुन्नाणं ॥ ७३ ॥
असिसत्तिकोंततोमरसूलतिसूलेसु सूइचियगासु ।
पोयंति रुद्दकम्मा उ णरगपाला तहिं रोद्दा ॥ ७४ ॥
भंजंति अंगमंगाणि ऊरुबाहूसिराणि करचरणे ।
कप्पेंति कप्पणीहिं उवरुद्दा पावकम्मरया ॥ ७५ ॥
मीरासु सुंठएसु य कंडूसु य पयंडएसु य पयंति ।
कुंभीसु य लोहिएसु य पयंति काला उ णेरतिए ॥ ७६ ॥
कप्पंति कागिणीमंसगाणि छिंदंति सीहपुच्छाणि ।
खावंति य णेरइए महकाला पावकम्मरए ॥ ७७ ॥
हत्थे पाए ऊरू बाहुसिरापायअंगमंगाणि ।
छिंदंति पगामं तू असि णेरइए निरयपाला ॥ ७८ ॥
कंण्णोट्ठणासकरचरणदसणट्ठणफुंग्गऊरुबाहुणं
छेयणभेयणसाडण असिपत्तधणूहि पाडंति ॥ ७९ ॥
कुम्भीसु य पयणेसु य लोहियसु य [2]कंदुलोहिकुंभीसु ।
कुंभी य णरयपाला हणंति पाडं (यं) ति णरएसु ॥ ८० ॥
तडतडतडस्स भज्जंति भज्जणे कलंवुवालुगापट्ठे ।
वालूगा णेरइया लोलंती अंबरतलंमि ॥ ८१ ॥
[3]पूयरुहिरकेसट्ठिवाहिणी कलकलेंतजलसोया ।
वेयरणिणिरयपाला णेरइए ऊ पवाहेंति ॥ ८२ ॥
कप्पेंति करकएहिं तच्छिंति परोप्परं परसुएहिं ।
सिंवलितरुमारुहंती खरस्सरा तत्थ णेरइए ॥ ८३ ॥
भीए य पलायंते समंततो तत्थ ते णिरुंभंति ।
पसुणो जहा पसुवहे महघोसा तत्थ णेरइए ॥ ८४ ॥

(टीका) तत्राम्बाभिधानाः परमाधार्मिकाः स्वभवनान्नरकावासं गत्वा क्रीडया

१ वोहण० टीका । २ कंदुद्दु० प्र० ३ पूओरु० प्र० ।

नारकान् अत्राणान् सारमेयानिव शूलादिप्रहारैर्घ्नन्तो 'धाडेंति'त्ति प्रेरयन्ति—स्थानात् स्थानान्तरं प्रापयन्तीत्यर्थः, तथा 'पहाडेंति'त्ति स्वेच्छयेतश्चेतश्चानाथं भ्रमयन्ति, तथा अम्बरतले प्रक्षिप्य पुनर्निपतन्तं मुद्गरादिना घ्नन्ति, तथा शूलादिना विध्यन्ति, तथा 'निसुंभंति'त्ति कृकाटिकायां गृहीत्वा भूमौ पातयन्ति अधोमुखान्, तथोत्क्षिप्य अम्बरतले मुञ्चन्तीत्येवमादिकया विडम्बनया 'तत्र' नरकपृथिवीषु नारकान् कदर्थयन्ति। किञ्चान्यत्—उप—सामीप्येन मुद्गरादिना हता उपहताः पुनरप्युपहता एव खड्गादिना हता उपहतहतास्तान्नारकान् 'तस्यां' नरकपृथिव्यां 'निःसंज्ञकान्' नष्टसंज्ञान् मूर्च्छितानन्यतः कल्पणीभिः 'कल्पयन्ति' छिन्दन्तीतश्चेतश्च पाटयन्ति, तथा '[1]द्विदलचटुलकच्छितानि'ति मध्यपाटितान् खण्डशश्छिन्नांश्च नारकांस्तत्र–नरकपृथिव्यामम्बर्षिनामानोऽसुराः कुर्वन्तीति, तथा–'अपुण्यवतां' तीव्रासातोदये वर्तमानानां नारकाणां श्यामाख्याः परमाधार्मिका एतच्चैतच्च प्रवर्तयन्ति, तद्यथा—'शातनम्' अङ्गोपाङ्गानां छेदनं, तथा 'पातनं' निष्कुटादधो वज्रभूमौ प्रक्षेपः तथा 'प्रतोदनं' शूलादिना तोदनं [2]व्यधनं, (ग्रन्थाग्रम् ३७५०) सूच्यादिना नासिकादौ वेधस्तथा रज्ज्वादिना क्रूरकर्मकारिणं बध्नन्ति, तथा तादृग्विधलताप्रहारैस्ताडयन्त्येवं दुःखोत्पादनं दारुणं शातनपातनवेधनबन्धनादिकं बहुविधं 'प्रवर्तयन्ति' व्यापारयन्तीति, अपिच–तथा—सबलाख्या नरकपालास्तथाविधकर्मोदयसमुत्पन्नक्रीडापरिणामा अपुण्यभाजां नारकाणां यत्कुर्वन्तितद्दर्शयति, तद्यथा–अन्त्रगतानि यानि फिप्फिसानि–अन्त्रान्तर्वर्तीनि मांसविशेषरूपाणि तथा हृदयं पाटयन्ति तथा तद्गतं 'कालेज्जं'ति हृदयान्तर्वर्ति मांसखण्डं तथा 'फुप्फुसे'त्ति उदरावर्तीन्यन्त्रविशेषरूपाणि तथा 'वल्कलान्' वध्रान् आकर्षयन्ति, नानाविधैरुपायैरशरणानां तीव्रां वेदनामुत्पादयन्तीति। [3]अपिच–तथा अन्वर्थाभिधाना रौद्राख्या नरकपाला रौद्रकर्माणो नानाविधेष्वसिशक्त्यादिषु प्रहरणेषु नारकानशुभकर्मोदयवर्तिनः प्रोतयन्तीति। तथा—उपरुद्राख्याः परमाधार्मिका नारकाणामङ्गप्रत्यङ्गानि शिरोबाहूरुकादीनि तथा करचरणांश्च 'भञ्जन्ति मोटयन्ति पापकर्माणः कल्पनीभिः 'कल्पयन्ति, तन्नास्त्येव दुःखोत्पादनं यत्ते न कुर्वन्तीति। अपिच—तथा कालाख्या नरकपालासुरा 'मीरासु' दीर्घचुल्लीषु तथा शुण्ठकेषु तथा कन्दुकेषु प्रचण्डकेषु तीव्रतापेषु नारकान् पचन्ति, तथा 'कुम्भीषु'

---

१ कूष्माण्डवदायतं द्विधा यत्तिर्यक् छिद्यते वि० प्र०। २ व्यधनं तथा। व्यधनं तथा। ३ किंच प्र०।

उष्ट्रिकाकृतिषु तथा 'लोहिषु' आयसकवल्लिषु नारकान् व्यवस्थाप्य जीवन्मत्स्यानिव पचन्ति। अपिच—**महाकालाख्या** नरकपालाः पापकर्मनिरता नारकान्नानाविधैरुपायैः कदर्थयन्ति, तद्यथा—'काकिणीमांसकानि' श्लक्ष्णमांसखण्डानि 'कल्पयन्ति नारकान् कुर्वन्ति, तथा 'सीहपुच्छाणि'त्ति पृष्ठीवर्ध्रास्तांश्छिदन्ति, तथा ये प्राक् मांसाशिनो नारका आसन् तान् स्वमांसानि खादयन्तीति। अपिच—**असिनामानो** नरकपाला अशुभकर्मोदयवर्तिनो नारकानेवं कदर्थयन्ति, तद्यथा—हस्तपादोरुबाहुशिरःपार्श्वादीन्यङ्गप्रत्यङ्गानि छिन्दन्ति 'प्रकामम्' अत्यर्थं खण्डयन्ति, तुशब्दोऽपरदुःखोत्पादनविशेषणार्थ इति। तथा—**असिप्रधानाः** पत्रधनुर्नामानो नरकपाला असिपत्रवनं बीभत्सं कृत्वा तत्र छायार्थिनः समागतान् नारकान् वराकान् अस्यादिभिः पाटयन्ति, तथा कर्णौष्ठनासिकाकरचरणदशनस्तनस्फिग्गूरुबाहूनां छेदनभेदनशातनादीनि विकुर्वितवाताहतचलिततरुपातितासिपत्रादिना कुर्वन्तीति, तदुक्तम्—"छिन्नपादभुजस्कन्धाश्छिन्नकर्णौष्ठनासिकाः। भिन्नतालुशिरोमेण्ढ्रा, भिन्नाक्षिहृदयोदराः॥ १॥" किञ्चान्यत्—**कुम्भिनामानो** नरकपाला नारकान्नरकेषु व्यवस्थितान् निघ्नन्ति, तथा पाचयन्ति, केति दर्शयति—'कुम्भीषु' उष्ट्रिकाकृतिषु तथा 'पचनेषु' कडिल्लकाकृतिषु तथा 'लौहीषु' आयसभाजनविशेषेषु कन्दुलोहिकुम्भीषु कन्दुकानामिव अयोमयीषु कुम्भीषु—कोष्ठिकाकृतिषु एवमादिभाजनविशेषेषु पाचयन्ति। तथा—**वालुकाख्याः** परमाधार्मिका नारकानत्राणांस्तप्तवालुकाभृतभाजने चणकानिव तडतडित्ति स्फुटतः भञ्जंति' भृज्जन्ति—पचन्ति, क? इत्याह—कदम्बपुष्पाकृतिवालुका कदम्बवालुका तस्याः पृष्ठम्—उपरितलं तस्मिन् पातयित्वा अम्बरतले च लोलयन्तीति। किञ्चान्यत्—**वैतरणीनामानो** नरकपाला वैतरणीं नदीं विकुर्वन्ति, सा च पूयरुधिरकेशास्थिवाहिनी महाभयानका कलकलायमानजलश्रोता तस्यां च क्षारोष्णजलायामतीव बीभत्सदर्शनायां नारकान् प्रवाहयन्तीति॥ तथा—**खरस्वराख्यास्तु** परमाधार्मिका नारकानेवं कदर्थयन्ति, तद्यथा—क्रकचपातैर्मध्यं मध्येन स्तम्भमिव सूत्रपातानुसारेण कल्पयन्ति—पाटयन्ति, तथा परशुभिश्च तानेव नारकान् 'परस्परम्' अन्योऽन्यं तक्षयन्ति सर्वशो देहावयवापनयनेन तनून् कारयन्ति, तथा 'सामलीं' वज्रमयभीषणकण्टकाकुलां खरस्वरं रारटतो नारकानारोहयन्ति पुनरारूढानाकर्षयन्तीति। अपिच—**महाघोषाभिधाना** भवनपत्यसुराधमविशेषाः परमाधार्मिका व्याधा इव परपीडोत्पादनेनैवातुलं हर्षमुद्वहन्तः क्रीडया

---

२ कण्ठोष्ठ० प्र०। ३ पूतौ स्फिजौ कटि प्रोथौ हैमः।

नानाविधैरुपायैर्नारकान् कदर्थयन्ति, तांश्च भीतान् प्रपलायमानान् मृगानिव 'समन्ततः' सामस्त्येन 'तत्रैव' पीडोत्पादनस्थाने 'निरुम्भन्ति' प्रतिबन्धन्ति 'पशून्' वस्तादिकान् यथा पशुवधे समुपस्थिते नश्यतस्तद्वधकाः प्रतिबध्नन्त्येवं तत्र नरकावासे नारकानिति ॥ गतो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, अधुना सूत्रानुगमे अस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्---

(टीकार्थ) उन नरकपालों में अम्ब नामवाले परमाधार्मिक अपने भवनसे नरकावासको जाकर क्रीडापूर्वक शरण रहित नारकि जीवोंको कुत्तेकी तरह शूल आदि के प्रहार से पीडित करते हुए एक स्थान से दूसरे स्थानमें फेंक देते हैं, तथा अनाथ उन नारकि जीवोंको इधर उधर घूमाते हैं, तथा आकाशमें फेंक कर फिर गिरते हुए उस नारकि को मुद्गर आदि के द्वारा हनन करते हैं एवं शूल से वेध करते हैं तथा गला पकडकर पृथिवीपर पटक देते हैं; और नीचे मुखवाले उनको ऊपर ऊठाकर आकाश तलमें छोड देते हैं. इस प्रकार के दुःखों से नरकभूमि में नारकि जवों को वे कष्ट देते हैं। पहले मुद्गर वगैरह से मारे हुवे फिर तलवार आदि से हनन किये हुए ऐसे मूर्च्छित नारकि जीवों को नरकभूमिमें वे परमाधार्मिक कर्पणी (छेदनेवाला अस्त्र विशेष) के द्वारा छेदन करते हैं तथा इधर उधर चीरते हैं। इस प्रकार चीरते हुए वे नरकपाल नारकि जीवों को मूँगकी दालके समान कर देते हैं तथा बीच में चीरे हुए नारकि जीवों को फिर खण्ड खण्ड करते हैं, यह दुःख अम्बर्षिनामक असुरकुमार नरक भूमि में देते हैं। उन पुण्यहीन, तीव्र असाता वेदनीय के उदय में वर्तमान नारकि जीवों को श्याम नामवाले परमाधार्मिक, यह दुःख देते हैं, जैसेकि---अङ्ग और उपाङ्गों का छेदन तथा पर्वत पर से नीचे वज्रभूमि में पटकना, एवं शूल आदि से वेध करना, तथा सूई आदि से नासिका छेदना, एवं रस्सी आदि से क्रूर कर्म करनेवाले जीवों को बाँधते हैं। तथा उस तरह लता के प्रहार से ताडन करते हैं। इस प्रकार शातन, पातन, वेधन, और बन्धन आदिक बहुत प्रकारका दुःख पापियों को नरकपाल देते हैं। तथा सबल नामवाले नरकपाल, उस प्रकार के कर्म के उदय होने से नारकि जीवोंको कष्ट देने में बहुत आनन्द मानते हैं, वे पापी नारकि जीवों को जो कष्ट देते हैं सो दिखलाते हैं सबल नामवाले नरकपाल नारकि जीवोंकी अँतडी को काटकर उसमें रहनेवाला मांस विशेषरूप फिफिसको तथा हृदयको एवं हृदय में रहनेवाले कलेजे को चीरते हैं, तथा पेट में रहनेवाली अँतडी को एवं चमडेको खींचते हैं। वे अनेक उपायों से शरणरहित नरकके जीवोंको तीव्र वेदना उत्पन्न करते हैं। एवं नामके अनुसार पीडा देनेवाले, रौद्र (भयानक) कर्म करनेवाले रौद्रनामक नरकपाल, तलवार और शक्ति आदिक नाना प्रकार के शस्त्रों में अशुभ कर्म के

उदय में वर्तमान नारकि जीवों को गूँथते हैं । तथा उपरुद्र नामवाले परमाधार्मिक, नारकि जीवों के शिर, भुजा उरू हाथ और चरण आदि अङ्ग प्रत्यङ्गों को तोड़ते हैं तथा कल्पनी यानी आरी से चीरते हैं वस्तुत: ऐसा कोई भी दु:ख नहीं है जो वे पापी उत्पन्न नहीं करते हैं । तथा कालनामवाले नरकपाल दीर्घचुल्ली, शुण्ठक, कन्दुक और प्रचण्डक नामवाले तीव्र तापयुक्त स्थानों में नारकि जीवों को पकाते हैं । तथा ऊंटकी आकारवाली कुम्भी में एवं लोहकी कडाही में नारकि जीवों को डालकर जीवित मच्छली की तरह पकाते हैं । एवं पापकर्म करने में रत महाकाल नामवाले नरकपाल, नाना प्रकार के उपायों से नारकि जीवों को पीड़ा देते हैं—जैसे कि—वे नारकि जीवों को काटकर कौडी के बराबर मांसका टुकडा स्वरूप बनाते हैं तथा पीठ की चमड़ी को काटते है तथा जो नारकी पहले मांसाहारी थे उनको उनकाही मांस खिलाते है । तथा असिनामवाले नरकपाल, अशुभ कर्म के उदय में वर्तमान नारकि जीवों को इस प्रकार पीडा देते हैं, जैसेकि—हाथ, पैर, उरू, बाहु, शिर और पार्श्व आदि अङ्ग प्रत्यङ्गों को अत्यन्त खण्ड खण्ड करते हैं । यहां तु' शब्द दूसरे को विशेषरूप से दु:ख उत्पन्न करनेकी बात बताता है । एवं जिनका प्रधान शस्त्र तलवार है ऐसे पत्रधनुष् नामवाले नरकपाल असिपत्र वनको बीभत्स बनाकर वहां छाया के लिये आये हुए बिचारे नारकि जीवों को तलवार आदि के द्वारा काटते हैं । तथा कान, ओठ, नाक, हाथ, पैर दाँत, छाती, चूतड़ जङ्घा और भुजा का छेदन भेदन और शातन आदि स्वयं पवन चलाकर तलवार के समान पत्तों के द्वारा करते हैं । कहा है कि—(छिन्न) अर्थात् पैर, भुजा, कन्धा, कान, नाक और ओठ छेद डालते हैं तथा तालु, माथा, पुरुषका चिन्ह, आँख, हृदय और पेट फाड़ देते हैं तथा कुम्भी नामवाले नरकपाल, नरक मे रहनेवाले नारकि जीवों को मारते हैं और पकाते हैं, कहां ? सो दिखलाते हैं—ऊंट के समान आकारवाली कुम्भी में तथा कडाही के समान आकारवाले लोह के पात्र विशेष में, एवं गेंड़ के समान आकारवाली लोहकी कुम्भी में तथा कोठी के समान आकारवाली कुम्भीमें, तथा इस तरह के दूसरे पात्रोंमें परमाधार्मिक नारकि जीवों को पकाते हैं तथा बालुका नामवाले परमाधार्मिक, रक्षक रहित नारकि जीवों को गर्म बालुकासे पूर्ण पात्र में चनेकी तरह तड़तड़ शब्द सहित भूँजते हैं । वे किस पात्र में भूँजते हैं ? सो बताते हैं—कदम्बका फूल के समान तप्त होने से लाल जो बालुका है उसे 'कदम्बबालुका' कहते हैं उस बालुका के ऊपर नारकि जीवों को रखकर आकाशतलमें वे इधर उधर फिराकर भूँजते हैं । तथा वैतरणी नामवाले नरकपाल वैतरणी नदी को विकृत कर देते हैं, उस वैतरणी नदी में पीव, रक्त, केश और हड्डियाँ बहती रहती हैं तथा वह बडी भयानक है उस में कलकल करती हुई जलधारा बहती है तथा उसका जल खारा

और गर्म होता है और उसे देखने से घृणा उत्पन्न होती है उस नदी में नारकि जीवों को परमाधार्मिक वहा देते हैं । तथा खरस्वर नामवाले परमाधार्मिक नारकि जीवों को इस प्रकार पीडा देते हैं—नारकि जीवों के शरीरको खम्भेकी तरह सूते से मापकर मध्यभाग में आरा के द्वारा चीरते हैं तथा उन्हीं नारकि जीवों को परस्पर कुठार के द्वारा कटवाते हैं इस प्रकार उनके शरीर के अवयवों को छिल्कर पतला करते हैं । एवं वज्रके बने हुए भीषण काँटावाले सेमर के वृक्ष पर चिल्लाते हुए नारकि जीवो कोवे चढाते है और चढे हुए नारकि जीवों को खींच लेते हैं । तथा महाघोष नामवाले भवनपति अधम असुरविशेष परमाधार्मिक, दूसरे को पीडा उत्पन्न करके व्याधकी तरह परम आनन्द को प्राप्त होते हैं, वे अपनी क्रीडा के लिये नाना प्रकार के उपायो से नारकि जीवों को पीडा देते हैं । वे नारकि जीव डरकर जब मृगकी तरह इधर उधर भागने लगते हैं तब वे उन्हे चारो तर्फ से घेर कर उसी पीडा के स्थान मे रोक लेते हैं । जैसे पशुवध के समय इधर उधर भागते हुए पशुओंको पशुवध करनेवाले रोकलेते हैं इसी तरह वे परमाधार्मिक नारकि जीवो को नरक में रोकलेते हैं । नामनिक्षेप समाप्त हुआ अब सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुण के साथ सूत्र का उच्चारण करना चाहिये वह सूत्र यह है—

(मूल) पुच्छिस्सऽहं केवलियं महेसिं, कहं भितावा णरगा पुरत्था ?।
अजाणओ मे मुणि बूहि जाणं, कहिं नु वाला नरयं उविंति ? १

(छाया) पृष्टवानहं केवलिनं महर्षिं, कथमभितापाः नरकाः पुरस्तात्
अजानतो मे मुने ! ब्रूहि जानन्, कथं नु बालाः नरकमुपयान्ति ।

(अन्वयार्थ) (अहं) मैंने (पुरत्था) पहले (केवलियं) केवलज्ञानी (महेसिं) महर्षि महावीर स्वामीसे (पुच्छिस्स) पूच्छाथा कि (णरगा कहंभितावा) नरकमें कैसी पीडा होती है ? (मुणि जाणं) हे मुने ! आप इसे जानते हैं अतः (आजाणओमेबूहि) न जाननेवाले मुझको कहिये (वाला) मूर्ख जीव (कहिंनु) किसतरह (नरयं) नरकको (उविंति) प्राप्त होते हैं ।

(भावार्थ) श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी आदि से कहते हैं कि मैंने केवलज्ञानी महर्षि महावीर स्वामी से पूर्व समय में यह पूछाथा कि—नरक में कैसी पीडा भोगनी पड़ती है, हे भगवन् मैं इस बातको नहीं जानता हूं किन्तु आप जानते हैं इसलिये आप मुझको यह बतलाइये तथा यह भी कहिये कि अज्ञानी जीव किस प्रकार नरक को प्राप्त होते हैं ।

(टीका) जम्बूस्वामिना सुधर्मस्वामी पृष्टः, तद्यथा—भगवन् ! किंभूता नर-

काः ? कैर्वा कर्मभिरसुमतां तेषूत्पादः ? कीदृश्यो वा तत्रत्या वेदना ? इत्येवं पृष्टः सुधर्मस्वाम्याह—यदेतद्भवताऽहं पृष्टस्तदेतद् 'केवलिनम्' अतीतानागतवर्तमान-सूक्ष्मव्यवहितपदार्थवेदिनं 'महर्षिम्' उग्रतपश्चरणकारिणमनुकूलप्रतिकूलोपसर्गस-हिष्णुं 'श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिनं पुरस्तात्पूर्वं पृष्टवानहमस्मि, यथा 'कथं' किम्भूता अभितापान्विता 'नरका' नरकावासा भवन्तीत्येतदजानतो 'मे' मम हे मुने 'जानन्' सर्वमेव केवलज्ञानेनावगच्छन् 'ब्रूहि' कथय, 'कथं नु' केन प्रका-रेण किमनुष्ठायिनो नुरिति वितर्के 'बाला' अज्ञा हिताहितप्राप्तिपरिहारविवेकरहि-तास्तेषु नरकेषूप-सामीप्येन तद्योग्यकर्मोपादानतया 'यान्ति' गच्छन्ति किम्भू-ताश्च तत्र गतानां वेदनाः प्रादुष्ष्यन्तीत्येतच्चाहं 'पृष्टवानि'ति ॥ १ ॥

(टीकार्थ) जम्बू स्वामीने श्री सुधर्मा स्वामी से पूछा कि—हे भगवन् ! नरकभूमि कैसी है और किन कर्मों के अनुष्ठान से जीवोंकी उनमें उत्पत्ति होती है तथा नरकमें कैसी पीडा भोगनी पड़ती है ? । इस प्रकार पूछे हुए श्री सुधर्मास्वामी कहने लगे कि आपने जो पूछो है सो मैंने भी केवलज्ञानी अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान, सूक्ष्म, और व्यवहित पदार्थों को जाननेवाले उग्र तपस्वी अनुकूल तथा प्रतिकूल उपसर्गों को सहन करनेवाले महर्षि श्री महा-वीर वर्धमान स्वामी से पहले पूछा था । मैंने पूछा था कि—"नरकभूमि कैसे दुःखों से युक्त होती है" मैं इस बात को नहीं जानता हूं परन्तु हे मुनीश्वर ! आप केवलज्ञान से इस बातको जानते हैं इसलिये मुझको बतलाइये तथा यह भी बताइये कि हितकी प्राप्ति और अहित के त्याग के ज्ञान से रहित मूर्ख जीव कैसा कर्म करके नरक में जाते हैं तथा नरक गये हुए प्राणियों को कैसी वेदनायें भोगनी पडती हैं । यह मैंने पूछा था । १

(मूल) एवं मए पुट्ठे महाणुभावे, इणमोऽब्बवी कासवे आसुपन्ने ।
पवेदइस्सं दुहमट्ठदुग्गं, आदीणियं दुक्कडियं पुरत्था ॥ २ ॥

(छाया) एवं मया पृष्टो महानुभाव, इदमब्रवीत् काश्यप आशुप्रज्ञः
प्रवेदयिष्यामि दुःखमर्थदुर्गमादीनिकं दुष्कृतिकं पुरस्तात् ।

(अन्वयार्थ (एवं) इस प्रकार (मए) मेरे द्वारा (पुट्ठे) पुछे हुए (महाणुभावे) बडे माहात्म्यवाले (कासवे) काश्यपगोत्रमें उत्पन्न (आसुपन्ने) सब वस्तुमें सदा उपयोग रखनेवाले भगवान् महावीर स्वामीने (इणमोऽब्बवी) यह कहा कि (दुहमट्ठदुग्गं) नरक दुःखदायी है तथा असर्वज्ञ पुरुषोंसे अज्ञेय है (आदीणियं) वह अत्यन्त दीन जीवोंका निवासस्थान है

(दुक्कडिय) उसमें पापी जीव निवास करते हैं (पुरत्था) यह आगे चलकर (पवेदइस्सं) हम बतावेंगे ।

(भावार्थ) श्री सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामी आदि से कहते हैं कि—इस प्रकार मेरे द्वारा पूछे हुए अतिशय माहात्म्यसम्पन्न सब वस्तुओं में सदा उपयोग रखनेवाले काश्यपगोत्र में उत्पन्न भगवान् महावीर स्वामीने कहा कि नरकस्थान बडाही दुःखदायी और असर्वज्ञ जीवों से अज्ञेय है वह पापी और दीन जीवो का निवासस्थान है यह मैं आगे चलकर बताऊंगा ।

(टीका) तथा 'एवम्' अनन्तरोक्तं मया विनेयेनोपगम्य पृष्टो [1]महांश्चतुस्त्रिंशदतिशयरूपोऽनुभावो-माहात्म्यं यस्य स तथा, प्रश्नोत्तरकालं च 'इदं' वक्ष्यमाणं सो इति वाक्यालङ्कारे, केवलालोकेन परिज्ञाय मत्प्रश्ननिर्वचनम् 'अब्रवीत्' उक्तवान् कोऽसौ ?–'काश्यपो' वीरो वर्धमानस्वामी आशुप्रज्ञः सर्वत्र सदोपयोगात्, स चैवं मया पृष्टो भगवानिदमाह—यथा यदेतद्भवता पृष्टस्तदहं 'प्रवेदयिष्यामि' कथयिष्याम्यग्रतो दत्तावधानः शृण्विति, तदेवाह—'दुःखम्' इति नरकं दुःखहेतुत्वात् असदनुष्ठानं यदिवा-नरकावास एव दुःखयतीति दुःखं अथवा—असातावेदनीयोदयात् तीव्रपीडात्मकं दुःखमिति, एतच्चार्थतः-परमार्थतो विचार्यमाणं 'दुर्गं' गहनं विषमं दुर्विज्ञेयं असर्वज्ञेन, [2]तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावादित्यभिप्रायः, यदिवा—'दुहमट्ठदुग्गं'ति दुःखमेवार्थो यस्मिन् दुःखनिमित्तो वा दुःखप्रयोजनो वा स दुःखार्थो-नरकः, स च दुर्गो-विषमो दुरुत्तरत्वात् तं प्रतिपादयिष्ये, पुनरपि तमेव विशिनष्टि-आ—समन्तादीनमादीनं तद्विद्यते यस्मिन् स आदीनिकः—अत्यन्तदीनसत्त्वाश्रयस्तथा दुष्टं कृतं दुष्कृतम् असदनुष्ठानं पापं वा तत्फलं वा असातावेदनीयोदयरूपं तद्विद्यते यस्मिन्स दुष्कृतिकस्तं, 'पुरस्ताद्' अग्रतः प्रतिपादयिष्ये, पाठान्तरं वा 'दुक्कडिणं'ति दुष्कृतं विद्यते येषां ते दुष्कृतिनो-नारकास्तेषां सम्बन्धि चरितं 'पुरस्तात्' पूर्वस्मिन् जन्मनि नरकगतिगमनयोग्यं यत्कृतं तत्प्रतिपादयिष्य इति ॥ २ ॥ यथाप्रतिज्ञातमाह—

(टीकार्थ) श्री सुधर्मास्वामी कहते हैं कि—मुझ शिष्य के द्वारा समीप में जाकर पूछे हुए चौंतीस अतिशय स्वरूप महात्म्यवाले भगवान्ने यह कहा । प्रश्न करने के पश्चात् भगवान्ने आगे कहे अनुसार उत्तर दिया । 'सो' शब्द वाक्यालङ्कार में आया है । भगवान्ने केवल ज्ञान के द्वारा सब बातोको जानकर मेरे प्रश्नका उत्तर कहा था । भगवान् कौन हैं ? वह

१ ०नुभागो० प्र० । २ असर्वज्ञस्य नरकज्ञानकारकतादृशज्ञानाभावात् ।

काश्यपगोत्रोत्पन्न वीर वर्धमान स्वामी हैं। वह आशुप्रज्ञ हैं क्योंकि वह सब वस्तुओं में सदा उपयोग रखते हैं। मेरे द्वारा पूछे हुए उस भगवान् ने यह कहा कि—तुमने जो पूछा है सो मैं आगे चलकर बताऊंगा तुम सावधान होकर सुनो। वही कहते हैं—नरकभूमि दुःख का कारण और बुरे कर्मोंका फल होने के कारण दुःखरूप है अथवा नरकभूमि, जीवों को दुःख देती है इसलिये वह दुःखरूप है अथवा असातावेदनीय कर्म के उदय होने से नरकभूमि तीव्रपीडास्वरूप है इसलिये वह दुःखरूप है, वस्तुतः विचार करने पर यह नरकभूमि, असर्वज्ञजीव के द्वारा दुर्विज्ञेय है क्योंकि नरक को सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है यह आशय है। अथवा नरकभूमि, केवल दुःख देनेके लिये बनी है इस लिये वह दुःखार्थ है और उस भूमिको पार करना कठिन है इसलिये वह दुर्ग है, उस नरकभूमिको मैं बताऊंगा। फिरभी शास्त्रकार नरकभूमिकी विशेषता बतलाते हैं–जिसमें चारोतर्फ दीन जीव निवास करते हैं ऐसी नरकभूमि है अर्थात् वह दीन प्राणियोंका निवासस्थान है तथा उसमें बुरा कर्म, पाप अथवा पापका फल असातावेदनीय विद्यमान रहता है इसलिये नरकभूमिको दुष्कृतिक कहते हैं यह मैं आगे चलकर बताऊंगा। यहां "दुक्कडिणं" यह पाठान्तर भी पाया जाता है, इसका अर्थ यह है कि नरकमें निवास करनेवाले पापी जीवोंने नरक भोगनेयोग्य जो पूर्व जन्ममें कर्म किये हैं वे भी मैं बताऊंगा।

(मूल) जे केइ बाला इह जीवियट्ठी, पावाइं कम्माइं करंति रुद्दा।
ते घोररूवे तमिसंधयारे, तिव्वाभितावे नरए पडंति॥ ३॥

(छाया) ये केऽपि बाला इह जीवितार्थिनः पापानि कर्माणि कुर्वन्ति रौद्राः।
ते घोररूपे तमिस्रान्धकारे, तीव्राभितापे नरके पतन्ति।

(अन्वयार्थ) (इह) इस लोकमें (रुद्दा) प्राणियोंको भय उत्पन्न करनेवाले (जे केइ बाला) जो अज्ञानी जीव (जीवियट्ठी) अपने जीवनके लिये (पावाइं) कम्माइ करंति) हिंसादि पाप कर्म करते हैं [ते] वे [घोररूवे] घोररूपवाले [तमिसंधयारे] महान् अन्धकारसे युक्त [तिव्वाभितावे] तथा तीव्र तापवाले [नरए] नरकमे [पडंति] गिरते हैं

(भावार्थ) प्राणियोंको भय देनेवाले जो अज्ञानी जीव अपने जीवनकी रक्षाके लिये दूसरे प्राणियोंकी हिंसा आदि पाप कर्म करते हैं वे तीव्र ताप तथा घोर अन्धकार युक्त महादुःखद नरकमें गिरते हैं।

(टीका) ये केचन महारम्भपरिग्रहपञ्चेन्द्रियवधपिशितभक्षणादिके सावद्यानुष्ठाने प्रवृत्ताः 'बाला' अज्ञा रागद्वेषोत्कटास्तिर्यग्मनुष्या 'इह' अस्मिन्संसारे अ·

संयमजीवितार्थिनः पापोपादानभूतानि 'कर्माणि' अनुष्ठानानि 'रौद्राः' प्राणिनां भयोत्पादकत्वेन भयानकाः हिंसानृतादीनि कर्माणि कुर्वन्ति, त एवम्भूतास्तीव्रपापोदयवर्तिनो 'घोररूपे' अत्यन्तभयानके 'तमिसंधयारे'त्ति बहलतमोऽन्धकारे यत्रात्मापि नोपलभ्यते चक्षुषा केवलमवधिनापि मन्दंमन्दमुलूका इवाह्नि पश्यन्ति, तथा चागमः—"[1]किण्हलेसे णं भंते ! णेरइए किण्हलेस्सं णेरइअं पणिहाए ओहिणा सव्वओ समंता समभिलोएमाणे केवइयं खेत्तं जाणइ ? केवइयं खेत्तं पासइ ? गोयमा ! णो बहुययरं खेत्तं जाणइ णो बहुययरं खेत्तं पासइ, इत्तरियमेव खेत्तं जाणइ इत्तरियमेव खेत्तं पासइ" इत्यादि तथा तीव्रो—दुःसहः खदिराङ्गारमहाराशितापादनन्तगुणोऽभितापः—सन्तापो यस्मिन् स तीव्राभितापः तस्मिन् एवम्भूते नरके बहुवेदने अपरित्यक्तविषयाभिष्वङ्गाः स्वकृतकर्मगुरवः पतन्ति, तत्र च नानारूपा वेदनाः समनुभवन्ति, तथा चोक्तम्—"[2]अच्छड्डियविसयसुहो पडइ अविज्झायसिहिसिहाणिवहे । संसारोदहिवलयामुहंमि [3]दुक्खागरे निरए ॥ १ ॥ [4]पायक्कंतोरत्थलमुहकुहरुच्छलियरुहिरगंडूसे । [1]करवत्तुक्कत्तदुहाविरिक्कविविइण्णदेहद्धे ॥ २ ॥ [2]जंतंतरभिज्जंतुच्छलंतसंसद्दभरियदिसिविवरे । डज्झंतुप्फिडियसमुच्छलंतसीसट्ठिसंघाए ॥ ३ ॥ [3]मुक्कक्कंदकडाहुक्कढंतदुक्कयकयंतकम्मंते । सूलविभिन्नुक्खित्तुद्धदेहणिट्ठंतपब्भारे ॥ ४ ॥ [4]सद्दंधयारदुग्गंधबंधणायारदुद्धरकिलेसे । भिन्नकरचरणसंकररुहिरवसादुग्गमप्पवहे ॥ ५ ॥ [5]गिद्धमुहणिद्दउक्खित्तबंधणो[6]मुद्धकंविरक[7]बंधे[8] । दढगहियतत्तसंडासयग्गविसमुक्खुडियजीहे ॥ ६ ॥ [9]तिक्खङ्कुसग्गकड्ढियकंटयरुक्खग्गजज्जरसरीरे । निमिसंतरंपि दुल्लहसोक्खेऽवक्खे-

---

१ कृष्णलेश्यो भदन्त ! नैरयिकः कृष्णलेश्यं नैरयिकं प्रणिधायावधिना सर्वतः समन्तात् समभिलोकयन् कियत्क्षेत्रं जानाति कियत्क्षेत्रं पश्यति ?, गौतम ! नो बहुतरं क्षेत्रं जानाति नो बहुतरं क्षेत्रं पश्यति इत्वरमेव क्षेत्रं जानाति इत्वरमेव क्षेत्रं पश्यति । २ अत्यक्तविषयसुखः पतति अविध्यातशिखिशिखानिवहे संसारोदधिवलयामुखे दुःखाकरे निरये ॥ १ ॥ ३ महे प्र० । ४ पादाक्रान्तोरःस्थलमुखकुहरोच्छलितरुधिरगंडूषे करपत्रोत्कृत्तद्विधीभागविदीर्णदेहार्धे ॥ १ ॥ १ न्तु० प्र० । २ यंत्रान्तर्भिद्यदुच्छलत्संशब्दभृतदिग्विवरे दह्यमानोत्स्फटितोच्छीर्षास्थिसंघाते ॥ १ ॥ मुक्ताक्रंदकटाहोत्कथ्यमानदुष्कृतकृतान्तकर्मान्ते शूलविभिन्नोत्क्षिप्तोर्ध्वदेहनिष्ठप्राग्भारे ॥ १ ॥ ४ शब्दान्धकारदुर्गन्धबन्धनागारदुर्धरक्लेशे । भिन्नकरचरणसंकररुधिरवसादुर्गमप्रवाहे ॥ १ ॥ ५ गृध्रमुखनिर्दयोत्क्षिप्तबन्धनोन्मूर्धक्रन्दत्कबन्धे । दृढगृहीततप्तसंदंशकाग्रविषमोत्पाटितजिह्वे ॥ १ ॥ ६ ०बधणे प्र० । ०कंदिर० प्र० । ८ अयोमुखक्रन्दन् कबन्धो यत्र त्रि० प्र० । ९ तीक्ष्णाङ्कुशाग्रकर्षितकंटकवृक्षाग्रजर्जरशरीरे निमेषान्तरमपि दुर्लभसौख्येऽ-

वदुक्खंमि॥७॥[१०] इय भीसणंमि णिरए पडंति जे विविहसत्तवहनिरया। सच्चभट्ठा य नरा जयंमि कयपावसंघाया ॥ ८ ॥ " इत्यादि ॥ ३ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) राग और द्वेषसे भरे हुए जो मनुष्य और तिर्य्यञ्च, महारम्भी और महापरिग्रही हैं तथा पञ्चेन्द्रियोंका घात और मांसभक्षण आदि सावद्य अनुष्ठानमें प्रवृत्त हैं एवं असंयम-जीवनकी इच्छा से इस संसारमें पापको उत्पन्न करनेवाले कार्य्योंको करते हैं तथा प्राणियोंको भय उत्पन्न करनेके कारण जो भयानक होकर जीवहिंसा और मिथ्या भाषण आदि कर्म करते हैं, वे ऐसे प्राणी तीव्र पाप के उदयमें वर्तमान होकर अत्यन्त भयानक एवं जहाँ अपने नेत्रसे अपना शरीर भी नहीं देखा जा सकता है तथा अवधि ज्ञानके द्वाराभी दिनमें उल्लूक पक्षी की तरह जहां थोडा थोडा देखाजाता है ऐसे भयङ्कर अन्धकार युक्त नरकमें गिरते हैं। इस विषयमें आगमका कहना भी यह है–(किण्हलेसेणं भंते) अर्थात् हे भदन्त ! कृष्णलेश्यावाला नारकि जीव कृष्णलेश्यावाले नारकि जीवको अवधिज्ञानके द्वारा चारो तर्फ देखता हुआ कितने क्षेत्रतक जानता है तथा कितने क्षेत्रतक देखता है ? (उ) हे गोतम ! बहुत क्षेत्र तक नहीं जानता तथा बहुत क्षेत्रतक नहीं देखता किन्तु थोडे क्षेत्रतक जानता है और थोडे ही क्षेत्र-तक देखता है इत्यादि । तथा वह नरक तीव्र अर्थात् दुःसह यानी खैरके अङ्गारकी महाराशि से भी अनन्त गुण अधिक ताप से युक्त है, ऐसे बहुत वेदनावाले नरकोंमें विषयसुखका त्याग न करनेवाले गुरुकर्मी जीव पड़ते हैं और वे वहां नाना प्रकारकी वेदनाओंको प्राप्त करते हैं। कहा है कि—" अच्छाड्डिय विसयसुहो " अर्थात् जो पुरुष विषयसुखको नहीं छोडता है वह जिसमें जलती हुई आगकी शिखासमूह विद्यमान है तथा जो संसारसागरका प्रधान दुःखका स्थानहै ऐसे नरकमें गिरता है। जिस नरकमे नारकी जीवोंकी छातीको परमाधार्मिक इस प्रकार पैरसे कुचलते हैं कि वे मुखसे रुधिरका गण्डूष फेंकते हैं तथा आराके द्वारा चीरकर उनके शरीर दो भागोंमें विभक्त करदिये जाते हैं। जिस नरकमें भेदन किये जाते हुए प्राणियों के कोलाहलसे सब दिशायें परिपूर्ण हो जाती है, तथा जलते हुए नारकि जीवोंकी खोंपडी और हड्डियाँ शब्द करती हुई उछलती हैं जहां पीडाके कारण नारकि जीव अत्यन्त चिल्लाते हुए शब्द करते हैं तथा कडाहों में भुँनकर उनके पाप कर्मका फल दिया जाता है एवं शूलसे वेधकर उनका शरीर ऊपर उठाया जाता है। जहां भयंकर शब्द होता है, भयङ्कर अन्धकार एवं उत्कट दुर्गन्ध जहां विद्यमान है तथा नारकि जीवोंके बाँधनेका घर और जहां असह्य क्लेश दिया

व्याक्षेपदुःखे ॥ १० इति भीषणे निरये विविधसत्त्ववधनिरताः। सत्यभ्रष्टाश्च नरा जगति कृतपापसंघाताः ॥ १ ॥

जाता है तथा कटे हुए हाथ पैर से मिला हुआ जहां रक्त और चर्बीका दुर्गम प्रवाह है। जहां निर्दयताके साथ नारकि जीवोंका शिर काटकर शिर अलग और धड़ अलग फेंक दिया जाता है तथा जलती हुई सँडासीके द्वारा जहां नारकि जीवोंकी जीभ उखाड़ लीजाती है। जहां तीक्ष्णनोंकवाले कॉटेदार वृक्षोंमें नारकि जीवोंका शरीर रगडकर जर्जर करदिया जाता है इस प्रकार जहाँ निमेषभरभी प्राणियोंको सुख प्राप्त नहीं होता किन्तु लगातार दुःख होता रहता है ऐसे भयङ्कर नरकोंमें नाना प्रकारके प्राणियोंका वध करनेवाले मिथ्यावादी एवं पाप-राशिको उत्पन्न करनेवाले पुरुष जाते हैं। ३

(मूल) तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य, जे हिंसती आयसुहं पडुच्चा।
जे लूसए होइ अदत्तहारी, ण सिक्खती सेयवियस्स किंचि ४

(छाया) तीव्रं त्रसान् स्थावरान् योहिनस्त्यात्मसुखं प्रतीत्य
योलूषको भवत्यदत्तहारी, न शिक्षते सेवनीयस्य किञ्चित्।

(अन्वयार्थ) [जे आयसुहं पडुच्चा] जो जीव अपने सुखके निमित्त (तसे थावरे य पाणिणो तिव्वं हिंसती) त्रस और स्थावर प्राणीको तीव्रताके साथ हनन करता है [जे लूसए अदत्तहारी होइ] तथा जो प्राणियोंका मर्दन करने वाला और विना दिये दूसरेकी चीज लेने-वाला है [सेयवियस्स किंचि ण सिक्खती] तथा जो सेवन करने योग्य संयमका थोडाभी सेवन नहीं करता है।

(भावार्थ) जो जीव अपने सुखके निमित्त त्रस और स्थावर प्राणियोंका तीव्रताके साथ हनन करता है तथा प्राणियोंका उपमर्दन और दूसरेकी चीजको विना दिये ग्रहण करता है, एवं जो सेवन करने योग्य संयमका थोडाभी सेवन नहीं करता है।

(टीका) तथा 'तीव्रम्' अतिनिरनुकम्पं रौद्रपरिणामतया हिंसायां प्रवृत्तः, त्रस्यन्तीति त्रसाः—द्वीन्द्रियादयस्तान् तथा 'स्थावरांश्च' पृथिवीकायादीन् 'यः' कश्चिन्महामोहोदयवर्ती 'हिनस्ति' व्यापादयति 'आत्मसुखं प्रतीत्य' स्वश-रीरसुखकृते, नानाविधैरुपायैर्यः प्राणिनां 'लूषक' उपमर्दकारी भवति, तथा—अदत्तमपहर्तुं शीलमस्यासावदत्तहारी—परद्रव्यापहारकः तथा 'नशिक्षते' नाभ्य-स्यति नादत्ते 'सेयवियस्स'त्ति सेवनीयस्यात्महितैषिणा सदनुष्ठेयस्य संयमस्य किञ्चिदिति, एतदुक्तम् भवति—पापोदयाद्विरतिपरिणामं काकमांसादेरपि मनागपि न विधत्त इति ॥ ४ ॥ तथा—

(टीकार्थ) जो जीव महामोहनीय कर्मके उदयमें वर्तमान होकर अपने सुखके लिये अतिनिर्दयताके साथ रौद्रपरिणाम से हिंसामें प्रवृत्त है तथा द्वीन्द्रिय आदि त्रस प्राणी और पृथिवीकाय आदि स्थावर प्राणियोंको हनन करता है तथा जो नाना प्रकारके उपायों से प्राणियोंका उपमर्द (नाश) करता है एवं अदत्तहारी अर्थात् विनादिये दूसरेका द्रव्य हरण करता है एवं अपने कल्याण के लिये सेवन करने योग्य तथा सज्जनों से सेवनीय संयमका थोडाभी सेवन नहीं करता है आशय यह है कि पापके उदय होने से जो काकमांस आदि से भी विरत नहीं होता है । ४

(मूल) पागब्भि पाणे बहुणं तिवाति, अतिव्वतेघातमुवेति बाले ।
णिहो णिसं गच्छति अंतकाले, अहोसिरं कट्टु उवेइ दुग्गं॥५॥

(छाया) प्रागल्भी प्राणानां बहूनामतिपाती, अनिर्वृतो घातमुपैति बालः
न्यग् निशां गच्छत्यन्तकाले, अधः शिरः कृत्वोपैति दुर्गम् ।

(अन्वयार्थ) (पागब्भि) जो पुरुष पाप करनेमें ढीठ है (बहुणं पाणे तिवाति) तथा बहुत प्राणियोंका घात करता है (अतिव्वते) एवं जो सदा क्रोधाग्निसे जलता रहता है (बाले) । (अंतकाले) वह अज्ञानी जीव मरण कालमें (णिहो) नीचे (निस) अन्धकारमें (गच्छति) जाता है (अहोसिरं कट्टु) वह नीचे शिर करके (दुग्गं उवेइ) कठिन पीडा स्थानको प्राप्त करता है ।

(भावार्थ) जो जीव प्राणियोंकी हिंसा करनेमें बडा ढीठ है और अतिधृष्टताके साथ बहुत प्राणियोकी हिंसा करता है जो सदा क्रोधाग्निसे जलता रहता है वह अज्ञ जीव नरकको प्राप्त होता है । वह मरण कालमें नीचे अन्धकारमें प्रवेश करता है और नीचे शिर करके महापीडा स्थानको प्राप्त करता है ।

(टीका) 'प्रागल्भ्यं धाष्टर्यं तद्विद्यते यस्य स प्रागल्भी, बहूनां प्राणिनां प्राणानतीव पातयितुं शीलमस्य स भवत्यतिपाती, एतदुक्तं भवति—अतिपात्यपि प्राणिनः प्राणानतिधाष्टर्याद्वदति यथा–वेदाभिहिता हिंसा हिंसैव न भवति, तथा राज्ञामयं धर्मो यदुत आखेटकेन विनोदक्रिया. यदिवा—"न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥ १ ॥" इत्यादि, तदेवं क्रूरसिंहकृष्णसर्पवत् प्रकृत्यैव प्राणातिपातानुष्ठायी 'अनिर्वृतः' कदाचिदप्यनुपशान्तः क्रोधाग्निना दह्यमानो यदिवा–लुब्धकमत्स्यादिबधकजीविका-

प्रसक्तः सर्वदा [1]वधपरिणामपरिणतोऽनुपशान्तो हन्यन्ते प्राणिनः स्वकृतकर्मविपाकेन यस्मिन् स घातो–नरकस्तमुप–सामीप्येनैति—याति, कः?–'बालः' अज्ञो रागद्वेषोदयवर्ती सः 'अन्तकाले' मरणकाले 'निहो'त्ति न्यगधस्तात् 'णिसंति अन्धकारम्, अधोऽन्धकारं गच्छतीत्यर्थः, तथा–स्वेन दुश्चरितेनाधःशिरः कृत्वा 'दुर्गं' विषमं यातनास्थानमुपैति, [2]अवाक्शिरा नरके पततीत्यर्थः ॥ ५ ॥ साम्प्रतं पुनरपि नरकान्तर्वर्तिनो नारका यदनुभवन्ति तद्दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) ढीठाईको "प्रागल्भ्य" कहते हैं जो पुरुष ढीठ है उसे 'प्रागल्भी' कहते हैं। बहुत प्राणियोंको अत्यन्त घात करनेका जिसका स्वभाव है उसे "अतिपाती" कहते हैं। आशय यह है कि जो पुरुष प्राणियों के प्राणका नाश करता हुआ भी ढीठाई के कारण कहता है कि–वेदमें विधान की हुई हिंसा हिंसा नहीं है तथा राजाओंका यह कर्म है कि–वे शिकारके द्वारा अपना चित्तविनोद करते हैं, अथवा मांस खाने, मद्य पीने, और मैथुन करनेमें दोष नहीं है क्योंकि ये जीवों के स्वभाव सिद्ध हैं परन्तु इनसे निवृत्त होनेका महान् फल है इत्यादि तथा जो क्रूर सिंह और कृष्ण सर्प के समान स्वभावसे ही प्राणियोंका घात करता है तथा जो कभी शान्त नहीं होता है अथवा जो पशुओंका वध और मत्स्यका वध करके अपनी जीविका करता है तथा जिसका सदा वध करनेका परिणाम बना रहता है और जो कभी भी शान्त नहीं होता वह जीव, जिसमें अपने किये हुए कर्मका फल भोगनेके लिये प्राणियोंका घात किया जाता है उस घात स्थान यानी नरकमें जाता है। वह कौन है? वह अज्ञानी है. वह राग और द्वेषके उदयमें वर्तमान है। वह मरणकालमें नीचे अन्धकारमें जाता है। वह अपने किए पाप के कारण नीचे शिर करके भयङ्कर यातना स्थानको प्राप्त होता है, वह नीचे शिर करके नरकमें पड़ता है यह अर्थ है। ५

(मूल) हण छिंदह भिंदह णं दहेति, सद्दे सुणिंता परहम्मियाणं।
ते नारगाओ भयभिन्नसन्ना, कंखंति कन्नाम दिसं वयामो ! ॥६॥

(छाया) जहि छिन्धि भिन्धि, दह इति शब्दान् श्रुत्वा परमाधार्मिकाणाम्,
ते नारकाः भयभिन्नसंज्ञाः कांक्षन्ति कां नाम दिशं व्रजामः ॥

---

१ परिणामनो प्र० । २ अवाङ् प्र० ।

(अन्वयार्थ) (हण) मारो (छिंदह) छेदन करो (भिंद) भेदन करो (दह) जलाओ (परहम्मियाणं) इस प्रकार परमाधार्मिकोंका (सद्दे) शब्दोंको (सुणित्ता) सुनकर (भयभिन्नसन्ना) भयसे संज्ञाहीन (ते नारगाओ) वे नारकि जीव, (कंखंति) चाहते हैं कि-(कं नाम दिसं वयामो) हम किस दिशामें भाग जायँ.

(भावार्थ) नारकि जीव. मारो, काटो, भेदन करो, जलाओ, इत्यादि परमाधार्मिकोंका शब्द सुनकर भयसे संज्ञाहीन होजाते हैं और वे चाहते हैं कि-हम किस दिशाको भाग जायँ।

(टीका) तिर्यङ्मनुष्यभवात्सत्त्वा नरकेषूत्पन्ना अन्तर्मुहूर्तेन [1]निर्लूनाण्डजसन्निभानि शरीराण्युत्पादयन्ति, पर्याप्तिभावमागताश्चातिभयानकान् शब्दान् परमाधार्मिकजनितान् शृण्वन्ति, तद्यथा—'हत' मुद्गरादिना 'छिन्त' खड्गादिना 'भिन्त' शूलादिना 'दहत' मुर्मुरादिना, णमितिवाक्यालङ्कारे, तदेवम्भूतान् कर्णासुखान् शब्दान् भैरवान् श्रुत्वा ते तु नारका भयोद्भ्रान्तलोचना भयेनभीत्या भिन्ना–नष्टा संज्ञा–अन्तःकरणवृत्तिर्येषां ते तथा नष्टसंज्ञाश्च 'कां दिशं व्रजामः' कुत्र गतानामस्माकमेवम्भूतस्यास्य महाघोरारवदारुणस्य दुःखस्य त्राणं स्यादित्येतत्काङ्क्षन्तीति॥६॥ ते च भयोद्भ्रान्ता दिक्षु नष्टा यदनुभवन्ति तद्दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) अब नरकमें रहनेवाले प्राणी जो दुःख अनुभव करते हैं उसे दिखानेके लिये शास्त्रकार कहते हैं—तिर्य्यञ्च और मनुष्यभव छोड़कर नरकमें उत्पन्न प्राणी अन्तर्मुहूर्त्ततक अण्डासे निकले हुए रोम और पक्ष रहित पक्षी की तरह शरीर उत्पन्न करते हैं। पीछे पर्य्याप्तिभावको प्राप्त कर वे अति भयानक परमाधार्मिकोंका शब्द सुनते हैं. जैसे कि–" इसे मुद्गर आदिसे मारो " " इसे तलवारसे छेदन करो " " इसे शूल आदि के द्वारा वेध करो " इसे मुर्मुर आदि के द्वारा जलाओ " 'णं' शब्द वाक्यालङ्कारमें आया है। इस प्रकार कानोंको दुःख देनेवाले अति भयानक शब्दोंको सुनकर वे नारकि. भय से चञ्चलनेत्र तथा नष्ट चित्तवृत्ति होकर यह चाहते हैं कि—हम किस दिशाको चले जायँ. अर्थात् कहां जाने से हम इस महाघोर दारुण दुःखसे रक्षा पासकेंगे। ६

मूलम्–इंगालरासिं जलियं सजोतिं, तत्तोवमं भूमिमणुक्कमंता।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, अरहस्सरा तत्थ चिरट्ठितीया॥७॥

१ निर्लूनरोमाणोऽण्डजा इव इव।

(छाया) अङ्गारराशिं ज्वलितं सज्योतिः तदुपमां भूमिमनुक्रामन्तः,
ते दह्यमानाः करुणं स्तनन्ति अरहस्वरा स्तत्र चिरस्थितिकाः।

(अन्वयार्थ) (जलियं) जलती हुई (इंगालरासिं) अङ्गारकी राशि, (सजोतिं) तथा ज्योति सहित (तत्तोवमं) भूमिके सदृश (भूमिं) भूमिपर (अणुक्कमंता) चलते हुए (डज्झमाणा) अत एव जलते हुए (ते) वे नारकि जीव (कलुण) करुण (थणंति) शब्द करते हैं (अरहस्सरा) उनका शब्द प्रकट जाननेमें आता है (तत्थ चिरट्ठितीया) तथा वे चिरकालतक नरकमें निवास करते हैं।

(भावार्थ) जैसे जलती हुई अङ्गारकी राशि बहुत तप्त होती है तथा जैसे ज्योति सहित पृथिवी बहुत गर्म होती है इसी तरह अत्यन्त तपी हुई नरककी भूमिमें चलते हुए नरकके जीव जलते हुए बडे जोरसे करुण रोदन करते हैं, वे वहां चिर कालतक निवास करते हैं।

'अङ्गारराशिं' खदिराङ्गारपुञ्जं 'ज्वलितं' ज्वालाकुलं तथा सह ज्योतिषा—उद्योतेन वर्तत इति सज्योतिर्भूमिः, तेनोपमा यस्याः सा तदुपमा तामङ्गारसन्निभां भूमिमाक्रमन्तस्ते नारका दन्दह्यमानाः 'करुणं' दीनं 'स्तनन्ति' आक्रन्दन्ति, तत्र बादराग्नेरभावात्तदुपमां भूमिमित्युक्तम्, एतदपि दिग्दर्शनार्थमुक्तम्, अन्यथा नारकतापस्येहत्याग्निना नोपमा घटते, ते च नारका महानगरदाहाधिकेन तापेन दह्यमाना 'अरहस्वरा' प्रकटस्वरा महाशब्दाः सन्तः 'तत्र' तस्मिन्नरकावासे चिरं—प्रभूतं कालं स्थितिः—अवस्थानं येषां ते तथा, तथाहि—उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि तिष्ठन्तीति॥ ७॥

(टीकार्थ) जैसे जलती हुई खैरके अङ्गारोंकी राशि होती है तथा जैसे ज्योतिके सहित पृथिवी होती है, उसीकी उपमा नरककी पृथिवीकी है। उस अङ्गार राशि के तुल्य नरककी पृथिवीपर चलते हुए और उसमें जलते हुए नारकि जीव करुण रोदन करते हैं। नरकमें बादर अग्नि नहीं होती है इस लिये शास्त्रकारने नरककी पृथिवीको बादर अग्नि के सदृश कहा है। यह उपमा भी दिग्दर्शन मात्र समझना चाहिये क्योंकि नरकके तापकी उपमा यहाँकी इस अग्निसे नहीं दी जासकती है। महान् नगर के दाह से भी अधिक तापसे जलते हुए वे नारकि जीव, महा शब्द करते हैं। वे नरकमें बहुत कालतक निवास करते हैं, वे उत्कृष्ट तैंतीस सागरोपम कालतक तथा जघन्य दशहजार वर्ष तक नरकमें नयास करते हैं। ७

मू०-जइ ते सुया वेयरणी भिदुग्गा, णिसिओ जहा खुर इव तिक्खसोया
तरंति ते वेयरणीं भिदुग्गां, उसुचोइया सत्तिसु हम्ममाणा ॥८॥

(छाया) यदि ते श्रुता वैतरण्यभिदुर्गा निशितो यथा क्षुरइव तीक्ष्णस्रोताः।
तरन्ति ते वैतरणीमभिदुर्गामिषुचोदिताः शक्तिसुहन्यमानाः।

(अन्वयार्थ) (खुरइव तिक्खसोया णिसिओ) तेज अस्तुरे कीतरह तेजधारावाली (अभिदुग्गा) अति दुर्गम (वेयरणी) वैतरणी नदीको (जइ ते सुया) शायद तुमने सुना होगा। (ते) वे नारकि जीव (अभिदुग्गां वेयरणीं) अति दुर्गम वैतरणीको (तरंति) इस प्रकार तैरते हैं (उसु चोइया) जैसे टोंच मारकर प्रेरित किया हुआ (सत्तिसुहमणा) तथा भालासे भेदकर चलाया हुआ मनुष्य किसी विषम नदीमें कूद पड़ता है।

(भावार्थ) अस्तुरेके समान तेज धारावाली वैतरणी नदीको शायद तुमने सुना होगा। वह नदी वडी दुर्गम है। जैसे बाण से (लकडीके अग्र भागमें तीखा खिल्ला लगाकर उसके द्वारा टोंच मारकर बैंलको चलाते है वह बाणहै) और भालासे भेद कर प्रेरित किया हुआ मनुष्य लाचार होकर किसी भयङ्कर नदीमें कूद पडता है इसी तरह सँताये जाते हुए नारकी जीव घवडा कर उस नदीमें कूद पडते है।

अपिच–सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रतीदमाह—यथा भगवतेदमाख्यातं यदि 'ते' त्वया श्रुता–श्रवणपथमुपागता 'वैतरणी' नाम क्षारोष्णरुधिराकारजलवाहिनी नदी आभिमुख्येन दुर्गा अभिदुर्गा–दुःखोत्पादिका, तथा–निशितो यथा क्षुरस्तीक्ष्णो भवत्येवं तीक्ष्णानि–शरीरावयवानां कर्तकानि स्रोतांसि यस्याः सा तथा, ते च नारकास्तप्ताङ्गारसन्निभां भूमिं विहायोदकपिपासवोऽभितप्ताः सन्तस्तापापनोदायाभिपिषिक्षवो वा तां वैतरणीमभिदुर्गां तरन्ति, कथम्भूताः? इषुणा–शरेण प्रतोदेनेव चोदिताः–प्रेरिताः शक्तिभिश्च हन्यमानास्तामेव भीमां वैतरणीं तरन्ति, तृतीयार्थे सप्तमी ॥ ८ ॥ किञ्च—

(टीकार्थ) भी सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीसे कहते है कि–भगवान्‌ने जिसका कथन किया है उस वैतरणी नामक नदीको शायद तुमने सुना होगा। उस वैतरणी नदीमें खारा गर्म और रक्तके समान जल वहता रहता है। जैसे तेज अस्तुरेकी धारा वडी तेज होती है उसी तरह उसकी तेज धारा है। उस धाराके लगनेसे नारकि जीवोंके अङ्ग कट जाते हैं इस कारण वह नदी वडी दुर्गम है। उसमें वहते हुए प्राणियोंको वह वहुत दुःख उत्पन्न करती है। तप्त अंगारके समान अति उष्ण नरक भूमिको छोडकर अति तप्त और प्यासे हुवे नारकी जीव अपने तापको मिटानेके लिये तथा

जलमें स्नान करनेकी इच्छासे अतिदुर्गम उस वैतरणी नदीमें कूदकर तैरते हैं। वे नारकि कैसे है? मानो वाणों (प्रतोद) से प्रेरित किये हुए हैं अथवा भालासे खोदकर चलाये गये है अतः वे ऐसी भयङ्कर वेतरणी नदीमें तैरते हैं। यहां तृतीयाके अर्थमें सप्तमी हुई है,।

मूलम्—कीलेहिं विज्झंति असाहुकम्मा, नावं उविंते सइविप्पहूणा।
अन्ने तु सूलाहिं तिसूलियाहिं, दीहाहिं विध्धूण अहेकरंति ॥९॥

(छाया) कीलेषु विध्यन्ति, असाधुकर्माणः नावमुपयतः स्मृतिविप्रहीनाः
अन्ये तु शूलैस्त्रिशूलै दीर्घैर्विद्धाऽधः कुर्वन्ति ।

(अन्वयार्थ) (नावं उविंते) नावपर आते हुए नारकी जीवोंके (असाहुकम्मा) परमाधार्मिक (किलेहिं विज्झंति) कण्ठमें कील चुभोते हैं। (सइविप्पहूणा) अतः वे नारकि जीव स्मृति रहित होकर किंकर्त्तव्यमूढ हो जाते हैं। (अन्नेतु) तथा दूसरे नरकपाल (दीहाहिं) दीर्घ (सूलाहिं तिसूलियाहिं) शूल और त्रिशूल के द्वारा (विध्धूण अहेकरंति) नारकि जीवोंको वेधकर नीचे डाल देते हैं।

(भावार्थ) वैतरणी नदीके दुःखसे उद्विग्न नारकि जीव जब नावपर चढनेके लिये आते हैं तब उस नावपर पहलेसे बैठे हुए परमाधार्मिक उन विचारे नारकि जीवोंके कण्ठमें कील चुभोते है, अतः वैतरणीके दुःखसे जो पहलेही स्मृतिहीन हो चुके है वे नारकि जीव इस दुःखसे और अधिक स्मृतिहीन हो जाते हैं वे उस समय अपने शरणका कोई मार्ग नहीं देख पाते हैं। कई नरकपाल अपने चित्तका विनोद करनेके लिये नारकि जीवोंको शूल और त्रिशूलसे वेधकर नीचे पृथ्वीपर पटक देते है।

(टीका) तांश्च नारकानत्यन्तक्षारोष्णेन दुर्गन्धेन वैतरणीजलेनाभितप्तानायसकीलाकुलां नावमुपगच्छतः पूर्वारूढा 'असाधुकर्माणः' परमाधार्मिकाः 'कीलेषु' कण्ठेषु विध्यन्ति, ते च विध्यमानाः लककलायमानेन सर्वस्रोतोऽनुयायिना वैतरणीजलेन नष्टसंज्ञा अपि सुतरां 'स्मृत्या विप्रहीणा' अपगतकर्तव्यविवेका भवन्ति, अन्ये पुनर्नरकपाला नारकैः क्रीडतस्तान्नष्टांस्त्रिशूलिकाभिः शूलाभिः 'दीर्घिकाभिः' आयताभिर्विध्वा अधोभूमौ कुर्वन्तीति ॥ ९ ॥अपि च—

(टीकार्थ) वैतरणी नदीके अत्यन्त खारा, गर्म तथा दुर्गन्ध जलसे अति तप्त वे विचारे नारकि जीव उस नदीमें (परमाधार्मिकोंके द्वारा चलाई जाती हुई) काँटेदार नावपर जब

१ कर्त्तव्याकर्त्तव्य० प्र० । २ डयत्त० प्र० ।

आने लगते है तव उस नावपर पहलेसे चढे हुए परमाधार्मिक उन नारकी जीवोंके गलेमें कीलें चुभोते है। वे नारकि जीव कल कल शब्दके साथ वहता हुआ वैतरणीके जलसे संज्ञा-हीन होकरभी कण्ठवेध पाकर अत्यन्त स्मृति रहित होजाते हैं। उन्हे अपने कर्त्तव्यका विवेक सर्वथा नहीं रहता है। तथा दूसरे नरकपाल, नारकि जीवोंसे क्रीडा करते हुए उन नष्ट संज्ञावाले विचारे नारकि जीवोंको दीर्घ शूल और त्रिशूलके द्वारा वेधकर नीचे पृथ्वी पर पटक देते है।

मूलम्—केसिं च बंधित्तु गले सिलाओ, उदगंसि बोलंति महालयंसि।
कलंबुयावालुय मुम्मुरे य, लोलंति पच्चंति अ तत्थ अन्ने ॥१०॥

(छाया) केषां च बद्ध्वा गले शिलाः, उदके मज्जयन्ति महालये
कलम्बुकाबालुकायां मुर्मुरे च लोलयन्ति पचन्ति च तत्राऽन्ये।

(अन्वयार्थ) [केसिं च] किन्हीं नारकि जीवों के [गले] गले में [सिलाओ बंधित्तु] शिलायें बाँधकर [महालयंसि] अगाध [उदगंसि] जलमें [बोलंति] डुवाते हैं। [अन्ने] तथा दूसरे परमाधार्मिक [कलंबुयावालुय मुम्मुरे य लोलंति पच्चंति] अति तप्त वालुमें और मुर्मुरमें इधर उधर फेरते हैं तथा पकाते हैं।

(भावार्थ) नरकपाल किन्ही नारकि जीवोंके गलेमें शिला बांधकर अगाध जलमें डुवाते है और दूसरे नरकपाल अतितप्त वालुकामें और मुर्मुराग्निमें उन नारकि जीवोंको इधर उधर फेरते हैं और पकाते हैं।

(टीका) केषांचिन्नारकाणां परमाधार्मिका महतीं शिलां गले बद्ध्वा महत्युदके 'बोलंति'त्ति, निमज्जयन्ति, पुनस्ततः समाकृष्य वैतरणीनद्याः कलम्बुकावालु-कायां मुर्म्मुराग्नौ च 'लोलयन्ति' अतितप्तवालुकायां चणकानिव समन्ततो घोलयन्ति. तथा अन्ये 'तत्र' नरकावासे स्वकर्मपाशावपाशितान्नरकान् सुण्ठके प्रोतकमांसपेशीवत् 'पचन्ति' भर्जयन्तीति ॥ १० ॥ तथा—

(टीकार्थ) परमाधार्मिक, किन्ही नारकि जीवोंके गलेमें वडी वडी शिलायें बाँधकर अगाध जलमें डुवाते हैं पश्चात् फिर उन्हे वहां खींचकर वैतरणी नदीके कलम्बुका फूलके समान अति तप्त लाल वालुकामें तथा मुर्मुराग्निमें इधर उधर इस प्रकार फिराते है जैसे चनाको वालूमें

---

१ प्रोतम। प्र०।

डालकर इधर उधर फेरते हैं। तथा दूसरे परमाधार्मिक, अपने कर्मरूपी जालमें फंसे हुए उन नारकि जीवोंको शूलमें वेधकर पकाये जाते हुए मांसकी तरह पकाते हैं। १०

मूलम्–आसूरियं नाम महाभितावं, अंधंतमं दुप्पतरं महंतं। उड्ढं अहेअं तिरियं दिसासु, समाहिओ जत्थऽगणी झियाइ॥११॥

(छया) असूर्य्यं नाम महाभितापमन्धन्तमं दुष्प्रतरं महान्तम्
ऊर्ध्वमधस्तिर्य्यग्दिशासु समाहितो यत्राग्निः प्रज्वलति।

[अन्वयार्थ] [आसुरियं नाम] जिसमें सूर्य्य नहीं है [महाभितावं] और जो महान् तापसे युक्त है [अंधंतमं दुप्पतरं महंतं] तथा जो भयंकर अन्धकारसे युक्त और दुःखसे पार करने योग्य एवं महान् है [जत्थ] तथा जिसमें [उड्ढं] ऊपर [अहेयं] नीचे [तिरियं] तथा तिरच्छे [दिसासु] दिशाओंमें [समाहिओ अगणी झियाइ] प्रज्वलित अग्नि जलती रहती है।

(भावार्थ) जिसमें सूर्य नहीं है तथा जो महान् तापवाला है जो घना अन्धकारसे पूर्ण दुःखसे पार करने योग्य और महान् है, जहाँ ऊपर नीचे तथा तिरछे अर्थात् सर्व दिशाओंमें प्रज्वलित आग जलती है ऐसे नरकोंमें पापी जीव जाते हैं।

(टीका) न विद्यते सूर्यो यस्मिन् सः असूर्यो–नरको बहलान्धकारः कुम्भिकाकृतिः सर्व एव वा नरकावासोऽसूर्य इति व्यपदिश्यते, तमेवम्भूतं महाभितापम् अन्धतमसं 'दुष्प्रतरं' दुरुत्तरं 'महान्तं' विशालं नरकं महापापोदयाद्व्रजन्ति, तत्र च नरके ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् सर्वतः 'समाहितः' सम्यगाहितो व्यवस्थापितोऽग्निर्ज्वलतीति, पठ्यते च 'समूसिओ जत्थऽगणी झियाई' यत्र नरके सम्यगूर्ध्वं श्रितः–समुच्छ्रितोऽग्निः प्रज्वलति तं तथाभूतं नरकं वाराका व्रजन्ति इति ॥ ११ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) जिसमें सूर्य्य नहीं रहता ऐसा कुम्भिकाके समान आकारवाला बहुत अन्धकारसे युक्त एक असूर्यनामक नरक है। अथवा सभी नरकोंको असूर्य कहते हैं। ऐसे महान् तापसे युक्त तथा घने अन्धकारसे परिपूर्ण, दुःखसे पार करने योग्य विशाल नरकमें महान् पापके उदय होनेसे पापी प्राणी जाते हैं। उस नरकमें ऊपर नीचे तथा तिरछे सभी दिशाओंमें रखी हुई आग जलती रहती है। ऐसा पाठभी है " समूसिओ " अर्थात् जिस नरकमें बहुत ऊपर तक उठी हुई आग जलती रहती है ऐसे नरकमें विचारे पापी प्राणी जाते है।११

१ असुरियं प्र० ।२ जाज्वल० प्र० । ३ पच्यते प्र० ।

जंसी गुहाए जलणेऽतिउट्टे, अविजाणओ डज्झइ लुत्तपण्णो ।
सया य कलुणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं १२

छाया—यस्मिन् गुहायां ज्वलनेऽतिवृत्तोऽविजानन् दह्यते, लुप्तप्रज्ञः,
सदा च करुणं पुनर्घर्मस्थानं गाढोपनीतमतिदुःखधर्मम् ।

(जंसी) जिस नरकमें (गुहाए जलणे) गुफाके आकारमें स्थापित अग्निमें (अतिउट्टे) आवृत होकर अपने पापको न जानता हुआ (लुत्तपण्णे) संज्ञाहीन प्राणी (डज्झइ) जलता रहता है । (सयाय) जो नरक सदा (कलुणं) करुणाप्राय है (घम्मट्ठाणं) तथा सम्पूर्ण तापका स्थान है (गाढोवणीयं) जो पापी जीवोंको बलात्कार से प्राप्त होता है (अतिदुक्खधम्मं) एवं अत्यन्त दुःख देना जिसका स्वभाव है ।

(भावार्थ) जिस नरकमें गुफाके आकारमें स्थापित की हुई आगमें पडे हुए नारकि जीव, अपने पापको विस्मृत और संज्ञाहीन होकर जलते हैं । नरकभूमि करुणाप्राय और तापका स्थान है वह अत्यन्त दुःख देनेवाली और पापकर्मसे प्राप्त होती है ।

(टीका) 'यस्मिन्' नरकेऽतिगतोऽसुमान् 'गुहाया' मित्युष्ट्रिकाकृतौ नरके प्रवेशितो 'ज्वलने' अग्नौ 'अतिवृत्तः' अतिगतो वेदनाभिभूतत्वात्स्वकृतं दुश्चरितमजानन् 'लुप्तप्रज्ञः' अपगतावधिविवेको दन्दह्यते, तथा 'सदा' सर्वकालं पुनः करुणप्रायं कृत्स्नं वा 'घर्मस्थानम्' उष्णस्थानं तापस्थानमित्यर्थः, 'गाढं'ति अत्यर्थम् 'उपनीतं' ढौकितं दुष्कृतकर्मकारिणां यत् स्थानं तत्ते व्रजन्ति, पुनरपि तदेव विशिनष्टि—अतिदुःखरूपो धर्मः—स्वभावो यस्मिन्निति, इदमुक्तं भवति—अक्षिनिमेषमात्रमपि कालं न तत्र दुःखस्य विश्राम इति, तदुक्तम्—"अच्छिणिमीलणमेत्तं णत्थि सुहं दुक्खमेव पडिबद्धं । णिरए णेरइयाणं अहोणिसं पच्चमाणाणं ॥ १ ॥" ॥ १२ ॥ अपिच—

(टीकार्थ) जिस नरकमें गया हुआ प्राणी, गुहा अर्थात् ऊंटके समान आकारवाली नरकभूमिमें प्रविष्ट होकर आगमें जलता हुआ वेदनासे पीडित होकर अपने पापको नहीं जानता है तथा अवधिके विवेकसे रहित होकर अत्यन्त जलता रहता है । वह नरक सब कालमें करुणाप्राय है अथवा वह समस्त गर्मीका स्थान है । वह नरक पापकर्म करनेवाले प्राणियोंको प्राप्त होता है । ऐसे स्थानमें पापी जीव जाते हैं । फिरभी उसी स्थानकी विशेषता

---

२ अक्षिनिमीलनमात्रं नास्ति सुखं दुःखमेव प्रतिबद्धं निरये नैरयिकाणां अहर्निशं पच्यमानानाम् ॥ १ ॥

बतलाते हैं उस नरकका स्वभाव अत्यन्त दुःख देनेका है आशय यह है कि—नेत्रका निमेष मात्र काल तकभी वहां दुःखसे विश्राम नहीं मिलता है। जैसाकि कहा है—"अच्छि" इत्यादि। अर्थात् नेत्रका पलक मारनेके काल मात्रभी नारकि जीवोंको सुख नहीं होता है किन्तु निरन्तर नरकमें पकते हुए उनको कष्टही भोगना पडता है। १२

चत्तारि अगणीओ समारभित्ता, जहिं कूरकम्माऽभितविंति बालं।
ते तत्थ चिट्ठंतऽभितप्पमाणा मच्छा व जीवंतुवजोतिपत्ता ॥१३॥

(छाया) चतसृष्वग्नीन् समारभ्य, यस्मिन् क्रूरकर्माणोऽभितापयन्ति बालम्
ते तत्र तिष्ठन्त्यभितप्यमाना मत्स्या इव जीवन्त उपज्योतिः प्राप्ताः।

(अन्वयार्थ) (जहिं) जिस नरकभूमिमें (कूरकम्मा) क्रूरकर्म करनेवाले परमाधार्मिक (चत्तारि) चारो दिशाओंमे चार (अगणीओ) अग्नि (समारभित्ता) जलाकर (बालं) अज्ञानी नारकि जीवको (अभितविंति) तपाते हैं। (ते) वे नारकि जीव, (जीवंतुवजोतिपत्ता मच्छा व) अग्नि अर्थात अग्नि के पास प्राप्त जीती हुई मच्छलीकी तरह (अभितप्पमाणा) ताप पाते हुए (तत्थ) उसी जगह (चिट्ठंत) स्थित रहते हैं।

(भावार्थ) उन नरकोंमें परमाधार्मिक, चारो दिशाओंमें चार अग्निओंको जलाकर अज्ञानी जीवोंको तपाते हैं। जैसे जीती हुई मच्छली आगमें डाली जाकर वहीं तपती हुई स्थित रहती है इसी तरह वे बिचारे नारकि आगमें जलते हुए वहीं स्थित रहते हैं।

(टीका) चतसृष्वपि दिक्षु चतुरोऽग्नीन् 'समारभ्य' प्रज्वाल्य 'यत्र' यस्मिन्नरकावासे 'क्रूरकर्माणो' नरकपाला आभिमुख्येनात्यर्थं तापयन्ति—भटित्रवत्पचन्ति 'बालम्' अज्ञं नारकं पूर्वकृतदुश्चरितं ते तु नारकजीवा एवम् 'अभितप्यमानाः' कदर्थ्यमानाः स्वकर्मनिगडितास्तत्रैव प्रभूतं कालं महादुःखाकुले नरके तिष्ठन्ति, दृष्टान्तमाह—यथा जीवन्तो 'मत्स्या' मीना 'उपज्योतिः' अग्नेः समीपे प्राप्ताः परवशत्वादन्यत्र गन्तुमसमर्थास्तत्रैव तिष्ठन्ति, एवं नारका अपि, मत्स्यानां तापासहिष्णुत्वादग्नावत्यन्तं दुःखमुत्पद्यत इत्यतस्तद्ग्रहणमिति ॥१३॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) जिस नरकस्थानमें क्रूर कर्म करनेवाले नरकपाल चार दिशाओंमें चार अग्नियोंको जलाकर पूर्व जन्ममें पाप किये हुए अज्ञानी नारकि जीवको भट्ठीकी तरह अत्यन्त ताप देते हुए पकाते हैं, इस प्रकार पीडा पाते हुए वे नारकि जीव अपने कर्मपाशमें बँधे हुए

होनेके कारण महादुःखद उसी नरकमें चिर कालतक निवास करते हैं। इस विषयमें दृष्टान्त देते हैं—जैसे जीती हुई मच्छली अग्नि के निकट प्राप्त होकर परवश होनेके कारण अन्यत्र नहीं जा सकती किन्तु उसी जगह स्थित रहती है इसी तरह नारकि जीवभी वहीं स्थित रहते हैं। मच्छली तापको नहीं सह सकती है इस लिये आगमें उसे महा दुःख होता है इसी लिये यहां मच्छलीका दृष्टान्त दिया है। १३

संतच्छणं नाम महाहितावं, ते नारया जत्थ असाहुकम्मा।
हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं, फलगं व तच्छंति कुहाडहत्था ॥१४॥

(छाया) संतक्षणं नाम महाभितापं ते नारका यत्र असाधुकर्माणः
हस्तैश्च पादैश्च बद्ध्वा फलकमिव तक्ष्णुवन्ति कुठारहस्ताः।

(अन्वयार्थ) (महाहितावं) महान् तापदेनेवाला (संतच्छणं नाम) संतक्षण नामक एक नरक है (जत्थ) जिसमें (असाहुकम्मा) बुरा कर्म करनेवाले (कुहाडहत्था) तथा हाथमें कुठार लिये हुए (ते नारया) वे परमाधार्मिक (हत्थेहिं पाएहि य बंधिऊणं) नारकि जीवोंके हाथ पैर बांधकर (फलगं व तच्छंति) काठकी तरह काटते हैं।

(भावार्थ) संतक्षण नामक एक नरक है। वह प्राणियोंको महान् ताप देनेवाला है। उस नरकमें क्रूर कर्म करनेवाले परमाधार्मिक अपने हाथमें कुठार लिये रहते है। वे नारकि जीवोंको हाथ पैर बांधकर काटकी तरह कुठारके द्वारा काटते हैं।

(टीका) सम्—एकीभावेन तक्षणं सन्तक्षणं, नामशब्दः सम्भावनायां, यदेतत्संतक्षणं तत्सर्वेषां प्राणिनां 'महाभितापं' महादुःखोत्पादकमित्येवं सम्भाव्यते, यद्येवं ततः किमित्याह—ते 'नारका' नरकपाला 'यत्र' नरकावासे स्वभवनादागताः 'असाधुकर्माणः' क्रूरकर्माणो निरनुकम्पाः 'कुठारहस्ताः' परशुपाणयस्तान्नारकानत्राणान् हस्तैः पादैश्च 'बद्ध्वा' संयम्य 'फलकमिव' काष्ठशकलमिव 'तक्ष्णुवन्ति' छिन्दन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥ अपि च—

(टीकार्थ) जो एक भावसे प्राणियोंको काटता है उसे 'संतक्षण' कहते है। नाम शब्द सम्भावना अर्थमे आया है। यह जो संतक्षण नरक है वह सब प्राणियोंको महान् दुःख उत्पन्न करता है यह संभव है। यदि ऐसा है तो क्या? उत्तर देते हुए शास्त्रकार कहते है कि—उस नरकमें क्रूरकर्म करनेवाले दयारहित तथा हाथमें कुठार लिये हुए नरकपाल अपने घरसे आकर रक्षक रहित उन नारकि जीवोंको हाथ पैर बांधकर काठके समान कुठारके द्वारा छेदन करते हैं। १४

मूलम्–रुहिरे पुणो वच्चसमुस्सिअंगे, भिन्नुत्तमंगे परिवत्तयंता।
पयंति णं णेरइए फुरंते, सजीवमच्छे व अयोकवल्ले ॥ १५ ॥

(छाया) रुधिरे पुनः वर्चः समुच्छ्रिताङ्गान् भिन्नोत्तमाङ्गान् परिवर्त्तयन्तः,
पचन्ति नैरयिकान् स्फुरतः सजीवमत्स्यानिवायसकवल्याम् ।

(अन्वयार्थ) (पुणो) फिर नरकपाल (रुहिरे) नारकि जिवोंके रक्तमें (वच्चसंमुस्सिअंगे) मलके द्वारा जिनका शरीर सूज गया है तथा (भिन्नुत्तमंगे) जिनका शिर चूर्ण कर दिया गया है (फुरंते) एवं जो पीडाके मारे छटपटा रहे हैं (णेरइए) ऐसे नारकि जीवोंको (परि-त्तयंतो) नीचे ऊपर उलाटते हुए (सजीव मच्छेव) जीवित मच्छलीकी तरह (अयोकवल्ले) लोहकी कढाहीमें (पयंति) पकाते हैं ।

(भावार्थ) नरकपाल, नारकी जीवोंका रक्त निकाल कर उसे गर्म कडाहमें डालकर उस रक्तमें जीते हुए मच्छलीकी तरह दुःखसे छटपटाते हुए नारकि जीवोंको पकाते हैं। उन नारकि जीवोंका शिर पहले नरकपालोंके द्वारा चूर चूर कर दिया गया है तथा उनका शरीर मलके द्वारा सूजा हुआ है ।

(टीका) ते परमाधार्मिकास्तान्नारकान्स्वकीये रुधिरे तप्तकवल्यां प्रक्षिप्ते पुनः पचन्ति, वर्चःप्रधानानि समुच्छ्रितान्यन्त्राण्यङ्गानि वा येषां ते तथा तान् भिन्नं-चूर्णितम् उत्तमाङ्ग–शिरो येषां ते तथा तानिति, कथं पचन्तीत्याह–'परिवर्तयन्तः' उत्तानानवाङ्मुखान् वा कुर्वन्तः णमिति वाक्यालङ्कारे तान्–'स्फुरत' इतश्चेतश्च विह्वलमात्मानं निक्षिपतः सजीवमत्स्यानिवायसकवल्यामिति ॥१५॥ तथा—

(टीकार्थ) वे परमाधार्मिक उन नारकिजीवोंको उनका रक्त गर्म कडाहमें डालकर पकाते हैं। उन नारकि जीवोंकी अंतडी अथवा अङ्ग मलसे सूजे हुए हैं। तथा उनका शिर चूर चूर कर दिया गया है। वे किस तरह पकाते हैं ? सो कहते हैं—जो नारकि उत्तान पडे हैं उनको अवाङ्मुख और जो अवाङ्मुख हैं उनको उत्तान करते हुए पकाते हैं। "णं" शब्द वाक्यालंकारमें आया है। इस प्रकार पकाये जाते हुए नारकि जीव विकल होकर इधर उधर अपने शरीरको फेंकते रहते हैं और नरकपाल जीती हुई मच्छलीकी तरह उन्हे लोहकी कडा-हीमें पकाते हैं। १५

मूलम्—नो चेव ते तत्थ मसीभवंति, ण मिज्जती तिव्वभिवेयणाए।
तमाणुभागं अणुवेदयंता, दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥ १६ ॥

(छाया) नो चैव ते तत्र मषीभवन्ति, न म्रियन्ते तीव्राभिवेदनया
तमनुभागमनुवेदयन्तः दुःख्यन्ति दुःखिन इह दुष्कृतेन ।

(अन्वयार्थ) (तत्थ) उस नरकमें (ते) वे नारकी जीव (नो मसीभवंति) जलकर भस्म नहीं होजाते हैं (तिव्वभिवेदणाए) तथा नरककी तीव्र पीडासे (नो मिज्जती) मरते नहीं हैं। (तमणुभागमणुवेदयंता) किन्तु नरककी उस पीडाको भोगते हुए वे वहीं रहते हैं (इह दुक्कडेणं) और इस लोकमें किये हुए पापके कारण वे (दुक्खी दुक्खंति) वहाँ दुःख पाते हैं ।

(भावार्थ) नारकि जीव नरककी आगमें जलकर भस्म नहीं होते हैं और नरकक तीव्र पीडासे मरते भी नहीं हैं किन्तु इस लोकमें अपने किये हुए पापके कारण नरककी पीडा भोगते हुए वहां दुःख पाते रहते हैं ।

(टीका) ते च नारका एवं बहुशः पच्यमाना अपि 'नो' नैव 'तत्र' नरके पाके वा नरकानुभावे वा सति 'मषीभवन्ति' नैव भस्मसाद्भवन्ति, तथा तत्तीव्राभिवेदनया नापरमग्निप्रक्षिप्तमत्स्यादिकमप्यस्ति यन्मीयते—उपमीयते, अनन्यसदृशीं तीव्रां वेदनां वाचामगोचरामनुभवन्तीत्यर्थः, यदिवा—तीव्राभिवेदनयाऽप्यननुभूतस्वकृतकर्मत्वान्न म्रियन्त इति, प्रभूतमपि कालं यावत्तत्ताहशं शीतोष्णवेदनाजनितं तथा दहनच्छेदनभेदनतक्षणत्रिशूलारोपणकुम्भीपाकशाल्मल्यारोहणादिकं परमाधार्मिकजनितं परस्परोदीरणनिष्पादितं च 'अनुभागं' कर्मणां विपाकम् 'अनुवेदयन्तः' समनुवेदयन्तः समनुभवन्तस्तिष्ठन्ति, तथा स्वकृतेन 'दुष्कृतेन' हिंसादिनाऽष्टादशपापस्थानरूपेण सततोदीर्णदुःखेन दुःखिनो 'दुःख्यन्ति' पीड्यन्ते, नाक्षिनिमेषमपि कालं दुःखेन मुच्यन्त इति ॥ १६ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) वे नारकि जीव पूर्वोक्त रूपसे बहुत बार पकाये जाते हुए भी उस नरकमें जलकर भस्म नहीं होजाते तथा वे जैसी तीव्र वेदनाको अनुभव करते हैं उसकी उपमा आगमें डाली हुई मच्छली आदिकी वेदनासे भी नहीं दीजासकती है अतः वे वर्णन करनेके अयोग्य अनुपम वेदनाको अनुभव करते हैं। अथवा तीव्र वेदना होनेपरभी अपने किये हुए कर्मोंका फलभोग शेष रहनेके कारण वे नारकि जीव मरते नहीं हैं किन्तु बहुत कालतक पूर्व वर्णनके अनुसार शीत उष्ण जनित पीडाको अनुभव करते हुए तथा परमाधार्मिकों के द्वारा उत्पन्न

किये हुए दहन (जलाना) छेदन, भेदन, तक्षण (छीलना) त्रिशूलपर चढाना, कुम्भीमें पकाना, और शाल्मली वृक्षपर चढाना आदि एवं परस्पर एक दूसरेके द्वारा उत्पन्न किये हुए अपने कर्मोंका फलस्वरूप दुःखोंको भोगते हुए वे वहाँ रहते हैं। नरकमें रहनेवाले जीव, अपने किये हुए हिंसा आदि अठारह स्थानरूप पापों के कारण निरन्तर उत्पन्न दुःखसे दुखी होते रहते हैं, उन्हें नेत्रके पलक गिराने मात्र काल तकभी दुःखसे मुक्ति नहीं मिलती है। १६

मूलम्–तहिं च ते लोलणसंपगाढे, गाढं सुतत्तं अगणिं वयंति।
न तत्थ सायं लहती भिदुग्गे, अरहियाभितावा तहवी तविंति॥१७

(छाया) तस्मिश्च ते लोलनसंप्रगाढे, गाढं सुतप्तमग्निं व्रजन्ति
न तत्र सातं लभन्तेऽभिदुर्गेऽरहिताभितापान् तथापि तापयन्ति।

(अन्वयार्थ) (लोलणसंपगाढे) नारकि जीवोंके चलनेसे भरेहुए (तहिं) उस नरकमें (गाढं) अत्यन्त (सुतत्तं) तपी हुई (अगणिं) अग्निके पास (वयंति) वे नारकि जीव जाते हैं (अभिदुग्गे तत्थ) उस अतिदुर्ग अग्निमें (सायं न लहइ) वे जीव सुख नहीं पाते हैं और (अरहियाभितावा) वे यद्यपि तापसे युक्त होते हैं (तहवि) तथापि (तविंति) उन्हें नरकपाल तपाते हैं।

(भावार्थ) शीतसे पीडित नारकि जीव अपनी शीत मिटानेके लिये नरकमें जलती हुई आगके पास जाते हैं परन्तु वे विचारे वहां सुख नहीं पाते किन्तु उस भयङ्कर अग्निमें जलने लगते हैं। उन जलते हुए नारकि जीवोंको परमाधार्मिक और अधिक जलाते हैं।

'तस्मिंश्च' महायातनास्थाने नरके तमेव विशिनष्टि–नारकाणां लोलनेन सम्यक् प्रगाढो–व्याप्तो भृतः स तथा तस्मिन्नरके अतिशीतार्ताः सन्तो 'गाढम्' अत्यर्थं सुष्ठु तप्तम् अग्निं व्रजन्ति, 'तत्रापि' अग्निस्थानेऽभिदुर्गे दह्यमानाः 'सातं' सुखं मनागपि न लभन्ते, 'अरहितो' निरन्तरोऽभितापो–महादाहो येषां ते अरहिताभितापाः तथापि तान्नारकांस्ते नरकपालास्तापयन्त्यत्यर्थं तप्ततैलाग्निना दहन्तीति॥ १७॥ अपि च—

(टीकार्थ) नरक महान् पीडाका स्थान है उसकी विशेषता बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि नरक नारकि जीवोंके हलचलसे भरा हुआ होता है, उसमें अत्यन्त शीत से पीडित नारकि जीव अपनी शीत दूर करनेके लिये अति प्रदीप्त अग्निके पास जाते हैं वह नरककी

---

२ अरहियाभि० प्र०।

अग्नि वडी दाहक होती है उसमें वे विचारे जलने लगते हैं अतः उनको वहां थोडाभी सुख नहीं मिलता है। उस अग्निमें वे निरन्तर जलते रहते हैं इस लिये उन्हें यद्यपि महान् ताप होता है तथापि नरकपाल उनपर गरम तेल छिटक कर और ज्यादा जलाते हैं। १७

मूलम्-से सुच्चई नगरवहे व सद्दे, दुहोवणीयाणि पयाणि तत्थ !
उदिण्णकम्माण उदिण्णकम्मा, पुणो पुणो ते सरहं दुहेंति॥१८॥

(छाया) अथ श्रूयते नगरवधइव शब्दः, दुःखोपनीतानि पदानि तत्र
उदीर्णकर्मण उदीर्णकर्माणः पुनः पुनस्ते सरभसं दुःखयन्ति।

[अन्वयार्थ] [से] इसके पश्चात् [तत्थ] उस नरकमें [नगरवहे व सद्दे] नगरवधके समान शब्द [सुच्चई] सुनाई पड़ते हैं। [दुहोवणीयाणि पयाणि] तथा वहां करुणामय पद सुनाई पडते हैं। [उदिण्णकम्मा] मिथ्यात्व आदिके उदयमें वर्तमान परमाधार्मिक [उदिण्णकम्माण] जिनका पापकर्म फल देनेकी दशामें आया है ऐसे नारकि जीवोंको [पुणो पुणो] वार वार [सरहं] वडे उत्साहके साथ [दुहेंति] दुःख देते हैं।

(भावार्थ) जैसे किसी नगरका नाश होते समय नगरवासी जनताका महान् शब्द होता है उसीतरह उस नरकमें महान् शब्द सुनाई देता है और शब्दों में करुणमय शब्द सुनाई पड़ते हैं। मिथ्यात्व आदि कर्मों के उदय में वर्तमान परमाधार्मिक जिनका पापकर्म फल देनेकी अवस्थामें उपस्थित है ऐसे नारकि जीवोंको वडे उत्साहके साथ वार वार पीडा देते हैं।

(टीका) से शब्दोऽथशब्दार्थे, 'अथ' अनन्तरं तेषां नारकाणां नरकपालै रौद्रैः कदर्थ्यमानानां भयानको हाहारवप्रचुर आक्रन्दनशब्दो नगरवध इव 'श्रूयते' समाकर्ण्यते, दुःखेन पीडयोपनीतानि-उच्चारितानि करुणाप्रधानानि यानि पदानि हा मातस्तात! कष्टमनाथोऽहं शरणागतस्तव त्रायस्व मामित्येवमादीनां पादानां 'तत्र' नरके शब्दः श्रूयते, उदीर्णम्-उदयप्राप्तं कटुविपाकं कर्म येषां ते तथा तेषां तथा 'उदीर्णकर्माणो' नरकपाला मिथ्यात्वहास्यरत्यादीनामुदये वर्तमानाः 'पुनः पुनः' वहुशस्ते 'सरहं(दुहें)ति' सरभसं-सोत्साहं नारकान् 'दुःखयन्ति' अत्यन्तमसह्यं नानाविधैरुपायैर्दुःखमसातवेदनीयमुत्पादयन्तीति ॥१८॥ तथा—

(टीकार्थ) 'से' शब्द अथ शब्दके अर्थ में आया है। इसके पश्चात् भयङ्कर परमाधार्मिकों के द्वारा पीडित किये जाते हुए उन नारकि जीवोंका हाहाकार से भरा हुआ भयानक रोदन शब्द नगरका-वधके समान सुनाई पड़ता है। तथा उस नरकमें दुःखके साथ उच्चारण

किये हुए करुणा प्रधान पद सुनाई पड़ते हैं। जैसे कि–हे मात! हे तात! मैं अनाथ हूं। मैं तुम्हारा शरणागत हूं, तू मेरी रक्षा करो इत्यादि पदोंका शब्द उस नरक में सुनाई पड़ता है। जिनका कटु फल देनेवाला कर्म उदयको प्राप्त है ऐसे नारकि जीवोंको मिथ्यात्व, हास्य, और रति आदि के उदयमें वर्तमान नरकपाल, वार वार उत्साह के साथ नाना प्रकारके उपायों से अत्यन्त असह्य दुःख देते हैं। १८

मूलम्–पाणेहि णं पाव विओजयंति, तं भे पवक्खामि जहातहेणं।
दंडेहिं तत्था सरयंति बाला, सव्वेहिं दंडेहि पुराकएहिं ॥ १९ ॥

(छाया) प्राणैः पापा वियोजयन्ति, तद् भवद्भ्यः प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन।
दण्डैस्तत्र स्मरयन्ति बालाः सर्वैः दण्डैः पुराकृतैः

[अन्वयार्थ] [पावा] पापी नरकपाल [पाणेहि विओजयंति] नारकि जीवोंके अङ्गोंको काटकर अलग अलग करदेते हैं। [तं] इसका कारण [भे] आपको [जहातहेणं] ठीक ठीक (पवक्खामि) मैं बताता हूं। (बाला) अज्ञानी नरकपाल (दंडेहि) नारकि जीवोंको दण्ड देकर (सव्वेहिं) पुराकएहि दंडेहिं) उनके पूर्वकृत सब पापोंको (सरयंति) स्मरण कराते हैं

(भावार्थ) पापी नरकपाल, नारकि जीवोंके अङ्गोंको काटकर अलग अलग करदेते हैं। इसका कारण मैं आपको बताताहूं। वे उन प्राणियोंके द्वारा पूर्वजन्म में दिये हुए दूसरे प्राणियोंके दण्डके अनुसारही दण्ड देकर उन्हें उनके पूर्वकृत कर्मको याद दिलाते हैं।

(टीका) 'णमिति' वाक्यालङ्कारे, 'प्राणैः' शरीरेन्द्रियादिभिस्ते 'पापाः' पापकर्माणो नरकपाला 'वियोजयन्ति' शरीरावयवानां पाटनादिभिः प्रकारैर्विकर्तनादवयवान् विश्लेषयन्ति, किमर्थमेवं ते कुर्वन्तीत्याह–'तद्' दुःखकारणं 'भे' युष्माकं 'प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन' अवितथं प्रतिपादयामीति, दण्डयन्ति–पीडामुत्पादयन्तीति दण्डा–दुःखविशेषास्तैर्नारकाणामापादितैः 'बाला' निर्विवेका नरकपालाः पूर्वकृतं स्मारयन्ति, तद्यथा–तदा हृष्टस्त्वं खादसि समुत्कृत्योत्कृत्य प्राणिनां मांसं तथा पिबसि तद्रसं मद्यं च गच्छसि परदारान्, साम्प्रतं तद्विपाकापादितेन कर्मणाऽभितप्यमानः किमेवं रारटीपीत्येवं सर्वैः पुराकृतैः 'दण्डैः' दुःखविशेषैः स्मारयन्तस्तादृग्भूतमेव दुःखविशेषमुत्पादयन्तो नरकपालाः पीडयन्तीति ॥ १९ ॥ किञ्च—

(टीकार्थ) 'णं' शब्द वाक्यालङ्कार में आया है। पाप करनेवाले नरकपाल नारकिजीवोंके अङ्गोंको काटकर जूदा जूदा करदेते हैं। वे ऐसा क्यों करते है? सो इसका कारण मैं सत्य सत्य बताताहूं। विवेकरहित नरकपाल नारकि जीवोंको नाना प्रकारका दण्ड देकर उनके पूर्वकृत कर्मोंको स्मरण कराते हैं, जैसे कि तू बडे हर्षके साथ प्राणियोंका मांस काट काट कर खाताथा तथा उनका रस पीताथा एवं मद्यपान तथा परस्त्रीसेवन करताथा अब उन्हीं कर्मोंका फल दुःख भोगता हुआ तू क्यों इस प्रकार चिल्ला रहा है? इस प्रकार नरकपाल नारकि जीवोंके द्वारा पूर्वजन्ममें दिये हुए दूसरे प्राणियोंके सभी दण्डोंको स्मरण कराते हुए उनके समानही दुःख देकर उन्हें पीडा देते हैं। १९

मूलम्--ते हम्ममाणा णरगे पडंति, पुन्ने दुरूवस्स महाभितावे।
ते तत्थ चिट्ठंति दुरूवभक्खी, तुट्टंति कम्मोवगया किमीहिं ॥२०॥

(छाया) ते हन्यमाना नरके पतन्ति, पूर्णे दुरूपस्य महाभितापे
ते तत्र तिष्ठन्ति दुरूपभक्षिणः, तुद्यन्ते कर्मोपगताः कृमिभिः।

(अन्वयार्थ) (हम्ममाणा ते) परमाधार्मिकोंके द्वारा मारे जाते हुए वे नारकि जीव (महाभितावे) महान् कष्ट देनेवाले (दुरूवस्स पुण्णे) विष्ठा और मूत्रसे पूर्ण (नरए) दूसरे नरकमें (पडंति) गिरते हैं। (ते तत्थ) वे वहां (दुरूवभक्खी) विष्ठा मूत्र आदिका भक्षण करते हुए (चिट्ठंति) चिरकालतक निवास करते हैं (कम्मोवगया) और कर्मके वशीभूत होकर (कीमिहि) कीडोंके द्वारा (तुट्टंति) काटे जाते हैं।

(भावार्थ) नरकपालोंके द्वारा मारे जाते हुए वे नारकि जीव, उस नरकसे निकलकर दूसरे ऐसे नरकमें कूदकर गिरते हैं जो विष्ठा और मूत्रसे पूर्ण है तथा वे वहां विष्टा मूत्रका भक्षण करते हुए चिरकालतक रहते हैं और वहां कीडोंके द्वारा काटे जाते हैं।

(टीका) 'ते' वराका नारका 'हन्यमानाः' ताड्यमाना नरकपालेभ्यो नष्टा अन्यस्मिन् घोरतरे 'नरके' नरकैकदेशे 'पतन्ति गच्छन्ति, नरके?–'पूर्णे' भृते दुष्टं रूपं यस्य तद्रूपं–विष्ठासृग्मांसादिकल्मलं तस्य भृते तथा 'महाभितापे' अतिसन्तापोपेते 'ते' नारकाः स्वकर्मावबद्धाः 'तत्र' एवम्भूते नरके 'दूरूपभक्षिणः' अशुच्यादिभक्षकाः प्रभूतं कालं यावत्तिष्ठन्ति, तथा 'कृमिभिः' नरकपालापादितैः परस्परकृतैश्च 'स्वकर्मोपगताः' स्वकर्मढौकिताः 'तुद्यन्ते' व्यथ्य-

न्ते इति । तथा चागमः—"छट्ठीसत्तमासु णं पुढवीसु नेरइया पहू महंताइं लोहिकुंथुरूवाइं विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स कायं समतुरंगेमाणा अणुघायमाणा अणुघायमाणा चिट्ठंति" ॥ २० ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) वे विचारे नारकि जीव, नरकपालोंके द्वारा मारे जाते हुए दूसरे अत्यन्त घोर नरक में (नरकके एक देशमें) जाते हैं । वह नरक कैसा है ? वह विष्ठा, रक्त, और मांस आदि अपवित्र पदार्थोंसे भरा है तथा अत्यन्त सन्तापसे युक्त है ऐसे नरकमें अपने कर्म पाशमें बँधे हुए नारकि जीव, अशुचि आदि पदार्थोंका भक्षण करते हुए चिरकालतक निवास करते हैं । तथा वे नरकपालोंके द्वारा उत्पन्न किये हुए कीडोंके द्वारा और आपसमें एक दूसरेके द्वारा प्रेरित कीडोंके द्वारा अपने कर्मवशीभूत होकर काटे जाते हैं । इस विषयमें आगम कहता है कि—"छट्ठी" इत्यादि, अर्थात् नारकि जीव, छट्ठी और सातवीं नरकभूमिमें अत्यन्त बडा रक्तका कुन्थु (कीडा)रूप बनाकर परस्पर एक दूसरेके शरीरको हनन करते हैं । २०

मूलम्—सया कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ।
अंदूसु पक्खिप्प विहत्तु देहं, वेहेण सीसं सेऽभितावयंति ॥ २१ ॥

(छाया) सदा कृत्स्नं पुनर्धर्मस्थानं, गाढोपनीतमतिदुःखधर्मम्
अन्दूषु प्रक्षिप्य विहृत्य देहं वेधेन शीर्षं तस्याभितापयन्ति ।

(अन्वयार्थ) (सया कसिणं पुण घम्मठाणं) नारकि जीवोंके रहनेका सम्पूर्ण स्थान सदा उष्ण होता है (गाढोवणीयं) और वह स्थान (निधत्त निकाचित रूप कर्मोंके द्वारा) नारकि जीवोंके प्राप्त हुआ है । (अतिदुक्खधम्मं) अत्यन्त दुःख देना उस स्थानका धर्म है । (अंदूसु पक्खिप्प) नरकपाल नारकिजीवोंके शरीरको बेडीमें डालकर (देहं विहत्तु) तथा उनके मस्तकमें (वेहेन) छिद्र करके (अभितावयंति) पीडित करते हैं ।

(भावार्थ) नारकि जीवोंके रहनेका स्थान सम्पूर्ण सदा गरम रहता है । वहस्थान निधत्त निकाचित आदि कर्मोंके द्वारा नारकि जीवोंने प्राप्त किया है । उस स्थानका स्वभाव अत्यन्त दुःख देना है । उस स्थानमें नारकिजीवोंके शरीरको तोड़ मरोड़कर तथा उसे बेडी बन्धनमें डाल एवं उनके शिरमें छिद्र करके नरकपाल उन्हें पीडित करते हैं ।

---

१ षष्ठसप्तम्योः पृथ्व्योर्नैरयिका अतिमहान्ति रक्तकुन्थुरूपाणि विकुर्व्य अन्योन्यस्य कायं अनुहन्यमानास्तिष्ठन्ति ॥ २ वहू प्र० । ३ समचडरंगे० प्र० ।

(टीका) 'सदा' सर्वकालं 'कृत्स्नं' संपूर्णं पुनः तत्र नरके 'घर्मप्रधानं' उष्णप्रधानं स्थितिः-स्थानं नारकाणां भवति, तत्र हि प्रलयातिरिक्ताग्निना वातादीनामत्यन्तोष्णरूपत्वात्, तच्च दृढैः-निधत्तनिकाचितावस्थैः कर्मभिर्नारकाणाम् 'उपनीतं' ढौकितं, पुनरपि विशिनष्टि-अतीव दुःखम्-असातावेदनीयं धर्मः-स्वभावो यस्य तत्तथा तस्मिश्चैवंविधे स्थाने स्थितोऽसुमान् 'अन्दूषु' निगडेषु देहं विहत्य प्रक्षिप्य च तथा शिरश्च 'से' तस्य नारकस्य 'वेधेन' रन्ध्रोत्पादनेनाभितापयन्ति कीलकैश्च सर्वाण्यप्यङ्गानि वितत्य चर्मवत् कीलयन्ति इति॥२१॥अपिच-

(टीकार्थ) नारकिजीवोंके रहनेका स्थान सदा उष्णप्रधान होता है। वहाँ प्रलय-कालकी अग्निसेभी ज्यादा वायु आदि गर्म होते हैं, वह नरकस्थान, निधत्त और निकाचित्त अवस्थावाले कर्मोंकि द्वारा नारकि जोवोंको प्राप्त हुआ है। फिरभी नरककी विशेषता बतलाते हैं वह नरक स्थान अत्यन्त दुःख यानी असातावेदनीय स्वभाववाला है। ऐसे नरक-स्थानमें स्थित प्राणियोंकी देहको तोड़ मरोड़कर वेडीमें डालकर उसके शिरमें छिद्र करके नरकपाल पीडा देते हैं। तथा उस जीवके अङ्गोंको फैलाकर उनमें इसप्रकार कील ठोकते हैं जैसे चमडेको फैलाकर उसमें कील ठोकते हैं। २१

मूलम्-छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं, उट्ठेवि छिंदंति दुवेवि कण्णे।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं, तिक्खाहिं सूलाहिऽभितावयंति॥२२

(छाया) छिन्दन्ति बालस्य क्षुरेण नासिका मोष्ठौ च छिन्दन्ति द्वावपि कर्णौ
जिव्हां विनिष्कास्य वितस्तिमात्रां तीक्ष्णाभिः शूलाभिरभितापयन्ति।

(अन्वयार्थ) (बालस्स) निर्विवेकी नारकि जीवकी (नक्कं) नासिकाको नरकपाल (खुरेण) अस्तुरेसे (छिंदति) काटलेते हैं। (उट्ठेवि) तथा उनके ओठ (दुवेवि कण्णे) और दोनो कान (छिंदति) काटलेते हैं (विहत्थिमित्तं) तथा बीत्ताभर (जिब्भं) जीभको (विणिक्कस्स) बाहर खींचकर (तिक्खाहिं सूलाहिं) उसमें तीक्ष्ण शूल चुभोकर (अभितावयंति) ताप देते हैं।

(भावार्थ) नरकपाल, निर्विवेकी नारकिजीवोंकी नासिका ओठ और दोनो कान तीक्ष्ण अस्तुरेसे काट लेते हैं तथा उनकी जीभको एक बीत्ता बाहर खींचकर उसमें तीक्ष्ण शूल चूभोकर पीडा देते हैं।

(टीका) ते परमाधार्मिकाः पूर्वदुश्चरितानि स्मरयित्वा 'बालस्य' अज्ञस्य-निर्विवेकस्य प्रायशः सर्वदा वेदनासमुद्घातोपगतस्य क्षुरप्रेण नासिकां छिन्दन्ति

तथौष्ठावपि द्वावपि कर्णौ छिन्दन्ति, तथा मद्यमांसरसाभिलिप्सोर्मृषाभाषिणो जिह्वां वितस्तिमात्रामाक्षिप्य तीक्ष्णाभिः शूलाभिः 'अभितापयन्ति' अपनयन्ति इति ॥ २२ ॥ तथा—

(टीकार्थ) वे परमाधार्मिक, पूर्व जन्मके पापोको स्मरण कराकर प्रायः सदा वेदनासे युक्त निर्विवेकी नारकि जीवकी नासिकाको अस्तुरेसे काट लेते हैं तथा उनके ओठ और दोनो कान काट लेते है। तथा मद्य मांस और रसके लम्पट और मिथ्या भाषण करनेवाले जीवकी जिव्हाको एक बीत्ता बाहर निकालकर उसे तीक्ष्ण शूलके द्वारा वेध करते हुए पीडा देते हैं।२२

मूलम्—ते तिप्पमाणा तलसंपुडंव, राइंदियं तत्थ थणंति बाला।
गलंति ते सोणिअपूयमंसं, पज्जोइया खारपइद्धियंगा ॥ २३ ॥

(छाया) ते तिप्यमाना स्तालसंपुटाइव रात्रिदिवं तत्र स्तनन्ति बालाः
गलन्ति ते शोणितपूयमांसं प्रद्योतिताः क्षारप्रदिग्धाङ्गाः ।

(अन्वयार्थ) (तिप्पमाणा) जिनके अङ्गोसे रक्त टपक रहा है ऐसे (ते) वे नारकि(बाला) अज्ञानी (तालसंपुटंव) सूखे हुए तालके पत्तेके समान (राइंदिय) रात दिन (तत्थ) उस नरकमें (थणंति) रोते रहते है। (पज्जोइया) आगमें जलाये जाते हुए (खारपइद्धियंगा)-तथा अङ्गोंमें खार लगाये हुए (सोणिअपूयमंस)-रक्त, पीव, और मांस (गलंति) अपने अङ्गोसे गिराते रहते हैं।

(भावार्थ) वे अज्ञानी नारकी जीव अपने अङ्गोंसे रुधिर टपकाते हुए सूखे हुए तालपत्रके समान रातदिन शब्द करते रहते हैं। तथा आगमें जलाकर पीछेसे अङ्गोंमें खार लगाये गये हुए वे नारकि जीव रक्त, पीव और मांसका स्राव करते रहते हैं।

(टीका) 'ते' छिन्ननासिकोष्ठजिह्वाः सन्तः शोणितं 'तिप्यमानाः' क्षरन्तो यत्र—यस्मिन् प्रदेशे रात्रिदिनं गमयन्ति, तत्र 'बाला' अज्ञाः 'तालसम्पुटा इव' पवनेरितशुष्कतालपत्रसंचया इव सदा 'स्तनन्ति'[1] दीर्घविस्वरमाक्रन्दन्तस्तिष्ठन्ति तथा 'प्रद्योतिता' वह्निना ज्वलिताः तथा क्षारेण प्रदिग्धाङ्गाः शोणितं पूयं मांसं चाहर्निशं गलन्तीति ॥ २३ ॥ किञ्च—

1 स्तनन्तो प्र० ।

(टीकार्थ) जिनके नाक, ओठ और जिव्हा काट लिये गये हैं ऐसे वे नारकि जीव, रक्तका स्राव करते हुए जिस स्थानमें रातदिन व्यतीत करते हैं वहाँ वे अज्ञानी पवन प्रेरित सूखे तालपत्रके समान सदा जोर जोर से रोते रहते हैं। तथा वे आगमें जलाये और अङ्गोंमें खार लगाए हुए रातदिन अपने अङ्गोंसे रक्त पीव और मांसका स्राव करते रहते हैं। २३

(मूल) जइ ते सुता लोहितपूअपाई, बालागणी तेअगुणा परेणं।
कुंभी महंताहियपोरसीया, समूसिता लोहियपूयपुण्णा ॥ २४ ॥

(छाया) यदि ते श्रुता लोहितपूयपाचिनी बालाग्निना तेजोगुणा परेण
कुम्भीमहत्यधिकपौरुषीया समुच्छ्रिता लोहितपूयपूर्णा।

(अन्वयार्थ) (लोहितपूयपाई) रक्त और पीवको पकानेवाली (वालागणी तेअगुणा परेणं) नवीन अग्नि के तापके समान जिसका गुण है अर्थात् जो अत्यन्त तापयुक्त है (महंता) बहुत बडी (अहियपोरुसीया) तथा पुरुष प्रमाणसे अधिक प्रमाणवाली (लोहियपूयपुण्णा) रक्त और पीवसे भरी हुई (समूसिता) ऊँची (कुंभी जइ ते सुता) कुम्भी नामक नरकभूमि कदाचित् तुमने सुनी होगी।

(भावार्थ) रक्त और पीवको पकानेवाली तथा नवीन अग्निके तेजसे युक्त होनेके कारण अत्यन्ततापयुक्त एवं पुरुष के प्रमाणसे भी अधिक प्रमाणवाली, रक्त और पीवसे भरी हुई कुम्भी नामक नरकभूमि कदाचित् तुमने सुनी होगी।

(टीका) पुनरपि सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य भगवद्वचनमाविष्करोति– यदि 'ते' त्वया 'श्रुता' आकर्णिता–लोहितं–रुधिरं पूयं–रुधिरमेव पक्वं ते द्वे अपि पक्तुं शीलं यस्यां सा लोहितपूयपाचिनी–कुम्भी, तामेव विशिनष्टि–'बालः' अभिनवः प्रत्यग्रोऽग्निस्तेन तेजः–अभितापः स एव गुणो यस्याः सा बालाग्नितेजोगुणा 'परेण' प्रकर्षेण तप्तेत्यर्थः, पुनरपि तस्या एव विशेषणं 'महती' बृहत्तरा अहियपोरुसीये'ति पुरुषप्रमाणाधिका 'समुच्छ्रिता' उष्ट्रिकाकृतिरूर्ध्वं व्यवस्थिता लोहितेन पूयेन च पूर्णा, सैवम्भूता कुम्भी समन्ततोऽग्निना प्रज्वलिताऽतीव बीभत्सदर्शनेति ॥ २४ ॥ तासु च यत्क्रियते तद्दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) फिर सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीसे भगवान्का वचन कहते हैं–रक्त और पीव इन दोनोंको पकाना जिसका स्वभाव है ऐसी कुम्भी नामक नारकभूमि कदाचित् तुमने सुनी

होगी। उसी कुम्भीकी विशेषता बताते हुए कहते हैं–नवीन अग्निका जो तेज अर्थात् ताप है वही उस कुम्भीका गुण है अर्थात् वह कुम्भी अत्यन्त तापको धारण करती है। फिरभी उसी कुम्भीका विशेषण बतलाते हैं–वह कुम्भी बहुत बडी है। वह पुरुषके प्रमाणसेभी अधिक प्रमाणवाली है। वह ऊँटके समान आकारवाली ऊँची है। वह रक्त और पीवसे भरी हुई है। ऐसी वह कुम्भी चारो तर्फ आगसे जलती हुई है और देखनेमें बडी घृणास्पद है। २४

(मूल) पक्खिप्प तासुं पययंति वाले, अट्टस्सरे ते कलुणं रसंते।
तण्हाइया ते तउतंबतत्तं, पज्जिज्जमाणाऽट्टतरं रसंति॥ २५॥

(छाया) प्रक्षिप्य तासु प्रपचन्ति बालान्, आर्त्तस्वरान् तान् करुणं रसतः
तृष्णार्दितास्ते त्रपुताम्रतप्तं, पाय्यमाना आर्त्तस्वरं रसन्ति।

(अन्वयार्थ) (तासु) रक्त और पीवसे भरी हुइ उस कुम्भी में (बाले) अज्ञानी (अट्टस्सरे) आर्त्तनाद करते हुए (कलुणं रसंते) और करुण रोदन करते हुए नारकि जीवोंको (पक्खिप्प) डालकर (पययंति) नरकपाल पकाते हैं। (तण्हाइया) प्यास से व्याकुल (ते) वे नारकि जीव नरकपालोंके द्वारा (तउतंबतत्त) गरम सीसा और ताँबा (पज्जिज्जमाणा) पिलाये जाते हुए (अट्टतर रसंति) आर्तस्वरसे रोदन करते हैं।

(भावार्थ) परमाधार्मिक, आर्त्तनादपूर्वक करुणक्रन्दन करते हुए अज्ञानी नारकि जीवोंको रक्त और पीवसे भरी हुई कुम्भी में डालकर पकाते हैं तथा प्यासे हुए उन विचारों को सीसा और ताँबा गला कर पिलाते हैं इसकारण वे नारकी जीव और ज्यादा रोदन करते हैं।

(टीका) 'तासु' प्रत्यग्राग्निप्रदीप्तासु लोहितपूयशरीरावयवकिल्बिषपूर्णासु दुर्गन्धासु च 'बालान्' नारकांस्त्राणरहितान् आर्तस्वरान् करुणं–दीनं रसतः प्रक्षिप्य प्रपचन्ति, 'ते च' नारकास्तथा कदर्थ्यमाना विरसमाक्रन्दन्तस्तृडार्ताः सलिलं प्रार्थयन्तो मद्यं ते अतीव प्रियमासीदित्येवं स्मरयित्वा तप्तं पाय्यन्ते, ते च तप्तं त्रपु पाय्यमाना आर्ततरं 'रसन्ति' रारटन्तीति॥ २५॥ उद्देशकार्थोपसंहारार्थमाह–

(टीकार्थ) नवीन अग्निके तेजके समान जलती हुई तथा रक्त, पीव, और शरीरके अवयव तथा अशुचिपदार्थोंसे भरी हुई दुर्गन्ध उस कुम्भीमें रक्षकरहित तथा आर्तनादपूर्वक करूण रोदन करते हुए अज्ञानी नारकि जीवोंको डालकर नरकपाल पकाते है। वे नारकि जीव उस प्रकार पीडित किये जाते हुए बुरीतरह रोतेहैं। वे प्यासके पीडित होकर जब पानी माँगते हैं तब नरकपाल यह स्मरण कराते हुए कि "तुमको मद्य बहुत प्रिय था" तपाया हुवा सीसा और ताँबा पीलाते हैं उन्हें पीते हुए वे बहुत जोरसे आर्त्तनाद करते हैं। २५

(मूल) अप्पेण अप्पं इह वंचइत्ता, भवाहमे पुव्वसते सहस्से ।
चिट्ठंति तत्था वहुकूरकम्मा, जहा कडं कम्म तहासि भारे ॥२६॥

(छाया) आत्मनाऽऽत्मानमिह वञ्चयित्वा भवाधमान् पूर्वं शतसहस्रशः
तिष्ठन्ति तत्र वहुक्रूरकर्माणः, यथाकृतं कर्म तथाऽस्य भाराः ।

(अन्वयार्थ) (इह) इस मनुष्यभवमे (अप्पेणं अप्पं वंचयित्ता) अपने आपही अपनेको वञ्चित करके (पुव्वसते सहस्से भवाहमे) तथा पूर्वजन्ममें सैंकडों और हजारोंवार लुब्धक आदि अधमभवको प्राप्त करके (वहुकूरकम्मा तत्थ चिट्ठंति) वहुक्रूरकर्मी जीव उस नरकमें रहते हैं । (जहा कडं कम्म तहा से भारे) पूर्वजन्ममे जैसा कर्म जिसने किया है उसके अनुसारही उसे पीडा प्राप्त होती है ।

(भावार्थ) इस मनुष्यभवमें थोडे सुखके लोभसे अपनेको जो वञ्चित करते हैं वे सैंकडो और हजारों वार लुब्धक आदि नीच योनियोंका भव प्राप्त करके नरकमें निवास करते हैं । जिसने पूर्वजन्ममें जैसा कर्म किया है उसके अनुसारही उसे पीडा प्राप्त होती है ।

(टीका) 'अप्पेण' इत्यादि, 'इह' अस्मिन्मनुष्यभवे 'आत्मना' परवञ्चनप्रवृत्तेन स्वत एव परमार्थत आत्मानं वञ्चयित्वा 'अल्पेन' स्तोकेन परोपघातसुखेनात्मानं वञ्चयित्वा वहुशो भवानां मध्ये अधमा भवाधमाः—मत्स्यवन्धलुब्धकादीनां भवास्तान् पूर्वजन्मसु शतसहस्रशः समनुभूय तेषु भवेषु विषयोन्मुखतया सुकृतपराङ्मुखत्वेन चावाप्य महाघोरातिदारुणं नराकावासं 'तत्र' तस्मिन्मनुष्याः 'क्रूरकर्माणः' परस्परतो दुःखमुदीरयन्तः प्रभूतं कालं यावत्तिष्ठन्ति, अत्र कारणमाह— 'यथा' पूर्वजन्मसु यादृग्भूतेनाध्यवसायेन जघन्यजघन्यतरादिना कृतानि कर्माणि 'तथा' तेनैव प्रकारेण 'से' तस्य नारकजन्तोः 'भारा' वेदनाः प्रादुर्भवन्ति स्वतः परत उभयतो वेति, तथाहि—मांसादाः स्वमांसान्येवाग्निनाप्रताप्य भक्ष्यन्ते, तथा मांसरसपायिनो निजपूयरुधिराणि तप्तत्रपूणि च पाय्यन्ते, तथा मत्स्यघातकलुब्धकादयस्तथैव छिद्यन्ते भिद्यन्ते यावन्मार्यन्त इति, तथाऽनृतभाषिणां तत्स्मारयित्वा जिह्वाश्छिद्यन्ते, (ग्रन्थाग्रम् ४०००) तथा पूर्वजन्मनि परकीयद्रव्यापहरिणामङ्गोपाङ्गान्यपह्रियन्ते तथा पारदारिकाणां वृषणच्छेदः शाल्मल्युपगूहनादि च ते कार्यन्ते एवं महापरिग्रहारम्भवतां क्रोधमानमायालोभिनां च जन्मांतरस्वकृतक्रोधादिदुष्कृतस्मारणेन तादृग्विधमेव दुःखमुत्पाद्यते, इतिकृत्वा सुष्ठूच्यते यथा वृत्तं कर्म तादृग्भूत एव तेषां तत्कर्मविपाकापादितो भार इति ॥ २६ ॥ किञ्चान्यत्—

टीकार्थ—अब शास्त्रकार इस उद्देशकके अर्थको समाप्त करते हुए कहते हैं—इस मनुष्यभवमें जो जीव दूसरेको वञ्चन करनेमें प्रवृत्त रहता है वह वस्तुतः अपने आत्माको ही बञ्चित करता है। वह दूसरे प्राणीका घातरूप अल्प सुखके लोभसे अपने आत्माको वञ्चित करके वहुत भव करता हुआ सैकडों और हजारों बार मच्छली पकडनेवाले मल्लाह आदि तथा मृगवध करनेवाले व्याध आदि अधम जातिमें जन्म लेता है। उन जन्मोंमें वह विषयलम्पट तथा पुण्यसे विमुख होकर महाघोर और अति दारुण नरकस्थानको प्राप्त करता है। नरकमें रहनेवाले क्रूरकर्मी जीव परस्पर एक दूसरेको दुःख उत्पन्न करते हुए चिरकालतक निवास करते हैं। इसका कारण वताते हुए शास्त्रकार कहते हैं जिस जीवने पूर्व जन्ममें जैसे अध्यवसाय से नीच और उससे भी नीच कर्म किये हैं उसी प्रकारकी वेदना उस जीवको प्राप्त होती है। वह वेदना अपने आपभी होती है तथा दूसरे के द्वारा भी होती है और दोनोसे भी होती है। जो पूर्व जन्ममें मांसाहारी थे उनको उनकाही मांस आगमें पकाकर खिलाया जाता है तथा जो पूर्वजन्ममें मांसका रस पीते थे उनको उनकाही पीव और रक्त पिलाया जाता है अथवा उन्हें गलाया हुआ सीसा पिलाया जाता है। तथा पूर्वजन्मके मत्स्यघाती और लुब्धक आदि जैसे वे मच्छली और मृग आदिका घात करते थे उसी तरह काटे जाते हैं और मारे जाते हैं। तथा जो मिथ्याभाषण करते थे उन्हे मिथ्याभाषणका स्मरण कराकर उनकी जिव्हा काट ली जाती है। जो पूर्व जन्ममें दूसरेका द्रव्य हरण करते थे उनके अङ्ग और उपाङ्ग काटलिये जाते हैं, जो परस्त्रीका सेवन करते थे उनका अण्डकोश काट लिया जाता हैं तथा उन्हें शाल्मलि वृक्षका आलिङ्गन कराया जाता है। इसी तरह जो महारम्भी और महापरिग्रही एवं क्रोध, मान, मायासे युक्त और महापरिग्रही थे उनको उनके जन्मान्तर के क्रोध आदिको स्मरण कराकर उसी तरहका दुःख दिया जाता है अतः शास्त्रकारने यह ठीकही कहा है कि—जिसने जैसा कर्म किया है उसके अनुसारही उसे दुःखकी प्राप्ति होती है। २६

मूलम्—समज्जिणित्ता कलुसं अणज्जा, इट्ठेहि कंतेहि य विप्पहूणा।
ते दुब्भिगंधे कसिणे य फासे, कम्मोवगा कुणिमे आवसंति॥२७॥

(छाया) समर्ज्य कलुषमनार्य्या इष्टैः कान्तैश्च विप्रहीनाः
ते दुरभिगन्धे कृत्स्नेऽस्पर्शे कर्मोपगताः कुणिमे आवसन्तीति ब्रवीमि।

(अन्वयार्थ) (अणज्जा) अनार्य्य पुरुष, (कलुसं समज्जिणित्ता) पाप उपार्जन करके (इट्ठेहि कंतेहि य विप्पहूणा) इष्ट और प्रियसे रहित होकर (दुब्भिगंधे) दुर्गन्धसे भरे (कासिणे य फासे) अशुभ स्पर्शवाले (कुणिमे) मांसरुधिरादिपूर्ण नरकमें (कम्मोवगा) कर्मवशीभूत होकर (आवसंति) निवास करते है।

(भावार्थ) अनार्य्य पुरुष पाप उपार्जन करके इष्ट और प्रिय से रहित दुर्गन्ध भरे अशुभ स्पर्शवाले मांस रुधिरादि पूर्ण नरकमें कर्मवशीभूत होकर निवास करते हैं ।

(टीका) अनार्या अनार्यकर्मकारित्वाद्धिंसानृतस्तेयादिभिराश्रवद्वारैः 'कलुषं' पापं 'समर्ज्य' अशुभकर्मोपचयं कृत्वा 'ते' क्रूरकर्माणो 'दुरभिगन्धे' नरके आवसन्तीति संटङ्कः, किम्भूताः ?–'इष्टैः' शब्दाभिर्विषयैः 'कमनीयैः' कान्तैर्विविधं प्रकर्षेण हीना विप्रमुक्ता नरके वसन्ति, यदिवा—यदर्थं कलुषं समर्जयन्ति तैर्मातापुत्रकलत्रादिभिः कान्तैश्च विषयैर्विप्रमुक्ता एकाकिनस्ते 'दुरभिगन्धे' कुथितकलेवरातिशायिनि नरके 'कृत्स्ने' संपूर्णेऽत्यन्ताशुभस्पर्शे एकान्तोद्वेजनीयेऽशुभकर्मोपगताः 'कुणिमे'त्ति मांसपेशीरुधिरपूयान्त्रफिप्फिसकश्मलाकुले सर्वामेध्याधमे बीभत्सदर्शने हाहारवाक्रन्देन कष्टं मा तावदित्यादिशब्दबधिरितदिगन्तराले परमाधमे नरकावासे आ—समन्तादुत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावद्यस्यां वा नरकपृथिव्यां यावदायुस्तावद् 'वसन्ति' तिष्ठन्ति, इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ २७ ॥

(टीकार्थ) अनार्य्य पुरुष अनार्य्य कर्मका सेवन करनेवाले हैं इस लिये वे हिंसा, झूठ और चोरी आदि आश्रवोंका सेवन करके खूब अशुभ कर्मकी वृद्धि करते हैं, ऐसा करके वे क्रूरकर्मी जीव, दुर्गन्धयुक्त नरकमें निवास करते हैं वे नारकि जीव कैसे हैं ? सो वताते हैं– वे, इष्ट शब्दादि विषय तथा प्रिय पदार्थोंसे हीन होकर नरकमें निवास करते हैं । अथवा वे जीव, जिन माता, पिता, पुत्र और स्त्री के लिये पापका उपार्जन करते हैं उनसे रहित होकर अकेले सडे हुए मूर्देसे भी ज्यादा बदबूदार तथा जिसका स्पर्श अत्यन्त उद्वेग जनक है तथा जो मांस, चर्बी, रक्त, पीव, फिप्फिश आदि अशुचि पदार्थोंसे भरा हुआ अत्यन्त घृणास्पद है एवं हाहाकार के शब्द से जो दिशाओंको बहरा बनानेवाला है ऐसे अति नीच नरकमें उत्कृष्ट तैंतीस सागरोपम कालकी आयुसे निवास करते हैं । इति शब्द समाप्ति अर्थमें है ब्रवीमि पूर्ववत् है । २७

त्तिबेमि ॥ इति निरयविभत्तिए पढमो उद्देसो समत्तो ॥ (गाथाग्रं ३३६)

इति नरकविभक्तेः प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥

यह नरक विभक्तिका प्रथम उद्देशक समाप्त हुआ ।

अथ पञ्चमाध्ययनस्य द्वितीयोद्देशकः प्रारभ्यते ॥

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते-अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके यैः कर्मभिर्जन्तवो नरकेषूत्पद्यन्ते यादृगवस्थाश्च भवन्त्येतत्प्रतिपादितम्, इहापि विशिष्टतरं तदेव प्रतिपाद्यते, इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य सूत्रानुगमे अस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

अब पांचवें अध्ययनका दूसरा उद्देशक आरम्भ किया जाता है—प्रथम उद्देशक कहा जा चुका अब दूसरा उद्देशक आरम्भ किया जाता है। इसका सम्बन्ध यह है पहले उद्देशकमें प्राणिवर्ग जिन कर्मोंके अनुष्ठानसे नरकमें उत्पन्न होते हैं और वहां उनकी जो दशा होती है सो कहा गया है अब इस उद्देशकमें भी वही बात विशेषरूपसे बताई जाती है। इस सम्बन्धसे आये हुए इस उद्देशकके सूत्रानुगममें अस्खलित आदि गुणोंके साथ सूत्रका उच्चारण करना चाहिये वह सूत्र यह है—

(मूल) अहावरं सासयदुक्खधम्मं, तं भे पवक्खामि जहातहेणं।
बाला जहा दुक्कडकम्मकारी, वेदंति कम्माइं पुरेकडाइं ॥ १ ॥

(छाया) अथापरं शाश्वतदुःखधर्मं, तं भवतां प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन
बाला यथा दुष्कृतकर्मकारिणो, वेदयन्ति कर्माणि पुराकृतानि।

(अन्वयार्थ) (अह) इसके पश्चात् (सासयदुक्खधम्म) निरन्तर दुःख देना जिसका धर्म है ऐसे (अवरं) दूसरे (तं) नरकके विषयमें (भे) आपको (जहातहेणं) ठीक ठीक (पवक्खामि) मैं कहूंगा। (जहा) जिस प्रकार (दुक्कडकम्मकारी) पापकर्म करनेवाले (बाला) अज्ञानी जीव (पुरेकडाइं कम्माइं वेदंति) पूर्वजन्ममें किये हुए अपने कर्मोंका फल भोगते हैं।

(भावार्थ) श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि अपने शिष्य वर्गसे कहते हैं कि अब मैं निरन्तर दुःख देनेवाले दूसरे नरकके विषयमें आपको ठीक ठीक उपदेश करूंगा। पापकर्म करनेवाले प्राणिगण जिसप्रकार अपने पापका फल भोगते हैं सो बताऊंगा।

(टीका) 'अथ' इत्यानन्तर्ये 'अपरम्' इत्युक्तादन्यद्वक्ष्यामीत्युत्तरेण सम्बन्धः, शश्वद्भवतीति शाश्वतं—यावदायुस्तच्च तद्दुःखं च शाश्वतदुःखं तद्धर्मः—स्वभावो यस्मिन् यस्य वा नरकस्य स तथा तम्, एवम्भूतं नित्यदुःखस्वभावमक्षिनिमेषमपि कालमविद्यमानसुखलेशं 'याथातथ्येन' यथा व्यवस्थितं तथैव कथयामि, नात्रो-

पचारोऽर्थवादो वा विद्यत इत्यर्थः, 'बालाः' परमार्थमजानाना विषयसुखलिप्सवः साम्प्रतेक्षिणः कर्मविपाकमनपेक्षमाणा 'यथा' येन प्रकारेण दुष्टं कृतं दुष्कृतं तदेव कर्म-अनुष्ठानं तेन वा दुष्कृतेन कर्म-ज्ञानावरणादिकं तद्दुष्कृतकर्म तत्कर्तुं शीलं येषां ते दुष्कृतकर्मकारिणः त एवम्भूताः 'पुराकृतानि' जन्मान्तरार्जितानि कर्माणि यथा वेदयन्ति तथा कथयिष्यामीति ॥ १ ॥ यथाप्रतिज्ञातमाह-

(टीकार्थ) अथ शब्द आनन्तर्य्य अर्थात् इसके पश्चात् इस अर्थमें आया है। जो बातें पहले बताई जा चुकी हैं उनसे दूसरी बाते अब मैं बताऊंगा यह आगेसे सम्बन्ध मिलालेना चाहिये। जो शश्वत् अर्थात् आयु रहनेतक होता है उसे शाश्वत कहते हैं। जो आयुभर दुःख देता है ऐसा जिसका स्वभाव है ऐसे नरकको शाश्वत दुःखधर्म कहते हैं। वह नरक सदा प्राणियोंको दुःख देता रहता है उसमें एक पलभरभी सुखका लेशभी नहीं मिलता है। ऐसे नरकको, जैसा वह है वैसाही कहूंगा किसी प्रकारका आरोप अथवा घटा बढाकर नहीं जो पुरुष बाल अर्थात् परमार्थको नहीं देखते हैं तथा कर्मके फलका विचार नहीं करके पाप-कर्म करते है अथवा बुरे अनुष्ठानके द्वारा ज्ञानावरणीयादि कर्मोंका सेवन करते हैं वे पापी जीव, पूर्वजन्मोपार्जित दुःखका फल जिस प्रकार नरकमें भोगते हैं सो मैं कहूँगा। १

(मूल) हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं, उदरं विकत्तंति खुरासिएहिं।
गिण्हित्तु बालस्स विहत्तु देहं, वद्धं थिरं पिट्ठतो उद्धरंति ॥ २ ॥

(छाया) हस्तेषु पादेषु च बध्ध्वा, उदरं विकर्त्तयन्ति क्षुरप्रासिभिः
गृहीत्वा बालस्य विहतं देहं बध्रं स्थिरं पष्ठत उद्धरन्ति।

(अन्वयार्थ) (हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं) परमाधार्मिक नारकी जीवोंका हाथ पैर बाँधकर (खुरासिएहि) अस्तुरा और तलवारके द्वारा (उदरं विकत्तंति) उनका पेट फाड़ देते हैं। (बालस्स) तथा अज्ञानी नारकि जीवकी (विहत्तु देहं) लाठी आदिके प्रहारसे अनेक प्रकार ताडनकी हुई देहको (गिण्हित्तु) ग्रहण करके (वद्धं) चमडेको (थिरं) बलात्कारपूर्वक (पिट्ठओ) पीठसे (उद्धरंति) खींचलेते हैं।

(भावार्थ) परमाधार्मिक, नारकि जीवोंका हाथ पैर बाँधकर अस्तुरा और तलवार आदिसे उनका पेट फाड़ देते हैं। तथा अज्ञानी नारकि जीवकी देहको लाठी आदि के प्रहार से चूर चूर करके फिर उसे पकड़कर उसके पीठकी चमडी उखाड़ लेते हैं।

(टीका) परमाधार्मिकास्तथाविधकर्मोदयात् क्रीडायमानाः तान्नारकान् हस्तेषु

पादेषु बद्धोदरं 'क्षुरप्रासिभिः' नानाविधैरायुधविशेषैः 'विकर्तयन्ति' विदारयन्ति, तथा परस्य बालस्येवाकिञ्चित्करत्वाद्बालस्य लकुटादिभिर्विविधं 'हतं' पीडितं देहं गृहीत्वा 'वर्ध्रं' चर्मशकलं 'स्थिरं' बलवत् 'पृष्ठतः' पृष्ठिदेशे 'उद्धरन्ति' विकर्तयन्त्येवमग्रतः पार्श्वत श्चेति ॥ २ ॥ अपि च—

(टीकार्थ) पूर्वगाथामें जो प्रतिज्ञा की गई है उसके अनुसार वर्णन करते हैं—उस प्रकारके कर्मके उदय होनेसे दूसरेको दुःख देनेमें हर्षित होनेवाले परमाधार्मिक उन नारकि जीवोंका हाथ पैर बाँधकर तीक्ष्ण अस्तुरा और तलवार आदि अनेक प्रकारके शस्त्रोंसे उनका पेट फाड़ देते हैं। तथा जो बालक के समान कुछभी करनेमें समर्थ नहीं हैं ऐसे दूसरे नारकि जीवोंके शरीरको लाठी आदिके द्वारा विविध प्रकारसे हनन करके पश्चात उसे पकड़कर बलात्कारसे उसके पीठका चमडा खींच लेते हैं। इसी तरह पार्श्व भाग तथा अग्रभागका चमडाभी खींच लेते हैं। २

मूलम्—बाहू पकत्तंति य मूलतो से, थूलं वियासं मुहे आडहंति।
रहंसि जुत्तं सरयंति बालं, आरुस्स विज्झंति तुदेण पिट्ठे ॥ ३ ॥

(छाया) बाहून् प्रकर्तयन्ति संमूलतस्तस्य, स्थूलं विकाशं मुखे आदहन्ति
रहसि युक्तं स्मरयन्ति बालमारुष्य विध्यन्ति तुदेन पृष्ठे।

(अन्वयार्थ) (से बाहू) नरकपाल, नारकि जीवकी भुजाको (मूलतो) जड़से (पकत्तंति) काट लेते हैं। (मुहे वियासं) तथा उनका मुख फाड़कर (थूलं) जलते हुए लोहके बडे बडे गोले डालकर (आडहंति) जलाते हैं। (रहंसि) तथा एकान्तमें (जुत्तं) उनके जन्मान्तरके कर्मको (सरयंति) स्मरण कराते हैं। (आरुस्स) तथा विना कारणही कोप करके (तुदेन) चाबुकसे (पिट्ठे) पीठमें (विज्झंति) ताडन करते हैं।

(भावार्थ) नरकपाल, नारकि जीवकी भुजाको जड़से काटलेते हैं तथा उनका मुख फाडकर उसमें तप्तलोहका गोला डालकर जलाते हैं। एवं एकान्तमें ले जाकर उनके पूर्वकृत कर्मको याद कराते हैं तथा विना कारण कोप करके चाबुक से उनकी पीठपर मारते हैं।

(टीका) 'से' तस्य नारकस्य तिसृषु नरकपृथिवीषु परमाधार्मिका अपरनारकाश्च अधस्तनचतसृषु चापरनारका एव मूलत आरभ्यबाहून् 'प्रकर्तयन्ति' छिन्दन्ति तथा 'मुखे' विकाशं कृत्वा 'स्थूलं' बृहत्तप्तायोगोलादिकं प्रक्षिपन्त आ—

---

१ पकप्पंति समू० प्र०।

समन्ताद्दहन्ति । तथा 'रहसि' एकाकिनं 'युक्तम्' उपपन्नं युक्तियुक्तं स्वकृतवेदनानुरूपं तत्कृतजन्मान्तरानुष्ठानं तं 'बालम्' अज्ञं नारकं स्मारयन्ति, तद्यथा—तप्तत्रपुपानावसरे मद्यपस्त्वमासीस्तथा स्वमांसभक्षणावसरे पिशिताशी त्वमासीरित्येवं दुःखानुरूपमनुष्ठानं स्मारयन्तः कदर्थयन्ति, तथा–निष्कारणमेव 'आरूष्य' कोपं कृत्वा प्रतोदादिना पृष्ठदेशे तं नारकं परवशं विध्यन्तीति ॥ ३ ॥ तथा—

(टीकार्थ) तीन नरकभूमियोंमें परमाधार्मिक और दूसरे नारकीजीव तथा नीचेकी चार नरकभूमियों में रहनेवाले दूसरे नारकीजीव नारकि जीवोंकी भुजाको जड़से काटलेते हैं, तथा मुख फाड़कर उसमें तप्त लोहका वडा गोला डालकर जलाते हैं, तथा एकान्तमें उन नारकिओंको लेजाकर अपने द्वारा दीजाती हुई वेदनाके अनुरूप उनके द्वारा किये हुए दूसरे जन्मोंके कर्मोंको उन अज्ञानी नारकिओंको स्मरण कराते हैं । जैसे कि–गरम सीसा पीलाते समय वे कहते हैं कि–तुम खूब मद्य पीते थे, तथा उनके शरीरके मांसको खिलाते समय कहते हैं कि तुम खूब मांस खाते थे, इस प्रकार दुःखके अनुरूप उनके कर्मको स्मरण कराते हुए उनको पीडा देते हैं । तथा विनाकारणही क्रोध करके चावुक आदिके द्वारा परवश नारकि जीवको वे पीठमें ताडन करते है । ३

(मूल) अयंव तत्तं जलियं सजोइ, तऊवमं भूमिमणुक्कमंता ।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, उसुचोइया तत्तजुगेसु जुत्ता ॥४॥

(छाया) अयइव ज्वलितां सज्योतिस्तदुपमां भूमिमनुक्रामन्तः
ते दह्यमानाः करुणं स्तनन्ति इषुचोदितास्तप्तयुगेषु युक्ताः ।

(अन्वयार्थ) (अयंव) तप्त लोहका गोलाके समान (सजोइ) ज्योतिसहित (जलियं) जलती हुई (तत्तं) तप्त भूमिकी (तऊवमं) उपमा योग्य (भूमिं) भूमि में (अणुक्कमंता) चलते हुए (ते) वे नारकि जीव, (डज्झमाणा) जलते हुए (कलुणं थणंति) करुण रोदन करते हैं (उसुचोइया) तथा प्रतोद से मारकर प्रेरितकिये हुए (तत्तजुगेसु जुत्ता) तथा तप्त जुए में जोडे हुए वे करुण रोदन करते हैं ।

(भावार्थ) तप्त लोहका गोलेके समान जलती हुई ज्योतिसहित भूमि में चलते हुए नारकि जीव जलतेहुए करुण क्रन्दन करते है तथा बैलकी तरह प्रतोद मारकर प्रेरित किये हुए और तप्त जुए में जोडेहुए वे नारकि जीव रोदन करते हैं ।

(टीका) तप्तायोगोलकसन्निभां ज्वलितज्योतिर्भूतां तदेवंरूपां तदुपमां वा भूमिम् 'अनुक्रामन्तः' तां ज्वलितां भूमिं गच्छन्तस्ते दह्यमानाः 'करुणं' दीनं-विस्वरं 'स्तनंति' रारटन्ति तथा तप्तेषु युगेषु युक्ता गलिवलीवर्दा इव इषुणा प्रतोदादिरूपेण विध्यमानाः स्तनन्तीति ॥ ४ ॥ अन्यच्च—

(टीकार्थ) जलते हुए लोहके गोलेके समान जलती हुई ज्योतिस्वरूप पृथिवीके समान पृथिवीमे चलते हुए नारकि जीव जलते हुए दीनस्वर से रोदन करते हैं तथा गरम जुए में जोते हुए और बैलकी तरह चाबुक आदिसे मारकर चलनेके लिये प्रेरित किये हुए रोदन करते हैं । ४

(मूल) वाला वला भूमिमणुक्कमंता, पविज्जलं लोहपहं च तत्तं ।
जंसीऽभिदुग्गंसि पवज्जमाणा, पेसेव दंडेहिं पुराकरंति ॥ ५ ॥

(छाया) वालाः वलाद् भूमि मनुक्राम्यमाणाः पिच्छिलां लोहपथमिवत्तप्ताम्
यस्मिन् अभिदुर्गे प्रपद्यमानाः प्रेष्यानिव दण्डैः पुरः कुर्वन्ति ।

(अन्वयार्थ) (वाला) अज्ञानी नारकिजीव, (लोहपहंवतत्तं) जलता हुआ लोहमय मार्गके समान तपी हुई (पविज्जलं) तथा रक्त और पीवके द्वारा पिच्छिल (भूमिं) भूमिपर (वाला) वलात्कारसे परमाधार्मिकों के द्वारा (अणुक्कमंता) चलाये जाते हुए बुरी तरह चिल्लाते हैं । (जंसी अभिदुग्गंसि) नारकिजीव कुम्भी अथवा शाल्मलि आदि जिस कठिन स्थानपर (पवज्जमाणा) परमाधार्मिकोंके द्वारा चलनेके लिये प्रेरित किये हुए जब ठीक नहीं चलते हैं (पेसेव डंडेहिं पुरा करंति) तब कुपित होकर परमाधार्मिक दण्डके द्वारा बैलकी तरह उन्हें आगे चलाते हैं ।

(भावार्थ) परमाधार्मिक, निर्विवेकी नारकिजीवोंको लोहमय मार्गके समान तप्त भूमिपर बलात्कार से चलाते हैं तथा रुधिर और पीवसे पिच्छिल (कीचडवाली) भूमिपर भी उनको चलनेके लिये बाध्य करते हैं । जिस कठिन स्थानमे जाते हुए नारकिजीव रुकते हैं उस स्थानमें बैलकी तरह दण्ड आदिसे मारकर उन्हें वे ले जाते हैं ।

(टीका) 'वाला' निर्विवेकिनः प्रज्वालितलोहपथमिव तप्तां भुवं 'पविज्जलं'-ति रुधिरपूयादिना पिच्छिलां वलादनिच्छन्तः 'अनुक्रम्यमाणाः' प्रेर्यमाणा विरसमारसन्ति, तथा 'यस्मिन्' अभिदुर्गे कुम्भीशाल्मल्यादौ प्रपद्यमाना नरकपालचोदिता न सम्यग्गच्छन्ति, ततस्ते कुपिताः परमाधार्मिकाः 'प्रेष्यानिव' कर्मकरानिव वलीवर्दवद्वा दण्डैर्हत्वा प्रतोदनेन प्रतुद्य 'पुरतः' अग्रतः कुर्वन्ति, न ते स्वेच्छया गन्तुं स्थातुं वा लभन्त इति ॥ ५ ॥ किञ्च—

(टीकार्थ) नरकपाल, निर्विवेकी नारकिजीवोंको जलाते हुए लोहमय मार्गके समान उष्ण तथा रक्त और पीवकी अधिकताके कारण पंकिल भूमिपर उनकी इच्छा न होनेपरभी बलात्कारसे चलाते हैं। नारकिजीव उक्त भूमिपर चलते हुए बुरी तरह शब्द करते हैं। अति विषम कुम्भी और शाल्मलि आदि जिस नरकमें परमाधार्मिक जानेके लिये उनको प्रेरित करते हैं उस भूमिमें जो अच्छी तरह नहीं चलते हैं उनपर क्रोधित होकर वे नोकरकी तरह अथवा बैलकी तरह डंडा या चाबुकसे मारकर आगे चलाते हैं। वे नारकिजीव अपनी इच्छासे नतो कहीं जाने पाते हैं और न रहने पाते हैं। ५

(मूल) ते संपगाढंसि पवज्जमाणा, सिलाहि हम्मंति निपातिणीहिं।
संतावणी नाम चिरट्ठितीया, संतप्पती जत्थ असाहुकम्मा ॥ ६ ॥

(छाया) ते सम्प्रगाढं प्रपद्यमानाः शिलाभिर्हन्यन्ते निपातिनीभिः
संतापनी नाम चिरस्थितिका सन्तप्यते यत्रासाधुकर्मा।

(अन्वयार्थ) (ते) वे नारकी जीव, (संपगाढंसि) बहुत वेदनायुक्त असह्य नरक में (पवज्जमाणा) गये हुए (निपातिणीहिं) सम्मुख गिरनेवाली (सिलाहि) शिलाओंके धारा (हम्मंति) मारे जाते हैं। (संतावणी नाम) संतापनी यानी कुम्भी नामक नरक (चिरट्ठितीया) चिरकालतक स्थितिवाला है (जत्थ) जिसमें (असाहुकम्मा) पापकर्म करनेवाला जीव (संतप्पती) ताप भोगता है।

(भावार्थ) तीव्र वेदनायुक्त नरकमें पडे हुए नारकिजीव सामनेसे गिरती हुई शिलाओंसे मारे जाते हैं। कुम्भी नामके नरकमें गये हुए प्राणियोंकी स्थिति बहुत कालकी होती है। पापी उसमें चिरकालतक ताप भोगते हैं।

(टीका) 'ते' नारकाः 'सम्प्रगाढ' मिति बहुवेदनमसह्यं नरकं मार्गं वा प्रपद्यमाना गन्तुं स्थातुं वा तत्राशक्नुवन्तोऽभिमुखपातिनीभिः शिलाभिरसुरैर्हन्यन्ते, तथा सन्तापयतीति सन्तापनी–कुम्भी सा च चिरस्थितिका तद्गतोऽसुमान् प्रभूतं कालं यावदतिवेदनाग्रस्त आस्ते यत्र च 'सन्तप्यते' पीड्यतेऽत्यर्थम् 'असाधुकर्मा' जन्मान्तरकृताशुभानुष्ठान इति ॥ ६ ॥ तथा—

(टीकार्थ) वे नारकिजीव बहुत वेदनावाले असह्य नरक अथवा मार्गमें गये हुए वहांसे हटजाने तथा रहनेमें असमर्थ होते हुए असुरोंके द्वारा सामनेसे आनेवाली शिलाओंके द्वारा मारे जाते हैं। जो प्राणियोंको चारो तर्फसे ताप देती है उसे सन्तापनी कहते हैं वह कुम्भी

नरक है उसकी स्थिति चिरकालकी है अर्थात् उस कुम्भी नरकमें गया हुआ प्राणी चिरकाल-तक अत्यन्त वेदना भोगता रहता है तथा पूर्वजन्ममें पाप कियाहुआ प्राणी उस कुम्भीमें जाकर अत्यन्त ताप भोगता है । ६

(मूल) कंदूसु पक्खिप्प पयंति वालं, ततोवि दड्ढा पुण उप्पयंति।
ते उड्ढकाएहिं पखज्जमाणा, अवरेहिं खज्जंति सणप्फएहिं ॥७॥

(छाया) कन्दुसु प्रक्षिप्य पचन्ति बालं, ततोऽपि दग्धाः पुनरुत्पतन्ति
ते ऊर्ध्वकायैः प्रखाद्यमाना अपरैः खाद्यन्ते सनखपदैः ।

(अन्वयार्थ) (वालं) निर्विवेकी नारकि जीवको (कंदूसु) गेंदके समान आकारवाले नरक में (पक्खिप्प) डालकर (पयंति) परमाधार्मिक पकाते हैं। (दड्ढा) जलते हुए वे नारकि जीव (ततोवि) वहांसे (पुण उप्पयंति) फिर ऊपर उडते हैं (ते) वे नारकि जीव (उड्ढकाएहिं) द्रोणकाकके द्वारा खाये जाते हैं (अवरेहिं सणप्फएहिं) तथा दूसरे सिंह व्याघ्र आदिके द्वाराभी खाये जाते हैं ।

(भावार्थ) नरकपाल, निर्विवेकी नारकि जीवको गेंदके समान आकारवाली कुम्भीमें डाल-कर पकाते हैं, फिर वे वहांसे भुने जाते हुए चनेकी तरह उडकर ऊपर जाते हैं वहां वे द्रोग काक द्वारा खाये जाते हैं जब वे दूसरी ओर जाते हैं तब सिंह व्याघ्र आदिके द्वारा खाये जाते हैं ।

(टीका) तं 'बालं' वराकं नारकं कन्दुषु प्रक्षिप्य नरकपालाः पचन्ति, ततः पाकस्थानात् ते दह्यमानाश्चणका इव भृज्यमाना ऊर्ध्वं पतन्त्युत्पतन्ति, ते च ऊर्ध्व-मुत्पतिताः 'उड्ढकाएहिं'ति द्रोणैः काकैर्वैक्रियैः 'प्रखाद्यमाना' भक्ष्यमाणा अन्यतो नष्टाः सन्तोऽपरैः 'सणप्फएहिं'ति सिंहव्याघ्रादिभिः 'खाद्यन्ते' भक्ष्यन्ते इति ॥ ७ ॥ किञ्च—

(टीकार्थ) नरकपाल, निर्विवेकी विचारे नारकिजीवको गेंदके समान आकारवाले नरकमें डालकर पकाते हैं । वहाँ चनेकी तरह पकते हुए वे जीव वहांसे ऊपर उड़कर जाते हैं । ऊपर उड़कर गये हुए वे प्राणी वैक्रिय द्रोण काकके द्वारा खाये जाते हैं । और वहांसे दूसरी ओर गये हुए वे सिंह व्याघ्र आदि नखवाले जानवरोंसे खाये जाते हैं । ७

(मूल) समूसियं नाम विधूमठाणं, जं सोयतत्ता कलुणं थणंति।
अहोसिरं कट्टु विगत्तिऊणं, अयंव सत्थेहिं समोसवेंति ॥ ८ ॥

(छाया) समुच्छ्रितं नाम विधूमस्थानं, यत् शोकतप्ताः करुणं स्तनन्ति
अधः शिरः कृत्वा विकर्त्यायोवत् शस्त्रैः खण्डशः खण्डयन्ति ।

(अन्वयार्थ) (समुसियं नाम विधूमठाणं) ऊंची चिताके समान धूमरहित अग्निका एक स्थान है (जं) जिस स्थानको प्राप्त करके (सोयतत्ता) शोकतप्त नारकि जीव (कलुणं थणंति) करुण रोदन करते हैं । (अहो सिरं कट्टु) नरकपाल नारकि जीव के शिरको नीचा करके (विगत्तिऊणं) तथा उसकी देहको काटकर (अयंव सत्थेहिं) लोहके शस्त्रसे (समोसमेंति) खण्ड खण्ड काट डालते हैं ।

(भावार्थ) ऊंची चिताके समान निर्धूम अग्निका एक स्थान है । वहां गये हुए नारकि जीव शोकसे तप्त होकर करुण रोदन करते हैं । परमाधार्मिक, उन जीवोंका शिर नीचे करके उनका शर काट डालते हैं तथा लोहके शस्त्रोंसे उनकी देहको खण्ड खण्ड करदेते हैं ।

(टीका) सम्यगुच्छ्रितं-चितिकाकृति, नामशब्दः सम्भावनायां, सम्भाव्यन्ते एवंविधानि नरकेषु यातनास्थानानि, विधूमस्य-अग्नेः स्थानं विधूमस्थानं यत्प्राप्य शोकवितप्ताः 'करुणं' दीनं 'स्तनन्ति' आक्रन्दन्तीति, तथा अधःशिरः कृत्वा देहं च विकर्त्यायोवत् 'शस्त्रैः' तच्छेदनादिभिः 'समोसवेंति'त्ति खण्डशः खण्डयन्ति ॥ ८ ॥ अपि च—

(टीकार्थ) चिताके समान एक धूमरहित अग्निका स्थान है, यहां नाम शब्द संभावना अर्थमें आया है । नरकमें ऐसा पीडाका स्थान होना सम्भव है यह नाम शब्द बतलाता है । उस स्थानको प्राप्त नारकिजीव शोकसे तप्त होकर करुण रोदन करते हैं । तथा नरकपाल उनका शिर नीचा करके और देहको लोहके शस्त्रोंसे काटकर खण्ड खण्ड करदेते हैं । ८

(मूल) समूसिया तत्थ विसूणियंगा, पक्खीहिं खज्जंति अओमुहेहिं।
संजीवणी नाम चिरट्ठितीया, जंसी पया हम्मइ पावचेया ॥ ९ ॥

(छाया) समुच्छ्रिता स्तत्र विशूणिताङ्गाः पक्षिभिः खाद्यन्तेऽयोमुखैः
संजीवनी नाम चिरस्थितिका, यस्यां प्रजाः हन्यन्ते पापचेतसः ।

(अन्वयार्थ) (तत्थ) उस नरकमें (नमुत्तिया) अधोमुख करके लटकाये हुए (विसूणियंगा) तथा शरीरका चमडा उखाड लिये हुए नारकि जीव, (अओमुहेहिं) लोहका मुखवाले (पक्खीहिं) पक्षियोंके द्वारा (खज्जंति) खाये जाते हैं। (संजीवणी नाम चिरट्ठितीया) नरककी भूमि संजीवनी कहलाती है क्योंकि मरण कष्ट पाकर भी प्राणी उसमें मरते नहीं हैं तथा उसकी आयु बहुत होती है (जंसी) जिस नरकमें (पावचेना) पापी (पया) प्रजा (हम्मइ) मारी जाती है।

(भावार्थ) उस नरकमें अधोमुख करके लटकाये हुए तथा शरीरका चमडा उखाड लिये हुए प्राणी लोहमुखवाले पक्षियों के द्वारा खाये जाते हैं। नरककी भूमि संजीवनी कहलाती है क्योंकि मरणके समान कष्ट पाकर भी प्राणी आयु शेष रहनेपर मरते नहीं हैं तथा उस नरकमें गये हुए प्राणियोंकी आयुभी बहुत होती है। पापी जीव उस नरकमें मारे जाते हैं।

(टीका) 'तत्र' नरके स्तम्भादौ ऊर्ध्वबाहवोऽधःशिरसो वा श्वपाकैर्बस्तवल्लम्बिता सन्तः 'विसूणियंग'त्ति उत्कृत्ताङ्गा अपगतत्वचः पक्षिभिः 'अयोमुखैः' वज्रचञ्चुभिः काकगृध्रादिभिर्भक्ष्यन्ते तदेवं ते नारका नरकपालापादितैः परस्परकृतैः स्वाभाविकैर्वा छिन्ना भिन्नाः कथिता मूर्च्छिताः सन्तो वेदनासमुद्घातगता अपि सन्तो न म्रियन्ते अतो व्यपदिश्यते सञ्जीवनीवत् सञ्जीवनीजीवितदात्री नरकभूमिः, न तत्र गतः खण्डशश्छिन्नोऽपि म्रियते स्वायुषि सतीति, सा च चिरस्थितिकोत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत् यावत्सागरोपमाणि, यस्यां च प्राप्ताः प्रजायन्त इति प्रजाः—प्राणिनः पापचेतसो हन्यन्ते मुद्गरादिभिः, नरकानुभावाच्च मुमूर्षवोऽप्यत्यन्तपिष्टा अपि न म्रियन्ते, अपितु पारदवन्मिलन्तीति ॥ ९ ॥ अपि च—

(टीकार्थ) उस नरकमें खंभा आदिमें ऊपर भुजा और नीचे मस्तक करके चाण्डालोंके द्वारा मृत शरीरकी तरह लटकाये हुए तथा चमडा उखाडे हुए नारकिजीव, वज्रके चोंचवाले काक और गीध आदि पक्षियोंसे खाये जाते हैं। इस प्रकार वे नारकि जीव, नरकपालोंके द्वारा अथवा परस्पर एक दूसरेके द्वारा छेदन भेदन किये हुए तथा उबाले हुए मूर्च्छित होकर वेदनाकी अधिकताका अनुभव करते हुए भी मरते नहीं हैं इसी लिये नरकभूमि संजीवनी औषधके समान जीवन देनेवाली कही जाती है क्योंकि नरकमें गया हुआ प्राणी खण्ड खण्ड किया हुआ भी आयु शेष रहनेपर मरता नहीं हैं। नरककी आयु उत्कृष्ट तेंतीस सागरोपम कालकी कही है इस लिए वह चिरकालकी स्थितिवाली है। जिस नरकमें गए हुए पापी प्राणी मुद्गर आदि के द्वारा मारे जाते हैं। नरककी पीडासे विकल होकर वे मरना चाहते हुए भी तथा अत्यन्त पीसे हुए भी मरते नहीं हैं किन्तु पाराके समान मिलजाते हैं। ९

मूलम्–तिक्खाहिं सूलाहि निवायँयंति, वसोगयं सावययं व लद्धुं
ते सूलविद्धा कलुणं थणंति, एगंतदुक्खं दुहओ गिलाणा ॥१०॥

(छाया) तीक्ष्णाभिः शूलाभिर्निपातयन्ति वशंगतं श्वापदमिव लब्धम्
तें शूलविद्धाः करुणं स्तनन्ति, एकान्तदुःखाः द्विधा ग्लानाः ।

(अन्वयार्थ) (वसोगय) वशमें आये हुए (सावयय व) जङ्गली जानवरके समान (लद्धुं) मिले हुए नारकिजीवको नरकपाल (तिक्खाहिं सूलाहिं) तीखे शूलोंसे (निवाययंति) मारते हैं । (सूलविद्धा) शूलसे वेध किये हुए (दुहओ) भीतर और बाहर दोनो ओरसे (गिलाणा) ग्लान (एगंतदुक्खा) एकान्त दुःखवाले नारकिजीव (कलुणं थणंति) करुण रोदन करते हैं ।

(भावार्थ) वशमें आये हुए जङ्गली जानवरके समान नारकि जीवको पाकर परमाधार्मिक तीक्ष्ण शूलसे वेध करते हैं भीतर और बाहर आनन्द रहित एकान्त दुःखी नारकिजीव, करुण क्रन्दन करते हैं ।

(टीका) पूर्वदुष्कृतकारिणं तीक्ष्णाभिरयोमयीभिः शूलाभिः नरकपाला नारकमतिपातयन्ति, किमिव ?–वशमुपगतं श्वापदमिव कालपृष्ठँसूकरादिकं स्वातन्त्र्येण लब्ध्वा कदर्थयन्ति, ते नारकाः शूलादिभिर्विद्धा अपि न म्रियन्ते, केवलं 'करुणं' दीनं स्तनन्ति, न च तेषां कश्चित्त्राणायालं तथैकान्तेन 'उभयतः' अन्तर्बहिश्च 'ग्लाना' अपगतप्रमोदाः सदा दुःखमनुभवन्तीति ॥ १० ॥ तथा–

(टीकार्थ) पूर्वजन्ममें पाप किये हुए नारकि जीवको नरकपाल तीखे लोहके शूलोंसे वेध करते हैं । किसकी तरह ? वशमें आये हुए मृग तथा सुअर आदिकी तरह, स्वन्त्रतासे पाकर उन्हें पीडा देते हैं । शूल आदिके द्वारा वेध किये हुए भी नारकिजीव मरते नहीं हैं किन्तु करुण क्रन्दन करते हैं । उन नारकिजीवोंकी रक्षा करनेमें कोई समर्थ नहीं है । वे नारकि जीव भीतर और बाहर दोनो ओरसे हर्ष रहित होकर सदा दु:ख अनुभव करते हैं । १०

मूलम्–सया जलं नाम निहं महंतं, जंसी जलंतो अगणी अकट्ठो
चिट्ठंति बद्धा बहुकूरकम्मा, अरहस्सरा केइ चिरट्ठितीया ॥ ११॥

१ भितावयंति प्र० । २ ०ममितापयन्ति प्र० । ३ कालपृष्ठो मृगभेदे (हैमः) ।

(छाया) सदा ज्वलन्नाम निहं महत् , यस्मिन् ज्वलन्नग्निरकाष्ठः
तिष्ठन्ति बद्धाः बहुक्रूरकर्माणः अरहस्वराः केऽपि चिरस्थितिकाः ।

(अन्वयार्थ) (सया) सब समय (जलं) जलता हुआ (महंतं) महान् (णिहं) एक प्राणियोंका घातस्थान है (जंसी) जिसमें (अकट्ठो अगणी) विना काठकी आग (जलंतो) जलती रहती है । (बहु कूरकम्मा) जिन्होंने पूर्व जन्ममें बहुत क्रूरकर्म किये हैं (चिरट्ठितीया) तथा जो उस नरकमें चिरकालतक निवास करनेवाले हैं (बद्धा) वे उस नरकमें बाँधे हुए (अरहस्सरा) तथा चिल्लाते हुए (चिट्ठंति) रहते हैं ।

(भावार्थ) एक ऐसा प्राणियोंका घातस्थान है जो सदा जलता रहता है और जिसमें विना काठकी आग निरन्तर जलती रहती है उस नरकमें पापी प्राणी बाँध दिये जाते हैं वे अपने पापका फल भोगनेके लिये चिरकालतक निवास करते हैं और वेदनाके मारे निरन्तर रोते रहते हैं ।

(टीका) 'सदा' सर्वकालं 'ज्वलत्' देदीप्यमानमुष्णरूपत्वात् स्थानमस्ति, निहन्यन्ते प्राणिनः कर्मवशगा यस्मिन् तन्निहम्–आघातस्थानं तच्च 'महद्' विस्तीर्णं यत्राकाष्ठोऽग्निर्ज्वलन्नास्ते, तत्रैवम्भूते स्थाने भवान्तरे बहुक्रूरकृतकर्माणस्तद्विपाकापादितेन पापेन बद्धास्तिष्ठन्तीति, किम्भूताः ?–'अरहस्वरा' बृहदाक्रन्दशब्दाः 'चिरस्थितिकाः' प्रभूतकालस्थितय इति ॥ ११ ॥ तथा–

(टीकार्थ) जो उष्णरूप होनेके कारण सदा जलता रहता है ऐसा एक स्थान है । कर्मवशीभूत प्राणी जिसमें मारे जाते हैं उसे निह कहते हैं वह प्राणियोंका घातस्थान है ! वह स्थान बहुत विस्तारवाला है । उसमें विना काठकी आग जलती रहती है । ऐसे उस स्थानमें पूर्वजन्ममें जिनने अत्यन्त क्रूरकर्म किये हैं वे प्राणी अपने पापका फल भोगनेके लिये बँधे हुए निवास करते हैं । वे प्राणी कैसे हैं ? जोर जोरसे रोते रहते हैं और चिरकालतक वहां निवास करते हैं । ११

**मूलम्–चिया महंतीउ समारभित्ता, छुब्भंति ते तं कलुणं रसंतं
आवट्टती तत्थ असाहुकम्मा, सप्पी जहा पडियं जोइमज्झे ॥१२॥**

(छाया) चिताः महतीः समारभ्य, क्षिपन्ति ते तं करुणं रसन्तम्
आवर्तते तत्रासाधुकर्मा, सर्पिर्यथा पतितं ज्योतिर्मध्ये ।

(अन्वयार्थ) (ते) वे परमाधार्मिक (महंतीउ) वडी (चिया) चिता (समारभित्ता) वनाकर उसमें (कलुणं रसंतं) करुण रोदन करते हुए नारकि जीवको (छुब्भंति) फेंकदेते हैं (तत्थ) उसमे (असाहुकम्मा) पापी जीव (आवट्टती) द्रवीभूत होजाते हैं (जहा) जैसे (जोइमज्झे) आगमें (पडिय) पडा हुआ (सप्पी) घृत द्रव (पिघल) होजाता है ।

(भावार्थ) परमाधार्मिक, वडी चिता वनाकर उसमें करुण रोदन करते हुए नारकिजीवको फेंकदेते हैं उसमें पापीजीव गलकर पानी होजाते हैं जैसे आगमें पडाहुआ घृत द्रव होजाता है।

(टीका) महतीश्चिताः समारभ्य नरकपालाः 'तं' नारकं विरसं 'करुणं' दीनमारसन्तं तत्र क्षिपन्ति, स चासाधुकर्मा 'तत्र' तस्यां चितायां गतः सन् 'आवर्तते' विलीयते, यथा-'सर्पिः' घृतं ज्योतिर्मध्ये पतितं द्रवीभवत्येवमसावपि विलीयते, न च तथापि भवानुभावात्प्राणैर्विमुच्यते ॥ १२ ॥ अयमपरो नरकयातनाप्रकार इत्याह-

(टीकार्थ) नरकपाल, विशाल चिता वनाकर करुण रोदन करते हुए नारकि जीवको उसमें डालदेते है वह पापी उस चितामें जाकर द्रव होजाता है। जैसे आगमें डाला हुआ घृत द्रव होजाता है इसी तरह वहभी द्रव होजाता है परन्तु नरकभवके प्रतापसे वह प्राणरहित नहीं होता है। १२

मूलम्-सदा कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अइदुक्खधम्मं
हत्थेहिं पाएहि य बंधिऊणं, सत्तुव्व डंडेहिं समारभंति ॥१३॥

(छाया) सदा कृत्स्नं पुनर्धर्मस्थानं, गाढोपनीतमतिदुःखधर्मम्
हस्तैश्च पादैश्च बध्ध्वा शत्रुमिव दण्डैः समारभन्ते।

(अन्वयार्थ) (सया) सदा-सव काल-(कसिणं) सम्पूर्ण (घम्मठाणं) एक गर्मस्थान है (गाढोवणीयं) निधत्त निकाचित आदि कर्मों से जो प्राप्त होता है (अइदुक्खधम्मं) अत्यन्त दुःख देना जिसका स्वभाव है (तत्थ) उस नरकमे (हत्थेहिं पाएहिं य बंधिऊणं) हाथ और पैर बाँधकर (सत्तुव्व) शत्रुकी तरह (डंडेहि) दण्डोंके द्वारा नरकपाल (समारभंति) ताडन करते हैं ।

(भावार्थ) निरन्तर जलनेवाला एक गर्मस्थान है वह निधत्त निकाचित आदि अवस्थावाले कर्मोंसे प्राणियोंको प्राप्त होता है तथा वह स्वभावसेही अत्यन्त दुःख देनेवाला है उस स्थानमें नारकिजीवका हाथ पैर बाँधकर शत्रुकी तरह नरकपाल डंडोसे ताड़न करते हैं ।

(टीका) 'सदा' सर्वकालं 'कृत्स्नं' सम्पूर्णं पुनरपरं 'घर्मस्थानं' उष्णस्थानं दृढैर्निधत्तनिकाचितावस्थैः कर्मभिः 'उपनीतं' ढौकितमतीव दुःखरूपो धर्मः- स्वभावो यस्मिंस्तदतिदुःखधर्मं तदेवम्भूते यातनास्थाने तमत्राणं नारकं हस्तेषु पादेषु च बध्ध्वा तत्र प्रक्षिपन्ति, तथा तदवस्थमेव शत्रुमिव दण्डैः 'समारभन्ते' ताडयन्ति ॥ १३ ॥ किञ्च-

(टीकार्थ) हमेशः सब भागमें उष्ण एक दूसरा गर्म स्थान है। जा दृढ अर्थात् निधत्त निकाचित अवस्थावाले कर्मोंसे प्राप्त होता है तथा जो स्वभावसेही अत्यन्त दु.ख देनेवाला है ऐसे यातनास्थानमें त्राणरहित नारकि जीवको हाथ पैर बाँधकर नरकपाल डालदेते है और वहां उस दशामें पडे हुए उनको शत्रुकी तरह डंडोंसे मारते हैं। १३

मूलम्--भंजंति बालस्स वहेण पुट्टी, सीसंपि भिंदंति अओघणेहिं
ते भिन्नदेहा फलगंव तच्छा, तत्ताहिं आराहिं णियोजयंति॥१४॥

(छाया) भञ्जन्ति बालस्य व्यथेन पृष्ठं, शीर्षमपि भिन्दन्त्ययोघनेन
ते भिन्नदेहाः फलकमिव तष्टा स्तप्ताभिराराभिर्नियोज्यन्ते।

(अन्वयार्थ) (बालस्स पुट्ठी) निर्विवेकी नारकिजीवकी पीठ (वहेन) लाठीसे मारकर (भजंति) तोड़ देते हैं। (अयोघणेहिं) तथा लोहके घनसे (सीसंपि) उनका शिरभी (भिंदंति) तोडदेते हैं। (भिन्नदेहा) जिनके अङ्ग चूर्ण करदिये गये हैं। ऐसे (ते) वे नारकि जीव, (तत्ताहि आराहिं) तप्त आराके द्वारा (फलग व तच्छा) काठका फलकके समान चीरकर पतले किये हुए (णियोजयंति) गर्म शीसा पीनेकेलिये प्रवृत्त किये जाते हैं।

(भावार्थ) नरकपाल, लाठीसे मारकर नारकिजीवोंकी पीठ तोड़देते हैं तथा लोहके घनसे मारकर उनका शिर चूर चूर करदेते हैं। इसी तरह उनकी देहको चूर चूर करके उन्हें तप्त आरासे काठकी तरह चीरदेते हैं फिर उनको गर्म शीसा पीनेके लिए बाध्य करते हैं।

(टीका) 'बालस्य' वराकस्य नारकस्य व्यथयतीति व्यथो-लकुटादिप्रहारस्तेन पृष्ठं 'भञ्जयन्ति' मोटयन्ति, तथा शिरोऽप्ययोमयेन घनेन 'भिंदन्ति' चूर्णयन्ति, अपिशब्दादन्यान्यप्यङ्गोपाङ्गानि द्रुघणघातैश्चूर्णयन्ति 'ते' नारका 'भिन्न-देहाः' चूर्णिताङ्गोपाङ्गाः फलकमिवोभाभ्यां पार्श्वाभ्यां क्रकचादिना 'अवतष्टाः'

---

१ ०पाने० प्र०।

तनूकृताः सन्तस्तप्ताभिराराभिः प्रतुद्यमानास्तप्तत्रपुपानादिके कर्मणि 'विनियोज्यन्ते' व्यापार्यन्त इति ॥ १४ ॥ किञ्च—

(टीकार्थ) नरकपाल, विचारे नारकिजीवकी पीठ पीडादेनेवाले लाठी आदिके प्रहारसे मारकर तोड़ देते हैं । तथा लोहके घनसे मारकर उनका शिर चूर चूर करदेते हैं । अपि शब्दसे दूसरेभी उनके अङ्ग तथा उपाङ्गोंको घनसे मारकर चूर चूर करदेते हैं । इस प्रकार जिनके अङ्ग और उपाङ्ग चूर चूर करदिये गये हैं ऐसे नारकिजीव शरीरके दोनो भागोंमें आराके द्वारा चीरकर पतले किये जाते हैं फिर गर्म आरासे पीड़ित किये जाते हुए वे शीसा पीने आदि कार्य्योंमें प्रवृत्त किये जाते हैं । १४

मूलम्--अभिजुंजिया रुद्द असाहुकम्मा, उसुचोइया हत्थिवहं वहंति
एगं दुरूहित्तु दुवे ततो वा, आरुस्स विज्झंति ककाणओ से॥१५॥

(छाया) अभियोज्य रौद्रमसाधुकर्मणः, इषुचोदितान् हस्तिवहं वाहयन्ति
एकं समारोह्य द्वौ त्रीन्वा, आरुष्य विध्यन्ति मर्माणि तस्य ।

(अन्वयार्थ) (असाहुकम्मा) पापी नारकिजीवोंको (रौद्द अभिजुंजिया) उनके जीवहिंसादि कार्य्यको स्मरण कराकर (उसुचोइया) तथा बाणके प्रहारसे प्रेरित करके (हत्थिवहं वहंति) उनसे हाथीकी तरह भार वहन कराते हैं । (एगं दुवे ततो वा दुरुहित्तु) तथा एक, दो, या तीन जीवोंको उनकी पीठपर चढाकर उनको चलाते हैं और (आरुस्स) क्रोध करके (से) उनके (ककाणओ) मर्मस्थानको (विज्झंति) वेध करते हैं ।

(भावार्थ) नरकपाल पापी नारकि जीवोके पूर्वकृत पापको स्मरण कराकर बाणके प्रहारसे मारकर हाथीके समान भार ढोनेकेलिये उनको प्रवृत्त करते हैं । उनकी पीठपर एक, दो, तीन नारकियोंको बैठाकर चलनेके लिये प्रेरित करते हैं तथा क्रोधित होकर उनके मर्म स्थानमें प्रहार करते हैं ।

(टीका) रौद्रकर्मण्यपरनारकहननादिके 'अभियुज्य' व्यापार्य यदिवा—जन्मान्तरकृतं 'रौद्रं' सत्त्वोपघातकार्यम् 'अभियुज्य' स्मारयित्वा असाधूनि—अशोभनानि जन्मान्तरकृतानि कर्माणि—अनुष्ठानानि येषां ते तथा तान् 'इषुचोदितान्' शराभिघातप्रेरितान् हस्तिवाहं वाहयन्ति नरकपालाः, यथा हस्ती वाह्यते समारुह्य एवं तमपि वाहयन्ति, यदिवा—यथा हस्ती महान्तं भारं वहत्येवं तमपि नारकं वाहयन्ति, उपलक्षणार्थत्वादस्योष्ट्रवाहं वाहयन्तीत्याद्यप्यायोज्यं, कथं वाह-

यन्तीति दर्शयति—तस्य नारकस्योपर्येकं द्वौ त्रीन् वा 'समारुह्य' समारोप्य ततस्तं वाहयन्ति, अतिभारारोपणेनावहन्तम् 'आरुष्य' क्रोधं कृत्वा प्रतोदादिना 'विध्यन्ति' तुदन्ति, 'से' तस्य नारकस्य 'ककाणओ'त्ति मर्माणि विध्यन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥ अपि च—

(टीकार्थ) नरकपाल, नारकि जीवोंको दूसरे नारकिजीवोंके हनन करने आदि कर्मोंमें लगाकर अथवा पूर्वजन्ममें उनके द्वारा किये हुए प्राणियोंके घात आदि कार्योंको स्मरण कराकर जन्मान्तरमें अशुभ कर्म किये हुए नारकि जीवोंको बाणोंसे मारकर हाथीकी तरह भार वहन कराते हैं। जैसे हाथीपर चढकर उससे भार वहन कराते हैं इसी तरह उन नारकिजीवोंको बाणोंसे मारकर हाथीकी तरह भार वहन कराते हैं। जैसे हाथीपर चढकर उससे भार वहन कराते हैं इसीतरह उस नारकिसेभी सवारी ढोनेका काम लेते हैं। अथवा जैसे हाथी भारी भार वहन करता है इसी तरह उस नारकिसेभी भारी भार वहन कराते हैं। हाथीकी तरह भार वहन करना जो यहां कहा है वह उपलक्षणमात्र है इस लिये ऊँटकी तरह भार वहन करना भी समझ लेना चाहिये। नरकपाल नारकि जीवोंसे जिसप्रकार भार वहन कराते हैं सो शास्त्रकार दिखाते हैं—उस नारकिके ऊपर एक, दो या तीन व्यक्तियोंको बैठाकर उनको उससे वहन कराते हैं। अत्यन्त भार होनेके कारण जब वे वहन नहीं करते हैं तब क्रोधित होकर चाबुक आदि के द्वारा उनको मारते हैं तथा उनके मर्मस्थानका वेध करते हैं। १५

मूलम्–बाला बला भूमिमणुक्कमंता, पविज्जलं कंटइलं महंतं।
विवद्धतप्पेहिं विवण्णचित्ते, समीरिया कोट्टवलिं करिंति ॥ १६ ॥

(छाया) बालाः बलाद् भूमिमनुक्राम्यमाणाः, पिच्छिलां कण्टकिलां महतीम्
विवद्धतर्पान् विषण्णचित्तान् समीरिताः कोट्टवलिं कुर्वन्ति।

(अन्वयार्थ) (बाला) बालकके समान पराधीन विचारे नारकिजीव, नरकपालोंके द्वारा (बला) बलात्कारसे (पविज्जलं) कीचडसे भरी हुई (कंटइलं) और काँटोंसे पूर्ण (महंतं) विस्तृत (भूमि) पृथिवीपर (अणुक्कमंता) चलाये जाते हैं (समीरिया) पापकर्मसे प्रेरित नरकपाल, (विवद्धतप्पेहिं विवण्णचित्ते) अनेक प्रकारसे बाँधे हुए तथा मूर्च्छित दूसरे नारकिजीवोंको (कोट्टवलिं करिंति) खण्डशः काटकाटकर इधर उधर फेंकदेते हैं।

१ मर्माणि प्र०। २ बलिं कुर्वंति इतश्चेतश्च क्षिपंतीत्यर्थः, यद्वा कोट्टबलिं कुर्वन्तीति, कुर्वंति नगरबलि–प्र०।

(भावार्थ) पापसे प्रेरित नरकपाल, वालकके समान पराधीन विचारे नारकि जीवको कीचडसे भरी तथा काँटोंसे पूर्ण विस्तृत पृथिवीपर चलनेके लिये प्रेरित करते हैं। तथा दूसरे नारकि जीवोंको अनेक प्रकारसे वाँधकर मूर्च्छित उन विचारोंको खण्ड खण्ड काटकर इधर उधर फेंक देते हैं।

(टीका) बाला इव बालाः परतन्त्राः, पिच्छिलां रुधिरादिना तथा कण्टकाकुलां भूमिमनुक्रामन्तो मन्दगतयो बलात्प्रेर्यन्ते, तथा अन्यान् 'विषण्णचित्तान्' मूर्च्छितांस्तर्पकाकारान् 'विविधम्' अनेकधा बद्ध्वा ते नरकपालाः 'समीरिताः' पापेन कर्मणा चोदितास्तान्नारकान् 'कुट्टयित्वा' खण्डशः कृत्वा 'बालिं करिंति' त्ति नगरबलिवदितश्चेतश्च क्षिपन्तीत्यर्थः, यदि वा कोट्टबलिं कुर्वन्तीति॥१६॥ किञ्च—

(टीकार्थ) बालक के समान पराधीन नारकि जीव, रुधिर आदि से पिच्छिल तथा कण्टकाकीर्ण पृथिवीपर चलते हुए मन्दगति से चलनेपर बलात्कार से तेज चलाये जाते हैं। तथा दूसरे मूर्च्छित नारकि जीव को अनेक प्रकार से वांधकर पापकर्म से प्रेरित नरकपाल खण्ड खण्ड काटकर नगरवलिके समान इधर उधर फेंक देते हैं अथवा उन्हें नगरकी वलि करते हैं। १६

मूलम्—वेतालिए नाम महाभितावे, एगायते पव्वयमंतलिक्खे।
हम्मंति तत्था बहुकूरकम्मा, परं सहस्साण मुहुत्तगाणं ॥१७॥

(छाया) वैक्रियो नाम महाभिताप एकायतः पर्वतोऽन्तरिक्षे
हन्यन्ते तत्स्थाः बहुक्रूरकर्माणः परं सहस्राणां मुहूर्त्तकाणाम्।

(अन्वयार्थ) (महाभितावे) महान् तापसे युक्त (अंतलिक्खे) आकाशमें (वेतालिए) वैक्रिय (एकायते) एक शिला के द्वारा वनाया हुआ लम्बा (पव्वए) एक पर्वत है (तत्था) उस पर्वत पर रहनेवाले (बहुकूरकम्मा) बहुत क्रूर कर्म किएहुए नारकिजीव (सहस्साणं मुहुत्तगाणं परं हम्मंति) हजारो मुहूर्तोंसे अधिक कालतक मारे जाते हैं।

(भावार्थ) महान् ताप देनेवाले आकाशमें परमाधार्मिकों के द्वारा वनाया हुआ अतिविस्तृत एक शिलाका एक पर्वत है उसपर रहनेवाले नारकि जीव, हजारों मुहूर्तों से अधिक कालतक परमाधार्मिकोंके द्वारा मारे जाते हैं।

(टीका) नामशब्दः सम्भावनायां, सम्भाव्यते एतन्नरकेषु यथाऽन्तरिक्षे 'महाभितापे' महादुःखैककार्ये एकशिलाघटितो दीर्घः 'वेयालिए'त्ति वैक्रियः

परमाधार्मिकनिष्पादितः पर्वतः तत्र तमोरूपत्वान्नरकाणामतो हस्तस्पर्शिकया समारुहन्तो नारका 'हन्यन्ते' पीड्यन्ते, बहूनि क्रूराणि जन्मान्तरोपात्तानि कर्माणि येषां ते तथा, सहस्रसंख्यानां मुहूर्तानां परं–प्रकृष्टं कालं, सहस्रशब्दस्योपलक्षणार्थत्वात्प्रभूतं कालं हन्यन्त इति यावत् ॥ १७ ॥

(टीकार्थ) नाम शब्द सम्भावना अर्थ में आया है । वह यह बताता है कि यह बात होसकती है कि महान् तापसे युक्त अर्थात् महान् दुःख देना जिसका प्रधान कार्य्य है ऐसे आकाशमें एक शिलाके द्वारा बनाया हुआ, दीर्घ, परमाधार्मिकों से रचित एक पर्वत है वह पर्वत अन्धकाररूप है इस लिये हाथ के स्पर्श से उसपर चढते हुए पूर्व जन्म में पाप किये हुए नारकि जीव, हजार मुहूर्तों से अधिक कालतक परमाधार्मिकों के द्वारा मारे जाते हैं । यहां सहस्र शब्द उपलक्षण है इसलिये चिरकाल तक वे मारे जाते हैं यह समझना चाहिये । १७

मूलम्–संबाहिया दुक्कडिणो थणंति, अहो य राओ परितप्पमाणा ।
एगंतकूडे नरए महंते, कूडेण तत्था विसमे हता उ ॥१८॥

(छाया) संबाधिताः दुष्कृतिनःस्तनन्ति, अह्नि च रात्रौ परितप्यमानाः
एकान्तकूटे नरके महति कूटेन तत्स्थाः विषमे हतास्तु ।

(अन्वयार्थ) (संबाहिता) निरन्तर पीडित किये जाते हुए (दुक्कडिणो) पापी जीव, (अहो य राओय परितप्पमाणा) दिन और रात ताप भोगते हुए (थणंति) रोदन करते हैं। (एगंत कूडे) एकान्त दुःखका स्थान (महंते) विस्तृत (विसमे) कठिन (नरए) नरकमें पडे हुए प्राणी (कूडेण) गलेमें फांसी डालकर (हताउ) मारे जाते हुए केवल रोदन करते हैं।

(भावार्थ) निरन्तर पीडित किये जाते हुए पापी जीव रातदिन रोते रहते हैं । जिसमें एकान्त दुःख है तथा जो अति विस्तृत और कठिन है ऐसे नरक में पडे हुए प्राणी गलेमें फाँसी डालकर मारे जाते हुए केवल रोदन करते हैं ।

(टीका) तथा सम्–एकीभावेन बाधिताः पीडिता दुष्कृतं–पापं विद्यते येषां ते दुष्कृतिनो महापापाः 'अहो' अहनि तथा रात्रौ च 'परितप्यमाना' अतिदुःखेन पीड्यमानाः सन्तः करुणं–दीनं 'स्तनन्ति' आक्रन्दन्ति, तथैकान्तेन 'कूटानि' दुःखोत्पत्तिस्थानानि यस्मिन् स तथा तस्मिन् एवम्भूते नरके 'महति' विस्तीर्णे

पतिताः प्राणिनः तेन च कूटेन गलयन्त्रपाशादिना पाषाणसमूहलक्षणेन वा 'तत्र' तस्मिन्विषमे हताः तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् स्तनन्त्येव केवलमिति ॥१८॥अपिच-

(टीकार्थ) एकरूप से पीडित किये जाते हुए महापापी जीव, रातदिन दुःख से पीडित होकर करुण रोदन करते रहते हैं ! जिसमें एकान्तरूप से दुःखकी उत्पत्तिका स्थान है ऐसे विस्तृत नरक में पडे हुए प्राणी गलेमें फाँसी डालकर अथवा पत्थरों के समूह से उस विषम स्थानमें मारे जाते हुए केवल रोदन ही किया करते हैं। यहां तु शब्द अवधारणार्थक है। १८

मूल-भंजंति णं पुव्वमरी सरोसं, समुग्गरे ते मुसले गहेतुं।
ते भिन्नदेहा रुहिरं वमंता, ओमुद्धगा धरणितले पडंति॥१९॥

(छाया) भञ्जन्ति पूर्वारयः सरोषं, समुद्गराणि मुसलानि गृहीत्वा
ते भिन्नदेहाः रुधिरं वमन्तोऽधोमुखाः धरणीतले पतन्ति।

(अन्वयार्थ) (समुग्गरे मुसले गहेतुं) मुद्गर और मुसल हाथमें लेकर नरकपाल (पुव्वमरी) पहेलेके शत्रुके समान (सरोसं) क्रोध के सहित (भंजंति) नारकि जीवों के अङ्गोंको तोड देते हैं। (भिन्नदेहा) जिनकी देह टूट गई है ऐसे नारकि जीव (रुहिरं वमंता) रक्त वमन करते हुए (ओमुद्धगा) अधोमुख होकर (धरणितले) पृथिवीतलमें (पडंति) गिरजाते हैं।

(भावार्थ) परमाधार्मिक पहले के शत्रु के समान हाथ में मुद्गर और मुसल लेकर उनके प्रहार से नारकि जीवो के शरीर को चूर चूर कर देते हैं। गाढ प्रहार पाये हुए और मुख से रुधिरका वमन करते हुए नारकि जीव, अधोमुख होकर पृथिवी पर गिर जाते हैं।

(टीका) 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे पूर्वमरय इवारयो जन्मान्तरवैरिण इव परमाधार्मिका यदिवा-जन्मान्तरापकारिणो नारका अपरेषामङ्गानि 'सरोषं' सकोपं समुद्गराणि मुसलानि गृहीत्वा 'भञ्जन्ति' गाढप्रहारैरामर्दयन्ति, ते च नारकास्त्राणरहिताः शस्त्रप्रहारैर्भिन्नदेहा रुधिरमुद्वमन्तोऽधोमुखा धरणितले पतन्तीति ॥ १९ ॥ किञ्च—

(टीकार्थ) 'णं' शब्द वाक्यालङ्कार में आया है। दूसरे जन्मके वैरी के समान परमाधार्मिक, अथवा दूसरे जन्मके अपकारी नारकि जीव दूसरे नारकि जीवों के अङ्गोंको क्रोध सहित मुद्गर और मुसल लेकर गाढ प्रहार से तोड देते हैं। रक्षक रहित वे नारकि जीव, शस्त्रके प्रहार से चूर्णितशरीर होकर रुधिर वमन करते हुए अधोमुख पृथिवीपर गिरजाते हैं। १९

मूल—अणासिया नाम महासियाला, पागब्भिणो तत्थ सयायकोवा।
खज्जंति तत्था वहुकूरकम्मा, अदूरगा संकलियाहि वद्धा॥२०॥

(छाया) अनशिता नाम महाशृगालाः प्रगल्भिणस्तत्र सदा सकोपाः
खाद्यन्ते तत्र वहुक्रूरकर्माणः अदूरगाः शृङ्खलैर्वद्धाः।

(अन्वयार्थ) (तत्थ) उस नरकमें (सया सकोवा) सदा क्रोधित (अणासिया) क्षुधातुर (पागब्भिणो) ढीठ (महासियाला) बडे बडे गीदड रहते हैं। वे गीदड (बहुकूरकम्मा) जन्मान्तरमें पाप किये हुए (संकलियाहिं वद्धा) तथा जंजीरमें बँधे हुए (अदूरया) निकटमें स्थित उन नारकि जीवोंको (खज्जंति) खाते हैं।

(भावार्थ) उस नरकमें हमेशः क्रोधित वडे ढीठ विशाल शरीरवाले भूखे गीदड़ रहते हैं। वे, जंजीरमें बंधे हुए तथा निकटमें स्थित पापी जीवोंको खाते हैं।

(टीका) महादेहप्रमाणा महान्तः शृगाला नरकपालविकुर्विता 'अनशिता' बुभुक्षिताः, नामशब्दः सम्भावनायां, सम्भाव्यत एतन्नरकेषु, 'अतिप्रगल्भिता' अतिधृष्टा रौद्ररूपा निर्भयाः 'तत्र' तेषु नरकेषु सम्भवन्ति 'सदावकोपा' नित्यकुपिताः तैरेवम्भूतैः शृगालादिभिस्तत्र व्यवस्थिता जन्मान्तरकृतबहुक्रूरकर्माणः शृङ्खलादिभिर्बद्धा अयोमयनिगडिता 'अदूरगाः' परस्परसमीपवर्तिनो 'भक्ष्यन्ते' खण्डशः खाद्यन्त इति॥ २०॥ अपि च—

(टीकार्थ) नरकपालों के द्वारा वनाये हुए विशाल शरीरवाले भूखे वडे ढीठ रौद्ररूप निर्भय गीदड़ उस नरकमें होते हैं। नाम शब्द संभावना अर्थमें आया है, यह नरकमें संभव है यह वह वताता है। वे गीदड हमेशः क्रोधित रहते हैं। उन गीदड़ोंके द्वारा उस नरकमें रहनेवाले एक दूसरे के समीपवर्ती, तथा लोहकी जंजीरमें बँधे हुए पूर्व जन्म के पापी जीव, खाये जाते हैं २०।

मूल—सयाजला नाम नदी भिदुग्गा, पविज्जलं लोहविलीणतत्ता।
जंसी भिदुग्गंसि पवज्जमाणा, एगायऽताणुक्कमणं करेंति॥२१॥

(छाया) सदाजला नाम नद्यभिदुर्गा, पिच्छिला लोहविलीनतप्ता
यस्यामभिदुर्गायां प्रपद्यमाना एका अत्राणाः उत्क्रमणं कुर्वन्ति।

---

२ भक्ष्यन्ते प्र०।

(अन्वयार्थ) (सयाजला नाम) सदाजला नामक (भिदुग्गा) बडी विषम (नदी) एक नदी है। (पविज्जलं) उसका जल क्षार पीव (रस्सी) और रक्त से मलिन रहता है अथवा वह बडी पिच्छिल है। (लोहविलीनतत्ता) तथा वह आगसे गलेहुए लोहके द्रवके समान अति उष्ण जलवाली है। (अभिदुग्गंसि) अति विषम (जंसी पवज्जमाणा) जिस नदीमें गयेहुए नारकी जीव (एगायतानुक्कमणं करेंति) अकेले रक्षक रहित तैरते हैं।

(भावार्थ) सदाजला नामक एक नरक की नदी है उसमें जल हमेशः रहता है इसलिये वह सदाजला कहलाती है। वह नदी बडी कष्टदायिनी है। उसका जल क्षार, पीव (रस्सी) और रक्तसे सदा मलिन रहता है और वह आग से गलेहुए लोहके द्रव के समान अति उष्ण जलको धारण करती है। उस नदीमें विचारे नारकि जीव रक्षक रहित अकेले तैरते हैं।

(टीका) सदा—सर्वकालं जलम्—उदकं यस्यां सा तथा सदाजलाभिधाना वा 'नदी' सरिद् 'अभिदुर्गा' अतिविषमा प्रकर्षेण विविधमत्युष्णं क्षारपूयरुधिराविलं जलं यस्यां सा प्रविजला यदिवा 'पविज्जले'त्ति रुधिराविलत्वात् पिच्छिला, विस्तीर्णगम्भीरजला वा अथवा प्रदीप्तजला वा एतदेव दर्शयति—अग्निना तप्तं सत् 'विलीनं' द्रवतां गतं यल्लोहम्—अयस्तद्वत्तप्ता, अतितापविलीनलोहसदृशजलेत्यर्थः, यस्यां च सदाजलायाम् अभिदुर्गायां नद्यां प्रपद्यमाना नारकाः 'एगाय'त्ति एकाकिनोऽत्राणा 'अनुक्रमणं' तस्यां गमनं प्लवनं कुर्वन्तीति ॥ २१ ॥

(टीकार्थ) जिसमें सब समय जल भरा रहता है उसे 'सदाजला' कहते हैं, अथवा जिसका सदाजला नाम है ऐसी नरक की एक नदी है, वह बडी विषम अर्थात् कष्टदायिनी है उसका जल अत्यन्त उष्ण और क्षार पीव तथा रक्त से मलिन रहता है अथवा रक्त से भरी हुई होने के कारण वह बडी पिच्छिल (चिकनी है, अथवा वह विस्तृत एवं गम्भीर जलवाली है। अथवा वह प्रदीप्तजला यानी अत्युष्ण जलवाली है। यही शास्त्रकार दिखलाते हैं—आगसे तपाहुआ अतएव द्रव को प्राप्त जो लोह उसके समान तापवाली वह नदी है अर्थात् अत्यन्त ताप से तपकर गलेहुए लोहके समान उसका जल गर्म रहता है। ऐसी सदाजला नामक अति विषम नदीमें पडे हुए नारकि जीव अकेले रक्षक रहित तैरते हैं। २१

मूल—एयाइं फासाइं फुसंति बालं, निरंतरं तत्थ चिरट्ठितीयं।
ण हम्ममाणस्स उ होइ ताणं, एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं ॥२२॥

(छाया) एते स्पर्शाः स्पृशन्ति बालं निरन्तरं तत्र चिरस्थितिकम्
न हन्यमानस्य तु भवति त्राणम्, एकः स्वयं पर्य्यनुभवति दुःखम्।

(अन्वयार्थ) (तत्थ) उस नरकमें (चिरट्ठितीयं) चिरकालतक निवास करनेवाले (बालं) अज्ञानी नारकि जीवको (एयाइं) पूर्वोक्त ये (फासाइं) स्पर्श यानी दुःख (निरंतरं) सदा (फुसंति) पीडित करते रहते हैं। (हम्ममाणस्सउ) पूर्वोक्त दुःखों से मारे जाते हुए नारकि जीवका (ताणं ण होइ) त्राण नहीं होता (एगो सयं दुक्खं पच्चणुहोइ) वह अकेले उक्त दुःखों को भोगता है।

(भावार्थ) पहले के दो उद्देशो में जिन कठिन दुःखोंका वर्णन किया है वे सब दुःख निरन्तर अज्ञानी नारकि जीवको होते रहते हैं। उस नारकि जीवकी आयुभी लम्बी होती है और उस दुःख से उसकी रक्षा भी नहीं होसकती है वह अकेले उक्त दुःखोंको भोगता है उसकी सहायता कोई नहीं कर सकता है।

(टीका) साम्प्रतमुद्देशकार्थमुपसंहरन् पुनरपि नारकाणां दुःखविशेषं दर्शयितुमाह—'एते' अनन्तरोद्देशकद्वयाभिहिताः 'स्पर्शाः' दुःखविशेषाः परमाधार्मिकजनिताः परस्परापादिताः स्वाभाविका वेति अतिकटवो रूपरसगंधस्पर्शशब्दाः अत्यंतदुःसहा बालमिव 'बालम्' अशरणं 'स्पृशन्ति' दुःखयन्ति 'निरन्तरम्' अविश्रामं 'अच्छिनिमीलय'मित्यादिपूर्ववत् 'तत्र' तेषु नरकेषु चिरं-प्रभूतं कालं स्थितिर्यस्य बालस्यासौ चिरस्थितिकस्तं, तथाहि—रत्नप्रभायामुत्कृष्टा स्थितिः सागरोपमं, तथा द्वितीयायां शर्करप्रभायां त्रीणि, तथा बालुकायां सप्त, पङ्कायां दश, धूमप्रभायां सप्तदश तमःप्रभायां द्वाविंशतिर्महातमःप्रभायां सप्तमपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि उत्कृष्टा स्थितिरिति, तत्र च गतस्य कर्मवशापादितोत्कृष्टस्थितिकस्य परैर्हन्यमानस्य स्वकृतकर्मफलभुजो न किञ्चित्त्राणं भवति, तथाहि—किल सीतेन्द्रेण लक्ष्मणस्य नरकदुःखमनुभवतस्तत्त्राणोद्यतेनापि न त्राणं कृतमिति श्रुतिः, तदेवमेकः—असहायो यदर्थं तत्पापं समर्जितं तैरहितस्तत्कर्मविपाकजं दुःखमनुभवति, न कश्चिद्दुःखसंविभागं गृह्णातीत्यर्थः, तथा चोक्तम्—"मया परिजनस्यार्थे, कृतं कर्म सुदारुणम्। एकाकी तेन दह्येऽहं, गतास्ते फलभोगिनः ॥ १ ॥" इत्यादि ॥ २२ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) अब शास्त्रकार उद्देशक को समाप्त करते हुए फिर भी नारकि जीवोंका दुःख बताने के लिये कहते हैं—पहले के दो उद्देशों में जिनका वर्णन किया है वे दुःखविशेष, परमाधार्मिकों के द्वारा किये हुए अथवा परस्पर के द्वारा किये हुए अथवा स्वभाव से किये हुए जो अति कटु हैं ऐसे अति दुःसह रूपरस गन्ध स्पर्श और शब्द शरण रहित नारकि

जीवको सदा पीडित करते रहते हैं पलक गिरानेमात्र कालतक भी उनको दुःख से छुट्टी नहीं मिलती है। वे नारकि जीव चिरकाल तक उस नरकमें निवास करते हैं क्योंकि रत्नप्रभा नामक पृथिवीमें उत्कृष्ट सागरोपम काल तक स्थिति है और दूसरी शर्करप्रभामें उत्कृष्ट तीन सागरोपम कालकी स्थिति है, वालुकामें सात, पङ्कामें दश, धूमप्रभामें सत्रह, तमःप्रभामें बाईस, एवं महातमःप्रभा सातवीं पृथिवीमें तैंतीस सागरोपम कालकी उत्कृष्ट स्थिति है। इन पृथिवियों में गये हुए और कर्मके द्वारा उत्कृष्ट स्थिति पाये हुए तथा दूसरे के द्वारा मारे जाते हुए, अपने किये हुए कर्मका फल भोगनेवाले नारकि जीवकी कोईभी रक्षा नहीं करसकता क्योंकि नरक दुःख भोगते हुए लक्ष्मण को उस दुःख से रक्षा करने के लिये उद्यत होकर भी सीतेन्द्र रक्षा नहीं कर सके, ऐसा सुना जाता है। इस प्रकार वह प्राणी अकेला अर्थात् जिन लोगों के लिये उसने पापका उपार्जन कियाथा उन से रहित होकर अपने कर्मका फल स्वरूप दुःख भोगता है कोई भी उसके दुःखमें भाग नहीं लेता है। कहा है कि—मैंने अपने परिवार के लिये अत्यन्त दारुण कर्म किया उस कर्मके बदले में अकेला दुःख भोग रहा हूं परन्तु उसका फल भोगनेवाले मुझको छोड़कर चले गये इत्यादि। २२

मूल--जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए
एगंतदुक्खं भवमज्जणित्ता, वेदंति दुक्खी तमणंतदुक्खं ॥ २३ ॥

(छाया) यद् यादृशं पूर्वमकार्षीत्कर्म, तदेवागच्छति सम्पराये
एकान्तदुःखं भवमर्जयित्वा, वेदयन्ति दुःखिनस्तमनन्तदुःखम्।

(अन्वयार्थ) (जं) जो (जारिसं) जैसा (पुव्वं) पूर्वजन्म में (कम्म) कर्म (अकासी) किया है (तमेव) वही (संपराए) संसार में (आगच्छति) आता है। (एगंतदुक्खं भवं अज्जणित्ता) जिसमें एकान्त दुःख होता है ऐसे भवको प्राप्त करके (दुक्खी) एकान्तदु.खी जीव (अणंत दुक्खं तं वेदेति) अनंत दुःखस्वरूप नरक भोगते हैं।

(भावार्थ) जिस जीवने जैसा कर्म किया है वही उसके दूसरे भवमें प्राप्त होता है। जिसने एकान्त दुःखरूप नरकभवका कर्म किया है वह अनन्त दुःखरूप उस नरक को भोगता है।

(टीका) 'यत्' कर्म 'यादृशं' यदनुभावं यादृक्स्थितिकं वा कर्म 'पूर्वं' जन्मान्तरे 'अकार्षीत्' कृतवांस्तत्तादृगेव जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्थित्यनुभावभेदं 'सम्प-

राये' संसारे तथा--तेनैव प्रकारेणानुगच्छति, एतदुक्तं भवति—तीव्रमन्दमध्यमैर्बन्धाध्यवसायस्थानैर्यादृशैर्यद्बद्धं तत्तादृगेव तीव्रमन्दमध्यमेव विपाकम्–उदयमागच्छतीति, एकान्तेन--अवश्यं सुखलेशरहितं दुःखमेव यस्मिन्नरकादिके भवे स तथा तमेकान्तदुःखं भवमर्जयित्वा' नरकभवोपादानभूतानि कर्माण्युपादायैकान्तदुःखिनस्तत्–पूर्वनिर्दिष्टं दुःखम्–असातवेदनीयरूपमनन्तम्--अनन्योपशमनीयमप्रतिकारं 'वेदयन्ति' अनुभवन्तीति ॥ २३ ॥ पुनरप्युपसंहारव्याजेनोपदेशमाह—

(टीकार्थ) प्राणियोंने पूर्वजन्ममें जैसी स्थितिवाला तथा जैसा प्रभाववाला जो कर्म किया है वह वैसाही अर्थात् जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थितिवाला एवं जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट प्रभाववाला उसी तरह संसार में प्राणियोंको प्राप्त होता है। भाव यह है कि—तीव्र, मन्द और मध्यम जैसे बन्ध के अध्यवसायों से जो कर्म बांधा गया है वह तीव्र मन्द और मध्यम ही विपाक उत्पन्न करता हुआ उदयको प्राप्त होता है। जिस प्राणीने सुख के लेश से भी रहित एकान्त रूपसे जिसमे दुःख ही होता है ऐसे नरकभवके कारणस्वरूप कर्मोंका अनुष्ठान किया है वे एकान्त दुःखी होकर पूर्वोक्त असातावेदनीयरूप दुःख जो अनन्त और किसीसे भी शान्त करने योग्य नहीं तथा प्रतीकार रहित है उसे भोगते है। २३

भूल--एताणि सोच्चा णरगाणि धीरे, न हिंसए किंचण सव्वलोए।
एगंतदिट्ठी अपरिग्गहे उ, बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे।२४।

(छाया) एतान् श्रुत्वा नरकान् धीरो, न हिंस्यात्कञ्चन सर्वलोके
एकान्तदृष्टिरपरिग्रहस्तु, बुध्येत लोकस्य वशं न गच्छेत्।

(अन्वयार्थ) (धीरे) विद्वान् पुरुष (एताणि णरगाणि) इन नरकों को (सोच्चा) सुनकर (सव्वलोए) सब लोकमें (किंचन) किसी प्राणीकी (न हिंसए) हिंसा न करे। (एगंतदिट्ठी) किन्तु जीवादि तत्त्वोंमें अच्छी तरह विश्वास रखता हुआ (अपरिग्गहेउ) परिग्रह रहित होकर (लोयस्स बुज्झिज्ज) अशुभ कर्म करनेवाले और उनका फल भोगनेवाले जीवोंको समझे अथवा कषायोंको जाने (वसं न गच्छे) उनके वशमें न जाय।

(भावार्थ) विद्वान् पुरुष इन नरकों को सुनकर सब लोकमें किसीभी प्राणीकी हिंसा न करे। किन्तु जीवादि तत्त्वों में सम्यक् श्रद्धा रखता हुआ परिग्रह रहित होकर कषायोंका स्वरूप जाने और कभी भी उनके वशमें न हो।

(टीका) 'एतान्' पूर्वोक्तान्नरकान् तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इतिकृत्वा नरकदुःख-

विशेषान् 'श्रुत्वा' निशम्य धीः--बुद्धिस्तया राजत इति धीरो--बुद्धिमान् प्राज्ञः, एतत्कुर्यादिति दर्शयति—सर्वस्मिन्नपि—त्रसस्थावरभेदभिन्ने 'लोके' प्राणिगणे न कमपि प्राणिनं 'हिंस्यात्' न व्यापादयेत्; तथैकान्तेन निश्चला जीवादितत्त्वेषु दृष्टिः—सम्यग्दर्शनं यस्य स एकान्तदृष्टिः निष्प्रकम्पसम्यक्त्व इत्यर्थः, तथा न विद्यते परि—समन्तात्सुखार्थं गृह्यत इति परिग्रहो यस्यासौ अपरिग्रहः, तुशब्दादाद्यन्तोपादानाद्वा मृषावादादत्तादानमैथुनवर्जनमपि द्रष्टव्यं, तथा 'लोकम्' अशुभकर्मकारिणं तद्विपाकफलभुजं वा यदिवा—कषायलोकं तत्स्वरूपतो 'बुध्येत' जानीयात्, न तु तस्य लोकस्य वशं गच्छेदिति ॥ २४ ॥ एतदनन्तरोक्तं दुःखविशेषमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह—

(टीकार्थ) फिरभी शास्त्रकार इस उद्देशक की समाप्ति के व्याज से उपदेश देते हैं—जिनका वर्णन पहले किया गया है ऐसे इन नरकों को अर्थात् नरकमें होनेवाले दु.खोंको सुनकर (यहां नरक के दुखोंको नरक पद से कहा है क्योंकि जो जिसमें रहता है वह उस स्थानके वाचक शब्द से भी कहा जाता है) बुद्धि से सुशोभित बुद्धिमान् पुरुष यह कार्य्य करे। वह कार्य्य शास्त्रकार दिखलाते हैं—त्रस और स्थावर भेदवाले समस्त प्राणिरूप लोकमें किसीभी प्राणी की हिंसा न करे। तथा जीवादि तत्त्वों में निश्चल दृष्टि रखता हुआ अर्थात् अविचल सम्यक्त्वको धारण करता हुआ एवं जिसे लोग सुखके लिये चारो ओरसे ग्रहण करते हैं ऐसे परिग्रह को वर्जित करता हुआ तथा तु शब्द से अथवा आदि और अन्तके ग्रहण से मृषावाद, अदत्तादान और मैथुनको भी त्यागता हुआ पुरुष, अशुभ कर्म करनेवाले अथवा अशुभ कर्मका फल भोगनेवाले जीवोंको अथवा कषायोंको स्वरूपतः जानकर उनके वशमें न जाय। २४

मूल-एवं तिरिक्खे मणुयासु (म)रेसुं, चतुरन्तऽणंतं तयणुव्विवागं।
स सव्वमेयं इति वेदइत्ता, कंखेज्ज कालं धुयमायरेज्ज।२५।त्तिबेमि

(छाया) एवं तिर्य्यक्षु, मनुजासुरेषु, चतुरन्तमनन्तं तदनुविपाकम्
स सर्वमेतदिति विदित्वा काङ्क्षेत कालं ध्रुवमाचरेदिति ब्रवीमि।

(अन्वयार्थ) (एवं) इसी तरह (तिरिक्खेमणुयासुरेसु) तिर्य्यञ्च, मनुष्य और देवताओंमें भी (चतुरंतणंतं) चतुर्गतिक और अनन्त संसार तथा (तयणुव्विवाग) उनके अनुरूप विपाकको जाने। (स) बुद्धिमान पुरुष (एयं) इन (सव्वं) सब बातोंको (वेदयित्ता) जानकर

(कालं कंखेज्ज) अपने मरण कालकी प्रतीक्षा करे और (धुव माचरेज्ज) संयमका पालन करे।

(भावार्थ) जैसे पापी पुरुषकी नरकगति कही है इसी तरह तिर्य्यक् मनुष्य और देवगति भी जाननी चाहिये। इन चार गतियो से युक्त संसार अनन्त और कर्मानुरूप फल देनेवाला है। अतः बुद्धिमान् पुरुष इसे जानकर मरण पर्य्यन्त संयमका पालन करे।

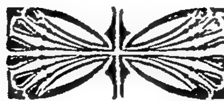
(टीका) 'एवम्' इत्यादि, एवमशुभकर्मकारिणामसुमतां तिर्यङ्मनुष्यामरेष्वपि 'चतुरन्तं' चतुर्गतिकम् 'अनन्तम्' अपर्यवसानं तदनुरूपं विपाकं 'स' बुद्धिमान् सर्वमेतदिति पूर्वोक्तया नीत्या 'विदित्वा' ज्ञात्वा 'ध्रुवं' संयममाचरन् 'कालं' मृत्युकालमाकांक्षेत्, एतदुक्तं भवति—चतुर्गतिकसंसारान्तर्गतानामसुमतां दुःखमेव केवलं यतोऽतो ध्रुवो-मोक्षः संयमो वा तदनुष्ठानरतो यावज्जीवं मृत्युकालं प्रतीक्षेतेति, इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ २५ ॥

(टीकार्थ) जो दुःख विशेष पहले कहे गये हैं वे दूसरी जगह भी होते है यह बतानेके लिये शास्त्रकार कहते हैं—अशुभ कर्म करनेवाले प्राणियोंको तिर्य्यञ्च, मनुष्य और अमरभवमें भी चतुर्गतिक तथा अनन्त और उसके अनुरूप विपाक प्राप्त होता है इन सब बातोंको पूर्वोक्त रीति से बुद्धिमान् पुरुष जानकर संयमका आचरण करता हुआ मृत्यु कालकी प्रतीक्षा करे भाव यह है कि चतुर्गतिक संसारमें पडे हुए जीवों को केवल दुःखही मिलता है इसलिये बुद्धिमान् पुरुष मरण पर्य्यत मोक्ष या संयम के अनुष्ठानमें तत्पर रहे। इति शब्द समाप्ति अर्थका द्योतक है। ब्रवीमि पूर्ववत् है।

। इति श्रीनरयविभत्तीनाम पंचमाध्ययनं समत्तं ॥ (गाथाग्रं० ३६१)

॥ नरकविभक्त्यध्ययनं पञ्चमं परिसमाप्तमिति ॥

यह नरक विभक्तध्ययन नामक पाँचवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।



अथ श्रीवीरस्तुत्याख्यं षष्ठमध्ययनं प्रारभ्यते ॥

उक्तं पञ्चममध्ययनं, साम्प्रतं षष्ठमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—अत्रानन्तराध्ययने नरकविभक्तिः प्रतिपादिता, सा च श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिनाऽभिहितेत्यतस्तस्यैवानेन गुणकीर्तनद्वारेण चरितं प्रतिपाद्यते शास्तुर्गुरुत्वेन शास्त्रस्य गरीयस्त्वमितिकृत्वा, इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्याध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो महावीरगुणगणोत्कीर्तनरूपः। निक्षेपस्तु द्विधा–ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नश्च, तत्रौघनिष्पन्ने निक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने तु महावीरस्तवः, तत्र महच्छब्दस्य वीर इत्येतस्य च स्तवस्य च प्रत्येकं निक्षेपो विधेयः, तत्रापि 'यथोद्देशस्तथा निर्देश' इतिकृत्वा पूर्वं महच्छब्दो निरूप्यते, तत्रास्त्ययं महच्छब्दो बहुत्वे, यथा–महाजन इति, अस्ति बृहत्त्वे, यथा—महाघोषः, अस्त्यत्यर्थे, यथा–महाभयमिति, अस्ति प्राधान्ये, यथा महापुरुष इति, तत्रेह प्राधान्ये वर्तमानो गृहीत इत्येतन्निर्युक्तिकारो दर्शयितुमाह—

अब श्रीवीर स्तुति नामक छट्ठा अध्ययन आरम्भ किया जाता है।

पञ्चम अध्ययन कहाजा चुका अब छट्ठा आरम्भ किया जाता है। इसका सम्बन्ध यह है—पूर्व अध्ययनमें नरकोंका विभाग बताया गया है, वह विभाग श्रीमन्महावीर वर्धमान स्वामीने कहा है इसलिये गुणकीर्त्तन के द्वारा इस अध्ययनमें उन्हीका चरित बताया जाता है क्योंकि शिक्षक के महत्त्वसे ही शास्त्रका महत्त्व होता है। इस सम्बन्ध से आये हुए इस अध्ययन के उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार हैं उनमें उपक्रम में श्रीमहावीर स्वामीका गुण कथनरूप अधिकार है। निक्षेप दो प्रकारका है—ओघनिष्पन्न और नामनिष्पन्न। ओघनिष्पन्न निक्षेप में यह सम्पूर्ण अध्ययन है और नामनिष्पन्न में "महावीरस्तव" यह नाम है। यहां महत्, वीर, और स्तव इन तीनोंमें प्रत्येक का निक्षेप करना चाहिये। उसमें भी जिस क्रमसे शब्दोंका कथन है उसी क्रमसे उनका विभाग भी बताना चाहिये इस लिये पहले महत् शब्दका निरुपण किया जाता है। महत् शब्द बहुत्व अर्थमें प्रयुक्त होता है जैसे कि—महाजन शब्दमें महत् शब्द बहुत्व अर्थमें प्रत्युक्त हुआ है। तथा बृहत्त्व यानी बडा अर्थमें भी महत् शब्दका प्रयोग होता है जैसे कि—महाघोष शब्द में बडा अर्थमें महत् शब्दका प्रयोग हुआ है। एवं अत्यन्त अर्थ में महत् शब्दका प्रयोग होता है जैसेकि–महाभयम् मे। यहाँ अत्यन्त अर्थमें महत् शब्द प्रत्युक्त हुआ है। तथा प्राधान्य अर्थ में महत् शब्दका प्रयोग होता है

जैसेकि—महापुरुष शब्दमें प्रधान अर्थमें महत् शब्दका प्रयोग हुआ है। इनमें यहां प्रधानार्थक महत् शब्दका ग्रहण है यह दिखानेके लिये निर्युक्तिकार कहते हैं—

पाहन्ने महसद्दो दव्वे खेत्ते य कालभावे य।
वीरस्स उ णिक्खेवो चउक्कओ होइ णायव्वो॥ ८३॥

तत्र महावीरस्तव इत्यत्र यो महच्छब्दः स प्राधान्ये वर्तमानो गृहीतः, [1]तच्च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा प्राधान्यं, नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यप्राधान्यं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा, सचित्तमपि द्विपदचतुष्पदापदभेदात् त्रिधैव, तत्र द्विपदेषु तीर्थकरचक्रवर्त्यादिकं चतुष्पदेषु हस्त्यश्वादिकमपदेषु प्रधानं कल्पवृक्षादिकं, यदिवा—इहैव ये प्रत्यक्षा रूपरसगन्धस्पर्शैरुत्कृष्टाः पौण्डरीकादयः पदार्थाः अचित्तेषु वैडूर्यादयो नानाप्रभावा मणयो मिश्रेषु तीर्थकरो विभूषित इति, क्षेत्रतः प्रधाना सिद्धिर्धर्मचरणाश्रयणान्महाविदेहं चोपभोगाङ्गीकरणेन तु देवकुर्वादिकं क्षेत्रं, कालतः प्रधानं त्वेकान्तसुषमादि, यो वा कालविशेषो धर्मचरणप्रतिपत्तियोग्य इति, भावप्रधानं तु क्षायिको भावः तीर्थकरशरीरापेक्षयौदयिको वा, तत्रेह द्वयेनाप्यधिकार इति। वीरस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्धा निक्षेपः, तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यवीरो द्रव्यार्थं सङ्ग्रामादावद्भुतकर्मकारितया शूरो यदिवा—यत्किञ्चित् वीर्यवद् द्रव्यं तत् द्रव्यवीरे अन्तर्भवति, तद्यथा—तीर्थकृदनन्तबलवीर्यो लोकमलोके कन्दुकवत् प्रक्षेप्तुमलं तथा मन्दरं दण्डं कृत्वा रत्नप्रभां पृथिवीं छत्रवद्बिभृयात्, तथा चक्रवर्तिनोऽपि 'बलं दोसोला बत्तीसा', इत्यादि, तथा विषादीनां मोहनादिसामर्थ्यमिति, क्षेत्रवीरस्तु यो यस्मिन् क्षेत्रेऽद्भुतकर्मकारी वीरो वा यत्र व्यावर्ण्यते, एवं कालेऽप्यायोज्यं, भाववीरो यस्य क्रोधमानमायालोभैः परीषहादिभिश्चात्मा न जितः, तथा चोक्तम्—"[2]कोहं माणं च मायं च, लोभं पंचेंदियाणि य। दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं॥१॥ जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे। एक्कं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥२॥ तथा—एक्को परिभमउ जए वियडं जिणकेसरी सली-

[1] पर्यायत्वात्तत्त्वतस्तस्यैवाभिधानं यथा भाषाभिधानं वाक्यशुद्धौ वाक्यनिक्षेपे। [2] क्रोधो मानश्च माया च लोभश्च पञ्चेन्द्रियाणि च दुर्जयं चैवात्मनः सर्वमात्मनि जिते जितं॥१॥ यः सहस्रं सहस्राणां सङ्ग्रामे दुर्जयं जयेत्। एकं जयेदात्मानं एष तस्य परमो जयः॥२॥ एकः परिभ्राम्यतु जगति विकटं जिनकेसरी। स्वलीलया कन्दर्पदुष्टदंष्ट्रः मदनो विदारितो येन॥३॥

व्हाए । कंदप्पदुद्दाढो मयणो विड्डारिओ जेणं ॥३॥" तदेवं वर्धमानस्वाम्येव परीषहोपसर्गैरनुकूलप्रतिकूलैरपराजितोऽद्भुतकर्मकारित्वेन गुणनिष्पन्नत्वात् भावतो महावीर इति भण्यते, यदिवा—द्रव्यवीरो व्यतिरिक्त एकभविकादिः, क्षेत्रवीरो यत्र तिष्ठत्यसौ व्यावर्ण्यते वा, कालतोऽप्येवमेव, भाववीरो नोआगमतो वीरनामगोत्राणि कर्माण्यनुभवन्, स च वीरवर्धमानस्वाम्येवेति ॥ स्तवनिक्षेपमर्थमाह—

'महावीरस्तव' शब्दमें प्रधानार्थक महत् शब्दका ग्रहण है । वह प्रधानता, नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव भेदसे छः प्रकारकी होती है । नाम और स्थापना सरल हैं इसलिये उन्हें छोड़कर द्रव्यप्रधानता बताई जाती है—द्रव्यप्रधानता, ज्ञशरीर और भव्य शरीर से व्यतिरिक्त सचित्त अचित्त और मिश्रभेद से तीन प्रकारकी होती है । सचित्त भी द्विपद चतुष्पद और अपद भेदसे तीनही प्रकारका है । द्विपदों में तीर्थंकर और चक्रवर्ती आदि प्रधान हैं तथा चतुष्पदोंमें हाथी और घोडा आदि एवं अपदोंमें कल्पवृक्ष आदि प्रधान हैं, अथवा इसी लोकमें जो रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श से उत्कृष्ट हैं ऐसे प्रत्यक्ष पुण्डरीक (कमल) आदि पदार्थ अपदों में प्रधान हैं । अचित्त पदार्थों में नाना प्रकार के प्रभाववाले वैदूर्य्य आदि मणि प्रधान हैं । मिश्रोंमें विभूषित तीर्थङ्कर प्रधान हैं । क्षेत्र से प्रधान सिद्धिक्षेत्र है तथा धर्माचरण के आश्रय से प्रधान महाविदेह क्षेत्र है एवं उपभोग के आश्रय से प्रधान देवकुल आदि क्षेत्र हैं । कालसे प्रधान एकान्त सुषमादि काल है अथवा जो काल धर्माचरण के लिये उपयुक्त है वह कालसे प्रधान है । भावोंमें प्रधान क्षायिकभाव है अथवा तीर्थङ्कर के शरीर की अपेक्षा से औदयिक भाव प्रधान है । इनमें यहां दोनोकाही अधिकार है । वीर शब्दका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावभेद से चार प्रकारका निक्षेप है । इनमें, ज्ञशरीर और भव्य शरीर से व्यतिरिक्त द्रव्यवीर वह है जो द्रव्य के लिये युद्ध आदि में अद्भुतकर्म करनेवाला शूर है । अथवा जो कोई वीर्य्यवान् द्रव्य है वह द्रव्यशरीर में अन्तर्भूत होता है, जैसेकि–तीर्थङ्कर अनन्त बल और वीर्य्य से युक्त हैं । वह लोकको गेंदके समान अलोकमें फेंक सकते हैं तथा मन्दर पर्वत को दण्ड बनाकर उसपर रत्नप्रभा पृथिवी को छत्रके समान धारण कर सकते हैं तथा चक्रवर्ती का बल भी "दोसोला बत्तीसा" इत्यादि कहा है ? तथा विष आदिका मोहन करनेका सामर्थ्य है । क्षेत्रवीर वह है जो जिस क्षेत्रमें अद्भुत कर्म करता है या वीर कहकर वर्णन किया जाता है । इसी तरह कालमें भी जानना चाहिये । भाववीर वह है जिसका आत्मा क्रोध मान माया लोभ और परीषह आदि के द्वारा जीता नहीं गया है । कहा है कि—क्रोध, मान, माया, लोभ और पांच इन्द्रिय दुर्जय हैं इसलिये आत्माको जीत लेनेपर सब जीत लिये जाते हैं । जो पुरुष युद्धमें हजार हजार दुर्जय दुर्म-

नोंको जीतता है वह यदि एक आत्माको जीत लेवे तो यह उसका भारी जय है। इस जगत् में एक जिन सिंह ही विकट चाल से भ्रमण करें ! जिनने अपनी लीला से कामरूप तीक्ष्ण दाढवाले मदन (काम) को चीर डाला है। इस प्रकार परीषह और अनुकूल तथा प्रतिकूल उपसर्गों से नहीं जीते हुए तथा अद्भुत कर्म करने के कारण भगवान् महावीर स्वामी ही गुणों के कारण भाव से महावीर कहे जाते हैं। अथवा व्यतिरिक्त एकभविक आदि द्रव्य वीर हैं। क्षेत्र वीर वह है जो जिस क्षेत्रमे रहता है अथवा जिस क्षेत्रमें उसका वर्णन किया जाता है। कालसे भी इसी तरह जानना चाहिये। भावसे वीर वह है जो नोआगम से वीर नाम गोत्र कर्मोंका अनुभव करता है, वह वीर वर्धमान स्वामी ही हैं। अब निर्युक्तिकार स्तवका निक्षेप करने के लिये कहते हैं—

थुइणिक्खेवो चउहा आगंतुअभूसणेहिं दव्वथुती।
भावे संताण गुणाण कित्तणा जे जहिं भणिया॥ ८४॥

'स्तुतेः' स्तवस्य नामादिश्चतुर्धा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने पूर्ववत्, द्रव्यस्तवस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो यः कटककेयूरस्रकचन्दनादिभिः सचित्ताचित्तद्रव्यैः क्रियत इति, भावस्तवस्तु 'सद्भूतानां' विद्यमानानां गुणानां ये यत्र भवन्ति तत्कीर्तनमिति॥ साम्प्रतं आद्यसूत्रसंस्पर्शद्वारेण सकलाध्ययनसम्बन्धप्रतिपादिकां गाथां निर्युक्तिकृदाह—

स्तवके नाम आदि चार निक्षेप होते हैं इनमे नाम और स्थापना पूर्ववत् जानने चाहिये। द्रव्यस्तव ज्ञ शरीर और भव्य शरीर से व्यतिरिक्त वह है जो कटक, केयूर, फूलमाला, और चन्दन आदि सचित्त और अचित द्रव्यों के द्वारा किया जाता है। भावस्तव वह है जो विद्यमान गुणोका अर्थात् जिसमे जो गुण विद्यमान हैं उनका कीर्तन किया जाता है। अब प्रथम सूत्रको स्पर्श करते हुए समस्त अध्ययनका सम्बन्ध बतानेवाली गाथाको निर्युक्तिकार कहते है—

पुच्छिसु जंबुणामो अज्ज सुहम्मा तओ कहेसी य।
एव महप्पा वीरो जयमाह तहा जएज्जाहि॥ ८५॥

जम्बूस्वामी आर्यसुधर्मस्वामिनं श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिगुणान् पृष्टवान्, अतोऽसावपि भगवान् सुधर्मस्वाम्येवंगुणविशिष्टो महावीर इति कथितवान्, एवं

चासौ भगवन् संसारस्य 'जयम्' अभिभवमाह, ततो यूयमपि यथा भगवान् संसारं जितवान् तथैव यत्नं विधत्तेति ॥ साम्प्रतं निक्षेपानन्तरं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

(टीकार्थ) जम्बू स्वामीने आर्य्य सुधर्मा स्वामी से श्रीमन्महावीर वर्धमान स्वामी के गुणोंको पूछा अतः श्री सुधर्मा स्वामीने भी 'श्रीमन्महावीर वर्धमान स्वामी ऐसे गुणों से युक्त थे' यह कहा तथा उस भगवान् महावीर स्वामीने संसारका जय इस प्रकार बताया है इसलिये आप लोग भी जैसे भगवान् ने संसारका विजय कियाथा इसी तरह यत्न करें यह श्री सुधर्मा स्वामीने अपने शिष्योंके प्रति कहा । अब निक्षेप के पश्चात् सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुणोंके साथ सूत्रका उच्चारण करना चाहिये वह सूत्र यह है—

मूल-पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य, अगारिणो या परतित्थिआ य।
से केइ णेगंतहियं धम्ममाहु, अणेलिसं साहु समिक्खयाए॥१॥

(छाया) अप्राक्षुः श्रमणाः ब्राह्मणाश्च, अगारिणो ये परतीर्थिकाश्च
स क एकान्तहितं धर्ममाह, अनीदृशं साधुसमीक्षया ।

(अन्वयार्थ) (समणा य माहणा) श्रमण और ब्राह्मण (अगारिणो) क्षत्रिय आदि (परतित्थिया य) और परतिर्थी शाक्य आदिने (पुच्छिस्सु) पूछाकि-(सकेंइ) वह कौन है ? जिसने (णेगंतहियं) एकान्त हित (अणेलिसं) अनुपम (धम्मं) धर्म (साहुसमिक्खयाए) अच्छी तरह विचार कर (आह) कहा है ।

(भावार्थ) श्रमण, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि तथा परतीर्थियों ने पूछाकि—एकान्तरूप से कल्याण करनेवाले अनुपम धर्मको जिसने सोच विचार कर कहा है वह कौन है ? ।

(टीका) अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं सम्बन्धः तद्यथा–तीर्थकरोपदिष्टेन मार्गेण ध्रुवमाचरन् मृत्युकालमुपेक्षेतेत्युक्तं, तत्र किम्भूतोऽसौ तीर्थकृत् येनोपदिष्टो मार्ग इत्येतत् पृष्टवन्तः 'श्रमणा' यतय इत्यादि, परम्परसूत्रसम्बन्धस्तु बुद्ध्येत यदुक्तं प्रागिति, एतच्च यदुत्तरत्र प्रश्नप्रतिवचनं वक्ष्यते तच्च बुद्ध्येतेति, अनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्य सूत्रस्य संहितादिक्रमेण व्याख्या प्रतन्यते, सा चेयम्—अनन्तरोक्तां बहुविधां नरकविभक्तिं श्रुत्वा संसारादुद्विग्नमनसः केनेयं प्रतिपादितेत्येतत् सुधर्मस्वामिनम् 'अप्राक्षुः' पृष्टवन्तः 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे यदिवा जम्बूस्वामी सुध-

र्स्वामिनमेवाह[1]—यथा केनैवंभूतो धर्मः संसारोत्तारणसमर्थः प्रतिपादित इत्येतद्ब॰ हवो मां पृष्टवन्तः, तद्यथा—'श्रमणा' निर्ग्रन्थादयः[2] तथा 'ब्राह्मणा' ब्रह्मचर्याद्यनुष्ठाननिरताः तथा 'अगारिणः' क्षत्रियादयो ये च शाक्यादयः परतीर्थिकास्ते सर्वेऽपि पृष्टवन्तः, किं तदिति दर्शयति--स को योऽसावेनं धर्मं दुर्गतिप्रसृतजन्तुधारकमेकान्तहितम् 'आह' उक्तवान् 'अनीदृशम्' अनन्यसदृशम् अतुलमित्यर्थः, तथा--साध्वी चासौ समीक्षा च साधुसमीक्षा—यथावस्थिततत्त्वपरिच्छित्तिस्तया, यदिवा—साधुसमीक्षया—समतयोक्तवानिति ॥ १ ॥ तथा तस्यैव ज्ञानादिगुणावगतये प्रश्नमाह—

(टीकार्थ) इस सूत्रका अनन्तर सूत्र के साथ सम्बन्ध यह है—पूर्व सूत्रमें कहा है कि तीर्थंकर के द्वारा बताए हुए मार्ग से संयमका पालन करते हुए बुद्धिमान् पुरुष को मृत्युकालकी प्रतीक्षा करनी चाहिये अत: यहां जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि--वह तीर्थङ्कर कैसे हैं जिनने मोक्ष मार्गका उपदेश किया है ? यह श्रमण आदिकोंने पूछा । परम्पर सूत्र के साथ सम्बन्ध यह है—प्रथम सूत्र में कहाहै कि जीवको बोध प्राप्त करना चाहिये, सो आगे चलकर जो प्रश्नका उत्तर दिया जायगा वह जानना चाहिये । इस सम्बन्ध से आये हुए इस सूत्रकी संहिता आदि के क्रमसे व्याख्या की जाती है, वह व्याख्या यह है—पहले जो बहुत प्रकारकी नरक विभक्ति बताई गई है उसे सुनकर संसार से घबराये हुए पुरुषोंने श्रीसुधर्मा स्वामी से यह पूछा कि—"यह नरक विभक्ति किसने कही है" 'णं' शब्द वाक्यालङ्कारमें आया है अथवा जम्बूस्वामी श्री सुधर्मा स्वमी से कहते हैं कि—संसार से पार करने में समर्थ ऐसे धर्मको किसने कहा ? यह बहुत पुरुषोंने मेरे से पूछा है ? जैसेकि—श्रमण अर्थात् निर्ग्रन्थ आदि तथा ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मचर्य्य आदिके अनुष्ठान में तत्पर रहनेवाले एवं अगारी अर्थात् क्षत्रिय आदि तथा शाक्य आदि परतीर्थी इन सबने मेरे से पूछा है । क्या पूछा है ? सो दर्शाते हैं—वह पुरुष कौन है जिसने दुर्गति में पड़ते हुए जीवको धारण करने में समर्थ एकान्त हित अनन्यसदृश अर्थात् अनुपम धर्मको पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को निश्चय करके अथवा समभाव से कहा है ? । १

मूल—कहं च णाणं कह दंसणं से, सीलं कहं नायसुतस्स आसी? । जाणासि णं भिक्खु जहातहेणं, अहासुतं बूहि जहा णिसंतं ॥२॥

---

१ ०मेवमाह प्र० । २ निर्ग्रन्थाः प्र० ।

(छाया) कथञ्च ज्ञानं कथं दर्शनं तस्य, शीलं कथं ज्ञातपुत्रस्य आसीत्
जानासि भिक्षो! याथातथ्येन, यथाश्रुतं ब्रूहि यथा निशान्तम् ।

(अन्वयार्थ) (से नायपुत्तस्स) उस ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामीका (णाणं) ज्ञान (कहं) कैसा था (कह दंसणं) तथा उनका दर्शन कैसाथा । (सीलं कहं आसी) तथा उनका शील यानी यम नियमका आचरण कैसाथा ? (भिक्खु) हे साधो ! (जहातहेणं जाणासि) तुम ठीक ठीक यह जानते हो इसलिये (अहासुतं) जैसा तुमने सुनाहै (जहा णिसंतं) और जैसा निश्चय किया है (बूहि) सो हमें बतलाओ !

(भावार्थ) ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी के ज्ञान दर्शन और चारित्र कैसेथे ? हे भिक्षो ! आप यह जानते हैं इसलिये जैसा आपने सुना देखा या निश्चय किया है सो हमें बताइये ।

(टीका) 'कथं' केन प्रकारेण भगवान् ज्ञानमवाप्तवान् ?, किम्भूतं वा तस्य भगवतो ज्ञानं—विशेषाववोधकं ?, किम्भूतं 'से' तस्य 'दर्शनं' सामान्यार्थपरिच्छेदकं ? 'शीलं च' यमनियमरूपं कीदृक् ? ज्ञाताः—क्षत्रियास्तेषां 'पुत्रो' भगवान् वीरवर्धमानस्वामी तस्य 'असीद्' अभूदिति, यदेतन्मया पृष्टं तत् 'भिक्षो!' सुधर्मस्वामिन् याथातथ्येन त्वं 'जानीषे' सम्यगवगच्छसि 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे तदेतत्सर्वं यथाश्रुतं त्वया श्रुत्वा च यथा 'निशान्त' मित्यवधारितं यथा दृष्टं तथा सर्वं 'ब्रूहि' आचक्ष्वेति ॥ २ ॥ स एवं पृष्टः सुधर्मस्वामी श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिगुणान् कथयितुमाह—

(टीकार्थ) उन्हीं भगवान् महावीर स्वामी के गुणोंके ज्ञान के लिये प्रश्न करते हुए कहते हैं कि—भगवान् महावीर स्वामीने किस प्रकार ज्ञान प्राप्त किया था अथवा भगवान् का ज्ञान यानी विशेष अर्थको प्रकाशित करनेवाला बोध कैसाथा तथा सामान्य अर्थको निश्चय करनेवाला उनका दर्शन कैसाथा ? तथा यम नियम रूप उनका शील कैसाथा ? ज्ञात यानी क्षत्रिय के पुत्र भगवान् महावीर स्वामी के ये सब कैसेथे ? । हे सुधर्मास्वामिन् ! मैंने जो पूछा है सो सब तुम अच्छी तरह जानते हो, 'णं' शब्द वाक्यालङ्कारमें आया है इसलिये जैसा तुमने सुना है और सुनकर जो निश्चय किया है तथा जैसा देखा है सो सब मुझको बताइए । २

खेयन्नए से कुसलासुपन्ने (च्ले महेसी), अणंतनाणी य अणंतदंसी ।

जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स, जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहि ॥ ३ ॥

(छाया) खेदज्ञः स कुशल आशुप्रज्ञ, अनन्तज्ञानी चानन्तदर्शी
यशस्विनश्चक्षुपथे स्थितस्य, जानासि धर्मञ्च धृतिञ्च प्रेक्षस्व ।

(अन्वयार्थ) (सेखेयन्नए) भगवान् महावीरस्वामी, संसारके प्राणियोंका दुःख जानते थे (कुसलासुपन्ने) वह आठ प्रकारके कर्मोंका छेदन करनेवाले और आशुप्रज्ञ अर्थात् सदा सर्वत्र उपयोग रखनेवाले थे । (अनंतनाणी य अणंतदंसी) वे अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी थे । (जसंसिणो) कीर्तिवाले तथा (चक्खुपहे ठियस्स) जगत् के लोचनमार्गमें स्थित भगवान् के (धम्मं) धर्म--स्वभावको--या श्रुतचारित्र धर्मको (जाणाहि) तुम जानो (धिइंच पेहि) और उनकी धीरताको विचारो ।

(भावार्थ) श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्गसे कहते हैं कि—भगवान् महावीर स्वामी संसारके प्राणियोंका दुःख जानतेथे, वह आठ प्रकार के कर्मोंका नाश करनेवाले और सदा सर्वत्र उपयोग रखनेवाले थे वह अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी थे. ऐसे यशस्वी तथा भवस्थकेवली अवस्थामें जगत् के लोचन मार्गमें स्थित उन भगवान् के धर्मको तुम जानो और धीरताको विचारो ।

(टीका) सः—भगवान् चतुस्त्रिंशदतिशयसमेतः खेदं—संसारान्तर्वर्तिनां प्राणिनां कर्मविपाकजं दुःखं जानातीति खेदज्ञो दुःखापनोदनसमर्थोपदेशदानात्, यदिवा 'क्षेत्रज्ञो' यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानादात्मज्ञ इति, अथवा—क्षेत्रम्—आकाशं तज्जानातीति क्षेत्रज्ञो लोकालोकस्वरूपपरिज्ञातेत्यर्थः, तथा भावकुशान्—अष्टविधकर्मरूपान् लुनाति—छिनत्तीति कुशलः प्राणिनां कर्मोच्छित्तये निपुण इत्यर्थः, आशु—शीघ्रं प्रज्ञा यस्यासावाशुप्रज्ञः, सर्वत्र सदोपयोगाद्, न छद्मस्थ इव विचिन्त्य जानातीति भावः, महर्षिरिति क्वचित्पाठः, महांश्चासावृषिश्च महर्षिः अत्यन्तोग्रतपश्चरणानुष्ठायित्वादतुलपरीषहोपसर्गसहनाच्चेति, तथा अनन्तम्—अविनाश्यनन्तपदार्थपरिच्छेदकं वा ज्ञानं—विशेषग्राहकं यस्यासावनन्तज्ञानी, एवं सामान्यार्थपरिच्छेदकत्वेनानन्तदर्शी, तदेवम्भूतस्य भगवतो यशो नृसुरासुरातिशाय्यतुलं विद्यते यस्य स यशस्वी तस्य, लोकस्य 'चक्षुःपथे' लोचनमार्गे भवस्थकेवल्यवस्थायां स्थितस्य, लोकानां सूक्ष्मव्यवहितपदार्थाविर्भावनेन चक्षुर्भूतस्य वा 'जानीहि' अवगच्छ 'धर्मं' संसारोद्धरणस्वभावं, तत्प्रणीतं वा श्रुतचारित्राख्यं, तथा तस्यैव भगवतस्तथोपसर्गितस्यापि निष्प्रकम्पां चारित्राचलनस्वभावां 'धृतिं' संयमे रतिं तत्प्रणीतां

वा 'प्रेक्षस्व' सम्यक्कुशाग्रीयया बुद्ध्या पर्यालोचयेति, यदिवा—तैरेव श्रमणादिभिः सुधर्मस्वाम्यभिहितो यथा त्वं तस्य भगवतो यशस्विनश्चक्षुष्पथे व्यवस्थितस्य धर्मं धृतिं च जानीषे ततोऽस्माकं 'पेहि'त्ति कथयेति ॥ ३ ॥ साम्प्रतं सुधर्मस्वामी तद्गुणान् कथयितुमाह—

(टीकार्थ) इस प्रकार प्रश्न किये हुए श्रीसुधर्मास्वामी श्रीमन्महावीरस्वामी के गुणोंको कहना आरम्भ करते हैं—चौंतीस अतिशयों के धारक वह भगवान् महावीर स्वामी संसारमें रहनेवाले प्राणियों के कर्मका फल स्वरूप दुःखको जानते थे क्योंकि वे उनके दुःखको मिटानेमें समर्थ उपदेश करते थे। अथवा भगवान् क्षेत्रज्ञ थे क्योंकि वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप जानने के कारण आत्मज्ञ थे। अथवा क्षेत्र नाम आकाशका है उसे भगवान् जानते थे अर्थात् वह लोक और अलोक के स्वरूपको जानते थे। जो आठ प्रकारके कर्मरूपी भावकुशों का छेदन करता है उसे कुशल कहते हैं। भगवान् प्राणियों के कर्मका छेदन करनेमें निपुण होनेके कारण कुशल थे। जिसकी बुद्धि शीघ्र है उसे आशुप्रज्ञ कहते हैं। भगवान् आशुप्रज्ञ थे क्योंकि वह सदा सर्वत्र उपयोग रखतेथे, वह छद्मस्थकी तरह सोचकर नहीं जानते थे यह भाव है। कहीं 'महर्षिः' यह पाठ मिलता है। भगवान् अत्यन्त उग्र तपस्या करने से तथा अतुल परीषह और उपसर्गों को सहन करने से महर्षि थे। जिसका विशेष ग्राहक ज्ञान नाश रहित है अथवा अनन्त पदार्थोंका निश्चय करनेवाला है उसे अनन्तज्ञानी कहते हैं, भगवान् अनन्तज्ञानी थे। एवं सामान्य अर्थका निश्चय करने के कारण भगवान् अनन्तदर्शी थे। भगवान् का यश मनुष्य, देवता और असुरों से बढकर था इसलिये वह यशस्वी थे तथा भवस्थ केवली अवस्थामें वह जगत् के नेत्रमार्ग में स्थित थे अथवा जगत् के सामने सूक्ष्म, और व्यवहित पदार्थों को प्रकट करने के कारण वह जगत् के नेत्र स्वरूप थे ऐसे भगवान् के धर्मको यानी संसार से उद्धार करने के स्वभावको अथवा उनके द्वारा कहे हुए श्रुत और चारित्र धर्मको तुम जानो। तथा उपसर्गों के द्वारा पीडित कियेजानेपर भी कम्परहित चारित्र से अविचल स्वभावरूप उनकी धृति यानी संयममें प्रीतिको देखो, उसे कुशाग्र बुद्धि के द्वारा विचारो। अथवा उन्हीं श्रमण आदिकोंने श्री सुधर्मा स्वामी से पूछा कि यशस्वी और जगत् के नेत्रपथमें स्थित भगवान् के धर्म और धीरता को आप जानते हैं इस लिये आप मेरे से यह सब कहें। ३

(मूल)-उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
से णिच्चणिच्चेहि समिक्ख पन्ने, दीवे व धम्मं समियं उदाहु ॥ ४॥

(छाया) ऊर्ध्वमधस्तिर्य्यग्दिशासु, त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणाः
स नित्यानित्याभ्यां प्रसमीक्ष्य प्रज्ञः, दीपइव धर्मं समितमुदाह ।

(अन्वयार्थ) (उड्ढं) ऊपर (अहेयं) नीचे (तिरियं) तिरछे (दिसासु) दिशाओंमें (तसाय जे थांवरा जे य पाणा) जो त्रस और स्थावर प्राणी रहते हैं उन्हें (णिच्चाणिच्चेहिं) नित्य और अनित्य दोनो प्रकारसे (समिक्ख) जानकर (सेपन्ने) उस केवलज्ञानी भगवानने (दीवे व समियं धम्मं उदाहु) दीपक के समान सम्यक् धर्मका कथन कियाथा ।

(भावार्थ) केवलज्ञानी भगवान् महावीर स्वामीने ऊपर नीचे और तिरछे रहनेवाले त्रस और स्थावर प्राणियोको नित्य तथा अनित्य दोनो प्रकारसे जानकर दीपक के समान पदार्थ को प्रकाशित करनेवाले धर्मका कथन किया है।

(टीका) ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु सर्वत्रैव चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके ये केचन त्रसन्तीति त्रसास्तेजोवायुरूपविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात् त्रिधा, तथा ये च 'स्थावराः' पृथिव्यम्बुवनस्पतिभेदात् त्रिविधाः, एते उच्छ्वासादयः प्राणा विद्यन्ते येषां ते प्राणिन इति, अनेन च शाक्यादिमतनिरासेन पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणामपि जीवत्वमावेदितं भवति, स भगवांस्तान् प्राणिनः प्रकर्षेण केवलज्ञानित्वात् जानातीति प्रज्ञः [ग्रन्थाग्रम् ४२५०] स एव प्राज्ञो, नित्यानित्याभ्यां द्रव्यार्थपर्यायार्थाश्रयणात् 'समीक्ष्य' केवलज्ञानेनार्थान् परिज्ञाय प्रज्ञापनायोग्यानाहेत्युत्तरेण सम्बन्धः, तथा स प्राणिनां पदार्थाविर्भावनेन दीपवत् दीपः यदिवा—संसारार्णवपतितानां सदुपदेशप्रदानत आश्वासहेतुत्वात् द्वीप इव द्वीपः, स एवम्भूतः संसारोत्तारणसमर्थं 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं सम्यक् इतं-गतं सदनुष्ठानतया रागद्वेषरहितत्वेन समतया वा, तथा चोक्तम्—"[1]जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ" इत्यादि, समं वा-धर्मम् उत्—प्राबल्येन आह—उक्तवान् प्राणिनामनुग्रहार्थं न पूजासत्कारार्थमिति ॥ ४ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) अब श्रीसुधर्मा स्वामी भगवान् महावीर स्वामी के गुणोंका वर्णन आरम्भ करते हैं—ऊपर नीचे और तिरिच्छा चौदह रज्जुस्वरूप इस लोकमें, रहनेवाले जो तेजो रूप और वायुरूप विकलेन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय भेदवाले तीन प्रकार के त्रस प्राणी हैं तथा पृथिवी, जल और वनस्पति भेद से जो तीन प्रकार के स्थावर प्राणी हैं। इनके उच्छ्वास आदि प्राण होते हैं इसलिये वे प्राणी हैं। इस कथन के द्वारा शाक्य आदि मतोंका खण्डन करके पृथिवी

१ यथा पूर्णस्य कथ्यते तथा तुच्छस्य कथ्यते ॥

आदि एकेन्द्रियोंको भी जीव कहा है। इन प्राणियोंको वह भगवान् केवलज्ञानी होनेके कारण जानते हैं अतएव भगवान् प्रज्ञ हैं। जो प्रज्ञ है उसीको प्राज्ञ कहते हैं। भगवान् केवल ज्ञानके द्वारा द्रव्यार्थ और पर्य्यायार्थका आश्रय लेकर समस्त पदार्थोंको जानकर समझाने योग्य प्राणियों के प्रति धर्मका कथन किया है, यह उत्तर ग्रन्थ के साथ सम्बन्ध करलेना चाहिये। तथा वह भगवान् प्राणियोंको पदार्थ का स्वरूप प्रकट करने से दीपक के समान हैं इसलिये वह दीपक हैं। अथवा भगवान् संसारसागरमें पडे हुए प्राणियोंको सदुपदेश देने से उनके विश्रामका कारण होने से द्वीपके समान है इसलिये वह द्वीप हैं। ऐसे भगवान्ने संसार से पार करनेमें समर्थ श्रुत और चारित्र धर्मको कहा है। भगवान्ने उक्त धर्मको उत्तम अनुष्ठान युक्त होकर अथवा रागद्वेष रहित होकर अथवा समभावसे जोर के साथ कहा है। अतएव कहाहै कि (जहा) जैसे धन्वान को धर्मका उपदेश करे इसी तरह दरिद्रको भी। भगवान्ने प्राणियोंपर कृपा करके उक्त धर्मका कथन किया है पूजा सत्कार के लिये नहीं। ४

(मूल)—से सव्वदंसी अभीभूयनाणी, णिरामगंधे धिइमं ठितप्पा।
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं, गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥५॥

(छाया) स सर्वदर्शी अभिभूयज्ञानी, निरामगन्धो धृतिमांस्थितात्मा
अनुत्तरः सर्वजगत्सु विद्वान् ग्रन्थादतीतोऽभयोऽनायुः।

(अन्वयार्थ) (स) वह महावीर स्वामी (सव्वदसी) समस्त पदार्थोंको देखनेवाले (अभिभूयनाणी) केवलज्ञानी (णिरामगंधे) मूल और उत्तरगुणसे विशुद्ध चारित्रका पालन करनेवाले (धिइमं) धृति युक्त (ठियप्पा) और आत्मस्वरूपमें स्थितथे। (सव्वजगंसि) सम्पूर्ण जगत् में वह (अणुत्तरे विज्जं) सबसे उत्तम विद्वान् थे। (गंथा अतीते अभए अणाऊ) तथा वाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकारकी ग्रन्थियोंसे रहित निर्भय और आयुरहित थे।

(भावार्थ) भगवान् महावीर स्वामी समस्त पदार्थोंको देखनेवाले केवलज्ञानी थे। वह मूल और उत्तर गुणों से विशुद्ध चारित्रका पालन करनेवाले वडे धीर और आत्मस्वरूप में स्थित थे। भगवान् समस्त जगतमें सर्वोत्तम विद्वान् और वाह्य तथा आभ्यन्तर ग्रन्थि से रहित निर्भय एवं आयुरहित थे।

(टीका) 'स' भगवान् सर्वं—जगत् चराचरं सामान्येन द्रष्टुं शीलमस्य स सर्वदर्शी, तथा अभिभूय' पराजित्य मत्यादीनि चत्वार्यपि ज्ञानानि यद्वर्तते ज्ञानं केवलाख्यं तेन ज्ञानेन ज्ञानी, अनेन चापरतीर्थाधिपाविकत्वमावेदितं भवति, 'ज्ञान-

क्रियाभ्यां मोक्ष' इति कृत्वा तस्य भगवतो ज्ञानं प्रदर्श्य क्रियां दर्शयितुमाह–निर्गतः–अपगत आमः–अविशोधिकोट्याख्यः तथा गन्धो–विशोधिकोटिरूपो यस्मात् स भवति निरामगन्धः, मूलोत्तरगुणभेदभिन्नां चारित्रक्रियां कृतवानित्यर्थः, तथाऽसह्यपरीषहोपसर्गाभिद्रुतोऽपि निष्प्रकम्पतया चारित्रे धृतिमान् तथा–स्थितो व्यवस्थितोऽशेषकर्मविगमादात्मस्वरूपे आत्मा यस्य स भवति स्थितात्मा, एतच्च ज्ञानक्रिययोः फलद्वारेण विशेषणं, तथा–[1]नास्योत्तरं—प्रधानं सर्वस्मिन्नपि जगति विद्यते (यः) स तथा, विद्वानिति सकलपदार्थानां करतलामलकन्यायेन वेत्ता, तथा बाह्यग्रन्थात् सचित्तादिभेदादान्तराच्च कर्मरूपाद् 'अतीतो' अतिक्रान्तो ग्रन्थातीतो—निर्ग्रन्थ इत्यर्थः, तथा न विद्यते सप्तप्रकारमपि भयं यस्यासावभयः समस्तभयरहित इत्यर्थः, तथा न विद्यते चतुर्विधमप्यायुर्यस्य स भवत्यनायुः, दग्धकर्मबीजत्वेन पुनरुत्पत्तेरसंभवादिति ॥ ५ ॥ अपिच—

(टीकार्थ) वह भगवान् महावीर स्वामी सर्वदर्शी हैं अर्थात् स्वभावसे ही चराचर जगत्को सामान्यरूप से देखनेवाले थे। तथा मति आदि चार ज्ञानों को पराजय करके जो रहता है उसे केवलज्ञान कहते हैं उससे भगवान् युक्त थे। यहां भगवान् को केवलज्ञानी कहकर शास्त्रकार दूसरे धर्मवालों के तीर्थङ्कर से महावीर स्वामीकी विशिष्टता बतलाते हैं। ज्ञान और क्रिया दोनो से मोक्ष होता है इसलिये शास्त्रकार पहले भगवान् का ज्ञान दिखाकर अब उनकी क्रिया दिखाने के लिये कहते हैं—जिससे विशुद्धकोटि और अविशुद्ध कोटिरूप दोनो प्रकार गन्ध–दोष–हटगये हैं उसे निरामगन्ध कहते हैं भगवान् निरामगन्ध थे अर्थात् उन्होंने मूल और उत्तरगुणों से शुद्ध चारित्र क्रियाका पालन किया था तथा असह्य परीषह और उपसर्गों की पीडा प्राप्त होनेपर भी कम्परहित होकर चारित्र में वह दृढ थे। एवं समस्त कर्मोंके हट जाने से भगवान् आत्मस्वरूप में स्थित थे। आत्मस्वरूप में स्थित होना ज्ञान और क्रिया के फलद्वारा भगवान् का विशेषण है। समस्त जगत् में भगवान् से बढकर कोई विद्वान् नहीं था, वह हस्तामलक यानी हाथमें स्थित आँवलेकी तरह जगत् के समस्त पदार्थोंको जाननेवाले थे। तथा भगवान् सचित्तादिरूप बाह्यग्रन्थ और कर्मरूप आभ्यन्तर ग्रन्थ से हटे हुए निर्ग्रन्थ थे। भगवान् को सात प्रकार के भय नहीं थे इस लिये वह समस्त भयों से रहित थे। भगवान् को (वर्तमान आयु से भिन्न) चारो प्रकारकी आयु नहीं थी क्योंकि कर्मरूपी बीजके जलजाने से फिर उनकी उत्पत्ति असंभव है। ५

---

१ तस्य परमाद्वितमित्यादिवदवयववाचित्वेन षष्ठी।

(मूल)--से भूइपण्णे अणिएअचारी, ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू ।
अणुत्तरं तप्पति सूरिए वा, वइरोयणिंदे व तमं पगासे ॥ ६ ॥

(छाया) स भूतिप्रज्ञोऽनियताचारी, ओघन्तरो धीर अनन्तचक्षुः
अनुत्तरं तपति सूर्य्य इव, वैरोचनेन्द्र इव तमः प्रकाशयति ।

(अन्वयार्थ) (से) वह भगवान् महावीर स्वामी, (भूइपन्ने) अनन्तज्ञानी (अणिए अचारी) और अनियताचारी अर्थात् इच्छानुसार विचरनेवाले (ओघंतरे) संसार सागरको पार करनेवाले (धीरे) बडे बुद्धिमान् (अणंतचक्खू) केवलज्ञानी (सूरिएव) जैसे सूर्य्य (अणुत्तरे) सबसे ज्यादा (तप्पति) तपताहै इसी तरह भगवान् सबसे ज्यादा ज्ञानी थे (वइरोयणिंदेव तमं पगासे) जैसे अग्नि अन्धकार को दूर करके प्रकाश करती थे इसी तरह भगवान् अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करके पदार्थों के यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित करते थे ।

(भावार्थ) भगवान् महावीर स्वामी अनन्तज्ञानी इच्छानुसार विचरनेवाले, संसार सागरको पार करनेवाले परीषह और उपसर्गों को सहन करनेवाले केवलज्ञानी थे । जैसे सबसे ज्यादा सूर्य्य तपता है इसी तरह भगवान् सबसे ज्यादा ज्ञानवान् थे । जैसे अग्नि अन्धकारको दूर करके प्रकाश करती है इसी तरह भगवान् अज्ञानको दूर कर पदार्थों के यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित करते थे ।

(टीका) भूतिशब्दो वृद्धौ मङ्गले रक्षायां च वर्तते, तत्र 'भूतिप्रज्ञः' प्रवृद्धप्रज्ञः अनन्तज्ञानवानित्यर्थः, तथा—भूतिप्रज्ञो [1]जगद्रक्षाभूतप्रज्ञः एवं सर्वमङ्गलभूतप्रज्ञ[2] इति, तथा 'अनियतम्' अप्रतिवद्धं परिग्रहायोगाच्चरितुं शीलमस्यासावनियतचारी तथौघं—संसारसमुद्रं तरितुं शीलमस्य स तथा, तथा धीः—बुद्धिस्तया राजत इति धीरः परीषहोपसर्गाक्षोभ्यो वा धीरः, तथा अनन्तं—ज्ञेयानन्ततया नित्यतया वा चक्षुरिव चक्षुः—केवलज्ञानं यस्यानन्तस्य वा लोकस्य पदार्थप्रकाशकतया चक्षुर्भूतो यः स भवत्यनन्तचक्षुः, तथा यथा—सूर्यः 'अनुत्तरं' सर्वाधिकं तपति न तस्मादधिकस्तापेन कश्चिदस्ति, एवमसावपि भगवान् ज्ञानेन सर्वोत्तम इति, तथा 'वैरोचनः' अग्निः स एव प्रज्वलितत्वात् इन्द्रो यथाऽसौ तमोऽपनीय प्रकाशयति, एवमसावपि भगवानज्ञानतमोऽपनीय यथावस्थितपदार्थप्रकाशनं करोति ॥६॥ किञ्च—

(टीकार्थ) भूति शब्दका वृद्धि मङ्गल और रक्षा अर्थों में प्रयोग होता है । भगवान्

१ ०भूति० प्र० । २ या प्र० ।

महावीर स्वामी भूतिप्रज्ञ थे अर्थात् वह बढाहुआ ज्ञानवाले यानी अनन्तज्ञानी थे। तथा वह जगत् की रक्षा करनेवाली प्रज्ञा से युक्त थे, एवं वह सबके मङ्गल रूप प्रज्ञावाले थे। तथा भगवान् अनियताचारी थे अर्थात् उनकी गतिका कोई प्रतिबन्ध (रोक) न होने के कारण वह अनियत स्थानपर विचरनेवाले थे। भगवान् संसाररुपी ओघको पार करनेवाले थे और वह बुद्धि से सुशोभित थे अथवा वह परीषह और उपसर्गों से नहीं डिगाये जाने योग्य धीर थे। भगवान् अनन्तचक्षु थे अर्थात् ज्ञेय पदार्थों की अनन्तता के कारण अथवा ज्ञानकी नित्यता के कारण केवलज्ञान उनका नेत्र के समान थे, अथवा भगवान् समस्त लोक के प्रति पदार्थोंका यथार्थ स्वरुप प्रकाश करते थे इसलिये वह अनन्तचक्षु थे। जैसे सूर्य्य सबसे ज्यादा तपता है, उससे अधिक कोई नहीं तपता है इसी तरह भगवान् भी ज्ञानमें सब से उत्तम थे। जैसे प्रज्वलित होने के कारण इन्द्र स्वरुप अग्नि अन्धकार को निवृत्त कर प्रकाश फैलाती है इसी तरह भगवान् भी अज्ञानरुपी अन्धकारको दूर करके पदार्थों के यथार्थ स्वरुप को प्रकाशित करते थे। ६

(मूल)--अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं, णेया मुणी कासव आसुपन्ने।
इंदेव देवाण महाणुभावे, सहस्सणेता दिवि णं विसिट्ठे ॥७॥

(छाया) अनुत्तरं धर्ममिमं जिनानां, नेता मुनिः काश्यप आशुप्रज्ञः
इन्द्र इव देवानां महानुभावः सहस्रनेता दिवि विशिष्टः।

अन्वयार्थ (आसुपन्ने) शीघ्रबुद्धिवाले (कासव) काश्यपगोत्री (मुणी) मुनि श्री वर्धमान स्वामी (जिणाणं) ऋषभ आदि जिनवरों के (इणं) इस (अणुत्तरं) सब से प्रधान (धम्मं) धर्मके (णेया) नेता हैं। (दिवि) जैसे स्वर्ग लोकमें (सहस्सदेवाणं) हजारो देवताओंका (इंदेव) इन्द्र नेता (महाणुभावे विसिट्ठे) ओर अधिक प्रभावशाली हैं इसीतरह भगवान् सब जगत् में हैं।

(भावार्थ) शीघ्र बुद्धिवाले काश्यपगोत्री मुनि श्री वर्धमान स्वामी ऋषभादि जिनवरों के उत्तम धर्मके नेता है। जैसे स्वर्गलोक में सब देवताओं में इन्द्र श्रेष्ठ हैं इसी तरह भगवान् सब जगत् में सब से श्रेष्ठ हैं।

(टीका) नास्योत्तरोऽस्तीत्यनुत्तरस्तमिममनुत्तरं धर्मं 'जिनानाम्' ऋषभादितीर्थकृतां सम्बन्धिनमयं 'मुनिः' श्रीमान् वर्धमानाख्यः 'काश्यपः' गोत्रेण 'आशुप्रज्ञः' केवलज्ञानी उत्पन्नदिव्यज्ञानो 'नेता' प्रणेतेति, ताच्छीलिकस्तृन्,

तद्योगे 'न लोकाव्ययनिष्ठे' (पा० २—३—६९) त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद्धर्ममित्यत्र कर्मणि द्वितीयैव, यथा चेन्द्रो 'दिवि' स्वर्गे देवसहस्राणां 'महानुभावो' महाप्रभाववान् 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे तथा 'नेता' प्रणायको 'विशिष्टो रूपबलवर्णादिभिः प्रधानः एवं भगवानपि सर्वेभ्यो विशिष्टः प्रणायको महानुभावश्चेति ॥ ७ ॥ अपिच—

(टीकार्थ) जिससे ज्यादा कोई धर्म नहीं है उस सर्वोत्तम ऋषभादि तीर्थङ्करसम्बन्धी धर्मके, केवलज्ञानी काश्यपगोत्री श्रीमान् वर्धमानस्वामी नेता हैं। यहां 'नेता' शब्द में ताच्छील्यार्थक तृन् प्रत्यय हुआ है इसलिये उसके योगमें "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इत्यादि सूत्र के द्वारा षष्ठीके प्रतिषेध होने से 'धर्मम्' इस पदमें कर्मणि द्वितीयाही हुई। जैसे स्वर्गलोक में इन्द्र हजारों देवताओंमें महाप्रभावशाली हैं ('णं' शब्द वाक्यालङ्कारमें आया है) तथा सबके नेता हैं एवं रूप, बल और वर्ण आदि में सबसे प्रधान हैं इसी तरह भगवान् भी सबसे विशिष्ट, सबका नायक और सबसे अधिक प्रभावशाली हैं। ७

[मूल]—से पन्नया अक्खयसागरे वा, महोदही वावि अणंतपारे।
अणाइले वा चकसाइ मुक्के, सक्केव देवाहिवइ जुइमं ॥ ८ ॥

(छाया) स प्रज्ञयाऽक्षयः सागर इव, महोदधिरिवानन्तपारः
अनाविलो वा अकसायिमुक्तः, शक्रइव देवाधिपतिर्द्युतिमान्।

(अन्वयार्थ) (से) वह भगवान् महावीर स्वामी (सागरेवा) समुद्र के समान (पन्नया) प्रज्ञासे (अक्खय) अक्षय हैं (महोदहीवावि अणंतपारे) अथवा वह स्वयम्भूरमण समुद्र के समान अपार प्रज्ञावाले हैं। (अणाइले) जैसे उस समुद्रका जल निर्मल है उसीतरह भगवान् की प्रज्ञा निर्मल है। (अकसाइमुक्के) भगवान् कषायों से रहित और मुक्त हैं। (सक्केव) भगवान्, इन्द्रकी तरह (देवाहिवई) देवताओं के अधिपति हैं (जुईमं) तथा तेजस्वी हैं।

(भावार्थ) भगवान् समुद्र के समान अक्षय प्रज्ञावाले हैं। उनकी प्रज्ञाका स्वयम्भूरमण के समान पार नहीं है। जैसे स्वयम्भूरमणका जल निर्मल है इसी तरह भगवान् की प्रज्ञा निर्मल है। भगवान् कषायों से रहित तथा मुक्त हैं। भगवान् इन्द्रके समान देवताओं के अधिपति तथा बडे तेजस्वी हैं।

---

१ भिक्खू।

(टीका) असौ भगवान् प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा तया 'अक्षयः' न तस्य ज्ञातव्येऽर्थे बुद्धिः प्रतिक्षीयते प्रतिहन्यते वा, तस्य हि बुद्धिः केवलज्ञानाख्या, सा च [1]साद्यपर्यवसाना कालतो द्रव्यक्षेत्रभावैरप्यनन्ता, सर्वसाम्येन दृष्टान्ताभावाद्, एकदेशेन त्वाह—यथा 'सागर' इति, अस्य चाविशिष्टत्वात् विशेषणमाह–'महोदधिरिव' स्वयम्भूरमण इवानन्तपारः यथाऽसौ विस्तीर्णो गम्भीरजलोऽक्षोभ्यश्च, एवं तस्यापि भगवतो विस्तीर्णा प्रज्ञा स्वयम्भूरमणानन्तगुणा गम्भीराऽक्षोभ्या च, यथा च असौ सागरः 'अनाविलः' अकलुषजलः, एवं भगवानपि तथाविधकर्मलेशाभावादकलुषज्ञान इति, तथा—कषाया विद्यन्ते यस्यासौ कषायी न कषायी अकषायी, तथा ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धनाद्विमुक्तो मुक्तः, भिक्षुरिति क्वचित्पाठः, तस्यायमर्थः–सत्यपि निःशेषान्तरायक्षये सर्वलोकपूज्यत्वे च तथापि भिक्षामात्रजीवित्वात् भिक्षुरेवासौ, नाक्षीणमहानसादिलब्धिमुपजीवतीति, तथा शक्र इव देवाधिपतिः 'द्युतिमान्' दीप्तिमानिति ॥ ८ ॥ किञ्च—

(टीकार्थ) जिसके द्वारा पदार्थों को जानते हैं उसे 'प्रज्ञा' कहते हैं। वह भगवान् महावीर स्वामी प्रज्ञाके द्वारा अक्षय हैं। जो पदार्थ जानने योग्य है उसमें भगवान् की बुद्धि क्षयको नहीं प्राप्त होती है तथा वह किसी के द्वारा रोकी भी नहीं जा सकती है। भगवान् की बुद्धिका नाम केवलज्ञान है। वह केवल ज्ञान, काल से आदि सहित और अन्तरहित है तथा द्रव्य, क्षेत्र और भावसे भी अनन्त है। सम्पूर्ण तुल्यता का दृष्टान्त नहीं मिलता है इस लिये शास्त्रकार एकदेश से दृष्टान्त बताते हैं—जैसे समुद्र अक्षय जलवाला है इसी तरह भगवान् अक्षय ज्ञानवाले हैं। समुद्र शब्द सामान्य समुद्रका वाचक है इसलिये उसका विशेषण बताते हैं—जैसे स्वयम्भूरमण समुद्र अपार, विस्तृत, गम्भीर जलवाला और क्षोभ करने के अयोग्य है इसीतरह भगवान् की प्रज्ञा भी विस्तृत तथा उस समुद्रसे भी अनन्त गुण गम्भीर और क्षोभ करने के अयोग्य है। जैसे स्वयम्भूरमण का जल निर्मल है इसीतरह भगवान् का ज्ञान भी कर्मका लेश न होने के कारण निर्मल है। जिसमें कषाय होते हैं उसे कषायी कहते हैं परन्तु भगवान् कषाय रहित थे इसलिये वे अकषायी थे। भगवान् के ज्ञानावरणीय आदि कर्मबन्धन नष्ट होचुके थे इसलिये वे मुक्त थे कहीं 'भिक्खू' यह पाठ पाया जाता है। उसका अर्थ यह है कि—यद्यपि भगवान् के सब अन्तराय नष्ट होगये थे तथा वह समस्त जगत् के पूज्यभी थे तथापि वे भिक्षावृत्तिसे ही अपना जीवन निर्वाह करते थे, वे

[1] स्थित्यपेक्षया शेयापेक्षया तु द्रव्यादिवदनाद्यनन्तकालगोचरैव।

अक्षीणमहानसादि लब्धिका उपयोग नहीं करते थे, तथा भगवान् इन्द्र को तरह देवताओं के अधिपति और तेजस्वी थे । ८

(मूल)--'से' वीरिएणं पडिपुन्नवीरिए, सुदंसणे वा णगसव्वसेट्टे ।
सुरालए वासिमुदागरे से, विरायए णेगगुणोववेए ॥ ९ ॥

(छाया) स वीर्य्येण प्रतिपूर्णवीर्य्यः सुदर्शन इव नगसर्वश्रेष्ठः
सुरालयो वासिमुदाकरः स, विराजतेऽनेकगुणोपपेतः ।

(अन्वयार्थ) (स) वह भगवान् महावीर स्वामी (वीरिएणं) वीर्य्य से (पडिपुन्नवीरिए) पूर्णवीर्य्य (सुदंसणेवाणगसव्वसेट्टे) तथा सब पर्वतोंमें सुमेरुके समान सबसे श्रेष्ठ हैं । (वासिमुदागरे सुरालए) निवास करनेवालों को हर्ष उत्पन्न करनेवाला स्वर्ग के समान (से) वह (णेगगुणोववेए विरायए) अनेक गुणोंसे विराजमान हैं ।

(भावार्थ) भगवान् महावीर स्वामी पूर्णवीर्य्य और पर्वतों में सुमेरु के समान सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ हैं । वह देवताओं को हर्ष उत्पन्न करनेवाला स्वर्गकी तरह सब गुणों से सुशोभित हैं ।

(टीका) 'स' भगवान् 'वीर्येण' औरसेन बलेन धृतिसंहननादिभिश्च वीर्यान्तरायस्य निःशेषतः क्षयात् प्रतिपूर्णवीर्यः, तथा 'सुदर्शनो' मेरुर्जम्बूद्वीपनाभिभूतः स यथा नगानां—पर्वतानां सर्वेषां श्रेष्ठः—प्रधानः तथा भगवानपि वीर्येणान्यैश्च गुणैः सर्वश्रेष्ठ इति, तथा यथा 'सुरालयः' स्वर्गस्तन्निवासिनां 'मुदाकरो' हर्षजनकः प्रशस्तवर्णरसगन्धस्पर्शप्रभावादिभिर्गुणैरुपेतो 'विराजते' शोभते, एवं भगवानप्यनेकैर्गुणैरुपेतो विराजत इति, यदि वा—यथा त्रिदशालयो मुदाकरोऽनेकैर्गुणैरुपेतो विराजत इति एवमसावपि मेरुरिति ॥ ९ ॥ पुनरपि दृष्टान्तभूतमेरुवर्णनायाह--

(टीकार्थ) वीर्य्यान्तराय कर्मके सर्वथा क्षय होजाने से औरस (छाती के) बल तथा धृति और संहनन आदि बलों से भगवान् परिपूर्ण हैं । तथा जम्बूद्वीप का नाभिस्वरूप सुमेरु पर्वत जैसे समस्त पर्वतो में श्रेष्ठ है इसी तरह भगवान् वीर्य्य तथा अन्यगुणों में सबसे श्रेष्ठ हैं । जैसे अपने ऊपर निवास करनेवाले देवताओंको हर्ष उत्पन्न करनेवाला स्वर्ग, प्रशस्त वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और प्रभाव आदि गुणोंसे सुशोभित है इसीतरह भगवान् भी अनेक गुणों से सुशो-

२ वादि० प्र० ।

भित हैं। अथवा जैसे स्वर्ग, सुख देनेवाला है और अनेक गुणों से सुशोभित है इसीतरह वह सुमेरुभी है। ९

(मूल)--सयं सहस्साण उ जोयणाणं, तिकंडगे पंडगवेजयंते।
से जोयणे णवणवते सहस्से, उद्धुस्सितो हेट्ठ सहस्समेगं ॥१०॥

(छाया) शतं सहस्राणान्तु योजनानां, त्रिकण्डकः पण्डकवैजयन्तः
स योजने नवनवतिसहस्राणि, ऊर्ध्वमुच्छ्रितोऽधः सहस्रमेकम्।

(अन्वयार्थ) (सहस्साण जोयणाणं सयंउ) वह सुमेरु पर्वत सौ हजार योजन ऊंचा है। (तिकंडगे) उसके विभाग तीन हैं। (पंडगवेजयंते) उस पर्वतपर सबसे ऊपर स्थित पण्डक वन पताका की तरह शोभा पाताहै। (से) वह सुमेरु पर्वत (जोयणे णवणवति सहस्से उद्धुस्सितो) निनानवे हजार योजन ऊपर उठा है (हेट्ठ सहस्समेगं) तथा एक हजार योजन भूमिमें गड़ा है।

(भावार्थ) वह सुमेरु पर्वत सौ हजार योजनका है। उसके विभाग तीन हैं तथा उसपर सबसे ऊँचा स्थित पण्डक वन पताका के समान शोभा पाता है। वह निनानवे हजार योजन ऊँचा और एक हजार योजन भूमिमें गडा है।

(टीका) स मेरुर्योजनसहस्राणां शतमुच्चैस्त्वेन, तथा त्रीणि कण्डान्यस्येति त्रिकण्डः, तद्यथा--भौमं जाम्बूनदं वैडूर्यमिति, पुनरप्यसावेव विशेष्यते--'पण्डकवैजयन्त' इति, पण्डकवनं शिरसि व्यवस्थितं वैजयन्तीकल्पं--पताकाभूतं यस्य स तथा, तथाऽसावूर्ध्वमुच्छ्रितो नवनवतिर्योजनसहस्राण्यधोऽपि सहस्रमेकमवगाढ इति ॥ १० ॥ तथा--

(टीकार्थ) फिरभी दृष्टान्तभूत सुमेरु पर्वतका वर्णन शास्त्रकार करते हैं-- वह सुमेरु पर्वत सौ हजार योजन ऊँचा है तथा उसके विभाग तीन हैं जैसे कि--भूमिमय, सुवर्णमय और वैडूर्य्यमय। फिर सुमेरु का विशेषण बतलाते हैं-- उस सुमेरु पर्वत के शिरपर स्थित पण्डक वन उसकी पताका के समान शोभा पाता है। वह पर्वत निनानवे हजार योजन ऊपर उठा है तथा एक हजार योजन नीचे गड़ा है। १०

(मूल)--पुट्ठे णभे चिट्ठइ भूमिवट्ठिए, जं सूरिया अणुपरिवट्टयंति।
से हेमवन्ने बहुनंदणे य, जंसी रतिं वेदयंती महिंदा ॥ ११ ॥

(छाया) स्पृष्टो नभस्तिष्ठति भूमिवर्ती, यं सूर्य्या अनुपरिवर्त्तयन्ति
स हेमवर्णो बहुनन्दनश्च यस्मिन् रतिं वेदयन्ति महेन्द्राः ।

(अन्वयार्थ) (से) वह सुमेरु पर्वत (णभे पुट्ठे) आकाश को स्पर्श किया हुआ (भूमिवट्ठिए चिट्ठइ) पृथिवीपर स्थित है (जं) जिसकी (सूरिया) आदित्य लोग (अणुपरिवट्टयंति) परिक्रमा देते हैं। (हेमवन्ने) वह सोनहरी रङ्गवाला (बहुनंदनेय) और बहुत नन्दन वनों से युक्त है। (जंसी) जिसपर (महिंदा) महेन्द्र लोग (रतिं वेदयती) आनन्द अनुभव करते हैं।

(भावार्थ) वह सुमेरु पर्वत आकाशको स्पर्श करता हुआ और पृथिवी में धुसा हुआ स्थित है। आदित्य गण उसकी परिक्रमा करते रहते हैं। वह सुनहरी रङ्गवाला और बहुत नन्दन वनोंसे युक्त है, उसपर महेन्द्र लोग आनन्द अनुभव करते हैं।

(टीका) 'नभसि' 'स्पृष्टो' लग्नो नभो व्याप्य तिष्ठति तथा भूमिं चावगाह्य स्थित इति ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकसंस्पर्शी, तथा 'यं' मेरुं 'सूर्या' आदित्या ज्योतिष्का 'अनुपरिवर्त्तयन्ति' यस्य पार्श्वतो भ्रमन्तीत्यर्थः, तथाऽसौ 'हेमवर्णो' निष्टप्तजाम्बूनदाभः, तथा बहूनि चत्वारि नन्दनवनानि यस्य स बहुनन्दनवनः, तथाहि— भूमौ भद्रशालवनं ततः पञ्च योजनशतान्यारुह्य मेखलायां नन्दनं ततो द्विषष्टियोजनसहस्राणि पंचशताधिकान्यतिक्रम्य सौमनसं ततः षट्त्रिंशत्सहस्राण्यारुह्य शिखरे पण्डकवनमिति. तदेवमसौ चतुर्नन्दनवनाद्युपेतो विचित्रक्रीडास्थानसमन्वितः, 'यस्मिन् महेन्द्रा अप्यागत्य त्रिदशालयाद्रमणीयतरगुणेन 'रतिं' रमणक्रीडां 'वेदयन्ति' अनुभवन्तीति ॥ ११ ॥ अपिच–

(टीकार्थ) वह मेरु पर्वत आकाश को स्पर्श करता हुआ तथा पृथिवी को अवगाहन करके स्थित है। वह, ऊपर नीचे और तिरछे रहनेवाले लोकोंको स्पर्श करनेवाला है। तथा आदित्य यानी ग्रह नक्षत्रादि उस पर्वत के किनारे भ्रमण करते है। वह तपाहुआ सोनेके समान पीतवर्ण है एवं उसके ऊपर चार नन्दन वन हैं जैसेकि—भूमिमय विभागमें भद्रशाल वन है, उससे ऊपर फिर पाँचसौ योजन चढकर मेखला प्रदेश में नन्दन वन है, उससे ऊपर पाँचसौ वासठ हजार योजन चढकर सौमनस वन है, उससे ऊपर छत्तीस हजार योजन चढकर शिखर के ऊपर पण्डक वन है। इस प्रकार वह पर्वत चार नन्दन वनोंसे युक्त विचित्र क्रीडाका स्थान है। महेन्द्र लोग आकर स्वर्गसे भी अधिक रमणीय गुणों से युक्त होने के कारण उस पर्वत पर आनन्द अनुभव करते हैं। ११

(मूल) से पव्वए सद्दमहप्पगासे, विरायती कंचणमट्ठवन्ने ।

अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे, गिरीवरे से जलिएव भोमे ॥ १२ ॥

(छाया) स पर्वतः शब्दमहाप्रकाशो, विराजते काञ्चनमृष्टवर्णः ।
अनुत्तरो गिरिषु च पर्वदुर्गो, गिरिवरोऽसौ ज्वलित इव भौमः ॥

(अन्वयार्थः) (से पव्वए) वह पर्वत (सद्दमहप्पगासे) अनेक नामोंसे अति प्रसिद्ध है (कंचणमट्ठवन्ने) तथा वह सोनेकी तरह शुद्ध वर्णवाला (विरायती) सुशोभित है। (अणुत्तरे) वह सब पर्वतोंमें श्रेष्ठ है। (गिरिसुयपव्वदुग्गे) वह सभी पर्वतोंमें उपपर्वतोंके द्वारा दुर्गम है। (से गिरिवरे) वह पर्वतश्रेष्ठ (भोमे व जलिए) मणि और औषधियोंसे प्रकाशित भूप्रदेश की तरह प्रकाश करता है।

(भावार्थ) वह सुमेरु पर्वत जगत् में अनेक नामोंसे प्रसिद्ध है। उसका रङ्ग सोने के समान शुद्ध है, उससे बढ़कर जगत में दूसरा पर्वत नहीं है, वह उपपर्वतों के द्वारा दुर्गम है, वह मणि तथा औषधियों से प्रकाशित भूमि प्रदेशकी तरह प्रकाश करता है।

(टीका) सः—मेर्वाख्योऽयं पर्वतो मन्दरो मेरुः सुदर्शनः सुरगिरिरित्येवमादिभिः शब्दैर्महान् प्रकाशः—प्रसिद्धिर्यस्य स शब्दमहाप्रकाशो 'विराजते' शोभते, काञ्चनस्येव 'मृष्टः' श्लक्ष्णः शुद्धो वा वर्णो यस्य स तथा, एवं न विद्यते उत्तरः—प्रधानो यस्यासावनुत्तरः, तथा गिरिषु च मध्ये पर्वभिः—मेखलादिभिर्दंष्ट्रापर्वतैर्वा 'दुर्गो' विषमः सामान्यजन्तूनां दुरारोहो 'गिरिवरः' पर्वतप्रधानः, तथाऽसौ मणिभिरौषधिभिश्च देदीप्यमानतया 'भौम इव' भूदेश इव ज्वलित इति ॥ १२ ॥ किञ्च—

(टीकार्थ) वह सुमेरु पर्वत, मन्दर, मेरु, सुदर्शन और सुरगिरि आदि अनेक शब्दों से जगत् में प्रसिद्ध है। उसका वर्ण सोनेकी तरह चिक्कण अथवा शुद्ध है। उस पर्वत से बढ़कर दूसरा पर्वत जगत् में नहीं है। वह मेखला आदि से अथवा उपपर्वतों के कारण सभी पर्वतोंमे दुर्गम है उस पर्वत पर सामान्य जन्तुओं का चढना बडा कठिन है। वह पर्वतश्रेष्ठ मणि और औषधियों से प्रकाशित होनेके कारण पृथ्वी देशकी तरह प्रकाश करता है। १२

(मूल) महीइ मज्झंमि ठिते णगिंदे, पन्नायते सूरियसुद्धलेसे ।
एवं सिरिए उ स भूरिवन्ने, मणोरमे जोयइ अच्चिमाली ॥ १३ ॥

(छाया) मह्यां मध्ये स्थितो नगेन्द्रः प्रज्ञायते सूर्य्यशुद्धलेश्यः ।
एवं श्रिया तु स भूरिवर्णः मनोरमो द्योतयत्यर्चिमाली ॥

(अन्वयार्थ) (नगिंदे) वह पर्वतराज (महीइ मज्झंमि) पृथिवीके मध्यमें (ठिते) स्थित है (सूरियसुद्धलेसे) वह सूर्य्यके समान शुद्ध कान्तिवाला (पन्नायते) प्रतीत होता है (एवं) इसी तरह (सिरीए उ) वह अपनी शोभासे (भूरिवन्ने) अनेक वर्णवाला (मणोरमे) और मनोहर हैं (अच्चिमाली) वह सूर्य्यकी तरह (जोयइ) सब दिशाओंको प्रकाश करता है ।

(भावार्थ) वह पर्वतराज, पृथिवी के मध्यभाग में स्थित है वह सूर्य्य के समान कान्तिवाला है, वह अनेक वर्णवाला और मनोहर है । वह सूर्य्य के समान सब दिशाओंको प्रकाश करता है ।

(टीका) 'मह्यां' रत्नप्रभापृथिव्यां मध्यदेशे जम्बूद्वीपस्तस्यापि बहुमध्यदेशे सौमनसविद्युत्प्रभगन्धमादनमाल्यवन्तदंष्ट्रापर्वतचतुष्टयोपशोभितः समभूभागे दशसहस्रविस्तीर्णः शिरसि सहस्रमेकमधस्तादपि दशसहस्राणि नवतियोजनानि योजनैकादशभागैर्दशभिरधिकानि विस्तीर्णः चत्वारिंशद्योजनोच्छ्रितचूडोपशोभितो 'नगेन्द्रः' पर्वतप्रधानो मेरुः प्रकर्षेण लोके ज्ञायते 'सूर्यवच्छुद्धलेश्यः'—आदित्यसमानतेजाः, 'एवम्' अनन्तरोक्तप्रकारया श्रिया तुशब्दाद्विशिष्टतरया सः—मेरुः 'भूरिवर्णः' अनेकवर्णो अनेकवर्णरत्नोपशोभितत्वात् मनः—अन्तःकरणं रमयतीति मनोरमा 'अर्चिमालीव' आदित्य इव स्वतेजसा द्योतयति दशापि दिशः प्रकाशयतीति ॥ १३ ॥ साम्प्रतं मेरुदृष्टान्तोपक्षेपेण दार्ष्टान्तिकं दर्शयति—

(टीकार्थ) रत्नप्रभा पृथिवी के मध्य भागमें जम्बूद्वीप है । उसके बराबर मध्यभाग में सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन और माल्यवान् इन चार दंष्ट्रा पर्वतों से सुशोभित, समभूभागमें दश हजार योजन विस्तारवाला शिरपर एक हजार योजन विस्तारवाला, फिर नीचे दश हजार योजन विस्तारवाला, एवं प्रत्येक नव्वे योजनपर एक योजन के एग्यारहवें भाग कम विस्तारवाला, बाकीका योजन के दश भाग विस्तारवाला (अर्थात् ज्यों ऊंचा चढे त्यों कम विस्तारवाला होता जाय) ऐसा मेरु पर्वत है । उसके शिरपर ४० योजनकी ऊंची चोटी है । तथा पर्वतों में प्रधान मेरु पर्वत की सूर्य्य के समान शुद्ध लेश्या-अर्थात् सूर्य्य की तरह प्रकाश है । ऊपर बताई हुई विशिष्ट शोभासे वह पर्वत अनेक रत्नों से शोभित होनेके कारण अनेक वर्णवाला है । वह मनको प्रसन्न करनेवाला तथा सूर्य्यकी तरह अपने तेजसे दश दिशाओंको प्रकाशित करता है । १३

(मूल) सुदंसणस्सेव जसो गिरिस्स, पवुच्चई महतो पव्वयस्स ।

एतोवमे समणे नायपुत्ते, जातीजसोदंसणनाणसीले ॥१४॥

(छाया) सुदर्शनस्येव यशो गिरेः प्रोच्यते महतः पर्वतस्य ।
एतदुपमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः जातियशोदर्शनज्ञानशीलः ॥

(अन्वयार्थ) (महतो पव्वयस्स) महान् पर्वत (सुदंसणस्स गिरिस्स) सुदर्शन गिरिका (जसो) यश (पवुच्चई) पूर्वोक्त प्रकारसे कहा जाता है । (समणे नायपुत्ते एतोवमे) श्रमण भगवान् महावीर स्वामीकी उपमा इसी पर्वतसे दी जाती है (जातीजसोदंसणणाणसीले) भगवान् जाति, यश, दर्शन ज्ञान और शीलमें सबसे श्रेष्ठ हैं ।

(भावार्थ) पर्वतों में मेरु पर्वतका यश पूर्वोक्त प्रकार से बताया जाता है । भगवान् महावीर स्वामी की उपमा इसी पर्वत से दी जाती है । जैसे सुमेरु अपने गुणों के द्वारा सब पर्वतोंमें श्रेष्ठ है इसी तरह भगवान् जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शीलमें सबसे प्रधान हैं ।

(टीका) एतदनन्तरोक्तं 'यशः' कीर्तनं सुदर्शनस्य मेरुगिरेः महापर्वतस्य प्रोच्यते, साम्प्रतमेतदेव भगवति दार्ष्टान्तिके योज्यते-एषा-अनन्तरोक्तोपमा यस्य स एतदुपमः, कोऽसौ ?-श्राम्यतीति श्रमणस्तपोनिष्टप्तदेहो ज्ञाताः-क्षत्रियास्तेषां पुत्रः श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामीत्यर्थः, स च जात्या सर्वजातिमद्भ्यो यशसा अशेषयशस्विभ्यो दर्शनज्ञानाभ्यां सकलदर्शनज्ञानिभ्यः शीलेन समस्तशीलवद्भ्यः श्रेष्ठः-प्रधानः, अक्षरघटना तु जात्यादीनां कृतद्वन्द्वानामतिशायने [1]अर्शआदित्वादच्प्रत्ययविधानेन विधेयेति ॥ १४ ॥ पुनरपि दृष्टान्तद्वारेणैव भगवतो व्यावर्णमाह—

(टीकार्थ) मेरुका दृष्टान्त बताकर अब शास्त्रकार दार्ष्टान्त बताते हैं । पहले वर्णन किये अनुसार पर्वत श्रेष्ठ सुदर्शन सुमेरु गिरिका यश बताया जाता है अब वही यश भगवान् महावीर स्वामी में जोड़ते हुए शास्त्रकार कहते हैं—पूर्वोक्त सुमेरु पर्वत की उपमा भगवान् की है—वह भगवान् कौन हैं ? जो तपस्या में श्रम करनेवाले हैं अर्थात् तपसे अपने शरीर को जिन्होंने तप्त किया है तथा जो ज्ञात नामक क्षत्रियों के पुत्र हैं ऐसे श्रीमन्महावीरस्वामी मेरुके तुल्य हैं । वह जाति में सब जातिवालों से श्रेष्ठ हैं तथा यश में समस्त यशस्वियों से उत्तम हैं एवं ज्ञान तथा दर्शन में समस्त दर्शन और ज्ञानवालों में प्रधान हैं, एवं शील में वह समस्त शीलवानों में उत्तम हैं । अक्षर योजना इस प्रकार करनी चाहिये । जाति आदि पदार्थों में द्वन्द्व समास करके अर्श आदित्वात् अच् प्रत्यय करके जात्यादि पदका साधुत्व करना चाहिये । १४

१ मत्वर्थीयात् अच्प्र० प्र० ।

(मूल) गिरीवरे वा निसहाऽऽययाणं, रुयए व सेट्ठे वलयायताणं ।
तओवमे से जगभूइपन्ने, मुणीण मज्झे तमुदाहु पन्ने ॥१५॥

(छाया) गिरिवर इव निषध आयतानां, रुचक इव श्रेष्ठः वलयायतानाम्
तदुपमः स जगद्भूतिप्रज्ञः, मुनीनां मध्ये तमुदाहुः प्रज्ञाः ।

(अन्वयार्थ) (आययाणं गिरिवरे निसहाव) जैसे लम्बे पर्वतों में पर्वतश्रेष्ठ निषध प्रधान है तथा (वलयायताणं रुयए व सेट्ठे) वर्तुल पर्वतों में जैसे रुचक पर्वत श्रेष्ठ है (जगभूइपन्ने) जगत्में सबसे अधिक बुद्धिमान् भगवान् महावीर स्वामी की (तओवमे) वही उपमा है । (पन्ने) बुद्धिमान् पुरुष (मुणीण मज्झे तमुदाहु) मुनियों के मध्यमें भगवान् को श्रेष्ठ कहते हैं ।

(भावार्थ) जैसे लम्बे पर्वतों में निषध पर्वत श्रेष्ठ है तथा वर्तुल पर्वतों में रुचक पर्वत उत्तम है इसी तरह संसार के सभी मुनियों में अद्वितीय बुद्धिमान् भगवान् महावीर स्वामी श्रेष्ठ है यह बुद्धिमान् पुरुष बतलाते है ।

(टीका) यथा 'निषधो' गिरिवरो गिरीणामायतानां मध्ये जम्बूद्वीपे अन्येषु वा द्वीपेषु दैर्घ्येण 'श्रेष्ठः' प्रधानः तथा—वलयायतानां मध्ये रुचकः पर्वतोऽन्येभ्यो वलयायतत्वेन यथा प्रधानः, स हि रुचकद्वीपान्तर्वर्ती मानुषोत्तरपर्वत इव वृत्तायतः[1] सङ्ख्येययोजनानि परिक्षेपेणेति, तथा स भगवानपि तदुपमः यथा तावाय तवृत्तताभ्यां श्रेष्ठौ एवं भगवानपि जगति–संसारे भूतिप्रज्ञः–प्रभूतज्ञानः प्रज्ञया श्रेष्ठ इत्यर्थः तथा अपरमुनीनां मध्ये प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः एवं तत्स्वरूपविदः 'उदाहुः' उदाहृतवन्त उक्तवन्त इत्यर्थः ॥ १५ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) जैसे जम्बूद्वीप में अथवा दूसरे द्वीपोमें सभी लम्बे पर्वतों में निषध पर्वत श्रेष्ठ है तथा वर्तुलाकार पर्वतोंमें जैसे रुचक पर्वत सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि वह रुचकद्वीप के अन्दर रहनेवाला मानुषोत्तर पर्वत के समान वर्तुल और दीर्घ है तथा उसका विस्तार संख्येय योजन है । इसीतरह भगवान् भी हैं अर्थात् जैसे वे दो पर्वत लम्बाई और वर्तुलाकार में सबसे प्रधान हैं इसी तरह भगवान् भी संसारमें सब बुद्धिमानों मे श्रेष्ठ हैं तथा वह सभी मुनियों में श्रेष्ठ हैं यह उनका स्वरूप जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष कहते हैं । १५

१ वृत्तायतोऽसं० प्र० नचैतद्युक्तं ।

(मूल) अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता, अणुत्तरं झाणवरं झियाइं ।
सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं, संखिंदुएगंतवदातसुक्कं ॥ १६ ॥

(छाया) अनुत्तरं धर्ममुदीरयित्वाऽनुत्तरं ध्यानवरं ध्यायति ।
सुशुक्लशुक्लमपगण्डशुक्लं, शंखेन्दुवदेकान्तावदातशुक्लम् ॥

(अन्वयार्थ) (अणुत्तरं धम्ममुदीरयित्ता) भगवान् महावीरस्वामी सर्वोत्तम धर्म बतलाकर (अणुत्तरं झाणवरं झियाइं) सर्वोत्तम ध्यान ध्यान ध्याते थे । (सुसुक्कसुक्कं) भगवानका ध्यान अत्यन्त शुक्लवस्तुके समान शुक्ल था (अपगंडसुक्कं) तथा वह दोषवर्जित शुक्लथा (संखेंदुएगंतवदातसुक्कं) वह शंख तथा चन्द्रमाके समान एकान्त शुक्लथा ।

(भावार्थ) भगवान् महावीर स्वामी, सर्वोत्तम धर्म बताकर सर्वोत्तम ध्यान ध्याते थे । उनका ध्यान अत्यन्त शुक्ल वस्तुके समान दोष वर्जित शुक्ल था तथा शंख और चन्द्रमा के समान शुद्ध था ।

(टीका) नास्योत्तरः-प्रधानोऽन्यो धर्मो विद्यते इत्यनुत्तरः तमेवम्भूतं धर्मम् 'उत्' प्राबल्येन 'ईरयित्वा' कथयित्वा प्रकाश्य 'अनुत्तरं' प्रधानं 'ध्यानवरं' ध्यानश्रेष्ठं ध्यायति, तथाहि-उत्पन्नज्ञानो भगवान् योगनिरोधकाले सूक्ष्मं काययोगं निरुन्धन् शुक्लध्यानस्य तृतीयं भेदं सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाताख्यं तथा निरुद्धयोगश्चतुर्थं शुक्लध्यानभेदं व्युपरतक्रियमनिवृत्ताख्यं ध्यायति, एतदेव दर्शयति-सुष्ठु शुक्लवत्शुक्लं ध्यानं तथा अपगतं गण्डम्—अपद्रव्यं यस्य तदपगण्डं निर्दोषार्जुनसुवर्णवद् शुक्लं यदिवा-अपगण्डम्—उदकफेनं तत्तुल्यमिति भावः । तथा शङ्खेन्दुवदेकान्तावदातं-शुभ्रं शुक्लं-शुक्लध्यानोत्तरं भेदद्वयं ध्यायतीति ॥१६॥ अपिच—

(टीकार्थ) जिससे श्रेष्ठ दूसरा धर्म नहीं है उसे अनुत्तर कहते हैं ऐसे धर्मको अच्छ तरह प्रकाश करके भगवान् उत्तम ध्यान ध्याते थे । भगवान् को जब ज्ञान उत्पन्न होगया तब वह योग निरोध कालमें सूक्ष्म काययोग को रोकते हुए शुक्ल ध्यानका तृतीय भेद जो सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपात कहा जाता है उसे ध्याते थे और जब वे निरुद्ध योग हुए तब चौथा शुक्ल ध्यानका भेद जो व्युपरतक्रिय और अनिवृत्त कहलाता है उसे ध्याते थे । यही शास्त्रकार दिखलाते हैं—जो ध्यान खूब शुक्ल की तरह शुक्ल है तथा जिससे दोष हट गया है अर्थात् जो निर्दोष शुक्ल और सुवर्ण के समान शुक्ल है अथवा जलके फेनको अपगण्ड कहते हैं उसके समान जो शुक्ल है तथा शंख और चन्द्रमाके समान जो एकान्त शुक्ल है ऐसे शुक्ल ध्यान के दो भेदोंको भगवान् ध्यान करते थे । १६

(मूल) अणुत्तरग्गं परमं महेसी, असेसकम्मं स विसोहइत्ता ।
सिद्धिं गते साइमणंतपत्ते, नाणेण सीलेण य दंसणेण ॥१७॥

(छाया) अनुत्तराग्र्यां परमां महर्षिरशेषकर्माणि विशोध्य ।
सिद्धिं गतः सादिमानन्तप्राप्तो, ज्ञानेन शीलेन च दर्शनेन ॥

(अन्वयार्थ) (महेसी) महर्षि भगवान् महावीरस्वामी (नाणेण सीलेण य दंसणेण) ज्ञान, चारित्र और दर्शनके द्वारा (असेसकम्मं) समस्त कर्मोंको (विसोहइत्ता) शोधन करके (अनुत्तरग्गं) सर्वोत्तम (परमं सिद्धिगतो) परम सिद्धिको प्राप्त हुए । (साइमणंतपत्ते) जिस सिद्धिकी आदि है परन्तु अन्त नहीं है ।

(भावार्थ) महर्षि भगवान् महावीर स्वामी ज्ञान दर्शन और चारित्र के प्रभाव से ज्ञानावरणीय आदि समस्त कर्मोंको क्षय करके सर्वोत्तम उस सिद्धिको प्राप्त हुए, जिसका आदि है परन्तु अन्त नहीं है ।

(टीका) तथाऽसौ भगवान् शैलेश्यवस्थापादितशुक्लध्यानचतुर्थभेदानन्तरं साद्यपर्यवसानां सिद्धिगतिं पञ्चमीं प्राप्तः, सिद्धिगतिमेव विशिनष्टि—अनुत्तरा चासौ सर्वोत्तमत्वादग्र्या च लोकाग्रव्यवस्थितत्वादनुत्तराग्र्या तां 'परमां' प्रधानां 'महर्षिः' असावत्यन्तोग्रतपोविशेषनिष्टप्तदेहत्वाद् अशेषं कर्म—ज्ञानावरणादिकं 'विशोध्य' अपनीय च विशिष्टेन ज्ञानेन दर्शनेन शीलेन च क्षायिकेण सिद्धिगतिं प्राप्त इति मीलनीयम् ॥ १७ ॥ पुनरपि दृष्टान्तद्वारेण भगवतः स्तुतिमाह—

(टीकार्थ) तथा वह भगवान् महावीर स्वामी शैलेशी अवस्था से उत्पन्न शुक्ल ध्यान के चौथे भेदको ध्याकर पश्चात् जिसका आदि है परन्तु अन्त नहीं है ऐसी पाँचवी सिद्धिगति को प्राप्त हुए । उस सिद्धिगतिका विशेषण बताते हैं—वह सिद्धि, सबसे उत्तम है तथा सब लोकोंके अग्र भागमें स्थित होनेके कारण वह अग्र्या है उस परम गति को भगवान् प्राप्त हुए । भगवान् अत्यन्त उग्र तपस्या से अपने शरीरको तपाकर तथा ज्ञानावरणीय आदि समस्त कर्मोंको विशिष्ट अर्थात् क्षायिक ज्ञान दर्शन और चारित्र के द्वारा क्षपण कर सिद्धिको प्राप्त हुए । १७

(मूल) रुक्खेसु णाते जह सामली वा, जस्सिं रतिं वेययती सुवन्ना ।
वणेसु वा णंदणमाहु सेट्ठं, नाणेण सीलेण य भूतिपन्ने ॥१८॥

(छाया) वृक्षेषु ज्ञातो यथा शाल्मली वा, यस्मिन् रतिं वेदयन्ति सुपर्णाः ।
वनेषु वा नन्दनमाहुः श्रेष्ठं, ज्ञानेन शीलेन च भूतिप्रज्ञः ॥

(अन्वयार्थ) (जह) जैसे (रुक्खेसु) वृक्षोंमें (णाते) जगत्प्रसिद्ध (सामली) सेमर वृक्ष है (जंसि) जिसपर (सुवन्ना) सुपर्णलोग (रतिं वेययंती) आनन्द अनुभव करते हैं (वणेसु वा णंदणं सेठमाहु) तथा जैसे वनोंमें सबसे श्रेष्ठ नन्दन वनको कहते हैं (नाणेण सीलेण य भूतिपन्ने) इसी तरह ज्ञान और चारित्रके द्वारा उत्तमज्ञानी भगवान् महावीर स्वामीको श्रेष्ठ कहते हैं ।

(भावार्थ) जैसे वृक्षोंमें सुवर्ण नामक देवताओं का क्रीडास्थान शाल्मली वृक्ष श्रेष्ठ हैं, तथा वनोंमें नन्दनवन श्रेष्ठ है इसी तरह ज्ञान और चारित्रमें भगवान् महावीर स्वामी सबसे श्रेष्ठ हैं ।

(टीका) वृक्षेषु मध्ये यथा 'ज्ञातः' प्रसिद्धो देवकुरुव्यवस्थितः शाल्मलीवृक्षः, स च भवनपतिक्रीडास्थानं, 'यत्र' व्यवस्थिता अन्यतश्चागत्य 'सुपर्णा' भवनपतिविशेषा 'रतिं' रमणक्रीडां 'वेदयन्ति' अनुभवन्ति, वनेषु च मध्ये यथा नन्दनं वनं देवानां क्रीडास्थानं प्रधानं एवं भगवानपि 'ज्ञानेन' केवलाख्येन समस्तपदार्थाविर्भावकेन 'शीलेन' च चारित्रेण-यथाख्यातेन 'श्रेष्ठः' प्रधानः 'भूतिप्रज्ञः' प्रवृद्धज्ञानो भगवानिति ॥ १८ ॥ अपि च—

(टीकार्थ) फिर दृष्टान्त देकर भगवान् की शास्त्रकार स्तुति करते हैं—जैसे वृक्षोंके मध्य में देवकुरु में स्थित प्रसिद्ध शाल्मली वृक्ष श्रेष्ठ है, जो भवनपतियों का क्रीडास्थान है, जिसपर दूसरे स्थानों से आकर सुपर्ण अर्थात् भवनपति विशेष आनन्द अनुभव करते हैं तथा वनोंके मध्यमें जैसे देवताओंका क्रीडास्थान नन्दन वन प्रधान है इसी तरह भगवान् भी समस्त पदार्थों को प्रकट करनेवाले केवल ज्ञान और यथाख्यात चारित्र के द्वारा सबसे प्रधान हैं । वह भूतिप्रज्ञ अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानवाले हैं । १८

(मूल) थणियं व सद्दाण अणुत्तरे उ, चंदो व ताराण महाणुभावे ।
गंधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठं, एवं मुणीणं अपडिन्नमाहु ॥१९॥

(छाया) स्तनितमिव शब्दानामनुत्तरस्तु चन्द्रइव ताराणां महानुभावः
गन्धेषु वा चन्दनमाहुः श्रेष्ठमेवं मुनीनामप्रतिज्ञमाहुः ।

(अन्वयार्थ) (सद्दाण) शब्दों में (थणियं व) मेघगर्जन (अणुत्तरे) जैसे प्रधान है (ताराण)

और ताराओंमें (महाणुभाव चंदे) जैसे महानुभाव चन्द्रमा श्रेष्ठ हैं (गंधेसु वा चंदणं सेट्ठ-माहु) तथा गन्धवालोंमें जैसे चन्दन श्रेष्ठ है (एवं) इसी तरह (मुणीणं मुनिओं में (अपडिन्न माहु) कामना रहित भगवान् महावीर स्वामी को श्रेष्ठ कहते है ।

(भावार्थ) जैसे सब शब्दों में मेघका गर्जन प्रधान है और सब ताराओं में चन्द्रमा प्रधान हैं तथा सब गन्धवालों मे जैसे चन्दन प्रधान है इसी तरह सब मुनिओं में कामना रहित भगवान् महावीर स्वामी प्रधान हैं ।

(टीका) यथा शब्दानां मध्ये 'स्तनितं' मेघगर्जितं तद् 'अनुत्तरं' प्रधानं, तुशब्दो विशेषणार्थः समुच्चयार्थो वा, 'तारकाणां च' नक्षत्राणां मध्ये यथा चन्द्रो महानुभावः सकलजननिर्वृत्तिकारिण्या कान्त्या मनोरमः श्रेष्ठः, ' गन्धेषु ' इति गुणगुणिनोरभेदान्मतुब्लोपाद्वा गन्धवत्सु मध्ये यथा 'चन्दनं' गोशीर्षकाख्यं मलयजं वा तज्ज्ञाः श्रेष्ठमाहुः, एवं 'मुनीनां' महर्षीणां मध्ये भगवन्तं नास्य प्रतिज्ञा इहलोकपरलोकाशंसिनी विद्यते इत्यप्रतिज्ञस्तमेवम्भूतं श्रेष्ठमाहुरिति ॥१९॥ अपिच–

(टीकार्थ) सब शब्दों में जैसे मेघ गर्जन प्रधान है (तु शब्द विशेषणार्थक या समुच्चयार्थक है) तथा नक्षत्रों के मध्यमे जैसे सबको आनन्द देनेवाले कान्ति के द्वारा महानुभाव चन्द्रमा प्रधान हैं तथा गन्ध (गुण गुणीके अभेद से) अर्थात् गन्धवाले पदार्थों में जैसे गोशीर्ष अथवा मलय चन्दन श्रेष्ठ है इसीतरह मुनियों के मध्यमें इस लोक तथा परलोक के सुख की कामना नहीं करनेवाले भगवान् महावीर स्वामी को श्रेष्ठ कहते हैं । १९

(मूल) जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे, नागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठे।
खोओदए वा रस वेजयंते, तवोवहाणे मुणिवेजयंते ॥२०॥

(छाया) यथा स्वयम्भू रुदधीनां श्रेष्ठः, नगेषु वा धरणेन्द्रं श्रेष्टमाहु ।
इक्षुरसोदको वा रसवैजयन्तः, तपउपधाने मुनि वैजयन्तः ॥

(अन्वयार्थ) (जहा) जैसे (उदहीणं) समुद्रोंमें (सयंभूसेट्ठे) स्वयम्भूरमण समुद्र श्रेष्ट है (नागेसु) तथा नागोंमे धरणिंद सेट्ठे आहु) धरणेन्द्रको जैसे श्रेष्ठ कहते है, (खोओदए वा रसवेजयंते) एव इक्षुरसोदक समुद्र जैसे सब रसवालोंमें प्रधान है (तवोवहाणे मुणिवेजयंते) इसी तरह तपके द्वारा मुनिश्री भयवान् महावीरस्वामी सबसे प्रधान हैं ।

(भावार्थ) जैसे सब समुद्रों में स्वयम्भूरमण समुद्र प्रधान है तथा जैसे नागोंमें धरणेन्द्र सर्वोत्तम हैं एवं जैसे सब रसवालों में इक्षुरसोदक समुद्र श्रेष्ठ है इसी तरह सब तपस्वियों में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी श्रेप्ठ हैं ।

(टीका) स्वयं भवन्तीति स्वयम्भुवो–देवाः ते तत्रागत्य रमन्तीति स्वयम्भूरमणः तदेवम् 'उदधीनां' समुद्राणां मध्ये यथा स्वयम्भूरमणः समुद्रः समस्तद्वीपसागरपर्यन्तवर्ती 'श्रेष्ठः' प्रधानः 'नागेषु च' भवनपतिविशेषेषु 'धरणेन्द्रं' धरणं यथा श्रेष्ठमाहुः, तथा 'खोओदए' इति इक्षुरस इवोदकं यस्य स इक्षुरसोदकः स यथा रसमाश्रित्य 'वैजयन्तः' प्रधानः स्वगुणैपरसमुद्राणां पताकेवोपरि व्यवस्थितः एवं 'तपउपधानेन' विशिष्टतपोविशेषेण मनुते जगतस्त्रिकालावस्थामिति 'मुनिः' भगवान् 'वैजयन्तः' प्रधानः, समस्तलोकस्य महातपसा वैजयन्तीवोपरि व्यवस्थित इति ॥ २० ॥

(टीकार्थ) जो अपने आप उत्पन्न होते हैं वे स्वयम्भू कहलाते है । देवताओं को स्वयम्भू कहते हैं । वे देवता वहाँ आकर क्रीडा करते हैं इसलिये उसे स्वयम्भूरमण कहते हैं । समस्त द्वीप और समुद्रों के अन्तमें वर्तमान वह स्वयम्भूरमण समुद्र जैसे सब समुद्रों में श्रेष्ठ है तथा नागों में अर्थात् भवनपतिविशेषों मे जैसे धरणेन्द्र को श्रेष्ठ कहते हैं एवं ईखका रसके समान जिसका जल मधुर है वह इक्षुरसोदक समुद्र जैसे समस्त रसवालों में प्रधान है क्योंकि वह अपने माधुर्य्यगुणो से सब समुद्रों की पताका के समान स्थित है इसीतरह जगत् के तीनो कालकी अवस्थाको जाननेवाले भगवान् महावीर स्वामी विशिष्ट तपस्या के द्वारा समस्त लोकको पताका के समान सबके ऊपर स्थित हैं । २०

(मूल) हत्थीसु एरावणमाहु णाए सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा।
पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवो, निव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ॥२१॥

(छाया) हस्तिष्वैरावणमाहुर्ज्ञातं, सिंहो मृगाणां सलिलानां गङ्गा ।
पक्षिषु वा गरुडो वेणुदेवो, निर्वाणवादिनामिह ज्ञातपुत्रः ॥

(अन्वयार्थ) हत्थिसु) हाथिओंमें (णाए) जगत्प्रसिद्ध (एरावणमाहु) ऐरावण हाथीको प्रधान कहते हैं (मिगाणं सीहो) तथा मृगोंमें सिंह प्रधान है (सलिलाण गङ्गा) एव जलोंमें गङ्गा प्रधान है (पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवो) पक्षियोंमें वेणुदेव गरुड़ प्रधान हैं (निव्वाणवादीणिहणायपुत्ते) और मोक्षवादिओंमें ज्ञातपुत्र भगवान् महावीरस्वामी प्रधान हैं ।

(भावार्थ) हाथियों में ऐरावण, मृगोंमें सिंह, नदिओं में गङ्गा, और पक्षियों में जैसे वेणुदेव गरुड़ श्रेष्ठ हैं इसी तरह मोक्षवादियों में भगवान् महावीर स्वामी श्रेष्ठ हैं ।

(टीका) 'हस्तिसु' करिवरेषु मध्ये यथा 'ऐरावणं' शक्रवाहनं 'ज्ञातं'

प्रसिद्धं दृष्टान्तभूतं वा प्रधानमाहुस्तज्ज्ञाः 'मृगाणां' च श्वापदानां मध्ये यथा 'सिंहः' केशरी प्रधानः तथा भरतक्षेत्रापेक्षया 'सलिलानां' मध्ये यथा गङ्गासलिलं प्रधानभावमनुभवति, 'पक्षिषु' मध्ये यथा गरुत्मान् वेणुदेवापरनामा प्राधान्येन व्यवस्थित एवं निर्वाणं-सिद्धिक्षेत्राख्यं कर्मच्युतिलक्षणं वा स्वरूपतस्तदुपायप्राप्तिहेतुतो वा वदितुं शीलं येषां ते तथा तेषां मध्ये ज्ञाताः-क्षत्रियास्तेषां पुत्रः-अपत्यं ज्ञातपुत्रः-श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामी स प्रधान इति, यथावस्थितनिर्वाणार्थवादित्वादित्यर्थः ॥ २१ ॥

(टीकार्थ) प्रधान वस्तुओं को जाननेवाले बुद्धिमान पुरुष हाथियों में जगत् प्रसिद्ध या दृष्टान्त स्वरूप इन्द्रके वाहन ऐरावण नामक हाथीको सबसे प्रधान कहते हैं। तथा पशुओंके मध्यमें जैसे केशरी सिंह प्रधान है तथा भारत क्षेत्रकी अपेक्षा से जैसे सब जलोंमें गङ्गाजल प्रधान है एवं पक्षियोंमें जैसे वेणुदेव नामक गरुड़ प्रधान हैं इसी तरह, निर्वाण वादियों में भगवान् महावीर स्वामी श्रेष्ठ हैं। निर्वाण, सिद्धि क्षेत्रको कहते हैं अथवा कर्मक्षयका नाम निर्वाण है। उसके स्वरूप और उपाय के द्वारा उसकी प्राप्ति जो बताते हैं उन्हें निर्वाणवादी कहते हैं उन निर्वाणवादियों के मध्यमें ज्ञात नामक क्षत्रियों के पुत्र श्रीमन्महावीर वर्धमान स्वामी प्रधान हैं क्योंकि निर्वाण के यथार्थ स्वरूप को वे बताते हैं यह अर्थ है। २१

(मूल) जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु।
खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ॥ २२ ॥

(छाया) योधेषु ज्ञातो यथा विश्वसेनः, पुष्पेषु वा यथाऽरविन्दमाहुः।
क्षत्रियाणां श्रेष्ठो यथा दान्तवाक्यः, ऋषीणां श्रेष्ठस्तथा वर्धमानः।

(अन्वयार्थ) (जहा) जैसे (णाए) जगत्प्रसिद्ध (वीससेणे) विश्वसेन (जोहेसु सेट्ठे) योद्धाओंमें श्रेष्ठ है (जह) तथा जैसे (पुप्फेसु) फूलोंमें (अरविंदमाहु) अरविन्द (कमल) को श्रेष्ठ कहते हैं (जह) तथा जैसे (खत्तीण दंतवक्के सेट्ठे) क्षत्रियों में दान्तवाक्य श्रेष्ठ है (तह) इसीतरह (इसीण) ऋषियों में (वद्धमाणे सेट्ठे) वर्धमान स्वामी श्रेष्ठ हैं।

(भावार्थ) जैसे योद्धाओंमें विश्वसेन प्रधान हैं तथा फूलों में जैसे अरविन्द (कमल) प्रधान है एवं क्षत्रियों में जैसे दान्तवाक्य प्रधान हैं इसी तरह ऋषियों में वर्धमान स्वामी प्रधान हैं।

(टीका) योधेषु मध्ये 'ज्ञातो' विदितो दृष्टान्तभूतो वा विश्वा-हस्त्यश्वरथपदातिचतुरङ्गबलसमेता सेना यस्य स विश्वसेनः-चक्रवर्ती यथाऽसौ प्रधानः, पुष्पेषु च मध्ये यथा अरविन्दं प्रधानमाहुः, तथा क्षतात् त्रायन्त इति क्षत्रियाः तेषां मध्ये दान्ता-उपशान्ता यस्य वाक्येनैव शत्रवः स दान्तवाक्यः-चक्रवर्ती यथाऽसौ श्रेष्ठः। तदेवं बहून् दृष्टान्तान् प्रशस्तान् प्रदर्श्याधुना भगवन्तं दार्ष्टान्तिकं स्वनामग्राहमाह-तथा ऋषीणां मध्ये श्रीमान् वर्धमानस्वामी श्रेष्ठ इति ॥ २२ ॥ तथा—

(टीकार्थ) हाथी, घोडा, रथ और पैदल इन चार अङ्गोंवाले बलके सहित जिसकी सेना है वह जगत्प्रसिद्ध अथवा दृष्टान्तभूत चक्रवर्ती सब योद्धाओं में प्रधान हैं तथा फूलों में कमलको श्रेष्ठ कहते हैं एवं नाश से जो प्राणियों की रक्षा करता है उन क्षत्रियों के मध्य में जिसके वाक्यसे ही शत्रु शान्त होजाते थे ऐसे दान्तवाक्य चक्रवर्ती प्रधान है। (इस (प्रकार बहुत उत्तम दृष्टान्तों को बताकर अब दार्ष्टान्त स्वरूप भगवान् को नाम लेकर शास्त्रकार बतलाते हैं) इसी तरह ऋषियों में श्रीमान् वर्धमान स्वामी श्रेष्ठ हैं। २२

(मूल) दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं, सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति ।
तवेसु वा उत्तम बंभचेरं, लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ॥२३॥

(छाया) दानानां श्रेष्ठमभयप्रदानं, सत्येषु वाऽनवद्यं वदन्ति ।
तपस्सुवोत्तमं ब्रह्मचर्य्यं, लोकोत्तमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः ॥

(अन्वयार्थ) (दाणाणं) दानोंमे (अभयप्पयाणं सेट्ठं) अभयदान श्रेष्ठ है (सच्चेसु) और सत्यमें (अणवज्ज) जिसमें किसीको पीडा न हो ऐसा सत्य श्रेष्ठ है (तवेसु) तपमे (बंभचेरं उत्तमं) ब्रह्मचर्य्य उत्तम है (समणे नायपुत्ते लोगुत्तमे) और लोकमें उत्तम श्रमण ज्ञातपुत्र भगवान् महावीरस्वामी हैं ।

(भावार्थ) दानोंमें अभयदान श्रेष्ठ है सत्यमे वह सत्य श्रेष्ठ है जिससे किसीको पीडा न हो तथा तपमें ब्रह्मचर्य्य उत्तम है एवं लोकमें ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी उत्तम हैं।

(टीका) तथा स्वपरानुग्रहार्थमर्थिने दीयत इति दानमनेकधा, तेषां मध्ये जीवानां जीवितार्थिनां त्राणकारित्वादभयप्रदानं श्रेष्ठं तदुक्तम्-"दीयते म्रियमाणस्य, कोटिं जीवितमेव वा। धनकोटिं न गृह्णीयात्, सर्वो जीवितुमिच्छति ॥१॥" इति, गोपालाङ्गनादीनां दृष्टान्तद्वारेणार्थो बुद्धौ सुखेनारोहतीत्यतः अभयप्रदानप्राधा-

न्यख्यापनार्थं कथानकमिदं—वसन्तपुरे नगरे अरिदमनो नाम राजा, स च कदाचिच्चतुर्वधूसमेतो वातायनस्थः क्रीडायमानस्तिष्ठति, तेन कदाचिच्चौरो रक्तकणवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरिधानो रक्तचन्दनोपलिप्तश्च प्रहतवध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमानः सपत्नीकेन दृष्टः, दृष्ट्वा च ताभिः पृष्टं—किमनेनाकारीति ?, तासामेकेन राजपुरुषेणाऽऽवेदितं यथा—परद्रव्यापहारेण राजविरुद्धमिति, तत एकया राजा विज्ञप्तो यथा—यो भवता मम प्राग् वरः प्रतिपन्नः सोऽधुना दीयतां येनाहमस्योपकरोमि किञ्चित्, राज्ञाऽपि प्रतिपन्नं, ततस्तया स्नानादिपुरःसरमलङ्कारेणालङ्कृतो दीनारसहस्रव्ययेन पञ्चविधान् शब्दादीन् विषयानेकमहः प्रापितः, पुनर्द्वितीययाऽपि तथैव द्वितीयमहो दीनारशतसहस्रव्ययेन लालितः, ततस्तृतीयया तृतीयमहो दीनारकोटिव्ययेन सत्कारितः, चतुर्थ्या तु राजानुमत्या मरणाद्रक्षितः अभयप्रदानेन, ततोऽसावन्याभिर्हसिता नास्य त्वया किञ्चिद्दत्तमिति, तदेवं तासां परस्परवहूपकारविषये विवादे राज्ञाऽसावेव चौरः समाहूय पृष्टो यथा केन तव बहूपकृतमिति, तेनाप्यभाणि यथा—न मया मरणमहाभयभीतेन किञ्चित् स्नानादिकं सुखं व्यज्ञायीति, अभयप्रदानाकर्णनेन पुनर्जन्मानमिवात्मानमवैमीति, अतः सर्वदानानामभयप्रदानं श्रेष्ठमिति स्थितम् । तथा सत्येषु च वाक्येषु यद् 'अनवद्यम्' अपापं परपीडानुत्पादकं तत् श्रेष्ठं वदन्ति, न पुनः परपीडोत्पादकं सत्यं, सद्भ्यो हित सत्यमितिकृत्वा, तथा चोक्तम्—"लोकेऽपि श्रूयते वादो, यथा सत्येन कौशिकः । पतितो वधयुक्तेन, नरके तीव्रवेदने ॥ १ ॥" अन्यच्च—"तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा । वाहियं वावि रोगित्ति, तेणं चोरोत्ति नो वदे ॥ १ ॥" तपस्सु मध्ये यथैवोत्तमं नवविधब्रह्मगुप्त्युपेतं ब्रह्मचर्यं प्रधानं भवति तथा सर्वलोकोत्तमरूपसम्पदा—सर्वातिशायिन्या शक्त्या क्षायिकज्ञानदर्शनाभ्यां शीलेन च 'ज्ञातपुत्रो' भगवान् श्रमणः प्रधान इति ॥ २३ ॥ किञ्च—

(टीकार्थ) अपने तथा दूसरे के अनुग्रह के लिये जो याचक को दिया जाता है वह दान कहलाता है । वह अनेक प्रकारका होता है उन दानों में जीवनकी इच्छा रखनेवाले प्राणियों के रक्षाके कारण होने से अभयदान श्रेष्ठ है । कहा है-(दीयते) अर्थात् मरते हुए प्राणीको करोडों धन दियाजाय और दूसरी ओर जीवन दियाजाय तो वह करोडो धनको न लेकर जीवन कोही लेगा क्योंकि सभी प्राणी जीवना चाहते हैं। गँवार लोगोंकी बुद्धिमें दृष्टान्त देकर कही हुई वात झट चढजाती है इसलिये अभयदान की प्रधानताको वताने के लिये यह कथा कही जाती है—वसन्तपुर नगरमें अरिदमन नामके राजा रहते थे वह अपनी चार रानियों के साथ

झरोखे के पास क्रीडा कर रहे थे, उस समय उन्होंने एक चोर को देखा। उस चोरके गलेमें लाल कनेलकी माला पहिनाई गईथी और उसने लाल वस्त्र पहन रक्खाथा। तथा शरीर पर लाल चन्दन लपेटे था। उसके पीछे पीछे उसके वधकी सूचना देनेवाला ढिंढोरा पीटा जा रहा था। तथा उसे चाण्डाल लोग राजमार्ग से ले जा रहेथे। उस चोर को स्त्रियों के साथ राजाने देखा। रानियोंने उसे देखकर पूछा कि इसने क्या अपराध किया है? तब एक सिपाहीने रानियों से कहा कि इसने दूसरे के द्रव्यका हरण करके राजाकी आज्ञासे विरुद्ध कार्य्य किया है। यह सुनकर एक रानीने राजा से कहा कि आपने जो पहले मुझको वर देनेकी प्रतिज्ञा कीथी सो आज उ दीजिए जिससे मैं इस विचारे चोरका कुछ उपकार कर सकूं। राजाने वर देना स्वीकार किया इसके पश्चात् उस रानीने उस चोरको स्नान कराकर उत्तम अलङ्कारों से सुशोभित करके हजार मोहरों के व्यय से एक दिन शब्दादि पाँच विषयों का भोग दिया। इस के पश्चात् दूसरी रानीने भी दूसरे दिन एक लाख मोहर खर्च करके उसे सब प्रकारके भोग दिये। तीसरीने तीसरे दीन एक कोटी मोहर खर्च करके उसे सब प्रकारके आनन्द दिये। चौथी रानीने राजाकी अनुमति लेकर उसे अभयदान देकर मरण से बँचाया। तब तीन रानियाँ चौथी रानी की हँसी करने लगीं वे कहने लगीं कि यह बडी कृपण है इसने इस विचारेको कुछ नहीं दिया। चौथी कहने लगी कि मैंने तुम सबोंसे ज्यादा इसका उपकार किया है इस प्रकार उन रानियों में उस चोरका किसने ज्यादा उपकार किया है इस विषयमें विवाद होने लगा। इसमें राजाने उस चोरको ही बुलाकर पूछा कि—"तुम्हारा ज्यादा उपकार किसने किया है"? यह सुनकर चोरने कहा कि—मैं मरण भयसे बहुत भीत था इस लिये स्नान आदि सुखको मैं नहीं जान सका परन्तु जब मेरे कानमें यह अवाज आई कि मैंने मरण से रक्षा पायी है तो मेरे आनन्द की सीमा न रही अब मैं अपनको फिर से जन्मा हुआ मानता हूं। अतः सब दानोंमें अभयदान श्रेष्ठ है यह बात सिद्ध हुई। तथा सत्य वाक्योंमें जो वाक्य दूसरे को पीडा उत्पन्न नहीं करता है उसे श्रेष्ठ कहते हैं परन्तु जिससे दूसरे को पीडा होती है वह सत्य नहीं है क्योंकि जो सज्जनोंका हितकारी है उसे सत्य कहते हैं। कहाहै कि—(लोकेऽपि) अर्थात् जगत्में यह बात सुनी जाती है कि कौशिक मुनि वधयुक्त सत्य बोलकर तीव्र वेदनावाले नरक में पडे थे। तथा (तहेव) अर्थात् काण को काण, नपुंसकको नपुंसक, रोगी को रोगी और चोरको चोर नहीं कहना चाहिये। तथा तपमें नौ प्रकारकी गुप्ति युक्त ब्रह्मचर्य्य प्रधान है इसी तरह सब लोक से उत्तम रूप सम्पत्ति, तथा सबसे उत्कृष्ट शक्ति और क्षायिक ज्ञान दर्शन एवं शीलके द्वारा श्रमण भगवान् महावीर स्वामी प्रधान हैं। २३

(मूल) ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा, सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठा।
निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा, ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी ॥२४॥

(छया) स्थितीनां श्रेष्ठाः लवसप्तमा वा. सभा सुधर्मा व सभानां श्रेष्ठा।
निर्वाणश्रेष्ठा यथा सर्वे धर्माः, न ज्ञातपुत्रात् परोऽस्ति ज्ञानी ॥

(अन्वयार्थ) (ठिईण) जैसे स्थितिवालोंमें (लवसत्तमा सेट्ठा) पाँच अनुत्तर विमानवासी देवता श्रेष्ठ हैं तथा (सुहम्माव सभा) जैसे सुधर्मा सभा (सभाण सेट्ठा) सब सभाओंमें श्रेष्ठ है (जहा सव्वधम्मा निव्वाणसेट्ठा) तथा सब धर्मों में जैसे मोक्ष श्रेष्ठ है (ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी) इसी तरह ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी से कोई श्रेष्ठ ज्ञानी नहीं है।

(भावार्थ) जैसे सब स्थितिवालों में पाँचअनुत्तर विमानवासी देवता श्रेष्ठ हैं तथा जैसे सब सभाओंमें सुधर्मा सभा श्रेष्ठ है एवं सब धर्मोंमें जैसे निर्वाण (मोक्ष) श्रेष्ठ है इसी तरह सब ज्ञानियोंमें भगवान् महावीर स्वामी श्रेष्ठ है।

(टीका) स्थितिमतां मध्ये यथा 'लवसत्तमाः' पश्चानुत्तरविमानवासिनो देवाः सर्वोत्कृष्टस्थितिवर्तिनः प्रधानाः, यदि किल तेषां सप्त लवा आयुष्यकर्मभविष्यत्ततः सिद्धिगमनमभविष्यदित्यतो लवसत्तमास्तेऽभिधीयन्ते, 'सभानां च' पर्षदां च मध्ये यथा सौधर्माधिपपर्षच्छ्रेष्ठा बहुभिः क्रीडास्थानैरुपेतत्वात्तथा यथा सर्वेऽपि धर्मा 'निर्वाणश्रेष्ठाः' मोक्षप्रधाना भवन्ति, कुप्रावचनिका अपि निर्वाणफलमेव स्वदर्शनं ब्रुवते यतः. एवं 'ज्ञातपुत्रात्' वीरवर्धमानस्वामिनः सर्वज्ञात् सकाशात् 'परं' प्रधानं अन्यद्विज्ञानं नास्ति, सर्वथैव भगवानपरज्ञानिभ्योऽधिकज्ञानो भवतीति भावः ॥ २४ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) सब स्थितिवालों में जैसे लवसप्तम अर्थात् पाँच अनुत्तर विमानवासी देवता उत्कृष्ट स्थितिवाले प्रधान हैं। क्योंकि मनुष्य भवमें धर्माचरण करते करते सात लव उनकी आयु अधिक होती तो वे केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्षमें जाते इसीलिये वे लवसप्तम कहे जाते हैं। तथा सभाओंमें जैसे इन्द्रकी सभा सुधर्मा श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें अनेक क्रीडाके स्थान बने हैं तथा सब धर्मोंमें जैसे मोक्ष प्रधान है क्योंकि कुप्रावचनिक भी अपने दर्शनका फल मोक्ष ही बतलाते हैं। इसी तरह सर्वज्ञ श्री भगवान् महावीरस्वामी से बढकर दूसरा कोई ज्ञानी नहीं है अतः भगवान् सभी दूसरे ज्ञानियों से सर्वथा श्रेष्ठ हैं यह भाव है। २४

(मूल) पुढोवमे धुणइ विगयगेही, न सण्णिहिं कुव्वति आसपन्ने ।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं, अभयंकरे वीर अणंतचक्खू ॥ २५ ॥

(छाया) पृथ्व्युपमो धुनाति विगतगृद्धिः, न सन्निधिं करोत्याशुप्रज्ञः ।
तरीत्वा समुद्रमिव महा भवौघ मभयङ्करो वीरोऽनन्तचक्षुः ॥

(अन्वयार्थ) (पुढोवमे) भगवान् महावीर स्वामी पृथिवी के समान सब प्राणियों के आधार हैं (धुणइ) तथा वे आठ प्रकारके कर्ममलोंको दूर करनेवाले हैं । (विगयगेही) भगवान् बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओं में गृद्धि रहित हैं । (आसपन्ने) वह शीघ्र बुद्धिवाले हैं (न सण्णिहिं कुव्वति) वह धन धान्यादि तथा क्रोधादिका सम्पर्क नहीं करते हैं । (समुद्दंव) समुद्रके समान (महाभवोघं) महान् संसारको (तरिउं) पार करके भगवान् मोक्षको प्राप्त हैं । (अभयंकरे वीर अणंत चक्खू) भगवान् प्राणियों को अभय करनेवाले कर्मोंको क्षपण करनेवाले और अनन्तज्ञानी हैं ।

(भावार्थ) भगवान् पृथिवी की तरह समस्त प्राणियों के आधार हैं । वह आठ प्रकारके कर्मोंको दूर करनेवाले और गृद्धि रहित हैं । भगवान् तात्कालिक बुद्धिवाले और क्रोधादिके सम्पर्क से रहित हैं । भगवान् समुद्रकी तरह अनन्त संसार को पार करके मोक्षको प्राप्त हैं । भगवान् प्राणियोंको अभय करनेवाले तथा अष्टविध कर्मोंको क्षपण करनेवाले एवं अनन्त ज्ञानी हैं ।

(टीका) स हि भगवान् यथा पृथिवी सकलाधारा वर्तते तथा सर्वसत्त्वानामभयप्रदानतः सदुपदेशदानाद्वा सत्त्वाधार इति, यदिवा—यथा पृथ्वी सर्वं सहा एवं भगवान् परीषहोपसर्गान् सम्यक् सहत इति, तथा 'धुनाति' अपनयत्यष्टप्रकारं कर्मेति शेषः, तथा—'विगता' प्रलीना सबाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु 'गृद्धिः' गार्द्ध्यमभिलाषो यस्य स विगतगृद्धिः, तथा सन्निधानं सन्निधिः, स च द्रव्यसन्निधिः धनधान्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदरूपः भावसन्निधिस्तु माया क्रोधादयो वा सामान्येन कषायास्तदुभयरूपमपि संनिधिं न करोति भगवान्, तथा 'आशुप्रज्ञः' सर्वत्र सदोपयोगात् न छद्मस्थवन्मनसा पर्यालोच्य पदार्थपरिच्छित्तिं विधत्ते, स एवम्भूतः तरित्वा समुद्रमिवापारं 'महाभवौघं' चतुर्गतिकं संसारसागरं बहुव्यसनाकुलं सर्वोत्तमं निर्वाणमासादितवान्, पुनरपि तमेव विशिनष्टि—'अभयं' प्राणिनां प्राण रक्षारूपं स्वतः परतश्च सदुपदेशदानात् करोतीत्यभयंकरः, तथाऽष्टप्रकारं कर्म विशेषेणेरयति–प्रेरयतीति वीरः, तथा 'अनन्तम्' अपर्यवसानं नित्यं ज्ञेयानन्तत्वाद्वाऽनन्तं चक्षुरिव चक्षुः-केवलज्ञानं यस्य स तथेति ॥ २५ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) जैसे पृथिवी सब जीवोंका आधार है इसी तरह भगवान् महावीर स्वामी सबको अभय देने से और उत्तम उपदेश देने से सब जीवोंके आधार हैं। अथवा जैसे पृथिवी सब सहन करती है इसीतरह भगवान् सब परीषह और उपसर्गों को अच्छी तरह सहन करते हैं। भगवान् आठ प्रकारके कर्मोंको दूर करते हैं। भगवान् बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओं में गृद्धि (अभिलाष) रहित हैं सन्निधान यानी निकटताको सन्निधि कहते हैं। धन, धान्य और द्विपद चतुष्पदो के सम्पर्क को द्रव्यसन्निधि कहते है और माया क्रोध आदि अथवा सामान्य रूपसे सब कषायों के सम्पर्क को भावसन्निधि कहते हैं भगवान् इन दोनों प्रकारकी सन्निधि नहीं करते हैं। वह आशुप्रज्ञ है क्योंकि सर्वत्र सदा वह उपयोग रखते हैं। वह छद्मस्थों की तरह मनसे सोचकर पदार्थका निश्चय नहीं करते हैं। उस भगवान्ने बहुत दुःखों से परिपूर्ण चार गतिवाले संसार सागरको पार कर सबसे उत्तम मोक्ष पदको प्राप्त किया था। फिर उस भगवानका विशेषण बतलाते हैं—भगवान् प्राणियोंको रक्षारूप अभय स्वयं देते थे और सदुपदेश देकर दूसरे से अभय दिलाते थे इसलिये भगवान् अभयङ्कर हैं। तथा भगवान् आठ प्रकार के कर्मोंको विशेष रूपसे दूर करते हैं इसलिये वे वीर हैं। तथा जिसका अन्त नहीं है अर्थात् जो नित्य है अथवा ज्ञेय वस्तुके अनन्त होने से जो अनन्त है ऐसा केवलज्ञान जिसका नेत्रके समान है वह भगवान् महावीर स्वामी अनन्तचक्षु हैं। २५

(मूल) कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एआणि वंता अरहा महेसी, ण कुव्वई पाव ण कारवेइ ॥ २६ ॥

(छाया) क्रोधञ्च मानञ्च तथैव मायां, लोभञ्चतुर्थ ञ्चाध्यात्मदोषान्।
एतान् वान्त्वाऽरहन्महर्षिर्नकरोति पापं न कारयति।

(अन्वयार्थ) (अरहा महेसी) अरिहंत महर्षि श्रीमहावीरस्वामी (कोहं च माणं च तहेव मायं) क्रोध, मान और माया (चउत्थं लोभं) तथा चौथा लोभ (एयाणि अज्झथ दोसा वंता) इन अध्यात्म अपने अन्दरके दोषोंको त्याग कर (ण पाव कुव्वई ण कारवेइ) न पाप करते हैं और न कराते हैं।

(भावार्थ) भगवान् महावीर स्वामी महर्षि हैं वे क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंको जीतकर न स्वयं पाप करते हैं और न दूसरे से कराते हैं।

(टीका) निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवतीति न्यायात् संसारस्थि-

तेश्च क्रोधादयः कषायाः कारणमत एतान् अध्यात्मदोषांश्चतुरोऽपि क्रोधादीन् कषायान् 'वान्त्वा' परित्यज्य असौ भगवान् 'अर्हन्' तीर्थंकृत् जातः, तथा महर्षिः, एवं परमार्थतो महर्षित्वं भवति यद्यध्यात्मदोषा न भवन्ति, नान्यथेति, तथा न स्वतः 'पापं' सावद्यमनुष्ठानं करोति नाप्यन्यैः कारयतीति ॥२६॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) कारणके नाशसे कार्य्यका नाश होता है यह न्याय है इसलिये संसारकी स्थितिके कारण जो क्रोध आदि कषाय अध्यात्म दोष कहलाते हैं इन चारों कषायोंको त्याग कर भगवान् तीर्थङ्कर तथा महर्षि हुए थे वस्तुत. महर्षित्व तभी होता है जब ये अध्यात्मदोष यानी चार कषाय जीत लिये जाते हैं अन्यथा नहीं। तथा वह भगवान् स्वतः पाप यानी सावद्य अनुष्ठान नहीं करते हैं और दूसरेसे भी नहीं कराते हैं ॥ २६ ॥

(मूल) किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं, अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं।
से सव्ववायं इति वेयइत्ता, उवट्ठिए संजमदीहरायं ॥ २७ ॥

(छाया) क्रियाक्रिये वैनयिकानुवाद मज्ञानिकानां प्रतीत्य स्थानम्।
स सर्ववादमिति वेदयित्वा. उपस्थितः संयमदीर्घरात्रम् ॥

(अन्वयार्थ) (किरियाकिरियं) क्रियावादी अक्रियावादी (वेणइयाणुवायं) तथा विनयवादीके कथनको (अण्णाणियाणं ठाणं पडियच्च) तथा अज्ञानवादियोंके पक्षको जानकर (से इति सव्ववायं वेयइत्ता) इस प्रकार वे सब वादियोंके मन्तव्यको समझकर (संजमदीहरायं) जीवन भरकेलिये संयममें (उवट्ठिए) स्थित हुए।

(भावार्थ) क्रियावादी अक्रियावादी विनयवादी तथा अज्ञानवादी इन सभी मतवादियोंके मतोंको जानकर भगवान् यावज्जीवन संयममें स्थित रहे थे।

(टीका) तथा स भगवान् क्रियावादिनामक्रियावादिनां वैनयिकानामज्ञानिकानां च 'स्थानं' पक्षमभ्युपगतमित्यर्थः, यदिवा—स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानं—दुर्गतिगमनादिकं 'प्रतीत्य' परिच्छिद्य सम्यगवबुध्येत्यर्थः, एतेषां च स्वरूपमुत्तरत्र न्यक्षेण व्याख्यास्यामः, लेशतस्त्विदं–क्रियैव परलोकसाधनायालमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः, तेषां हि दीक्षात एव क्रियारूपाया मोक्ष इत्येवमभ्युपगमः, अक्रियवादिनस्तु ज्ञानवादिनः तेषां हि यथावस्थितवस्तुपरिज्ञानादेव मोक्षः, तथा चोक्तम्—"पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः। शिखी मुण्डी जटी वापि, सिद्ध्यते नात्र संशयः ॥ १ ॥" तथा विनयादेव मोक्ष इत्येवं गोशा-

लकमतानुसारिणो विनयेन चरन्तीति वैनयिका व्यवस्थिताः, तथाऽज्ञानमेवैहिकामुष्मिकायालमित्येवमज्ञानिका व्यवस्थिताः, इत्येवंरूपं तेपामभ्युपगमं परिच्छिद्य-स्वतः सम्यगवगम्य सम्यगवबोधेन, तथा स एव वीरवर्धमानस्वामी सर्वमन्यमपि बौद्धादिकं यं कञ्चन वादमपरान् सत्त्वान् यथावस्थिततत्त्वोपदेशेन 'वेदयित्वा' परिज्ञाप्योपस्थितः सम्यगुत्थानेन संयमे व्यवस्थितो न तु यथा अन्ये, तदुक्तम्— "यथा परेषां कथका विदग्धाः, शास्त्राणि कृत्वा लघुतामुपेताः। शिष्यैरनुज्ञामलिनोपचारैर्वक्तृत्वदोषास्त्वयि ते न सन्ति ॥ १ ॥" इति 'दीर्घरात्रम्' इति यावज्जीवं संयमोत्थानेनोत्थित इति ॥ २७ ॥ अपिच—

(टीकार्थ) भगवान् महावीर स्वामीने क्रियावादी अक्रियावादी विनयवादी और अज्ञानवादियोंके मतोंको जानकर अथवा ये सभी मतवादी दुर्गति में जाते हैं यहजानकर यावजीवन संयम पाल्न कियाथा। इन मतवादीयोंका स्वरूप आगे चलकर स्पष्टरूपसे वतलावेंगे तोभी कुछ यहाँ वताते हैं–क्रिया ही परलोककी सिद्धिकेलिये पर्याप्त है ऐसा जो कहते हैं उनको क्रियावादी कहते हैं। इन क्रियावादियोंका सिद्धान्त है कि–क्रियारूप दीक्षासे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। अक्रियावादी ज्ञानवादी हैं, इनके मतमें वस्तुका यथार्थ स्वरूप जाननेसेही मोक्ष हो जाता है। जैसेकि इनकी उक्ति है–(पञ्चविंशति) अर्थात् पचीस तत्त्वोंको जाननेवाला पुरुष चाहे किसीभी आश्रममेंरहे तथा वह जटीहो, मुण्डी हो या शिखाधारी हो मुक्तिको प्राप्त करता है इसमें संशय नहीं है। तथा गोशालक मतवाले विनयसेही मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं, वे विनयसे विचरते हैं इसलिये वे वैनयिक कहे जाते हैं। तथा अज्ञान से ही इस लोक और परलोककी सिद्धि होती है यह अज्ञानवादियोंकी मान्यता है। इस प्रकार उक्त सभीमतवादियोंके मतोंको अच्छीतरह समझकर तथा दूसरे बौद्ध आदि मतोंको भी जानकर भगवान् महावीर स्वामी प्राणियोंको वस्तुके यथार्थ स्वरूपका उपदेश देतेहुए संयममें स्थित रहे, वे दूसरे मतवादियोंकी तरह नहींथे, सो कहाहै—(वीतराग प्रभुकी स्तुति करते हुए जैनाचाऽर्य कहते हैं कि) हे प्रभो ! दूसरे धर्मवाले आचाऽर्योंमें जो वक्तृत्व दोप अर्थात् बोल्नेके दोष हैं वे आपमें नहीं हैं क्योंकि दूसरे भाग उपदेश देनेमें बडेकुशल हैं अतएव उन्होंने शास्त्र रचकरभी लघुताको प्राप्तकिया है, कारण यह है कि उनके शिष्य तथा वे, जो दूसरे पुरुषोंको उपदेश करते हैं उसके अनुसार स्वयं आचरण नहीं करते हैं परन्तु आपने यावज्जीवन केलिये संयम धारण कियाथा २७।

(मूल) से वारिया इत्थी सराइभत्तं, उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए।
लोगं विदित्ता आरं परं च, सव्वं पभू वारिय सव्ववारं ॥ २८ ॥

(छाया) स वारयित्वा स्त्रियां सरात्रिभक्ता मुपधा नवान् दुःखक्षयार्थम् ।
लोक विदित्वाऽऽरं परञ्च सर्वं प्रभु र्वारितवान् सर्ववारम् ॥

(अन्वयार्थ) (से पभू) वह प्रभू महावीर स्वामी (सराइभत्तं इत्थी वारिया) रात्रि भोजन और स्त्रीको वर्जित करके (दुक्खखयट्ठयाए उवहाणवं) दुःख के क्षयके लिये तपस्यामें प्रवृत्त थे । (आरं परं च लोगं विदित्ता) इस लोक तथा परलोक को जानकर (सव्ववारं सव्वं वारिय) भगवान्ने सब प्रकारके पापोंको छोड दिया था ।

(भावार्थ) भगवान् महावीरस्वामीने अपने अष्टविध कर्मोंको क्षपण करने के लिये स्त्री भोग और रात्रि भोजन छोड़ दियाथा । तथा सदा तपमें प्रवृत्त रहते हुए इस लोक तथा परलोक के स्वरूपको जानकर सब प्रकारके पापोंको सर्वथा त्याग दियाथा ।

(टीका) स भगवान् वारयित्वा-प्रतिषिध्य किं तदित्याह—'स्त्रियम्' इति स्त्रीपरिभोगं मैथुनमित्यर्थः, सह रात्रिभक्तेन वर्तत इति सरात्रिभक्तं, उपलक्षणार्थत्वादस्यान्यदपि प्राणातिपातनिषेधादिकं द्रष्टव्यं, तथा उपधानं—तपस्तद्विद्यते यस्यासौ उपधानवान्-तपोनिष्टप्तदेहः, किमर्थमिति दर्शयति-दुःखयतीति दुःखम्-अष्टप्रकारं कर्म तस्य क्षयः—अपगमस्तदर्थं. किञ्च—लोकं विदित्वा 'आरम्' इहलोकाख्यं 'परं' परलोकाख्यं यदि वा—आरं—मनुष्यलोकं पारमिति-नारकादिकं स्वरूपतस्तत्प्राप्तिहेतुतश्च विदित्वा सर्वमेतत् 'प्रभु' भगवान् 'सर्ववारं' बहुशो निवारितवान्, एतदुक्तं भवति-प्राणातिपातनिषेधादिकं स्वतोऽनुष्ठाय परांश्च स्थापितवान्, न हि स्वतोऽस्थितः परांश्च स्थापयितुमलमित्यर्थः. तदुक्तम्—"ब्रुवाणोऽपि न्याय्यं स्ववचनविरुद्धं व्यवहरन्, परान्नालं कश्चिद्दमयितुमदान्तः स्वयमिति। भवान्निश्चित्यैवं मनसि जगदाधाय सकलं, स्वमात्मानं तावद्दमयितुमदान्तं व्यवसितः ॥ १ ॥" इति, तथा—"तित्थयरो [1]चउनाणी सुरमहिओ सिज्झियव्वयधुवंमि । अणिगूहियबलविरओ सव्वत्थामेसु उज्जमइ ॥ १ ॥ इत्यादि" ॥ २८ ॥ साम्प्रतं सुधर्मस्वामी तीर्थकरगुणानाख्याय स्वशिष्यानाह—

(टीकार्थ) भगवान् महावीर स्वामीने स्त्रीभोग तथा रात्रि भोजन त्याग दियाथा । यह उपलक्षण मात्र है इसलिये भगवान्ने दूसरे पापोंको अर्थात् प्राणातिपात आदिको भी छोडा था भगवान् ने तपसे अपने शरीर को तपा दिया था । ऐसा उन्होंने क्यों किया था ? सो

---

१ तीर्थङ्करश्चतुर्ज्ञानी सुरमहितः सेधयितव्ये ध्रुवे, अनिगूहितबलवीर्यः सर्वस्थाम्नोद्यच्छति ॥१॥

शास्त्रकार दिखलाते हैं-जो प्राणियोंको दुःख देता है उसे दुःख कहते हैं, वह आठ प्रकारका कर्म है उस कर्मको क्षय करनेके लिये भगवान्‌ने यह किया था। तथा भगवान्‌ने इस लोक और परलोकको जानकर अथवा मनुष्यलोक तथा नरक आदिके स्वरूपको और उनकी प्राप्तिके कारण को जानकर उक्त सभी पापोंको सर्वथा छोड़ दिया था आशय यह है कि भगवान्‌ने स्वयं प्राणातिपात आदि पापोंको त्यागकर दूसरोंकोभी इस धर्ममें स्थापित किया था। जो पुरुष स्वयं धर्ममें स्थित नहीं है वह वह दूसरेको धर्ममें स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकता है यही बात इस पद्यमें कही है-(ब्रुवाणो) अर्थात् जो मनुष्य कहता तो न्यायसङ्गत है परन्तु अपने कथनसे विपरीत आचरण करता है वह स्वयं अजितेन्द्रिय होकर दूसरेको जितेन्द्रिय नहीं बना सकता है इसलिये हे भगवन्! आप इस बातको जानकर तथा समस्त जगत्‌के स्वरूपको निश्चित करके पहले अपने आत्माको ही दमन करनेके लिये प्रवृत्त हुएथे। तथा चार ज्ञानके धनी देवताओंके पूजनीय श्रीतीर्थङ्कर भगवान् मोक्षकी प्राप्तिके लिये अपने बल वीर्य्यका पूर्ण उपयोग करते हुए समस्त बलके साथ प्रयत्न करते थे। २९

(मूल) सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं, समाहितं अट्ठपदोवसुद्धं।
तं सद्दहाणा य जणा अणाऊ,इंदा व देवाहिव आगमिस्संति तिबेमि॥

(छाया) श्रुत्वा च धर्ममर्हद्भाषितं, समाहितमर्थपदोपशुद्धम्।
तं श्रद्दधानाश्च जना अनायुष इन्द्र इव देवाधिपा आगमिष्यन्तीति ब्रवीमि॥

(अन्वयार्थ) (अरहंतभासियं) श्रीअरिहंतदेवकेद्वारा भाषित (समाहितं) युक्तियुक्त (अट्ठपदोवसुद्धं) अर्थ और पदोंसे शुद्ध (धम्म सोच्चा) धर्मको सुनकर (तं सद्दहाणा) उसमें श्रद्धा रखनेवाले (जणा अणाऊ) जीव मोक्षको प्राप्त करते हैं (इंदाव देवाहिव आगमिस्संति) अथवा वे इन्द्रकी तरह देवताओंके स्वामी होते हैं।

(भावार्थ) अरिहन्त देवके द्वारा कहे हुए युक्तिसङ्गत तथा शुद्ध अर्थ और पदवाले इस धर्मको सुनकर जो जीव इसमें श्रद्धा करते हैं वे मोक्षको प्राप्त करते हैं अथवा इन्द्रकी तरह देवताओंके अधिपति होते हैं।

(टीका) 'सोच्चा य' इत्यादि. श्रुत्वा च दुर्गतिधारणाद्धर्मं-श्रुतचारित्राख्यमर्हद्भिर्भाषितं—सम्यगाख्यातमर्थपदानि—युक्तयो हेतवो वा तैरुपशुद्धम्-अवदातं सद्युक्तिकं सद्धेतुकं वा यदि वा अर्थैः-अभिधेयैः पदैश्च-वाचकैः शब्दैः उप-सामीप्येन शुद्धं—निर्दोषं, तमेवम्भूतमर्हद्भिर्भाषितं धर्मं श्रद्दधानाः, तथाऽनुतिष्ठन्तो 'जना' लोका 'अनायुषः' अपगतायुःकर्माणः सन्तः सिद्धाः, सायुषश्चेन्द्राद्या

देवाधिपा आगमिष्यन्तीति । इतिशब्दः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ २९ ॥
इति वीरस्तवाख्यं षष्ठमध्ययनं परिसमाप्तमिति ॥

(टीकार्थ) श्रीसुधर्मास्वामी तीर्थङ्करके गुणोंको बताकर अब अपने शिष्योंसे कहते हैं कि दुर्गतिमें पडनेसे बँचानेके कारण जो धर्म कहा जाता है वह श्रुत और चारित्र रूप धर्म तीर्थङ्करके द्वारा कहा हुआ है तथा वह युक्ति और हेतुसे शुद्ध है अर्थात् वह उत्तम युक्ति और उत्तम हेतुसे सङ्गत है अथवा वह अर्थ यानी अभिधेय तथा पद यानी वाचक शब्दोंसे दोष रहित है । ऐसे जिनभाषित धर्ममें जो जीव श्रद्धा रखते हैं तथा आचरण करते हैं वे आयुः कर्मसे रहित हों तो सिद्धि को प्राप्त करते हैं और आयुके सहित हों, तो इन्द्र आदि देवाधिपति होते हैं । इति शब्द समाप्तिका द्योतक है ब्रवीमि, पूर्ववत् है ।

यह वीरस्तव नामक छट्ठा अध्ययन समाप्त हुआ ।

॥ अथ सप्तममध्ययनं प्रारभ्यते ॥

उक्तं षष्ठमध्ययनं, साम्प्रतं सप्तममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तराध्ययने महावीरस्य गुणोत्कीर्त्तनतः सुशीलपरिभाषा कृता, तदनन्तरं तद्विपर्यस्ताः कुशीलाः परिभाष्यन्ते, तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्णनीयानि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा—कुशीलाः—परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयो वा स्वयूथ्या अशीलाश्च गृहस्थाः परि-समन्तात् भाष्यन्ते—प्रतिपाद्यन्ते तदनुष्ठानतस्तद्विपाकदुर्गतिगमनतश्च निरूप्यन्त इति तथा तद्विपर्ययेण क्वचित्सुशीलाश्चेति, निक्षेपस्त्रिधा-ओघनामसूत्रालापकभेदात्, तत्रौघनिष्पन्ननिक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने कुशीलपरिभाषेति, एतदधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह—

छट्ठा अध्यन कहा जा चुका अब सातवाँ आरम्भ किया जाता है, इसका सम्बन्ध यह है—इसके पूर्व अध्ययनमें भगवान् महावीर स्वमीके गुणोको बताकर सुशील पुरुषकी परिभाषा बताई गई है । इसके पश्चात् सुशीलसे विपरीत कुशील पुरुषकी परिभाषा इस अध्ययनके द्वारा बताई जाती है । इस सम्बन्धसे आये हुए इस अध्ययनके चार अनुयोगद्वारोंका वर्णन करना चाहिये । उसमें उपक्रममें अर्थाधिकार यह है, परतीर्थी कुशील हैं तथा स्वयूथिक पार्श्वस्थ आदिभी कुशील हैं एवं शीलरहित गृहस्थभी कुशील हैं इन लोगोंके अनुष्ठान और फल तथा उनके दुर्गतिगमनका वर्णन इस अध्ययनमें पूर्णरूपेण किया है, एवं इनसे विपरीत सुशील पुरुषकाभी कहीं कहीं वर्णन किया है । निक्षेप तीन प्रकारका है—ओघ, नाम

और सूत्रालापक। इनमें ओघ निक्षेपमें यह समस्त अध्ययन है और नाम निष्पन्नमें इस अध्ययनका कुशीलपरिभाषा नाम है, इस विषयमें निर्युक्तिकार कहते हैं—

सीले चउक्क दव्वे पाउरणाभरणभोयणादीसु।
भावे उ ओहसीलं अभिक्खमासेवणा चेव ॥ ८६ ॥

(टीका) 'शीले' शीलविषये निक्षेपे क्रियमाणे 'चतुष्क' मिति नामादिश्चतुर्धा निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य 'द्रव्यम्' इति द्रव्यशीलं प्रावरणाभरणभोजनादिषु द्रष्टव्यं, अस्यायमर्थः—यो हि फलनिरपेक्षस्तत्स्वभावादेव क्रियासु प्रवर्तते स तच्छीलः, तत्रेह प्रावरणशील इति प्रावरणप्रयोजनाभावेऽपि ताच्छील्यान्नित्यं प्रावरणस्वभावः प्रावरणे वा दत्तावधानः, एवमाभरणभोजनादिष्वपि द्रष्टव्यमिति, यो वा यस्य द्रव्यस्य चेतनाचेतनादेः स्वभावस्तद् द्रव्यशीलमित्युच्यते, भावशीलं तु द्विधा—ओघशीलमाभीक्ष्ण्यसेवनाशीलं चेति ॥ तत्रौघशीलं व्याचिख्यासुराह—

(टीकार्थ) शीलके विषयमें नाम आदि चार निक्षेप हैं। इनमें नाम और स्थापनाको सुगम होनेके कारण छोड़कर द्रव्यशील बतलाते हैं—वस्त्र और भोजन आदिके विषयमें द्रव्य शीलका उदाहरण समझना चाहिये। इसका आशय यह है—जो मनुष्य फलकी अपेक्षा न करके स्वभावसे ही क्रियामें प्रवृत्त होता है वह तच्छील कहलाता है। जिस वस्त्रके धारण करनेकी आवश्यकता जिस समय नहीं है उस वस्त्रकोभी जो स्वभावसे सदा धारण किया रहता है अथवा उस वस्त्रमें सदा चित्त दिया रहता है वह पुरुष प्रावरणशील कहलाता है। इसी तरह भूषण और भोजनके विषयमेंभी समझना चाहिये। अथवा चेतन और अचेतन जिस द्रव्यका जो स्वभाव है उसे द्रव्यशील कहते हैं। भावशील दो प्रकारका है—ओघशील और आभीक्ष्ण्यसेवनाशील। इनमें ओघशीलकी व्याख्या करनेके लिये निर्युक्तिकार कहते हैं—

ओहे सीलं विरती विरयाविरई य अविरती असीलं।
धम्मे णाणतवादी अपसत्थ अहम्मकोवादी ॥ ८७ ॥

(टीका) तत्रौघः—सामान्यं सामान्येन सावद्ययोगविरतो विरताविरतो वा शीलवान् भण्यते, तद्विपर्यस्तोऽशीलवानिति, आभीक्ष्ण्यसेवायां तु अनवरतसेवनायां तु शीलमिदं, तद्यथा— 'धर्मे' धर्मविषये प्रशस्तं शीलं यदुतानवरतापूर्वज्ञानार्जनं विशिष्टतपःकरणं वा, आदिग्रहणादनवरताभिग्रहग्रहणादिकं परिगृह्यते, अप्रशस्तभावशीलं त्वधर्मप्रवृत्तिर्बाह्या आन्तरा तु क्रोधादिषु प्रवृत्तिः, आदिग्रहणात् शेषकषायाश्चौर्या-

स्याख्यानकलहादयः परिगृह्यन्त इति ॥ साम्प्रतं कुशीलपरिभाषाख्यस्याध्ययनस्यान्वर्थतां दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) सामान्यको शील कहते हैं, जो पुरुष सामान्यतः सावद्य योगोंसे निवृत्त है अथवा जो विरताविरत है उसे शीलवान् कहते हैं, जो इससे विपरीत है वह अशीलवान् है। आसेवन्य सेवा अर्थात् निरन्तर सेवा करनेसे शील वह है—धर्मके विषयमें प्रशस्त शील यह है कि निरन्तर अपूर्वज्ञानका उपार्जन करते रहना अथवा विशिष्ट तप करना। आदि शब्दसे निरन्तर अभिग्रह ग्रहण करना समझना चाहिये। अप्रशस्त भावशील, अधर्ममें प्रवृत्ति है, वह बाह्य है। आन्तर अप्रशस्त भावशील क्रोधादिमें प्रवृत्ति है। आदि शब्दसे शेष कषाय, चोरी परनिन्दा और कलह आदिका ग्रहण है। अब, कुशील परिभाषाध्ययन अर्थानुगत है यह दिखानेके लिये निर्युक्तिकार कहते हैं....

परिभासिया कुसीला य एत्थ जावंति अविरता केई।
सुत्ति पसंसा सुद्धो कुत्ति दुगुंछा अपरिसुद्धो ॥ ८८ ॥

(टीका) परि-समन्तात् भाषिताः—प्रतिपादिताः 'कुशीलाः' कुत्सितशीलाः परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयश्च चशब्दात् यावन्तः केचनाविरता अस्मिन्निल्यत इदमध्ययनं कुशीलपरिभाषेत्युच्यते, किमिति कुशीला अशुद्धा गृह्यन्ते इत्याह—सुरित्ययं निपातः प्रशंसायां शुद्धविषये वर्तते, तद्यथा—सौराज्यमित्यादि, तथा कुरित्ययमपि निपातो जुगुप्सायामशुद्धविषये वर्तते, कुतीर्थं कुग्राम इत्यादि ॥ यदि कुत्सितशीलाः कुशीलाः, कथं तर्हि ? परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयश्च तथाविधा भवन्तीत्याह—

(टीकार्थ) बुरा शीलवाले परतीर्थी और पार्श्वस्थ आदि तथा च शब्दसे जितने अविरत हैं वे सभी इस अध्ययनमें बताये गये हैं इसलिये इस अध्ययनका नाम कुशीलपरिभाषाध्ययन है। कहते हैं कि—कुशील शब्द से अशुद्ध पुरुषोंका ग्रहण क्यों होता है ? (समाधान यह है कि) 'सु' यह निपात प्रशंसा अर्थमें शुद्ध विषयमें आता है जैसेकि सौराज्यम् इत्यादि। इसी तरह 'कु' यह निपात निन्दा अर्थमें अशुद्ध विषयमें आता है जैसे—कुतीर्थ, कुग्राम इत्यादि। कहते हैं कि यदि असत् शीलवाले कुशील हैं तो परतीर्थी और पार्श्वस्थ आदि कुशील किस प्रकार हैं ? इसका समाधान देनेके लिये निर्युक्तिकार कहते हैं—

अफासुयपडिसेविय णामं भुज्जो य सीलवादी य।
फासुं वयंति सीलं अफासुया मो अभुंजंता ॥ ८९ ॥

(टीका) अस्त्ययं शीलशब्दस्तत्स्वाभाव्ये, तथाहि—यः फलनिरपेक्षः क्रियास्वाभरणादिषु प्रवर्तते स चेह द्रव्यशीलत्वेन प्रदर्शितः, अस्त्युपशमप्रधाने चारित्रे, तथाहि—तत्प्रधानः शीलवानयं तपस्वीति, तद्विपर्ययेण दुःशील इति, स चेह भावशीलग्रहणेनोपात्त इति, इह च यतीनां ध्यानाध्ययनादिकं मुक्त्वा धर्माधारशरीरतत्पालनाहारव्यापारं च मुक्त्वा नापरः कश्चिद्व्यापारोऽस्तीत्यतस्तदाश्रयणेनैव सुशीलत्वं च चिन्त्यते, तत्र कुतीर्थिकः पार्श्वस्थादिर्वा अप्रासुकं—सचित्तं प्रतिसेवितुं शीलमस्य स भवत्यप्रासुकप्रतिसेवी नामशब्दः सम्भावनायां 'भूयः' पुनर्धार्ष्ट्याच्छीलवन्तमात्मानं वदितुं शीलं यस्य स शीलवादी, किमित्येवं ?—यतः 'प्रासुकम्' अचेतनं शीलं वदन्ति, इदमुक्तं भवति—यः प्रासुकमुद्गमादिदोषरहितमाहारं भुङ्क्ते तं शीलवन्तं वदन्ति तज्ज्ञाः, तथाहि—यतयो प्रासुकमुद्गमादिदोषदुष्ट मेवाहारमभुञ्जानाः शीलवन्तो भण्यन्ते, नेतर इति स्थितं, मोशब्दस्य निपातत्वेनावधारणार्थत्वादिति ॥ अप्रासुकभोजित्वेन कुशीलत्वं प्रतिपादयितुं दृष्टान्तमाह—

(टीकार्थ) वस्तुके स्वभाव अर्थमें शील शब्दका प्रयोग होता है। जो पुरुष फलकी अपेक्षा न करके आभरण आदि क्रियामें प्रवृत्त रहता है उसे यहां द्रव्यशील कहकर दिखाया है। उपशमप्रधान चारित्र अर्थमेंभी शील शब्दका प्रयोग होता है क्योंकि जो पुरुष उपशम प्रधान है उसके लिये कहते हैं कि "यह विचारा शीलवान् है"। तथा जो इससे विपरीत है उसे दु.शील कहते हैं। वह शील यहां भावरूप लिया गया है। इस लोकमें ध्यान अध्ययनको छोड़कर तथा धर्मके आधारस्वरूप अपने शरीरके पालनके लिये आहारके व्यापारको छोड़कर साधुओंका कोई व्यापार नहीं है इसलिये इन्हींका आश्रय लेकर सुशील और दुःशील का विचार किया जाता है। कुतीर्थी और पार्श्वस्थ आदि सचित्त वस्तुका सेवन करते हैं इसलिये वे 'अप्रासुकप्रतिसेवी' हैं। नाम शब्द सम्भावना अर्थमें आया है। फिरभी वे धृष्टता के साथ अपनेको शीलवान् कहते हैं। वे क्यों शीलवान् नहीं हैं ? इसलिये नहीं हैं कि विद्वान् पुरुष अचित्त सेवनको शील कहते है, आशय यह है कि जो प्रासुक और उद्गमादि दोषरहित आहार खाते हैं उन्हींको विद्वान् शीलवान् कहते हैं यही कारण है कि अप्रासुक और उद्गम आदि दोषसहित आहारको न खानेवाले साधु शीलवान् कहे जाते हैं दूसरे नहीं क्योंकि 'मो' शब्द निपात होनेसे अवधारणार्थक है। अप्रासुक आहार खाना कुशीलपना है यह बतानेके लिये निर्युक्तिकार दृष्टान्त देते हैं—

जह णाम गोयमा चंडीदेवगा वारिभद्दगा चेव।
जे अग्गिहोत्तवादी जलसोयं जे य इच्छंति ॥ ९० ॥

(टीका) यथेति दृष्टान्तोपक्षेपार्थं, नामशब्दो वाक्यालङ्कारे, 'गौतमा' इति गोव्रतिका गृहीतशिक्षं लघुकायं वृषभमुपादाय धान्याद्यर्थं प्रतिगृहमटन्ति, तथा 'चंडीदेवगा' इति चक्रधरप्रायाः एवं 'वारिभद्रका' अब्भक्षा शैवलाशिनो नित्यं स्नानपादादिधावनाभिरता वा तथा ये चान्ये 'अग्निहोत्रवादिनः' अग्निहोत्रादेव स्वर्गगमनमिच्छन्ति ये चान्ये जलशौचमिच्छन्ति भागवतादयस्ते सर्वेऽप्यप्रासुकाहारभोजित्वात् कुशीला इति, चशब्दात् ये च स्वयूथ्याः पार्श्वस्थादय उद्गमाद्यशुद्धमाहारं भुञ्जते तेऽपि कुशीला इति। गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्ने निक्षेपे अस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं तच्चेदं—

(टीकार्थ) यथा शब्द दृष्टान्त अर्थमें आया है नाम शब्द वाक्यालङ्कारमें है। जो लोग गोव्रतिक हैं अर्थात् जो शिक्षा पाये हुए छोटे बैलको लेकर अन्न आदिके लिये घर घर घूमते हैं, तथा चण्डीकी उपासना करनेवाले जो हाथमें चक्र धारण करते हैं, तथा वारिभद्रक, जो जलपीकर रहते हैं अथवा शैवाल खाकर रहते हैं और सदा स्नान और पैर धोना आदिमें रत रहते हैं, तथा अग्निहोत्रवादी, जो अग्निहोत्रसे ही स्वर्गकी प्राप्ति कहते हैं तथा दूसरे भागवत जो जलशौचकी इच्छा करते हैं वे सभी अप्रासुक आहार खानेके कारण कुशील हैं। च शब्दसे पार्श्वस्थ आदि स्वयूथिक उद्गम आदि दोषोंसे युक्त अशुद्ध आहार खाते हैं अतः वेभी कुशील हैं। नाम निक्षेप समाप्त हुआ अब सूत्रालापक निक्षेपमें अस्खलित आदि गुणोंके साथ सूत्रका उच्चारण करना चाहिये, वह सूत्र यह है—

(मू०) पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ, तण रुक्ख बीया य तसा य पाणा।
जे अंडया जे य जराउ पाणा, संसेयया जे रसयाभिहाणा ॥ १ ॥

(मूल) एयाइं कायाइं पवेदिताइं, एतेसु जाणे पडिलेह सायं।
एतेण काएण य आयदंडे, एतेसु या विप्परियासुविंति ॥२॥

(छाया) पृथिवी चापश्चाग्निश्च वायुः, तृणवृक्षबीजाश्च त्रसाश्च प्राणाः।
येऽण्डजा ये च जरायुजाः प्राणाः, संस्वेदजा ये रसजाभिधानाः ॥

(छाया) एते कायाः प्रवेदिता, एतेषु जानीहि प्रत्युपेक्षस्व सातम्।
एतैः कायैः स आत्मदण्डा एतेषु च विपर्यासमुपयान्ति ॥

(अन्वयार्थ) (पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ) पृथिवी, जल, अग्नि, और वायु (तण रुख बीया य तसा य पाणा) तृण, वृक्ष, बीज और त्रस प्राणी (जे अंडया) तथा जो अण्डज (जराउपाणा) जरायुज प्राणी हैं, (संसेदया जे रसयाभिहाणा) तथा जो स्वेदज और रस से उत्पन्न होने वाले प्राणी हैं (एयाइं कायाइं पवेदिताइं) इन सबों को सर्वज्ञने जीवका पिण्ड कहाहै (एतेसु सायं जाण) इन पृथिवी आदिमें सुखकी इच्छा जानो (पडिलेह) और उसे सूक्ष्म रीतिसे विचारो। (एतेण काएण य आयदंडे) जो उक्तप्राणियोंका नाश करके अपने आत्माको दण्ड देते हैं वे (एतेसु या विप्परियासमुविंति) इन्हीं प्राणियोंमें जन्म धारण करते हैं।

(भावार्थ) पृथिवी, जल, तेज, वायु, तृण वृक्ष, बीज और त्रस तथा अण्डज (पक्षी आदि) जरायुज (मनुष्य गाय आदि) स्वेदज और रसज (दही आदिसे उत्पन्न होनेवाले) इनको सर्वज्ञ पुरुषोंने जीवका शरीर कहा है इसलिये इनमें सुखकी इच्छा रहती है यह जानना चाहिये। जो जीव इन शरीरवाले प्राणियोंका नाश करके पाप सञ्चय करते हैं वे बार बार इन्हीं प्राणियोंमें जन्म धारण करते हैं।

(टीका) 'पृथिवी' पृथिवीकायिकाः सत्त्वाः चकारः स्वगतभेदसंसूचनार्थः, स चायं भेदः—पृथिवीकायिकाः सूक्ष्मा बादराश्च, ते च प्रत्येकं पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन द्विधा, एवमप्कायिका अपि तथाऽग्निकायिका वायुकायिकाश्च द्रष्टव्याः, वनस्पतिकायिकान् भेदेन दर्शयति—'तृणानि' कुशादीनि 'वृक्षाश्च' अश्वत्थादयो 'बीजानि' शाल्यादीनि एवं वल्लीगुल्मादयोऽपि वनस्पतिभेदा द्रष्टव्याः, त्रसन्तीति 'त्रसा' द्वीन्द्रियादयः 'प्राणा' प्राणिनः ये चाण्डाज्जाता अण्डजाः—शकुनिसरीसृपादयः 'ये च जरायुजा' जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते, ते च गोमहिष्यजाविकमनुष्यादयः, तथा संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजा यूकामत्कुणकृम्यादयः 'ये च रसजाऽभिधाना' दधिसौवीरकादिषु रूतपक्ष्मसन्निभा इति ॥ १ ॥ नानाभेदभिन्नं जीवसंघातं प्रदर्श्याधुना तदुपघाते दोषं प्रदर्शयितुमाह—'एते' पृथिव्यादयः 'काया' जीवनिकाया भगवद्भिः 'प्रवेदिताः' कथिताः, छान्दसत्वान्नपुंसकलिङ्गता, 'एतेषु' च पूर्वं प्रतिपादितेषु पृथिवीकायादिषु प्राणिषु 'सातं' सुखं जानीहि, एतदुक्तं भवति—सर्वेऽपि सत्त्वाः सातैषिणो दुःखद्विषश्चेति ज्ञात्वा 'प्रत्युपेक्षस्व' कुशाग्रीयया बुद्ध्या पर्यालोचयेति, यैरेभिः कायैः समारभ्यमाणैः पीड्यमानैरात्मा दण्ड्यते, एतत्समारम्भादात्मदण्डो भवतीत्यर्थः, अथवैभिरेव कायैर्ये 'आयतदण्डा' दीर्घदण्डाः, एतदुक्तं भवति—एतान् कायान् ये दीर्घकालं दण्डयन्ति—पीडयन्तीति, तेषां यद्भवति तद्दर्शयति—ते एतेष्वेव—पृथिव्यादिकायेषु विविधम्—अनेकप्रकारं परि—समन्ताद्

आशु-क्षिप्रमुप-सामीप्येन यान्ति-व्रजन्ति, तेष्वेव पृथिव्यादिकायेषु विविधमनेकप्रकारं भूयो भूयः समुत्पद्यन्त इत्यर्थः, यदिवा-विपर्यासो-व्यत्ययः, सुखार्थिभिः कायसमारम्भः क्रियते तत्समारम्भेण च दुःखमेवावाप्यते न सुखमिति, यदिवा कुतीर्थिका मोक्षार्थमेतैः कायैर्या क्रियां कुर्वन्ति तया संसार एव भवतीति ॥ २ ॥ यथा चासावायतदण्डो मोक्षार्थी तान् कायान् समारभ्य तद्विपर्ययात् संसारमाप्नोति तथा दर्शयति—

(टीकार्थ) पृथिवी अर्थात् पृथिवीकायके जीव; [illegible] भेदका सूचन करता है वह भेद यह है, पृथिवीकायके जीव सूक्ष्म और बादर दो प्रकारके हैं और वे प्रत्येक पर्याप्त तथा अपर्याप्त भेदसे दो प्रकारके हैं। इसी तरह अप्काय, अग्निकाय, और वायुकायके जीवोंकोभी जानना चाहिये। वनस्पतिकायके जीवोंके भेदके शास्त्रकार दिखलाते हैं—अग्र अर्थात् कुब्ज आदि और मूल अर्थात् [illegible] आदि बीज अर्थात् शालि आदि, इसी तरह [illegible] और शाखी आदिभी वनस्पतिके भेद जानने चाहिये। जो त्रस प्राणी हैं वे द्वीन्द्रिय आदि प्राणी, एवं अण्डासे उत्पन्न, पक्षी और सर्प आदि, तथा जरायुज यानी जो जरायुसे वेष्टित उत्पन्न होनेवाले गाय, भैंस, बकरी, भेड़ और मनुष्य आदि, एवं स्वेदसे उत्पन्न होनेवाले खटमल और कृमि आदि, तथा जो दही और काँजी आदिसे उत्पन्न सूक्ष्म पक्षवाले जीव होते हैं वे सब प्राणी हैं। १

अनेक भेदवाले जीवसमूहको दिखाकर अब शास्त्रकार उनके उपघातमें दोष दिखानेके लिये कहते हैं—इन पृथिवीकाय आदिको तीर्थङ्करोंने जीवसमूह कहा है (छान्दस होनेके कारण यहां नपुंसकलिङ्गता हुई है)। इन पूर्वोक्त पृथिवीकाय आदि जीवोंमें सुखकी इच्छा जाननी चाहिये। आशय यह है कि—ये सभी प्राणी सुखकी इच्छा करते हैं और दुःखसे द्वेष करते हैं यह जानकर सूक्ष्मबुद्धिसे विचार करो कि इन प्राणियोंको पीडा देनेसे अपना आत्मा दण्डका भागी बनता है अर्थात् इनके आरम्भ करनेसे आत्माको कष्ट भोगना पड़ता है। अथवा—इन प्राणियोंको जो चिर काल तक दण्ड देते हैं उनकी जो दशा होती है वह शास्त्रकार दिखलाते हैं—पूर्वोक्त पृथिवीकाय आदि जीवोंको पीडा देनेवाले जीव, इन पृथिवीकाय आदि योनियोंमेंही वारवार जन्म लेते हैं। अथवा प्राणिवर्ग सुखकी प्राप्तिके लिये जीवोंका आरम्भ करते हैं परन्तु उस आरम्भसे दुःखही प्राप्त होता है सुख नहीं मिलता। अथवा कुतीर्थी मोक्षके लिये इन प्राणियोंके द्वारा जो क्रिया करते हैं उससे उनको संसारकी ही प्राप्ति होती है। २

उक्त प्राणियोंको दण्ड देकर मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुष जीवोंको दण्ड देकर मोक्षसे विपरीत जिस प्रकार संसारकोही प्राप्त करते हैं सो शास्त्रकार दिखलाते हैं....

(मूल) जाईपहं अणुपरिवट्टमाणे, तसथावरेहिं विणिघायमेति ।
से जति जातिं बहुकूरकम्मे, जं कुव्वती मिज्जति तेण बाले ॥३॥

(छाया) जातिपथमनुपरिवर्तमानस्त्र-मस्थावरेषु विनिघातमेति ।
स जातिं जातिं वहुक्रूरकर्मा, यत् करोति म्रियते तेन बालः ॥

(अन्वयार्थ) (जाईपहं) एकेन्द्रिय आदि जातियोंमे (अणुपरिवट्टमाणे) जन्मता और मरता हुआ (से) वह जीव (तसथावरेहिं) त्रस और स्थावर जीवोंमे उत्पन्न होकर (विणिघातमेति) नाशको प्राप्त होता है । (जातिं जातिं वहुकूरकम्मे) वार वार जन्म लेकर वहुत क्रूर कर्म करने वाला वह (बाल) अज्ञानी जीव (जंकुव्वती) जो कर्म करता है (तेण मीयते) उसीसे मृत्युको प्राप्त होता है ।

(भावार्थ) एकेन्द्रिय आदि पूर्वोक्त प्राणियोंको दण्ड देनेवाला जीव वार वार उन्हीं एकेन्द्रिय आदि योनियोंमें जन्मता और मरता है। वह त्रस और स्थावरोंमें उत्पन्न होकर नाशको प्राप्त होता है। वह वार वार जन्म लेकर क्रूर कर्म करता हुआ जो कर्म करता है उसीसे मृत्युको प्राप्त होता है ।

(टीका) जातीनाम्-एकेन्द्रियादीनां पन्था जातिपथः, यदिवा-जातिः-उत्पत्तिर्वधो-मरणं जातिश्च वधश्च जातिवधं तद् 'अनुपरिवर्तमानः' एकेन्द्रियादिषु पर्यटन् जन्मजरामरणानि वा बहुशोऽनुभवन् 'त्रसेषु' तेजोवायुद्वीन्द्रियादिषु 'स्थावरेषु' च पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु समुत्पन्नः सन् कायदण्डविपाकजेन कर्मणा बहुशो 'विनिघातं' विनाशमेति-अवाप्नोति 'स' आयतदण्डोऽसुमान् 'जातिं जातिम्' उत्पत्तिमुत्पत्तिमवाप्य बहूनि क्रूराणि—दारुणान्यनुष्ठानानि यस्य स भवति बहुक्रूरकर्मा, स एवम्भूतो निर्विवेकः सदसद्विवेकशून्यत्वात् बाल इव बालो यस्यामेकेन्द्रियादिकायां जातौ यत्प्राण्युपमर्दकारि कर्म कुरुते स तेनैव कर्मणा 'मीयते' म्रियते पूर्यते यदिवा 'मीङ् हिंसायां' मीयते हिंस्यते अथवा-बहुक्रूरकर्मेति चौरोऽयं पारदारिक इति वा इत्येवं तेनैव कर्मणा मीयते—परिच्छिद्यत इति ॥ ३ ॥ क्व पुनरसौ तैः कर्मभिर्मीयते इति दर्शयति—

(टीकार्थ) एकेन्द्रिय आदि जातियोंके मार्गको 'जातिपथ' कहते हैं । अथवा उत्पत्तिको जाति कहते हैं और मरणको 'वध' कहते हैं, इन दोनोंके समूहको 'जातिवध' कहते हैं। उसमें परिभ्रमण करता हुआ जीव, अर्थात् एकेन्द्रिय आदि जातियोंमें भ्रमण करता हुआ अथवा वार वार जन्म और मरणको अनुभव करता हुआ वह जीव, तेज, वायु; और द्वीन्द्रिय

आदि त्रस प्राणियोंमें तथा पृथिवी जल और वनस्पति आदि स्थावर प्राणियोंमें उत्पन्न होकर जीवोंके दण्डरूप कर्मके विपाकसे बार बार नाशको प्राप्त होता है। प्राणियोंको अत्यन्त दण्ड देनेवाला तथा बार बार जन्म पाकर उनमें बहुत क्रूर कर्म करनेवाला वह जीव मद और असतके विवेकसे हीन होनेके कारण बालकके समान अज्ञानी है. वह जिस एकेन्द्रिय आदि जातिमें प्राणियोंका विनाशक जो कर्म करता है उसी कर्मसे वह मर जाता है अथवा वह उसी कर्मसे मारा जाता है अथवा वह बहुत क्रूर कर्म करनेवाला पुरुष "यह चोर है, यह परस्त्रीलम्पट है" इत्यादि रूपसे उसी कर्मके द्वारा लोकमें बनाया जाता है। ३

(मूल) अस्सिं च लोए अदुवा परत्था, सयग्गसो वा तह अन्नहा वा।
संसारमावन्न परं परं ते, बंधंति वेदंति य दुन्नियाणि ॥४॥

(छाया) अस्मिंश्च लोकेऽथवा परस्तात्, शताग्रशो वा तथाऽन्यथावा।
संसारमापन्नाः परं परन्ते, बध्नन्ति वेदयन्ति च दुर्नीतानि ॥

(अन्वयार्थ) (अस्सिंच लोए) इस लोकमें (अदुवा परत्था) अथवा परलोकमें वे कर्म अपना फल देते हैं। (सयग्गसो वा तह अन्नहावा) वे एक जन्ममें अथवा सैकड़ों जन्मोंमें फल देते हैं। जिस प्रकार वे कर्म किये गये हैं उसी तरह अपना फल देते हैं अथवा दूसरी तरह भी देते हैं। (संसारमावन्न ते) संसारमें भ्रमण करते हुए वे कुशील जीव, (परं परं) बड़ासे बड़ा दुःख भोगते हैं। (बंधंति वेदंति य दुन्नियाणि) वे आर्त्तध्यान करके फिर कर्म बाँधते हैं और अपने पाप कर्मका फल भोगते हैं।

(भावार्थ) कोई कर्म, इसी जन्ममें अपना फल कर्ताको देता है और कोई दूसरे जन्ममें देता है। कोई एकही जन्ममें देता है और कोई सैकड़ों जन्मोंमें देता है। कोई कर्म जिस तरह किया गया है उसी तरह फल देता है और कोई दूसरी तरहसे देता है। कुशील पुरुष सदा संसारमें भ्रमण करते रहते हैं और वे एक कर्मका फल दुःख भोगते हुए फिर आर्त्तध्यान करके दूसरा कर्म बाँधते हैं। वे अपने पापका फल सदा भोगते रहते हैं।

(टीका) यान्याशुकारीणि कर्माणि तान्यस्मिन्नेव जन्मनि विपाकं ददति, अथवा परस्मिन् जन्मनि नरकादौ विपाकं ददाति. एकस्मिन्नेव जन्मनि विपाकं तीव्रं ददति 'शताग्रशो वे'ति बहुषु जन्मसु. येनैव प्रकारेण तदशुभमाचरन्ति तथैवोदीर्यते तथा—'अन्यथा वेति. इदमुक्तं भवति–किञ्चित्कर्म तद्भव एव विपाकं ददाति किञ्चिच्च जन्मान्तरे. यथा—मृगपुत्रस्य दुःखविपाकाख्ये विपाकश्रुताङ्गश्रुतस्कन्धे कथितमिति, दीर्घकालस्थितिकं त्वपरजन्मान्तरितं वेद्यते,

येन प्रकारेण सकृत्तथैवानेकशो वा, यदिवाऽन्येन प्रकारेण सकृत्सहस्रसो वा शिरच्छेदादिकं हस्तपादच्छेदादिकं चानुभूयत इति. तदेवं ते कुशीला आयतदण्डाश्चतुर्गतिकसंसारमापन्ना अरहट्टघटीयन्त्रन्यायेन संसारं पर्यटन्तः 'परं परं' प्रकृष्टं प्रकृष्टं दुःखमनुभवन्ति, अन्मान्तरकृतं कर्मानुभवन्तश्चैकमार्तध्यानोपहता अपरं बध्नन्ति वेदयन्ति च, दुष्टं नीतानि दुर्नीतानि-दुष्कृतानि, न हि स्वकृतस्य कर्मणो विनाशोऽस्तीतिभावः, तदुक्तम्—"मा होहि रे विसन्नो जीव! तुमं विमणदुम्मणो दीणो। णहु चिंतिएण फिट्टइ तं दुक्खं जं पुरा रइयं ॥ १ ॥ जइ पविससि पायालं अडविं व दरिं गुहं समुद्दं वा। पुव्वकयाउ न चुकसि अप्पाणं घायसे जइवि ॥ २ ॥" ॥ ४ ॥ एवं तावदोघतः कुशीलाः प्रतिपादिताः, तदधुना पाषण्डिकानधिकृत्याह—

(टीकार्थ) कुशील पुरुष अपने कर्मोंसे कहाँ कष्ट पाता है ? यह शास्त्रकार दिखलाते हैं जो कर्म शीघ्र फल देनेवाले हैं वे इसी जन्ममें अपने कर्ताको फल देते हैं। अथवा दूसरे जन्ममें नरक आदिमें वे अपना फल देते हैं। वे कर्म एकही जन्ममें अपना तीव्र विपाक उत्पन्न करते हैं अथवा बहुत जन्मोंमें उत्पन्न करते हैं। प्राणी जिस प्रकार अशुभ कर्म करता है उसी तरह वह कर्म फल देता है अथवा और तरहसे भी देता है। आशय यह है कि-कोई कर्म उसी भवमें अपना विपाक देता है और कोइ दूसरे जन्ममें देता है, जैसे कि—दुःख विपाक नामक विपाक श्रुताङ्ग श्रुतस्कन्धमें मृगापुत्रके विषयमें कहा है। तथा जिसकी दीर्घकालकी स्थिति है वह कर्म दूसरे जन्ममें अपना फल देता है। एवं जिस प्रकार वह कर्म किया गया है उसी प्रकार वह अपने कर्ताको एकवार या अनेकवार फल देता है अथवा वह दूसरी तरहसे एकवार अथवा हजारों वार शिरका छेदन तथा हाथ पैर आदिका छेदनरूप फल कर्ताको देता है। इस प्रकार प्राणियोंको बहुत दण्ड देनेवाले वे कुशील जीव, चतुर्गतिक संसारमें पडे हुए अरहट यन्त्रकी तरह बार बार संसारमें भ्रमण करते रहते हैं और बडासे बडा दुःख भोगते हैं। पूर्व जन्मके एक कर्मका फल भोगते हुए वे आर्त्तध्यान करके फिर दूसरा कर्म बांधते हैं और अपने पापकर्मका फल भोगते हैं। अपने किए हुए कर्मका फल भोगे विना नाश नहीं होता है यह भाव है, अत एव कहा है कि (माहोहि) अर्थात् हे जीव ! तुम उदास, दीन, तथा दुःखितचित्त मत बनो क्योंकि जो दुःख तुमने पहले पैदा किया है वह चिन्ता

---

१ मा भव रे विषण्णो जीव ! त्वं विमना दुर्मना दीनः। नैव चिन्तितेन स्फेटते तद्दुःखं यत्पुरा रचितं ॥ १ ॥ यदि प्रविशसि पातालं अटवीं वा दरीं गुहां समुद्रं वा। पूर्वकृतान्नैव भ्रश्यसि आत्मानं घातयसि यद्यपि ॥

कर्मसे मिट नहीं सकता है। चाहे तुम पातालमें प्रवेश करो अथवा किसी जङ्गलमें जाओ या पहाडकी गुफामें छिप जाओ अथवा अपने आपकाही घात करडालो परन्तु पूर्वजन्मके कर्मसे तुम बँच नहीं सकते। ४

जे मायरं वा पियरं च हिच्चा, समणव्वए अगणिं समारभिज्जा।
अहाहु से लोए कुसीलधम्मे, भूताइं जे हिंसति आयसाते ॥५॥

(छाया) यो मातरं वा पितरञ्च हित्वा, श्रमणव्रतेऽग्निं समारभेत।
अथाहुः स कुशीलधर्मा भूतानि यो हिनस्त्यात्मसाते ॥

अन्वार्थ—(जे) जो पुरुष (मायरंवा पियरंच हिच्चा) माता और पिताको छोड़कर (समणव्वए) श्रमण व्रत ग्रहण करके (अगणि समारभिज्जा) अग्निकायका आरम्भ करते हैं तथा (जे आयसाते) जो अपने सुखके लिये (भूताइं हिंसति) प्राणियोंकी हिंसा करते हैं (से लोए कुसीलधम्मे) वे लोग कुशीलधर्मवाले हैं (अहाहु) यह सर्वज्ञ पुरुषोंने कहा है ॥

(भावार्थ) जो लोग माता पिताको छोडकर श्रमणव्रतको धारण करके अग्निकायका आरम्भ करते हैं तथा जो अपने सुखके लिये भूतोंकी हिंसा करते हैं वे कुशील धर्मवाले हैं यह सर्वज्ञ पुरुषोंने कहा है।

(टीका) ये, केचनाविदितपरमार्था धर्मार्थमुत्थिता मातरं पितरं च त्यक्त्वा, मातापित्रोर्दुस्त्यजत्वात् तदुपादानमन्यथा भ्रातृपुत्रादिकमपि त्यक्त्वेति द्रष्टव्यं, श्रमणव्रते किल वयं समुपस्थिता इत्येवमभ्युपगम्याग्निकायं समारभन्ते, पचनपाचनादिप्रकारेण कृतकारितानुमत्यौद्देशिकादिपरिभोगाच्चाग्निकायसमारम्भं कुर्युरित्यर्थः, अथेति, वाक्योपन्यासार्थः, 'आहु' रिति तीर्थकृद्गणधरादय एवमुक्तवन्तः यथा सोऽयं पापण्डिको लोको गृहस्थलोको वाऽग्निकायसमारम्भात् कुशीलः—कुत्सितशीलो धर्मो यस्य स कुशीलधर्मा, अयं किम्भूत इति दर्शयति—अभूवन् भवन्ति भविष्यन्तीति भूतानि—प्राणिनस्तान्यात्मसुखार्थं 'हिनस्ति' व्यापादयति, तथाहि—पञ्चाग्नितपसा निष्टप्तदेहास्तथाऽग्निहोत्रादिकया च क्रियया पापण्डिकाः स्वर्गावाप्तिमिच्छन्तीति, तथा लौकिकाः पचनपाचनादिप्रकारेणाग्निकायं समारभमाणाः सुखमभिलषन्तीति ॥ ५ ॥ अग्निकायसमारम्भे च यथा प्राणातिपातो भवति तथा दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) इस प्रकार सामान्य रूपसे कुशील पुरुष कहे गये हैं अब शास्त्रकार पापण्डियोंके विषयमें कहते हैं—जोजीव परमार्थको नहीं जानते हैं तथा धर्माचरण करनेके लिये प्रवृत्त

होकर एवं माता-पिताको छोडकर (माता पिताको छोडना कठिन है इसीलिये यहां माता पिताको छोडना कहा है नहीं तो भाइ पुत्र आदिकोभी छोडना यहां समझना चाहिये) हम श्रमणव्रतमें स्थित हैं ऐसा स्वीकार करके अग्निकायका आरम्भ करते हैं अर्थात वे पचन और पाचन आदिके द्वारा तथा करने कराने और अनुमति देने एवं उद्दिष्ट आहार भोगने इत्यादिके द्वारा अग्निकायका आरम्भ करते हैं वे पाषण्डीलोग अथवा गृहस्थलोग अग्निकायके आरम्भ करनेसे कुशील हैं जिसके धर्मका स्वभाव कुत्सित है उसे कुशीलधर्मा कहते हैं। यह तीर्थङ्कर तथा गणधर आदिने कहा है। ये कुशील कैसे हैं ? सो शास्त्रकार दिखलाते हैं-जो हो चुके हैं और होते हैं तथा जो होंगे उन्हें भूत कहते हैं। भूत, प्राणियोंका नाम है उन प्राणियोंको अपने सुखके लिये जो घात करते हैं वे कुशील हैं। पाषण्डी लोग पञ्चाग्निके सेवनरूप तपस्यासे अपने शरीरको तपाते हैं तथा अग्निहोम आदि क्रियासे स्वर्गप्राप्तिकी इच्छा करते हैं, तथा लौकिक पुरुष पचन पाचन आदिके द्वारा अग्निकायका आरम्भ करके सुखकी इच्छा करते हैं ये सब कुशील हैं। ५

(मू०) उज्जालओ पाण निवातएज्जा, निव्वावओ अगणि निवायवेज्जा।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं, ण पंडिए अगणि समारभिज्जा॥६॥

(छाया) उज्ज्वालकः प्राणान् निपातयेत्, निर्वापकोऽग्निं निपातयेत्।
तस्मात्तु मेधावी समीक्ष्य धर्मं न पण्डितोऽग्निं समारभेत्॥

अन्वयार्थ—(उज्जालओ) आग जलानेवाला पुरुष (पाण निवातएज्जा) प्राणियोंका घात करता है (निव्वावओ) और आग बुझानेवाला पुरुष (अगणि निवायवेज्जा) अग्निकायके जीवका घात करता है। (तम्हाउ) इसलिये (मेहावि) बुद्धिमान् (पंडिए) पण्डित पुरुष (धम्मं समिक्ख) धर्मको देखकर (अगणि ण समारभिज्जा) अग्निकायका आरम्भ न करे।

(भावार्थ) आग जलानेवाला पुरुष जीवोंका घात करता है और आग बुझानेवाला पुरुष अग्निकायके जीवोंका घात करता है इसलिए बुद्धिमान् पण्डित पुरुष अग्निकायका आरम्भ न करे।

(टीका) तपनतापनप्रकाशादिहेतुं काष्ठादिसमारम्भेण योऽग्निकायं समारभते सोऽग्निकायमपरांश्च पृथिव्याद्याश्रितान् स्थावरांस्त्रसांश्च प्राणिनो निपातयेत्, त्रिभ्यो वा मनोवाक्कायेभ्य आयुर्बलेन्द्रियेभ्यो वा पातयेत्रिपातयेत् (त्रिपातयेत्), तथाऽग्निकायमुदकादिना 'निर्वापयन्' विध्यापयंस्तदाश्रितानन्यांश्च प्राणिनो निपातयेत्रिपातयेद्वा तत्रोज्ज्वालकनिर्वापकयोर्योऽग्निकायमुज्ज्वालयति स बहूनामन्यकायानां समारम्भकः, तथा चागमः-"दो भंते ! पुरिसा अन्नमन्नेण सद्धिं अगणिकायं समा-

भंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ एगे णं पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, तेसिं भंते! पुरिसाणं कयरे पुरिसे महाकम्मतराए कयरे वा पुरिसे अप्पकम्मतराए?, गोयमा! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ से णं पुरिसे बहुतरागं पुढविकायं समारभति, एवं आउकायं वाउकायं वणस्सइकायं तसकायं अप्पतरागं अगणिकायं समारभइ, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ से णं पुरिसे अप्पतरागं पुढविकायं समारभइ जाव अप्पतरागं तसकायं समारभइ बहुतरागं अगणिकायं समारभइ, से एतेणं अट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ" ॥ अपि चोक्तम्—"[१]भूयाणं एसमाघाओ हव्ववाओ ण संसओ" इत्यादि। यस्मादेवं तस्मात् 'मेधावी' मदसद्विवेकज्ञः सश्रुतिकः समीक्ष्य धर्मं पापाड्डीनः पण्डितो नाग्निकायं समारभते, स एव च परमार्थतः पण्डितो योऽग्निकायसमारम्भकृतात् पापान्निवर्तत इति ॥ ॥ ६ ॥ कथमग्निकायसमारम्भेणापरप्राणिवधो भवतीत्याशङ्कयाह—

(टीकार्थ) अग्निकायके आरम्भ करनेमें जिस प्रकार प्राणातिपात होता है सो दिखानेके लिये शास्त्रकार कहते हैं—तपन तापन और प्रकाश आदिका कारणरूप अग्निको जो काठ आदि डालकर जलाता है वह अग्निकायके जीवको तथा दूसरे पृथिवी आदिके आश्रित स्थावर और त्रस प्राणियोंका घात करता है। अथवा वह पुरुष प्राणियोंको मन वचन और कायसे अथवा आयु, बल और इन्द्रियोंसे विनाश करता है। तथा जो पुरुष पानी आदिके द्वारा अग्निकायको बुझाता है वह अग्निकायके जीवको तथा दूसरे अग्निके आश्रित जीवोंका नाश करता है। जो आग जलाता है और जो आग बुझाता है इन दोनोंमें आग जलानेवाला बहुत दूसरे कायके जीवोंका विनाश करता है। इस विषयमें यह आगम है-(दो भंते!) गोतमस्वामी पूछते हैं कि "हे भगवन्! दो पुरुष अग्निकायका आरम्भ करते हैं, एक तो आग जलाता है और दूसरा बुझाता है, इन दोनोंमें अधिक कर्म किसको लगता है और अल्प कर्म किसको लगता है?। इसका उत्तर देते हुए भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं कि हे गौतम! जो पुरुष आग जलाता है वह पृथिवीकाय, अप्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकायका बहुत आरम्भ करता है और अग्निकायका अल्प आरम्भ करता है परन्तु जो अग्निकायको बुझाता है, वह पृथिवीकाय जलकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, तथा त्रसकायके जीवोंका अल्प आरम्भ करता है परन्तु अग्निकायके जीवका बहुत आरम्भ करता है इसलिये हे गौतम! मैं यह कहता हूं"। फिरभी कहा है कि—(भूयाणं) अर्थात् अग्निका आरम्भ जीवोंका नाशक है इसमें संशय नहीं है। अत

१ भूतानामेष आघातो हव्यवाहो न संशयः ॥

सत् और असत्का विवेक रखनेवाले विद्वान् पुरुष, धर्मको विचार कर अग्निकायका आरम्भ नहीं करते हैं। जो पापसे निवृत्त है वेही पण्डित हैं वस्तुतः वेही पण्डित हैं जो अग्निकायके आरम्भरूप पापसे निवृत्त हैं। ६

(मूल) पुढवीवि जीवा आऊवि जीवा, पाणा य संपाइम संपयंति।
संसेयया कट्ठसमस्सिया य, एते दहे अगणि समारभंते ॥ ७ ॥

(छाया) पृथिव्यपि जीवा आपोऽपि जीवाः प्राणाश्च सम्पातिमाः सम्पतन्ति।
संस्वेदजाः काष्ठसमाश्रिताश्च, तान् दहेदग्निं समारभमाणः ॥

(अन्वयार्थ) (पुढवीवि जीवा) पृथिवीभी जीव है (आपोऽपि जीवा) जलभी जीव है (संपाइम पाणा संपयंति) तथा सम्पातिम जीव यानी पतङ्ग आदि आगमें पड़कर मरते हैं (संसेयया) स्वेदसे उत्पन्न प्राणी (कट्ठसमस्सिया) तथा काठमें रहनेवाले जीव, (अगणि समारभंते एते दहे) अग्निकायको आरम्भ करनेवाला पुरुष इन जीवोंको जलाता है।

(भावार्थ) जो जीव अग्नि जलाता है वह पृथिवीकायके जीवको जलको पतङ्ग आदिको स्वेदज प्राणीको तथा काठमें रहनेवाले जीवोंको जलाता है।

(टीका) न केवलं पृथिव्याश्रिता द्वीन्द्रियादयो जीवा यापि च पृथ्वी—मृल्लक्षणा असावपि जीवा, तथा आपश्चद्रवलक्षणा जीवास्तदाश्रिताश्च प्राणाः 'सम्पातिमाः' शलभादयस्तत्र सम्पतन्ति, तथा 'संस्वेदजाः' करीषादिष्विन्धनेषु घुणपिपीलिकाकृम्यादयः काष्ठाद्याश्रिताश्च ये ये केचन 'एतान्' स्थावरजङ्गमान् प्राणिनः स दहेद् योऽग्निकायं समारभेत, ततोऽग्निकायसमारम्भो महादोषायेति ॥ ७ ॥

(टीकार्थ) अग्निकायके आरम्भ करनेसे कैसे दूसरे प्राणियोंका घात होता है? यह आशङ्का करके शास्त्रकार समाधान देते हैं—पृथिवीके आश्रित द्वीन्द्रिय आदि ही जीव नहीं है किन्तु मिट्टीरूप जो पृथिवी है वहभी जीव है तथा द्रवलक्षण जलभी जीव है तथा जलके आश्रित प्राणीभी जीव हैं, एवं आग जलाने पर पतङ्ग आदि उड़कर उसमें गिरते हैं एवं कण्डा (छाणा) आदि इन्धनोंमें उत्पन्न जीव, घुण और कीडी आदि तथा काठमें रहनेवाले प्राणी, इन सब जीवोंको वह पुरुष जलाता है जो अग्निकायका आरम्भ करता है अतः अग्निकायका आरम्भ महान दोषके लिये है। ७

(मूल) हरियाणि भूताणि विलंबगाणि, आहार देहा य पुढो सियाइं।
जे छिंदती आयसुहं पडुच्च, पागब्भि पाणे बहुणं तिवाती ॥८॥

(छाया) हरितानि भूतानि विलम्बकानि, आहारदेहाय पृथक् श्रितानि ।
यश्छिनत्त्यात्मसुखं प्रतीत्य, प्रागल्भ्यात् प्राणानां बहूनामतिपाती ॥

(अन्वयार्थ) (हरियाणि) हरी दूब और अङ्कुर आदिभी (भूयाणि) जीव हैं । (विलंबगाणि) वेभी जीवका आकार धारण करते हैं। (पुढो सियाणि) ये मूल स्कन्ध शाखा और पत्र आदिमें अलग अलग रहते हैं । (जे आयसुहं पडुच्च) जो पुरुष अपने सुखके लिये (आहार देहाय) और आहार करने तथा शरीरकी पुष्टिके लिये (छिंदती) इनका छेदन करता (पागब्भि पाणे बहुणं तिवाती) वह धृष्ट पुरुष बहुत प्राणियोंका नाश करता है।

(भावार्थ) हरी दूब तथा अङ्कुर आदिभी जीव हैं और वे जीव वृक्षोंके शाखा पत्र आदिमें अलग अलग रहते हैं । इन जीवोंको जो अपने सुखके लिये छेदन करता है वह बहुत प्राणियोंका विनाश करता है ।

(टीका) एवं तावदग्निकायसमारम्भकास्तापसाः तथा पाकादनिवृत्ताः शाक्यादयश्चापदिष्टाः साम्प्रतं ते चान्ये वनस्पतिसमारम्भादनिवृत्ताः परामृश्यन्ते इत्याह— 'हरितानि' दुर्वाङ्कुरादीन्येतान्यप्याहारादेर्वृद्धिदर्शनात् 'भूतानि' जीवाः तथा 'विलम्बकानीति' जीवाकारं यान्ति विलम्बन्ति—धारयन्ति, तथाहि—कललार्बुदमांसपेशीगर्भप्रसवबालकुमारयुवमध्यस्थविरावस्थातो मनुष्यो भवति, एवं हरितान्यपि शाल्यादीनि जातान्यभिनवानि संजातरसानि यौवनवन्ति परिपक्वानि जीर्णानि परिशुष्काणि मृतानि तथा वृक्षा अप्यङ्कुरावस्थायां जाता इत्युपदिश्यन्ते मूलस्कन्धशाखाप्रशाखाभिर्विशेषैः परिवर्धमाना युवानः पोता इत्युपदिश्यन्त इत्यादि शेषाखप्यवस्थास्वायोज्यं, तदेवं हरितादीन्यपि जीवाकारं विलम्बयन्ति, तत एतानि मूलस्कन्धशाखापत्रपुष्पादिषु स्थानेषु 'पृथक्' प्रत्येकं 'श्रितानि' व्यवस्थितानि, न तु मूलादिषु सर्वेष्वपि समुदितेषु एक एव जीवः एतानि च भूतानि सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तभेदभिन्नानि वनस्पतिकायाश्रितान्याहारार्थं देहोपचयार्थं देहक्षतसंरोहणार्थं वाऽऽत्मसुखं 'प्रतीत्य' आश्रित्य यश्छिनत्ति स 'प्रागल्भ्यात्' धार्ष्ट्याद्बहूनां प्राणिनामतिपाती भवति, तदतिपाताच्च निरनुक्रोशतया न धर्मो नाप्यात्मसुखमित्युक्तं भवति ॥ ८ ॥ किञ्च—

(टीकार्थ) दूब और अङ्कुर आदि हरे पदार्थभी जीव हैं क्योंकि आहार आदिसे इनकी वृद्धि देखी जाती है तथा ये जीवके आकारको धारण करते हैं। जैसे कलल, अर्बुद, मांसपेशी, गर्भ, प्रसव, बाल, कुमार, युवा, मध्यम, और स्थविर अवस्थाओंके कारण मनुष्य होता है इसी तरह हरे शाली आदिभी जात (उत्पन्न) अभिनव (नया) संजातरस (जिसमें रस उत्पन्न हो गया

है। युवा, पकाहुआ और सूखाहुआ, एवं मरा इत्यादि अवस्थाओंको धारण करते हैं। तथा वृक्षभी अङ्कुरावस्थामें 'यह उत्पन्न हुआ है' इस प्रकार बताये जाते हैं पश्चात् वे जब मूल, स्कन्ध, शाखा और प्रशाखा आदिसे बढने लगते हैं तब युवा अथवा पोत कहे जाते हैं। इसी तरह उसकी शेष अवस्थायें भी जानलेनी चाहिये। इस प्रकार हरी दूब आदिभी जीवाकारको धारण करते हैं। तथा वे जीव वृक्षोंके मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्र और पुष्प आदि स्थानोंमें अलग अलग प्रत्येकमें रहते हैं। मूलसे लेकर पत्ता पर्य्यन्त समस्त वृक्षमें एकही जीव नहीं किन्तु अनेक हैं। वनस्पतिकायमें रहनेवाले ये जीव संख्येय असंख्येय और अनन्त भेदवाले हैं, इन जीवोंको आहारके लिये अथवा देहकी वृद्धिके लिये अथवा देहके क्षत (घाव) को मिटानेके लिये अथवा अपने सुखके लिये जो छेदन करता है वह धृष्टता करके बहुत जीवोंका विनाश करता है। इन जीवोंके विनाश करनेसे दया न होनेके कारण न तो धर्म होता है न आत्माको सुखही मिलता है।

(मूल) जातिं च वुड्ढिं च विणासयंते, बीयाइ अस्संजय आयदंडे।
अहाहु से लोए अणज्जधम्मे, बीयाइ जे हिंसति आयसाते ॥९॥

(छाया) जातिश्च, वृद्धिश्च विनाशयन् बीजान्यसंयत आत्मदण्डः।
अथाहुः स लोके अनार्य्यधर्मा, बीजानि यो हिनस्त्यात्मसाते ॥

(अन्वयार्थः) (जे असंजए) जो असयमी पुरुष (आयसाते) अपने सुखके लिये (बीयाइ हिंसइ) बीजका नाश करता है वह (जातिं च वुड्ढिं च विनाशयंते) अङ्कुरकी उत्पत्ति तथा वृद्धिका विनाश करता है। (आयदंडे) वस्तुतः वह उक्त पापके द्वारा अपने आत्माको दण्डका भागी बनाता है। (लोए से अणज्जधम्मे आहु) तीर्थङ्करोने उसे इस लोकमें अनार्य्य धर्मवाला कहा है।

(भावार्थ) जो पुरुष अपने सुखके लिये बीजका नाश करता है वह उस बीजके द्वारा होनेवाले अङ्कुर तथा शाखा पत्र पुष्प फल आदि वृद्धिका भी नाश करता है। वस्तुतः वह पुरुष उक्त पापके द्वारा अपने आत्माको दण्डका भागी बनाता है। तीर्थङ्करोने ऐसे पुरुषको अनार्य्यधर्मवाला कहा है।

(टीका) 'जातिम्' उत्पत्तिं तथा अङ्कुरपत्रमूलस्कन्धशाखाप्रशाखाभेदेन वृद्धिं च विनाशयन् बीजानि च तत्फलानि विनाशयन् हरितानि छिनत्तीति, 'असंयतः' गृहस्थः प्रव्रजितो वा तत्कर्मकारी गृहस्थ एव. स च हरितच्छेदविधाय्यात्मानं दण्डयतीत्यात्मदण्डः, स हि परमार्थतः परोपघातेनात्मानमेवोपहन्ति, अथ शब्दो

वाक्यालङ्कारे 'आहुः' एवमुक्तवन्तः, किमुक्तवन्त इति दर्शयति–यो हरितादिच्छेदको निरनुक्रोशः 'सः' अस्मिन् लोके 'अनार्यधर्मा' क्रूरकर्मकारी भवतीत्यर्थः, स च क एवम्भूतो यो धर्मापदेशेनात्मसुखार्थं वा बीजानि अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् वनस्पतिकायं हिनस्ति स पापण्डिकलोकोऽन्यो वाऽनार्यधर्मा भवतीति सम्बन्धः ॥ ९ ॥ साम्प्रतं हरितच्छेदकर्मविपाकमाह—

(टीकार्थ) जो पुरुष हरी वनस्पतिका छेदन करता है वह उसके द्वारा होनेवाली दूसरी वनस्पतिकी उत्पत्ति तथा अङ्कुर, पत्र, मूल, स्कन्ध, शाखा और प्रशाखा भेदसे उसकी वृद्धिका विनाश करता हुआ उसके बीज और फलका विनाश करता है। वह साधु नहीं परन्तु गृहस्थ है। चाहे प्रव्रज्याधारीभी यह कर्म करता हो तो वह गृहस्थही है हरी वनस्पतिका छेदन करने वाला वह पुरुष अपने आत्माको दण्ड देनेवाला है। वह दूसरे प्राणीका नाश करके परमार्थत. अपने आत्माकाही घात करता है। " अथ " शब्द वाक्यालङ्कारमें आया है। उस पुरुषके विषयमें तीर्थङ्कर आदिने यह कहा है। क्या कहा है ? यह शास्त्रकार दिखलाते हैं—जो निर्दय पुरुष हरी वनस्पतिका छेदन करता है वह इस लोकमें अनार्य धर्मवाला अर्थात् क्रूरकर्म करने वाला है। वह कौन है ? जो पुरुष धर्मका नाम लेकर अथवा अपने सुखके लिये बीजका नाश करता है, बीजका नाश उपलक्षण है इसलिये जो वनस्पतिकायका नाश करता है वह चाहे पाषण्डी हो या दूसरा हो वह अनार्य्य धर्मवाला है यह आशय है। ९

(मूल) गब्भाइ मिज्जंति बुयाबुयाणा, णरा परे पंचसिहा कुमारा।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य, (पाठांतरे पोरुसा य) चयंति
ते आउखए पलीणा ॥ १० ॥

(छाया) गर्भे म्रियन्ते ब्रुवन्तोऽब्रुवन्तश्च, नराः परे पञ्चशिखाः कुमाराः।
युवानो मध्यमाः स्थविराश्च, त्यजन्ति ते आयुः क्षये प्रलीनाः ॥

(अन्वयार्थ) (गब्भाइ मिज्जंति) हरी वनस्पतिका छेदन करनेवाला जीव गर्भमेंही मर जाता है। (बुया बुयाणा) तथा कोई साफ बोलनेकी अवस्थामें और कोई न बोलनेकी अवस्थामेंही मरजाताहै। (परेणरा) तथा दूसरे पुरुष (पंचसिहा कुमारा) पांच शिखावाले कुमार अवस्थामेंही मरजाते हैं (जुवाणगा मज्झिमथेरगाय) और कोई युवा होकर तथा कोई आधी उमरका होकर एवं कोई वृद्ध होकर मरजाते हैं (आउखए पलीणा ते चयंति) इस प्रकार बीज आदिका नाश करनेवाले प्राणी सभी अवस्थाओंमें आयुक्षीण होनेपर अपने शरीरको छोड़ देते हैं।

(भावार्थ) हरी वनस्पति आदिका छेदन करनेवाले पुरुष पापके कारण कोई गर्भावस्थामेंही मर जाते हैं, कोई स्पष्ट बोलनेकी अवस्थामें तथा कोई बोलनेकी अवस्था आनेके पहले ही मर जाते हैं। एवं कोइ कुमार अवस्थामें, कोइ युवा होकर, कोइ आधी उमरका होकर, कोइ वृद्ध होकर मर जाते हैं आशय यह है कि वे हरएक अवस्थामें मृत्युको प्राप्त होते हैं।

(टीका) इह वनस्पतिकायोपमर्दकाः बहुषु जन्मसु गर्भादिकास्ववस्थासु कललार्बुदमांसपेशीरूपासु म्रियन्ते, तथा 'ब्रुवन्तोऽब्रुवन्तश्च' व्यक्तवाचोऽव्यक्तवाचश्च तथा परे नराः पञ्चशिखाः कुमाराः सन्तो म्रियन्ते, तथा युवानो मध्यमवयसः स्थविराश्च क्वचित्पाठो 'मज्झिमपोरुसा य' तत्र 'मध्यमा' मध्यमवयसः 'पोरुसा य'त्ति पुरुषाणां चरमावस्थां प्राप्ता अत्यन्तवृद्धा एवेतियावत्, तदेवं सर्वास्वप्यवस्थासु बीजादीनामुपमर्दकाः स्वायुषः क्षये प्रलीनाः सन्तो देहं त्यन्तीति, एवमपरस्थावरजङ्गमोपमर्दकारिणामप्यनियतायुष्कत्वमायोजनीयम् ॥१०॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) अब हरी वनस्पतिके छेदनका फल शास्त्रकार बतलाते हैं— वनस्पतिकायका विनाश करनेवाले जीव, बहुत जन्म तक कलल, अर्बुद, और मांस पेशीरूप गर्भादि अवस्थामेंही मर जाते हैं, तथा कोइ साफ बोलते हुए तथा दूसरे पांच शिखावाले कुमार होकर मर जाते हैं। तथा कोई जवान होकर, कोइ मध्य आयुका होकर एवं कोइ वृद्ध होकर मर जाते हैं। कहीं "मज्झिम पोरुसाय" यह पाठ है। इस पाठका अर्थ यह है कि हरी वनस्पतिका छेदन करनेवाला कोइ पुरुष मध्यम अवस्थावाला होकर और कोइ पुरुषकी अन्तिम अवस्था पाकर अर्थात् अत्यन्त वृद्ध होकर मरते हैं। इस प्रकार हरी वनस्पतिका छेदन करनेवाला जीव, सभी अवस्थाओंमें आयुक्षीण होनेपर अपनी देहको छोड़ देते हैं। इसी तरह जो लोग दूसरे स्थावर और जङ्गम प्राणियोंका घात करते हैं उनकी आयुकाभी अनिश्चित होना जान लेना चाहिये। १०

(मूल) संबुज्झहा जंतवो! माणुसत्तं, दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ॥११॥

(छाया) संबुध्यध्वं जन्तवो! मनुष्यत्वं, दृष्ट्वा भयं बालिशेनालाभः
एकान्तदुःखो ज्वरित इव लोकः स्वकर्मणा विपर्य्यासमुपैति ॥

(अन्वयार्थः) (जंतवो!) हे जीवों! (माणुसत्तं) मनुष्य भवकी दुर्लभताको (संबुज्झह) समझो (भयं दट्ठु) एवं नरक तथा तिर्य्यञ्च योनिके भयको देखकर (बालिसेण अलंभो) एवं

विवेकहीन पुरुषको उत्तम विवेकका अलाभ जानकर बोध प्राप्त करो (लोए) यह लोक (जरिएव) ज्वरसे पीड़ितकी तरह (एगंत दुक्खे) एकान्त दुःखी है (सकम्मुणा विप्परियासुवेति) तथा यह अपने कर्मसे सुख चाहता हुआ दुःख प्राप्त करता है ।

(भावार्थ) हे जीवों ! तुम बोध प्राप्त करो मनुष्यभव मिलना दुर्लभ है। तथा नरक और तिर्य्यञ्चमें होने वाले दुःखोंको देखो विवेकहीन जीवको बोध नहीं प्राप्त होता है । यह संसार ज्वरसे पीड़ित की तरह एकान्त दुःखी है और सुखके लिये पाप करके वह दुःख भोगता है।

(टीका) हे ! 'जन्तवः' प्राणिनः ! सम्बुध्यध्वं यूयं, नहि कुशीलपाषण्डकलोकस्त्राणाय भवति, धर्मं च सुदुर्लभत्वेन सम्बुध्यध्वं, तथा चोक्तम्—"माणुस्सखेत्तजाई कुलरूवारोग्गमाउयं बुद्धी । सवणोग्गहसद्धा संजमो य लोगंमि दुलहाइं ॥ १ ॥" तदेवमकृतधर्माणां मनुष्यत्वमतिदुर्लभमित्यवगम्य तथा जातिजरामरणरोगशोकादीनि नरकतिर्यक्षु च तीव्रदुःखतया भयं दृष्ट्वा तथा-'बालिशेन' अज्ञेन सदसद्विवेकस्यालम्भ इत्येतच्चावगम्य तथा निश्चयनयमवगम्य एकान्तदुःखोऽयं ज्वरित इव 'लोकः' संसारिप्राणिगणः, तथा चोक्तम्—"जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य । अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति पाणिणो ॥ ॥ १ ॥" तथा—"तण्हाइयस्स पाणं कूरो छुहियस्स भुज्जए तित्ती । दुक्खसयसंपउत्तं जरियमिव जगं कलयलेइ ॥ १ ॥" इति. अत्र चैवम्भूते लोके अनार्यकर्मकारी स्वकर्मणा 'विपर्यासमुपैति' सुखार्थी प्राण्युपमर्दं कुर्वन् दुःखं प्राप्नोति, यदि वा मोक्षार्थी संसारं पर्यटतीति ॥ ११ ॥ उक्तः कुशीलविपाकोऽधुना तद्दर्शनान्यभिधीयन्ते—

(टीकार्थ) हे प्राणियों ! तुम बोध प्राप्त करो । कुशील और पाषण्डी लोग तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते हैं तथा धर्मकी प्राप्तिभी दुर्लभ है यह जानो । कहा है कि (माणुस्स) अर्थात् मनुष्य भव, उत्तम क्षेत्र, जाति, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण, श्रद्धा और संयम ये लोकमें दुर्लभ हैं । इस प्रकार जिन्होंने धर्माचरण नहीं किया है उनको मनुष्यभव मिलना अति दुर्लभ है इस बातको जानकर एवं जन्म, वृद्धता, मरण और रोग शोक आदि तथा नरक और तिर्य्यंच योनिमें होनेवाले तीव्र दुःखके भयको देखकर, एवं मूर्ख जीवको

१ मानुष्यं क्षेत्रं जातिः कुलं रूपं मारोग्यं मायुः बुद्धिः श्रवणमवग्रहः श्रद्धा संयमश्च लोके दुर्लभानि ॥ १ ॥ २ कर्मोदयसंपादितसुखादिपरिणामानां तन्मते दुःखरूपत्वात् ॥ ३ जन्म दुःखं जरा दुःखं रोगाश्च मरणं च अहो दुःख एव संसारः यत्र क्लिश्यन्ति जन्तवः ॥ ४ तृष्णार्दितस्य पानं क्रूरः क्षुधितस्य भुक्तो तृप्तिः दुःखशतसम्प्रयुक्तं ज्वरितमिव जगत्कलति ॥१॥

उत्तम विवेक नहीं मिलता है यह समझकर बोध प्राप्त करो। तथा यहभी समझो कि निश्चय-नयके अनुसार यह समस्त संसारही ज्वरसे पीडित की तरह एकान्त दुःखी है। कहा है कि इस जगतमें जन्म, दुःख, जरा दुःख, रोग दुःख और मरण दुःख है इसलिये यह संसार दुःखरूप है, इसमें प्राणिगण क्लेश भोगते हैं प्यासे हुए जीवकी जल पीनेसे तथा भूखे मनुष्यकी भोजन से ही तृप्ति होती है परन्तु इनके अभावमें वह जैसे छट पटाता है इसी तरह यह जगत सैकडों दुःखोसे युक्त ज्वरसे पीडितकी तरह तड़फडा रहा है। इस लोकमें अनार्य्य कर्म करनेवाला पुरुष अपने कर्मसे दुःखको प्राप्त करता है। वह सुखके लिये प्राणियोंका घात करके दुःख पाता है और मोक्षके लिये जीव घात करके संसार भ्रमण करता है। ११

(मूल) इहेग मूढा पवयंति मोक्खं, आहारसंपज्जणवज्जणेणं।
एगे य सीओदगसेवणेणं, हुएण एगे पवयंति मोक्खं ॥१२॥

(छाया) इहैके मूढाः प्रवदन्ति मोक्ष, माहारसम्पज्जनवर्जनेन
एके च शीतोदकसेवनेन, हुतेनैके प्रवदन्ति मोक्षम्।

(अन्वयार्थः) (इह) इस जगतमें अथवा इस मोक्षके विषयमें (एगे) कोई (मूढा) मूर्ख (आहार संपजणवज्जणेण मोक्खं पवयंति) नमक खाना छोड देनेसे मोक्ष होना बतलाते हैं। (एगे य) और कोई (सीओदगसेवणेण) शीतल जलके सेवनसे मोक्ष कहते हैं (एगे) एवं कोई (हुएण मोक्खं पवयंति) होम करनेसे मोक्ष बतलाते हैं।

(भावार्थ) इस लोकमें कोई मूर्ख नमक खाना छोड देनेसे मोक्षकी प्राप्ति बतलाते हैं और कोई शीतल जलके सेवनसे मोक्ष कहते हैं एवं कोई होम करनेसे मोक्षकी प्राप्ति बताते हैं।

(टीका) 'इहे'ति मनुष्यलोके मोक्षगमनाधिकारे वा, एके केचन 'मूढा' अज्ञानाऽऽच्छादितमतयः परैश्च मोहिताः प्रकर्षेण वदन्ति प्रवदन्ति-प्रतिपादयन्ति, किं तत्?-'मोक्षं' मोक्षावाप्तिं, केनेति दर्शयति-आह्रियत इत्याहार-ओदनादि-स्तस्य सम्पद्-रसपुष्टिस्तां जनयतीत्याहारसम्पज्जननं—लवणं, तेन ह्याहारस्य रस-पुष्टिः क्रियते, तस्य वर्जनं तेनाऽऽहारसम्पज्जननवर्जनेन-लवणर्जनेन मोक्षं वदन्ति, पाठान्तरं वा 'आहारसपंचयवज्जणेण' आहारेण सह लवणपञ्चकमाहारसपञ्चकं लवणपञ्चकं चेदं, तद्यथा-सैंधवं सौवर्चलं विडं रौमं सामुद्रं चेति, लवणेन हि सर्व-रसानामभिव्यक्तिर्भवति, तथा चोक्तम्—"[1]लवणविहूणा य रसा चक्खुविहूणा य

---

१ लवणविहीनाश्च रसाश्चक्षुर्विहीनाश्चेन्द्रियग्रामाः। धर्मो दयया रहितः सौख्यं सन्तोषरहितं न ॥ १ ॥

इंदियग्गामा । धम्मो दयाय रहिओ सोक्खं संतोसरहियं नो ॥ १ ॥" तथा 'लवणं रसानां तैलं स्नेहानां घृतं मेध्याना'मिति. तदेवम्भूतलवणपरिवर्जनेन रसपरित्याग एव कृतो भवति, तत्त्यागाच्च मोक्षावाप्तिरित्येवं केचन मूढाः प्रतिपादयन्ति, पाठान्तरं वा 'आहारओ पंचकवज्जणेणं' आहारत इति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी आहारमाश्रित्य पञ्चकं वर्जयन्ति, तद्यथा—लसुनं पलाण्डुः करभीक्षीरं गोमांसं मद्यं चेत्येतत्पञ्चकवर्जनेन मोक्षं प्रवदन्ति. तथैके 'वारिभद्रकादयो' भागवतविशेषाः शीतोदकसेवनेन' सचित्ताप्कायपरिभोगेन मोक्षं प्रवदन्ति, उपपत्तिं च ते अभिदधति—यथोदकं बाह्यमलमपनयति एवमान्तरमपि, वस्त्रादेश्च यथोदकाच्छुद्धिरुपजायते एवं बाह्यशुद्धिसामर्थ्यदर्शनादान्तरापि शुद्धिरुदकादे[1]वेति मन्यन्ते, तथैके तापसब्राह्मणादयो हुतेन मोक्षं प्रतिपादयन्ति, ये किल स्वर्गादिफलमनाशंस्य समिधा घृतादिभिर्हव्यविशेषैर्हुताशनं तर्पयन्ति ते मोक्षायाग्निहोत्रं जुह्वतिशेषास्त्वभ्युदयायेति, युक्तिं चात्र ते आहुःयथा ह्यग्निः सुवर्णादीनां मलं दहत्येवं दहनसामर्थ्यदर्शनादात्मनोऽप्यान्तरं पापमिति ॥ १२ ॥ तेषामसम्बद्धप्रलापिनामुत्तरदानायाह—

(टीकार्थ) कुशील पुरुषोंको जो फल मिलता है वह कहा गया अब उनके दर्शन बताये जाते है—इस मनुष्य लोकमें अथवा मोक्षके प्रकरणमें, अज्ञानसे ढकी हुई बुद्धिवाले तथा दूसरेके द्वारा मोहमें डाले हुए कोई मूर्ख यह कहते हैं कि मोक्षकी प्राप्ति नमक खाना छोड देनेसे होती है। जो खाया जाता है उसे आहार कहते हैं। भात आदिको आहार कहते हैं। उसके रसकी पुष्टि जिसके द्वारा होती है उसे "आहारसंपज्जन" कहते हैं। वह नमक है क्योंकि उसीसे आहारके रसकी पुष्टि होती है उस नमकको छोड देनेसे कोइ मोक्ष बताते हैं। यहां "आहारसपंचयवज्जणेण" यह पाठान्तर है। इसका अर्थ यह है कि आहारके साथ पांच प्रकारके नमकको छोड देनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। वे पाँच प्रकारके नमक ये हैं—(सैन्धवम्) "सैन्धव, सौवर्चल, विड, रौम, सामुद्र" सब रसोंकी नमकसेही अभिव्यक्ति (प्रकाश) होती है। कहा है कि—"लवण विहूणा" अर्थात् विना नमकका रस और विना नेत्रके इन्द्रियगण तथा दयारहित धर्म और सन्तोप रहित सुख नहीं हैं। तथा रसोंमें नमक, स्नेहोंमें तेल और पवित्र वस्तुओंमें घृत सर्वश्रेष्ठ हैं। अतः नमकके छोड देनेसे रसमात्रका त्याग होजाता है और रसमात्रके त्यागसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसा कोई मूढ पुरुष कहते हैं। यहां "आहारओ पंचक वज्जणेण" यह पाठान्तर भी मिलता है। इसका अर्थ यह है कि पाँच वस्तुओंके आहार छोड देनेसे मोक्ष होता है ऐसा कोई मूर्ख कहते हैं। यहां (आहारओ) इस पदमें ल्यब् लोपे कर्मणि

१ ०कादेरेवेति प्र० ।

पञ्चमी हुई है। वे पाँच वस्तु ये हैं—लसुन, प्याज, ऊँटनीका दूध, गोमांस, और मद्य। इन पाँच वस्तुओंको त्याग करनेसे कोई मूर्ख मोक्ष बतलाते हैं। एवं वारिभद्रक आदि भागवत विशेष सचित्त जलकायके भोगसे मोक्ष बतलाते हैं। इस विषयमें वे यह युक्ति बतलाते हैं—वे कहते हैं कि जल जैसे बाहरके मलको दूर करता है इसी तरह अन्दरके मलको भी धो देता है। वस्त्र आदिकी शुद्धि जलसे होती है इसलिये बाहरके मलके धोनेकी शक्ति जलमें देखीजानेसे वे लोग अन्दरकी शुद्धि भी जलसे ही मानते हैं। तथा कोई तापस और ब्राह्मण आदि होम करनेसे मोक्ष बतलाते हैं। वे कहते हैं कि जो पुरुष स्वर्गादि फलकी इच्छा न करके समिधा और घृत आदि हव्य विशेषके द्वारा अग्निकी तृप्ति करते हैं वे मोक्षके लिये अग्निहोत्र करते हैं अर्थात् इस कर्मसे उनको मोक्षकी प्राप्ति होती है और जो स्वर्गादिको इच्छासे होम करने हैं उन्हें स्वर्ग प्राप्ति आदि अभ्युदय प्राप्त होता है इस विषयमें वे युक्ति यह देते हैं—अग्नि, सोनेके मलको जलाती है इसलिये अग्निमें मलको जलानेकी शक्ति देखनेसे वह आत्माके आन्तरिक पापकोभी जलाती है यह निश्चित है। १२

मूल-पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणासएणं
ते मज्जमंसं लसुणं च भोच्चा, अनत्थ वासं परिकप्पयंति ॥१३॥

(छाया) प्रातः स्नानादिषु नास्ति मोक्षः, क्षारस्य लवणस्यानशनेन।
ते मद्यमांसं लशुनञ्च भुक्त्वाऽन्यत्र वासं परिकल्पयन्ति ॥

अन्वयार्थ—(पाओसिणाणादिसु) प्रभात कालके स्नान आदिसे (मोक्खो) मोक्ष (नत्थि) नहीं होता है। (खारस्स लोणस्स अणासएणं) तथा नमक न खानेसे भी मोक्ष नहीं होता है (ते) वे अन्यतीर्थी (मज्जमासं लसुणं च भोच्चा) मद्य, मांस और लशुन खाकर (अनत्थ) मोक्षसे अन्य स्थान अर्थात् संसारमें (वासं परिकप्पयंति) निवास करते हैं।

(भावार्थ) प्रभातकालके स्नान आदिसे मोक्ष नहीं होता है तथा नमक न खानेसेभी मोक्ष नहीं होता है वे अन्यतीर्थी मद्य मास और लशुन खाकर संसारमें भ्रमण करते हैं।

(टीका) प्रातः स्नानादिषु नास्ति मोक्ष' इति प्रत्यूपजलावगाहनेन निःशीलानां मोक्षो न भवति, आदिग्रहणात् हस्तपादादिप्रक्षालनं गृह्यते, तथाहि—उदकपरिभोगेन तदाश्रितजीवानामुपमर्दः समुपजायते, न च जीवोपमर्दान्मोक्षावाप्तिरिति, न चैकान्तेनोदकं बाह्यमलस्याप्यपनयने समर्थम्, आथापि स्यात्तथाप्यान्तरं मलं न शोधयति, भावशुद्धया तच्छुद्धेः, अथ भावरहितस्यापि तच्छुद्धिः स्यात् ततो मत्स्य-

बन्धादीनामपि जलाभिषेकेण मुक्त्यवाप्तिः स्यात्, तथा-'[1]क्षारस्य' पञ्चप्रकारस्यापि लवणस्य 'अनशनेन' अपरिभोगेन मोक्षो नास्ति, तथाहि-लवणपरिभोगरहितानां मोक्षो भवतीत्ययुक्तिकमेतत् न चायमेकान्तो लवणमेव रसपुष्टिजनकमिति, क्षीरशर्करादिभिर्व्यभिचारात्, अपिचासौ प्रष्टव्यः-किं द्रव्यतो लवणवर्जनेन मोक्षावाप्तिः उत भावतः?, यदिद्रव्यतस्ततो लवणरहितदेशे सर्वेषां मोक्षः स्यात्, न चैवं दृष्टमिष्टं वा, अथ भावतस्ततो भाव एव प्रधानं किं लवणवर्जनेनेति, तथा 'ते' मूढा मद्यमांसं लशुनादिकं च भुक्त्वा 'अन्यत्र' मोक्षादन्यत्र संसारे वासम्—अवस्थानं तथाविधानुष्ठानसद्भावात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपमोक्षमार्गस्याननुष्ठानाच्च 'परिकल्पयन्ति' समन्तान्निष्पादयन्तीति ॥ १३ ॥ साम्प्रतं विशेषेण परिजिहीर्षुराह—

(टीकार्थ) पूर्वोक्त प्रकारसे असम्बद्ध प्रलाप करनेवाले अन्यतीर्थियोंको उत्तर देनेके लिये शास्त्रकार कहते हैं-जो पुरुष शील रहित हैं उनको प्रातःकालके स्नान आदिसे मोक्ष नहीं मिलता है। आदि शब्दसे हाथ पैर धोना आदिका ग्रहण है! जलके भोग करनेसे जलके जीवोंका घात होता है परन्तु जीवघातसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती है तथा जल बाह्य-मलको दूर करनेमें एकान्त रूपसे समर्थभी नहीं है, यदि कथञ्चित् हो, तोभी वह अन्दरके मलको दूर करनेमें समर्थ नहीं है। अन्दरकी शुद्धि, भावकी शुद्धिसे होती है। यदि भावरहित जीवकीभी जलसे अन्दरकी शुद्धि हो, तो मछली मार कर जीविका करनेवाले मल्लाह आदिकोभी जलस्नानसे मुक्ति होनी चाहिये। तथा पाँच प्रकारके नमकके त्यागसेभी मुक्ति नहीं मिलती है। नमक नहीं खानेसे मोक्ष मिलता है यह कथन युक्तिरहित है। एक मात्र नमकही रसका पुष्टिजनक है यहभी एकान्त नहीं है क्योंकि दूध और सकर आदिभी रसके पोषक हैं। तथा उक्तवादीसे यह पूछना चाहिये कि द्रव्यसे नमकका त्याग करनेसे मोक्ष मिलता है अथवा भावसे?। यदि द्रव्यसे कहो, तो जिस देशमें नमक नहीं होता है उस देशके सभी लोगोंको मोक्ष मिलजाना चाहिये। परन्तु यह देखा नहीं जाता है और ऐसा इष्टभी नहीं है। यदि भावसे कहो, तब तो भावही प्रधान है फिर नमक छोडनेकी क्या आवश्यकता है?। तथा वे मूर्ख मद्य, मांस, और लशुन आदि खाकर संसारमें निवास करते हैं क्योंकि उनका अनुष्ठान संसारमें निवासके योग्यही होता है तथा वे सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्गका अनुष्ठानभी नहीं करते हैं अतः वे मोक्षसे दूसरी जगह संसारमें अपना निवास बनाते हैं। १३

१ पारिभाषिकलवणमात्रप्रतिपत्तिनिरासाय क्षारेति, अत एव पञ्चप्रकारस्यापीति वृत्तिः। २ चणकादेरपि क्षारादिमत्त्वाल्लवणेति। ३ अन्येषामपि भावाशुद्ध्यापादकानां वर्जनीयत्वात्, मद्यमांसादिभोजित्वं वस्त्वलभ्ये।

(मूल) उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं उदगं फुसंता।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी, सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि॥१४॥

(छाया) उदकेन ये सिद्धि मुदाहरन्ति, सायञ्च प्रातरुदकं स्पृशन्तः।
उदकस्य स्पर्शेन स्याच्च सिद्धिः, सिध्येयुः प्राणाः बहव उदके॥

(अन्वयार्थः) (सायं पायं च उदगं फुसंता) सायंकाल और प्रातःकालमें जलका स्पर्श करते हुए (जे उदगेण सिद्धि मुदाहरंति) जो जलस्नानसे मोक्षकी प्राप्ति बतलाते हैं (वे मिथ्यावादी है) (उदगस्स फासेण सिद्धी सिया) जलके स्पर्शसे यदि मुक्ति मिले, तो (दगंसि बहवे पाणा सिज्झिसु) जलमें रहनेवाले बहुतसे जलचर मोक्षको प्राप्त करें।

(भावार्थ) सायंकाल और प्रातःकाल जलस्पर्श करते हुए जो लोग जलस्पर्शसे मोक्षकी प्राप्ति बतलाते है वे झूठे हैं। यदि जलस्पर्शसे मोक्षकी प्राप्ति हो, तो जलमें रहनेवाले जानवरोंको भी मोक्ष मिलना चाहिये।

(टीका) तथा ये केचन मूढा 'उदकेन' शीतवारिणा 'सिद्धिं' परलोकम् 'उदाहरन्ति' प्रतिपादयन्ति 'सायम्' अपराह्णे विकाले वा 'प्रातश्च' प्रत्युषसि च आद्यन्तग्रहणात् मध्याह्ने च तदेवं सन्ध्यात्रयेऽप्युदकं स्पृशन्तः स्नानादिकां क्रियां जलेन कुर्वन्तः प्राणिनो विशिष्टां गतिमाप्नुवन्तीति केचनोदाहरन्ति, एतच्चासम्यक्, यतो यद्युदकस्पर्शमात्रेण सिद्धिः स्यात् तत उदकसमाश्रिता मत्स्यबन्धादयः क्रूरकर्माणो निरनुक्रोशा बहवः प्राणिनः सिद्ध्येयुरिति. यदपि तैरुच्यते-बाह्यमलापनयनसामर्थ्यमुदकस्य दृष्टमिति तदपि विचार्यमाणं न घटते, यतो यथोदकमनिष्टमलमपनयत्येवमभिमतमप्यङ्गरागं कुङ्कुमादिकमपनयति, ततश्च पुण्यस्यापनयनादिष्टविघातकृद्विरुद्धः स्यात्. किञ्च--यतीनां ब्रह्मचारिणामुदकस्नानं दोषायैव, तथा चोक्तम्-"स्नानं मददर्पकरं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम्। तस्मात्कामं परित्यज्य, न ते स्नान्ति दमे रताः॥ १ ॥" अपिच-"नोदकक्लिन्नगात्रो हि, स्नात इत्यभिधीयते। स स्नातो यो व्रतस्नातः, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥ १ ॥" ॥ १४ ॥ किञ्च—

(टीकार्थ) अब शास्त्रकार विशषरूपसे जलस्पर्शसे मुक्तिवादको खण्डन करनेके लिये कहते हैं-जो मूर्ख शीतल जलके स्नान आदिसे मुक्ति बतलाते हैं और कहते हैं कि अपराह्णमें (दोपहरकेबाद) अथवा विकालमें तथा प्रातःकालमें एवं आदि और अन्तके ग्रहणसे मध्याह्नकालमें, इस प्रकार तीनो सन्ध्याओंमें शीतल जलके द्वारा स्नान आदि क्रिया करनेवाले प्राणी मोक्ष गतिको प्राप्त करते हैं सो वे ठीक नहीं कहते हैं, यदि जलके स्पर्शमात्रसे मुक्ति मिले

तो जलके आश्रयसे रहनेवाले मँछुए (मछली मारनेवाले) जो बडे क्रूरकर्म करते हैं तथा निर्दय हैं वे भी मोक्षको प्राप्त करलें। तथा वे जो यह कहते हैं कि—बाहरके मलको दूर करनेका सामर्थ्य जलमें देखा जाता है सोभी विचार करने पर ठीक नहीं प्रतीत होता है क्योंकि जल जैसे बुरे मलको धोदेता है इसी तरह वह प्रिय अङ्गराग कुङ्कुम आदिकोभी धोडालता है अतः जलके द्वारा पापकी तरह पुण्यभी धुलजानेसे वह इष्टका विघातक अपना विरोधी होगा हितकारक नहीं। वस्तुतः ब्रह्मचारी साधुको जलस्नान दोष उत्पन्न करता है अत एव कहा है कि—(स्नानम्) अर्थात् स्नान मद और दर्प उत्पन्न करता है तथा वह प्रधान कामका कारण है इसलिये जो पुरुष इन्द्रियोंके दमनमें रत हैं वे कामका त्याग करके स्नान नहीं करते हैं। तथा यहभी कहा है कि—जलसे भींगा हुआ शरीरवाला पुरुष स्नान किया हुआ नही कहा जाता ? किन्तु जो पुरुष व्रतोंसे स्नान किया हुआ है वह स्नान किया हुआ कहा जाता है क्योंकि वह पुरुष बाहर और भीतर दोनोंही प्रकारसे शुद्ध है। १४

मू०-मच्छा य कुम्मा य सिरासिवा य, मग्गू य उट्टा(ट्ट)दगरक्खसा य।
अट्ठाणमेयं कुसला वयंति, उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति ॥१५॥

(छाया) मत्स्याश्च कूर्माश्च सरीसृपाश्च, मद्गव श्चोष्ट्रा उदकराक्षसाश्च।
अस्थान मेतत्कुशला वदन्त्युदकेन ये सिद्धि मुदाहरन्ति ॥

(अन्वयार्थः) (मच्छाय, कुम्माय, सिरीसिवा य) मत्स्य, कच्छप, सरीसृप, (उट्टा दगरक्खसा य) तथा ऊँट नामक जलचर और जलराक्षस (ये सबसे पहले मुक्ति प्राप्त करें यदि जलस्पर्शसें मुक्ति होती हो) (उदगेण जे सिद्धि मुदाहरंति) अतः जो जलस्पर्शसे मुक्तिकी प्राप्ति बताते है (अट्ठाण मेय कुसला वयंति) उनका कथन अयुक्त है यह मोक्षका तत्त्व जानने वाले पुरुष कहते हैं।

(भावार्थ) यदि जलस्पर्शसें मुक्तिकी प्राप्ति हो. तो मच्छली, कच्छप, सरीसृप तथा जलमें रहनेवाले दूसरे जलचर सबसे पहले मोक्ष प्राप्त करें परन्तु यह नहीं होता इसलिये जो जल-स्पर्शसे मोक्ष बताते हैं उनका कथन अयुक्त है यह मोक्षका तत्त्व जाननेवाले पुरुष कहते हैं।

(टीका) यदि जलसम्पर्कात्सिद्धिः स्यात् ततो ये सततमुदकावगाहिनो मत्स्याश्च कूर्माश्च सरीसृपाश्च तथा मद्गवः तथोष्ट्रा—जलचरविशेषाः तथोदकराक्षसा—जलमानुषाकृतयो जलचरविशेषा एते प्रथमं सिद्ध्येयुः, न चैतद्दृष्टमिष्टं वा, ततश्च ये उदकेन सिद्धिमुदाहरन्त्येतद् 'अवस्थानम्' अयुक्तम्—असाम्प्रतं 'कुशला' निपुणा मोक्षमार्गाभिज्ञा वदन्ति ॥ १५ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) यदि जलके सम्पर्कसे मुक्तिकी प्राप्ति हो, तो जो निरन्तर जलमें अवगाहन किये रहते हैं वे मछली, कछुवे सरीसृप जलमुर्ग तथा ऊँट नामवाले जलचर एवं जलमनुष्यके समान आकार वाले जलराक्षस नामक जलचर विशेष सबसे पहले मोक्ष प्राप्त करें परन्तु यह नहीं देखाजाता तथा यह इष्टभी नहीं है इसलिये जो जलस्पर्शसें मोक्षकी प्राप्ति बताते हैं उनका कथन अयुक्त है यह मोक्ष मार्गका रहस्य जाननेवाले निपुण पुरुष कहते हैं ॥ १५ ॥

(मूल) उदयं जइ कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामित्तमेव ।
अंधं व णेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा ॥१६॥

(छाया) उदकं यदि कर्ममलं हरेदेवं शुभ मिच्छामात्र मेव ।
अन्धश्च नेतार मनुसृत्य प्राणिन श्चैवं विनिघ्नन्ति मन्दाः ॥

(अन्वयार्थः)(उदयं जइ कम्ममलं हरेज्जा) जल यदि कर्म मलको हरे तो (एवं) इसी तरह (सुहं) वह पुण्यकोभी हरलेगा (इच्छामित्तमेव) इसलिये जल कर्ममलको हरता है यह कहना इच्छा मात्र है। (मंदा) मूर्ख जीव, (अंध णेयार मणुस्सरित्ता) अन्धे नेताके पीछे चलकर (पाणाणि चेवं हिंसंति) जलस्नान आदिके द्वारा प्राणियोंकी हिंसा करते हैं ।

(भावार्थ) जल यदि पापको हरे तो वह पुण्यकोभी क्यों नहीं हरलेगा अतः जलस्पर्शसे मोक्ष मानना मनोरथ मात्र है । वस्तुतः मूर्ख जीव, अज्ञानी नेताके पीछे चलते हुए जलस्नान आदिके द्वारा प्राणियोंका घात करते हैं ।

(टीका) यद्युदकं कर्ममलमपहरेदेवं शुभमपि पुण्यमपहरेत्, अथ पुण्यं नापहरेदेवं कर्ममलमपि नापहरेत्, अत इच्छामात्रमेवैतद्यदुच्यते–जलं कर्मापहारीति, एवमपि व्यवस्थिते ये स्नानादिकाः क्रियाः स्मार्तमार्गमनुसरन्तः कुर्वन्ति ते यथा जात्यन्धा अपरं जात्यन्धमेव नेतारमनुसृत्य गच्छन्तः कुपथश्रिताः भवन्ति नाभिप्रेतं स्थानमवाप्नुवन्ति एवं स्मार्तमार्गानुसारिणो जलशौचपरायणा 'मन्दा' अज्ञाः कर्तव्याकर्तव्यविवेकविकलाः प्राणिन एव तन्मयान् तदाश्रितांश्च पूतरकादीन् 'विनिघ्नन्ति' व्यापादयन्ति, अवश्यं जलक्रियया प्राणव्यपरोपणस्य सम्भवादिति ॥ १६ ॥ अपिच—

(टीकार्थ) दूसरी वात यह है कि–जल यदि कर्ममलको हरे, तो वह पुण्यकोभी हरलेगा। यदि वह पुण्यको नहीं हरे तो वह पापकोभी नहीं हर सकता है । अत जल, कर्मको हरण करता है यह कथन इच्छा मात्र है । वस्तुत. जलस्नान. कर्मको दूर नहीं करता है यह निश्चित होनेपरभी स्मृति मार्गके अनुयायी जो लोग स्नान आदि क्रियायें करते हैं (वे कुमार्गका

सेवन करते हैं) जैसे जन्मान्ध पुरुष दूसरे जन्मान्धके पीछे चलता हुआ कुमार्गमें जाता है वह अपने इष्ट स्थानको नहीं पहुँचता इसी तरह जलशौचमें रत रहनेवाले स्मृतिमार्गके अनुयायी मूर्ख हैं वे कर्तव्य और अकर्तव्यके विवेकसे रहीत हैं वे जलस्नान के द्वारा जलकायके जीवका तथा जलके आश्रित जीवोंका घात करते हैं, जलस्नान आदि क्रियासे अवश्य प्राणियोंका घात होता है ॥ १६ ॥

(मूल) पावाइं कम्माइं पकुव्वतो हि, सिओदगं तू जइ तं हरिज्जा।
सिज्झिंसु एगे दगसत्तघाती, मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु ॥ १७ ॥

(छाया) पापानि कर्माणि प्रकुर्वतोहि, शीतोदकन्तु यदि तद्धरेत ।
सिद्ध्येयुरेके दकसत्त्वघातिनो, मृषा वदन्तो जलसिद्धि माहुः ॥

(अन्वयार्थः) (पावाइं कम्माइं पकुव्वतो हि) यदि पापकर्म करनेवाले पुरुषके (तं) उस पापको (सिओदगंतु हरिज्जा) शीतल जलका स्नान दूर करदे तो (एगे दगसत्तघाती सिज्झिंसु) जलके जीवोंका घात करनेवाले मछुवे आदिभी मुक्तिका लाभ करे (मुसं वयंते जलसिद्धि-माहु) इसलिये जो जलस्नानसे मुक्तिकी प्राप्ति बतलाते हैं वे झूठे हैं ।

(भावार्थ) पापी पुरुषके पापको यदि जल हरण करे तो जलजन्तुओंको मारनेवाले मछुवेभी मुक्तिको प्राप्त करें अतः जलस्नानसे मुक्ति बतानेवाले झूठे हैं ।

'पापानि' पापोपादानभूतानि 'कर्माणि' प्राण्युपमर्दकारीणि कुर्वतोऽसुमतो यत्कर्मोपचीयते तत्कर्म यद्युदकमपहरेत् यद्येवं स्यात् तर्हि हिः यस्मादर्थे यस्मात्प्राण्युपमर्देन कर्मोपादीयते जलावगाहनाच्चापगच्छति तस्मादुदकसत्त्वघातिनः पापभूयिष्ठा अप्येवं सिद्ध्येयुः, न चैतद्दृष्टमिष्टं वा, तस्माद्ये जलावगाहनात्सिद्धिमाहुः ते मृषा वदन्ति ॥ १७ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) जिससे पापकी उत्पत्ति होती है ऐसे जीवहिंसा आदि कर्म करनेवाले प्राणीको जो पापकर्मका उपचय होता है उसको यदि जल हर लेवे छे अर्थात् ऐसा यदि होता हो तो (हि शब्द यस्मात् अर्थमें है) प्राणियोंके घातसे पाप होता है और जलमें अवगाहन करनेसे वह छूट जाता है यह बात सिद्ध होती है । ऐसी दशामें जलचर प्राणियोंका घात करनेवाले अत्यन्त पापी मछुवे आदिभी मोक्षको प्राप्त करलें परन्तु यह देखा नहीं जाता है तथा इष्टभी नहीं है अतः जो जलमें अवगाहन करनेसे सिद्धि बतलाते हैं वे मिथ्यावादी हैं । ९

(मूल) हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं अगणिं फुसंता। एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा, अगणिं फुसंताण कुकम्मिणंपि ॥१८॥

(छाया) हुतेन ये सिद्धिं मुदाहरन्ति, सायञ्च प्रातरग्निं स्पृशन्तः।
एवं स्यात् सिद्धिर्भवेत्तस्मादग्निं स्पृशतां कुकर्मिणामपि ॥

(अन्वयार्थः) (सायं च पायं अगणिं फुसंता) सायं काल और प्रातः काल अग्निका स्पर्श करते हुए (जे) जो लोग (हुतेण सिद्धिं मुदाहरंति) होम करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति बतलाते हैं (वेभी झूठे हैं) (एवं सिया सिद्धि) यदि अग्निके स्पर्शसे सिद्धि मिले तो (अगणिं फुसंताण कुकम्मिणंपि हवेज्ज) अग्निका स्पर्श करनेवाले कुकर्मियोंकोभी मोक्ष मिलजाय।

(भावार्थ) प्रातः काल और सायं काल अग्निका स्पर्श करते हुए जो लोग अग्निमें होम करनेसे मोक्षकी प्राप्ति बतलाते हैं वे भी मिथ्यावादी हैं। यदि इस तरह मोक्ष मिले तो अग्निस्पर्श करनेवाले कुकर्मियोंको भी मोक्ष मिलजाना चाहिये।

(टीका) 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम' इत्यस्माद्वाक्यात् 'ये' केचन मूढा 'हुतेन' अग्नौ हव्यप्रक्षेपेण 'सिद्धिं' सुगतिगमनादिकां स्वर्गावाप्तिलक्षणाम् 'उदाहरन्ति' प्रतिपादयन्ति, कथम्भूताः?–'सायम्' अपराह्णे विकाले वा 'प्रातश्च' प्रत्युषसि अग्निं 'स्पृशन्तः' यथेष्टैर्हव्यैरग्निं तर्प्पयन्तस्तत एव यथेष्टगतिमभिलषन्ति, आहुश्चैवं ते यथा—अग्निकार्यात्स्यादेव सिद्धिरिति, तत्र च यद्येवमग्निस्पर्शेन सिद्धिर्भवेत् ततस्तस्मादग्निं संस्पृशतां 'कुकर्मिणाम्' अङ्गारदाहककुम्भकारायस्कारादीनां सिद्धिः स्यात्, यदपि च मन्त्रपूतादिकं तैरुदाह्रियते तदपि च निरन्तरा सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, यतः कुकर्मिणामप्यग्निकार्ये भस्मापादनमग्निहोत्रिकादीनामपि भस्मसात्करणमिति नातिरिच्यते कुकर्मिभ्योऽग्निहोत्रादिकं कर्मेति, यदप्युच्यते—अग्निमुखा वै देवाः, एतदपि युक्तिविकलत्वात् वाङ्मात्रमेव, विष्ठादिभक्षणेन चाग्नेस्तेषां बहुतरदोषोत्पत्तेरिति ॥ १८ ॥ उक्तानि पृथक् कुशीलदर्शनानि, अयमपरस्तेषां सामान्योपालम्भ इत्याह—

(टीकार्थ) "स्वर्गकी कामनावाले पुरुषको अग्निहोत्र करना चाहिये" इस वाक्यके कारण जो मूर्ख जीव, अग्निमें होम करनेसे स्वर्गकी प्राप्तिरूप सिद्धि यानी सुगतिगमन बतलाते हैं। (वे मिथ्यावादी हैं) वे कैसे हैं? वे दोपहरके बाद अथवा सायंकालमें तथा प्रातःकालमें इच्छानुसार हविष्के द्वारा अग्निकी तृप्ति करते हुए उस कर्मसे इच्छानुसार गति चाहते हैं। वे कहते हैं कि अग्निकार्य्य करनेसे अवश्य सिद्धि मिलती हैं। परन्तु यदि अग्निके स्पर्शसे मुक्ति मिले तो

आग जलाकर कोयला बनानेवाले, तथा कुम्हार और लोहार आदि कुकर्मियोंकोभी सिद्धि मिलनी चाहिये। अग्निस्पर्शसे सिद्धि बतानेवाले जो लोग मन्त्रसे पवित्र अग्निके स्पर्शमें सिद्धिका वर्णन करते हैं यह उनके मूर्ख मित्रही मान सकते हैं क्योंकि कुकर्मी जीवोंके द्वारा डाली हुई चीजको जैसे अग्नि भस्म करती है उसी तरह अग्निहोत्रीके द्वारा डाली हुई चीजकोभी करती है, इसलिये कुकर्मीकी अपेक्षा अग्निहोत्रीके अग्निकार्य्यमें कोई विशेषता नहीं है। तथा वे जो यह कहते हैं कि देवताओंका मुख अग्नि है यहभी युक्तिरहित होनेके कारण कथनमात्र है। अग्नितो विष्टाकोभी जलाती है अतः ऐसा माननेसे बहुत दोषोंकी उत्पत्ति होगी। १८

(मूल)अपरिक्ख दिट्ठं ण हु(एव)सिद्धी,एहिंति ते घायमबुज्झमाणा।
भूएहिं जाणं पडिलेह सातं, विज्जं गहायं तसथावरेहिं ॥ १९ ॥

(छाया) अपरीक्ष्य दृष्टं नैवैवं सिद्धिः, एष्यन्ति ते घातमबुध्यमानाः।
भूतैर्जानीहि प्रत्युपेक्ष्य सातं, विद्यां गृहीत्वा त्रसस्थावरैः ॥

(अन्वयार्थः) (अपरिक्ख दिट्ठं) जलावगाहन और अग्निहोत्र आदिसे सिद्धि माननेवाले लोगोंने परीक्षाके बिना ही इस सिद्धान्तको स्वीकार किया है (णहु एव सिद्धी) इस प्रकार सिद्धि नहीं मिलती है (अबुज्झमाणा ते घायं एहिंति) वस्तुतत्त्वको न समझने वाले वे लोग संसारको प्राप्त करेंगे (विज्जं गहायं) ज्ञानको ग्रहण करके (पडिलेह) और विचार कर (तसथावरेहिं भूएहिं) त्रस और स्थावर प्राणियोंमें (सातं) सुखकी इच्छा (जाणं) जानो।

(भावार्थ) जो अग्निहोत्रसे अथवा जलावगाहनसे सिद्धिलाभ कहते हैं वे परीक्षा करके नहीं देखते हैं वस्तुतः इन कर्मोंसे सिद्धि नहीं मिलती है अतः उक्त मन्तव्यवाले विवेकरहित हैं, वे इन कर्मोंके द्वारा संसारको प्राप्त करेंगे। अतः ज्ञान प्राप्त करके त्रस और स्थावर जीवोंमें सुखकी इच्छा जानकर उनका घात नहीं करना चाहिये।

(टीका) यैर्मुमुक्षुभिरुदकसम्पर्केणाग्निहोत्रेण वा सिद्धिरभिहिता तैः 'अपरीक्ष्य दृष्टमेतत्' युक्तिविकलमभिहितमेतत्, किमिति? यतो 'नहु' नैव 'एवम्' अनेन प्रकारेण जलावगाहनेन अग्निहोत्रेण वा प्राण्युपमर्दकारिणा सिद्धिरिति, ते च परमार्थमबुद्धयमानाः प्राण्युपघातेन पापमेव धर्मबुद्धया कुर्वन्तो घात्यन्ते-व्यापाद्यन्ते नानाविधैः प्रकारैर्यस्मिन् प्राणिनः स घातः-संसारस्तमेष्यन्ति, अप्कायतेजः कायसमारम्भेण हि त्रसस्थावराणां प्राणिनामवश्यं भावी विनाशस्तद्विनाशे च संसार एव न सिद्धिरित्यभिप्रायः, यत एवं ततो 'विद्वान्' सदसद्विवेकी यथावस्थिततत्त्वं गृहीत्वा त्रसस्थावरैर्भूतैः—जन्तुभिः कथं साम्प्रतं-सुखमवाप्यत इत्येतत् प्रत्युपेक्ष्य

जानीहि–अवबुद्धयस्व, एतदुक्तं भवति—सर्वेऽप्यसुमन्तः सुखैषिणो दुःखद्विषो, न च तेषां सुखैषिणां दुःखोत्पादकत्वेन सुखावाप्तिर्भवतीति, यदिवा–'विज्जं गहाय' त्ति विद्यां ज्ञानं गृहीत्वा विवेकमुपादाय त्रसस्थावरैर्भूतैर्जन्तुभिः करणभूतैः 'सातं' सुखं 'प्रत्युपेक्ष्य' पर्यालोच्य 'जानीहि' अवगच्छेति, यत उक्तम्–"पढमं नाणं तयो दया, एव चिट्ठइ सव्व संजए। अन्नाणी किं काही, किंवा णाही छेयपावगं ॥ १ ॥ इत्यादि" ॥ १९ ॥ ये पुनः प्राण्युपमर्द्देन सातमभिलषन्तीत्यशीलाः कुशीलाश्च ते संसारे एवंविधा अवस्था अनुभवन्तीत्याह—

(टीकार्थ) मोक्षकी कामनावाले होकर जो लोग जलावगाहन तथा अग्निहोत्रके द्वारा सिद्धिकी प्राप्ति बतलाते हैं वे उस अपने युक्ति रहित मन्तव्यपर ध्यान नहीं देते हैं। क्योंकि जलावगाहन और अग्निहोत्र करनेसे जीवोंका घात होता है, अतः इस जीवोपघातक क्रियासे मोक्ष मिलना सम्भव नही है। वस्तुतः वे वस्तुतत्त्वको नहीं जानते हैं इसलिये वे धर्म समझकर प्राणियोंका घात करते हुए पापही करते हैं। इस पाप कर्मके सेवन करनेसे वे घातकोही प्राप्त होंगे। जिसमें प्राणिवर्ग नाना प्रकारसे मारे जाते हैं उसे घात कहते हैं, वह घात संसार है, वे उसीको प्राप्त करेंगे (मोक्षको नहीं) क्योंकि जलकाय और अग्निकायके आरम्भसे त्रस और स्थावर प्राणियोंका अवश्य नाश होता है और उनके नाशसे संसारही प्राप्त होगा सिद्धि नहीं मिलेगी यह शास्त्रकारका आशय है। प्राणियोंके घातसे संसारही मिलता है मुक्ति नहीं मिलती है इसलिये सत् और असत्के विवेकी विद्वान पुरुषको यही विचारना चाहिये कि—त्रस और स्थावर प्राणियोके घातसे जीवको सुख कैसे मिल सकता है? भाव यह है कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं और दुःखसे द्वेष करते हैं उन सुखकी कामनावाले प्राणियोंको कष्ट देनेसे कदापि सुख नहीं मिल सकता है। अथवा ज्ञान प्राप्त करके पुरुषको यह जानना चाहिये कि त्रस और स्थावर प्राणियोंके द्वाराही सुख मिलता है (अर्थात् इनको जानकर इनकी रक्षा करनेसेही सुख मिलता है) अत एव शास्त्रमें कहा है कि पहले ज्ञान प्राप्त किया जाता है, तत्पश्चात् दया की जाती है। अज्ञानी पुरुष क्या क्या कर सकता है? और वह पुण्य तथा पापके रहस्यको क्या जान सकता है?। १९

(मूल) थणंति लुप्पंति तस्संति कम्मी, पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू।
तम्हा विऊ विरतो आयगुत्ते, दट्ठुं तसे या पडिसंहरेज्जा ॥२०॥

१ प्रथमं ज्ञानं ततो दया एवं तिष्ठति सर्वसंयतेषु अज्ञानी किं करिष्यति किं वा ज्ञास्यति छेकपापकं ॥

(छाया) स्तनन्ति लुप्यन्ते त्रस्यन्ति कर्मिण, पृथक् जन्तवः परिसंख्याय भिक्षुः ।
तस्माद् विद्वान् विरत आत्मगुप्तो, दृष्ट्वा त्रसांश्च प्रतिसंहरेत् ॥

(अन्वयार्थः) (कम्मी जगा) पापकर्म करनेवाले प्राणी अलग अलग (थणंति) रोदन करते हैं (लुप्पंति) तलवार आदिके द्वारा छेदन किये जाते हैं (तसंति) डरते हैं (तम्हा) इसलिये (विऊ भिक्खू) विद्वान् मुनि (विरतो) पापसे निवृत्त (आयगुत्ते) तथा आत्माकी रक्षा करनेवाला बने (तसेयदठ्ठु) वह त्रस और स्थावर प्राणीको देखकर (पडिसंहरेज्जा) उनके घातकी क्रियासे निवृत्त हो जाय ।

(भावार्थ) पापी प्राणी नरक आदिमे दुःख भोगते हैं यह जानकर विद्वान मुनि पापसे निवृत्त होकर अपने आत्माकी रक्षा करे । वह त्रस और स्थावर प्राणियोंके घातकी क्रिया न करे ।

(टीका) तेजःकायसमारम्भिणो भूतसमारम्भेण सुखमभिलपन्तो नरकादिगतिं गतास्तीव्रदुःखैः पीड्यमाना असह्यवेदनाग्रातमानसा अशरणाः 'स्तनन्ति' रुदन्ति केवलं करुणमाक्रन्दन्तीतियावत् तथा 'लुप्पंती'ति छिद्यन्ते खड्गादिभिरेवं च कदर्थ्यमानाः 'त्रस्यन्ति' प्रपलायन्ते, कर्माण्येषां सन्तीति कर्मिणः—सपापा इत्यर्थः, तथा पृथक् 'जगा'इति जन्तव इति, एवं 'परिसङ्ख्याय' ज्ञात्वा भिक्षणशीलो 'भिक्षुः' साधुरित्यर्थः, यस्मात्प्राण्युपमर्दकारिणः संसारान्तर्गता विलुप्यन्ते तस्मात् 'विद्वान्' पण्डितो विरतः पापानुष्ठानादात्मा गुप्तो यस्य सोऽयमात्मगुप्तो मनोवाक्कायगुप्त इत्यर्थः, दृष्ट्वा च त्रसान् चशब्दात्स्थावरांश्च 'दृष्ट्वा' परिज्ञाय तदुपघातकारिणीं क्रियां 'प्रतिसंहरेत्' निवर्तयेदिति ॥ २० ॥ साम्प्रतं स्वयूथ्याः कुशीला अभिधीयन्त इत्याह—

(टीकार्थ) प्राणियोंके घातसे जो सुख पानेकी इच्छा करते हैं वे अशील और कुशील हैं। वे संसारमें जैसी अवस्था प्राप्त करते हैं सो शास्त्रकार कहते हैं—जो लोग अग्निकायका आरम्भ करते हैं और भूतके आरम्भसे सुख पानेकी इच्छा करते हैं वे नरक आदि गतियोंमें जाकर तीव्र दुःखोंसे पीडित किये जाते हैं । वे असह्य वेदनासे सन्तप्तमन तथा शरणरहित होकर केवल करुण रोदन करते हैं तथा तलवार आदिसे छेदन किये जाते हैं । इस प्रकार तलवार आदिके द्वारा छेदन किये जाते हुए वे प्राणी डरकर भागते हैं। जो पापकर्म करते हैं वे कर्मी कहलाते हैं । पापसहित पुरुषोंको कर्मी कहते हैं । इन पापी जीवोंकी पृथक् पृथक् यह दशा होती है । प्राणियोंका घात करनेवाले जीव, संसारमें पडे पडे क्लेश भोगते हैं यह जानकर भिक्षावृत्तिसे जीवन निर्वाह करनेवाला, पण्डित तथा पाप करनेसे निवृत्त एवं मन

वचन और कायसे गुप्त रहनेवले साधु त्रस और च शब्द से स्थावर प्राणियोंको जानकर उनके घातकी क्रियासे निवृत्त होजाय ॥ २० ॥

(मूल) जे धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे, वियडेण साहट्टु य जे सिणाइं।
जे धोवती लूसयतीव वत्थं, आहाहु से णागणियस्स दूरे ॥२१॥

(छाया) यो धर्मलब्धं विनिधाय भुङ्क्ते, विकटेन संहृत्य च यः स्नाति ।
यो धावति भूषयति च वस्त्रम् अथाहुः स नाग्न्यस्य दूरे ॥

(अन्वयार्थ:) (जे) जो साधुनामधारी (धम्मलद्धं) धर्मसे मिले हुए अर्थात् उद्देशक, क्रीत आदि दोषोंसे रहित आहारको (विणिहाय) छोडकर (भुंजे) उत्तम भोजन खाता है (वियडेण) तथा अचित्त जलसेभी (साहट्टु) अङ्गोको संकोच करकेभी (जे सिणाइ) जो स्नान करता है (जे) तथा जो (धोवती) अपने वस्त्र या पैर आदिको धोताहै (भूसयती वत्थे) तथा शोभाकेलिये वडे वस्त्रको छोटा या छोटेको वडा करता है (अहाहु) तीर्थंकर तथा गणधरोने कहाहैकि (से णागणिपस्स दूरे) वह संयमसे दूर है ।

(भावार्थ) जो साधुनामधारी दोषरहित आहारको छोडकर दूसरा स्वादिष्ट भोजन खाता है तथा अचित्त जलसे अचित्त स्थान में अङ्गोंको संकोच करकेभी स्नान करता है तथा जो शोभाके लिये अपने पैर तथा वस्त्र आदिको धोता है एवं जो शृङ्गारकेलिये छोटे वस्त्रको वडा और वडेको छोटा करता है वह संयमसे दूर है ऐसा तीर्थङ्कर और गणधरोंने कहा है ।

(टीका) 'ये' केचन शीतलविहारिणो धर्मेण–मुधिकया लब्धं धर्मलब्धं उद्देशकक्रीतकृतादिदोषरहितमित्यर्थः, तदेवम्भूतमप्याहारजातं 'विनिधाय' व्यवस्थाप्य सन्निधिं कृत्वा भुञ्जन्ते तथा ये 'विकटेन' प्रासुकोदकेनापि सङ्कोच्याङ्गानि प्रासुकएव प्रदेशे देशसर्वस्नानं कुर्वन्ति यो वस्त्रं 'धावति' प्रक्षालयति तथा 'लूषयति' शोभार्थं दीर्घमुत्पाटयित्वा ह्रस्वं करोति ह्रस्वं वा सन्धाय दीर्घं करोति एवं लूषयति, तदेवं स्वार्थं परार्थं वा यो वस्त्रं लूषयति. अथासौ 'णागणियस्स'त्ति निर्ग्रन्थभावस्य संयमानुष्ठानस्य दूरे वर्तते, न तस्य संयमो भवतीत्येवं तीर्थङ्करगणधरादय आहुरिति ॥ २१ ॥ उक्ताः कुशीलाः, तत्प्रतिपक्षभूताः शीलवन्तः प्रतिपाद्यन्त इत्येतदाह—

(टीकार्थ) अब अपने यूथवाले कुशील बताये जाते हैं । जो शीतल विहारी पुरुष धर्मसे प्राप्त अर्थात् उद्देशिक, तथा क्रीत आदि दोषोंसे रहित आहारको छोडकर दूसरा सदोष आहार खाते हैं तथा प्रासुक जलसे भी अपने अङ्गोंको संकोच करके प्रासुक भूमिमेंभी देशमे या सर्व-

र्णसे स्नान करते हैं, तथा जो अपने वस्त्रोंको धोते हैं एवं जो शोभाके लिये वडे वस्त्रको काट-कर छोटा और छोटेको जोड़कर बडा बनाते हैं इस प्रकार जो अपनेलिये या दूसरेकेलिये वस्त्रको छोटा या वडा करते हैं वे साधुपनेसे अर्थात् संयमके अनुष्ठानसे दूर है, उनको संयम नहीं है यह तीर्थङ्कर तथा गणधर आदिने कहा है। २१

मूल-कम्मं परिन्नाय दगंसि धीरे, वियडेण जीविज्ज य आदिमोक्खं।
से वीयकंदाइ अभुंजमाणे, विरते सिणाणाइसु इत्थियासु॥२२॥

(छाया) कर्म परिज्ञायोदके धीरो विकटेन जीवे च्चादिमोक्षम्।
स वीजकन्दान् अभुञ्जानो विरतः स्नानादिषु स्त्रीषु॥

(अन्वयार्थ) (धीरे) धीर पुरुष, (दगंसि) जलस्नानमें (कम्मं परिण्णाय) कर्मबन्ध जानकर (आदि मोक्खं) संसारसे मोक्षपर्य्यन्त (वीयडेण) प्रासुक जलकेद्वारा (जीविज्ज) जीवन धारण करे। (से) वह साधु (वीयकंदाइ अभुंजमाणे) वीजकन्द आदिका भोजन न करता हुआ (सिणाणाइसु इत्थियासु) स्नान आदि तथा स्त्री आदिसे (विरते) अलग रहे।

(भावार्थ) बुद्धिमान पुरुष, जलस्नानसे कर्मबन्ध जानकर मुक्तिपर्य्यन्त प्रासुक जलसे जीवन धारण करे, वह बीजकाय तथा कन्द आदिका भोजन न करे एवं स्नान तथा मैथुन सेवनसे दूर रहे।

(टीका) धिया राजते इति धीरो-बुद्धिमान् 'उदगंसि'त्ति उदकसमारम्भे सति कर्मबन्धो भवति, एवं परिज्ञाय किं कुर्यादित्याह-'विकटेन' प्रासुकोदकेन सौवीरादिना 'जीव्यात्' प्राणसंधारणं कुर्यात्, चशब्दात् अन्येनाप्याहारेण प्रासुकेनैव प्राणवृत्तिं कुर्यात्, आदिः-संसारस्तस्मान्मोक्ष आदिमोक्षः (तं) संसारविमुक्ति यावदिति, धर्मकारणानां वाऽऽदिभूतं शरीरं तद्विमुक्ति यावत् यावज्जीवमित्यर्थः, किं चासौ साधुर्बीजकन्दादीन् अभुञ्जानः, आदिग्रहणात् मूलपत्रफलानि गृह्यन्ते, एतान्यप्यपरिणतानि परिहरन् विरतो भवति, कुत इति दर्शयति-स्नानाभ्यङ्गोद्वर्तनादिषु क्रियासु निष्प्रतिकर्मशरीरतयाऽन्यासु च चिकित्सादिक्रियासु न वर्तते, तथा स्त्रीषु च विरतः, वस्तिनिरोधग्रहणात् अन्येऽप्याश्रवा गृह्यन्ते, यश्चैवम्भूतः सर्वेभ्योऽप्याश्रवद्वारेभ्यो विरतो नासौ कुशीलदोषैर्युज्यते तदयोगाच्च न संसारे बम्भ्रमीति, ततश्च न दुःखितः स्तनति नापि नानाविधैरपायैर्विलुप्यत इति॥ २२॥ पुनरपि कुशीलानेवाधिकृत्याह—

(टीकार्थ) कुशील, कहे जा चुके अब उनसे विपरीत सुशील कहे जाते हैं जो बुद्धिसे शोभा पाता है उसे धीर कहते हैं। धीर, बुद्धिमानको कहते हैं वह पुरुष जलके आरम्भसे कर्मबन्ध होता है यह जानकर क्या करे? सो शास्त्रकार बताते हैं वह पुरुष प्रासुक सौवीरक आदि जलसे अपना प्राण धारण करे तथा च शब्दसे दूसरे प्रासुकही आहारसे अपने प्राणकी रक्षा करे। संसारको आदि कहते हैं उससे मोक्ष होना 'आदिमोक्ष' कहलाता है। वह जब तक न हो साधु प्रासुक वस्तुके सेवनसे ही अपना प्राण धारण करे। अथवा धर्मके कारणरूप इस शरीरका मोक्ष (पात) जबतक न हो अर्थात् जीवनभर साधु प्रासुक वस्तुके द्वाराही अपना निर्वाह करे। वह साधु बीज और कन्द आदिका आहार भी न करे। यहां आदि शब्दसे मूल, पत्र और फलोंका ग्रहण है। जो मूल, पत्र और फल प्रासुक नहीं हैं, उनकोभी विरत पुरुष त्याग देते हैं, विरत पुरुष ऐसा क्यों करते हैं? सो शास्त्रकार दिखलाते हैं विरत पुरुष स्नान तैलादिके द्वारा अङ्गमर्दन तथा पिट्ठी आदिका शरीरमें लेप करना इत्यादि क्रियाओंसे दूर रहकर शरीरका परिशोधन नहीं करते हैं तथा दूसरी चिकित्सा आदि क्रियायें भी नहीं कराते हैं तथा वे स्त्रीसे भी विरत रहते हैं यहां वस्तिके निरोधके ग्रहणसे दूसरे आश्रवभी गृहीत होते हैं। जो पुरुष ऐसा है वह समस्त आश्रवद्वारोंसे विरत है वह पुरुष कुशीलके दोषोंसे लिप्त नहीं होता है और उनसे लिप्त न होनेसे वह संसारमें बार बार भ्रमण नहीं करता है इस कारण वह दुःखित होकर रोता नहीं है तथा नाना प्रकारके दुःखोंसे वह पीडितभी नहीं किया जाता है।

(मूल) जे मायरं च पियरं च हिच्चा, गारं तहा पुत्तपसुं धणं च।
कुलाइं जे धावइ साउगाइं, अहाहु से सामणियस्स दूरे ॥२३॥

(छाया) यो मातरञ्च पितरञ्च हित्वाऽगारं तथा पुत्रपशून् धनञ्च।
कुलानि यो धावति स्वादुकानि, अथाहुः स श्रामण्यस्य दूरे ॥

(अन्वयार्थः) (जे मायरं च पियरं) जो माता पिताको (तहा अगारं पुत्तपसुं धणं च हिच्चा) तथा घर, पुत्र, पशु और धनको छोड़कर (साउगाइं कुलाइं धावइ) स्वादिष्ठ भोजनवाले घरोंमें दौड़ता है (से सामणियस्स दूरे अहाहु) वह श्रमणभावसे दूर है यह तीर्थङ्करोंने कहा है।

(भावार्थ) जो पुरुष माता, पिता, घर, पुत्र पशु और धनको छोड़कर दीक्षा ग्रहण करकेभी स्वादिष्ट भोजनके लोभसे स्वादिष्ट भोजनवाले घरोंमें दौड़ता है वह साधुपनेसे दूर है यह तीर्थङ्करोंने कहा है।

(टीका) ये केचनापरिणतसम्यग्धर्माणस्त्यक्त्वा मातरं च पितरं च, मातापित्रोर्दुस्त्यजत्वादुपादानं, अतो भ्रातृदुहित्रादिकमपि त्यक्त्वेत्येतदपि द्रष्टव्यं, तथा 'अगारं' गृहं 'पुत्रम्' अपत्यं 'पशुं' हस्त्यश्वरथगोमहिष्यादिकं धनं च त्यक्त्वा सम्यक् प्रव्रज्योत्थानेनोत्थाय-पञ्चमहाव्रतभारस्य स्कन्धं दत्त्वा पुनर्हीनसत्त्वतया रससातादिगौरवगृद्धो यः 'कुलानि' गृहाणि 'स्वादुकानि' स्वादुभोजनवन्ति 'धावति' गच्छति, अथासौ 'श्रामण्यस्य' श्रमणभावस्य दूरे वर्त्तत एवमाहुस्तीर्थंकरगणधरादय इति ॥ २३ ॥ एतदेव विशेषेण दर्शयितुमाह-(ग्रन्थाग्रम् ४७५०)

(टीकार्थ) जिनका धर्म अभी परिपक्व नहीं है, वे माता-पिताको (माता-पिताको छोड़ना कठिन है इसलिये यहां इनकाही ग्रहण है वस्तुतः भाई और पुत्री आदिकोभी समझना चाहिये।) छोड़कर तथा पुत्र और हाथी, घोड़ा, रथ, गाय, भैंस आदि पशु एवं धनको छोड़कर दीक्षा ग्रहण करके संयमरूपी भारमें अपना कन्धा लगाता है वह यदि शक्तिहीन होकर तथा रसलोलुप बनकर स्वादिष्ट भोजनवाले घरोंमें स्वादिष्ट भोजनके लिये दौड़ा करता है तो वहभी साधुपनेसे दूर है यह तीर्थङ्कर और गणधर आदिने कहा है। २३

(मूल) कुलाइं जे धावइ साउगाइं, आघाति धम्मं उदराणुगिद्धे ।
अहाहु से आयरियाण सयंसे, जे लावएज्जा असणस्स हेऊ ॥२४॥

(छाया) कुलानि यो धावति स्वादुकानि, आख्याति धर्ममुदरानुगृद्धः ।
अथाहुः स आचार्याणां शतांशे, य आलापयेदशनस्य हेतोः ॥

(अन्वयार्थः) (उदराणुगिद्धे) पेट पालनेमें तत्पर (जे) जो पुरुष (साउगाइं कुलाइं धावइ) स्वादिष्ट भोजनवाले घरोंमें जाते हैं (धम्मं आघाति) तथा वहां जाकर धर्म कथन करते हैं (से आयरियाणं सयंसे) वे आचार्य्य या आर्य्यके शतांश भी नहीं हैं (जे असणस्स हेऊ लावएज्जा) तथा जो भोजनके लोभसे अपना गुण वर्णन कराते हैं वेभी आर्य्योंके शतांशभी नहीं हैं ।

(भावार्थ) जो पेटु स्वादिष्ट भोजनके लिये लोभसे स्वादिष्ट भोजनवाले घरोंमें भिक्षार्थ जाया करते हैं और वहां जाकर धर्मकथा सुनाते हैं तथा जो भोजनके लिये अपना गुण वर्णन कराते हैं वे आचार्य्योंके शतांशभी नहीं हैं यह तीर्थङ्करोंने कहा है।

(टीका) यः कुलानि स्वादुभोजनवन्ति 'धावति' इयर्त्ति तथा गत्वा धर्ममाख्याति भिक्षार्थं वा प्रविष्टो यद्यस्मै रोचते कथानकसम्बन्धं तत्तस्याख्याति, किम्भूत इति दर्शयति-उदरेऽनुगृद्ध उदरानुगृद्धः-उदरभरणव्यग्रस्तुन्दपरिमृज इत्यर्थः,

इदमुक्तं भवति-यो ह्युदरगृद्ध आहारादिनिमित्तं दानश्रद्धकाख्यानि कुलानि गत्वाऽऽख्यायिकाः कथयति स कुशील इति, अथासावाचार्यगुणानामार्यगुणानां वा शतांशे वर्तते शतग्रहणमुपलक्षणं सहस्रांशादेरप्यधो वर्त्तते इति यो ह्यन्नस्य हेतुं-भोजननिमित्तमपरवस्त्रादिमित्तं वा आत्मगुणानपरेण 'आलापयेत्' भाणयेत्, असावप्यार्यगुणानां सहस्रांशे वर्तते किमङ्ग पुनर्यः स्वत एवाऽऽत्मप्रशंसां विदधातीति ॥२४॥ किञ्च—

(टीकार्थ) जो स्वादिष्ट भोजनके लोभसे स्वादिष्ट भोजनवाले घरोंमें भिक्षार्थ जाया करते हैं वे साधु नहीं हैं इसी बातको विशेषरूपसे दिखानेके लिये शास्त्रकार कहते हैं—जो साधु नामधारी स्वादिष्ट भोजनवाले घरोंमें (स्वादु भोजनकेलिये) जाता रहता है और जाकर वहां धर्मकथा कहता है अथवा जो जिसको रुचिकर है वह कथा उसको कहता है वह कैसा है? सो शास्त्रकार दिखाते हैं-वह 'उदरानुगृद्ध है' अर्थात् वह अपने पेटके भरण करनेमें आसक्त है। आशय यह है कि-जो पेट भरनेमें आसक्त पुरुष आहार आदिके निमित्त दानमें श्रद्धा रखनेवाले घरोंमें जाकर धर्मकथा कहता है वह कुशील है। वह पुरुष आचार्य्य अथवा आर्य्य पुरुषके शतांशमेंभी नहीं है। यहां शतका ग्रहण उपलक्षण है इसलिये वह सहस्र अंशसेभी नीच है। तथा जो भोजनके लिये अथवा वस्त्र आदिके लिये दूसरेके द्वारा अपना गुण वर्णन कराता है वहभी आचार्य्य अथवा आर्य्य पुरुषके सहस्रांशमेंभी नहीं है फिर जो अपना गुण अपनेही मुखसे कहता है उसका तो कहना ही क्या है? । २४

(मूल) णिक्खम्म दीणे परभोयणंमि, मुहमंगलीए उदराणुगिद्धे ।
नीवारगिद्धेव महावराहे, अदूरए एहिइ घातमेव ॥ २५ ॥

(छाया) निष्क्रम्य दीनः परभोजने, मुखमाङ्गलिक उदरानुगृद्धः ।
नीवारगृद्ध इव महावराह अदूर एष्यति घातमेव ॥

(अन्वयार्थः) (णिक्खम्म) जो पुरुष घरसे निकलकर (परभोयणंमि दीणे) दूसरेके भोजनके लिये दीन बनकर (मुहमंगलीए) भाटकी तरह दूसरेकी प्रशंसा करता है (नीवारगिद्धेव महावराहे) वह चावलके दानोंमें आसक्त महान् सूअरकी तरह (उदराणुगिद्धे) उदर पोषणमें आसक्त है (अदूरए) वह शीघ्रही (घातमेव) नाशकोही (एहिइ) प्राप्त होगा ।

(भावार्थ) जो पुरुष अपना घर तथा धनधान्य आदि छोड़कर दूसरेके भोजनके लिये दीन होकर भाटकी तरह दूसरेकी प्रशंसा करता है वह चावलके दानोंमें आसक्त बड़ा सूअरकी तरह पेट भरनेमें आसक्त है, वह शीघ्रही नाशको प्राप्त होगा ।

(टीका) यो ह्यात्मीयं धनधान्यहिरण्यादिकं त्यक्त्वा निष्क्रान्तो निष्क्रम्य च 'परभोजने' पराहारविषये 'दीनो' दैन्यमुपगतो जिह्वेन्द्रियवशार्त्तो बन्दिवत् 'मुखमाङ्गलिको' भवति मुखेन मङ्गलानि-प्रशंसावाक्यानि ईदृशस्तादृशस्त्वमित्येवं दैन्यभावमुपगतो वक्ति, उक्तं च-"सो एसो जस्स गुणा वियरंतनिवारिया दसदिसासु । इहरा कहासु सुच्चसि पच्चक्खं अज्ज दिट्ठोऽसि ॥ १ ॥" इत्येवमौदर्यं प्रति गृद्धः अध्युपपन्नः, किमिव ?-'नीवारः' सूकरादिमृगभक्ष्यविशेषस्तस्मिन् गृद्ध-आसक्तमना गृहीत्वा च स्वयूथं 'महावगह्ने' महाकायः सूकरः स चाहारमात्रगृद्धोऽतिसंकटे प्रविष्टः सन् 'अदूर एव' शीघ्रमेव 'घातं'विनाशम् 'एष्यति' प्राप्स्यति, एवकारोऽवधारणे, अवश्यं तस्य विनाश एव नापरा गतिरस्तीति, एवमसावपि कुशील आहारमात्रगृद्धः संसारोदरे पौनः पुन्येन विनाशमेवेति ॥ २५ ॥ किंचान्यत्—

(टीकार्थ) जो अपना धनधान्य आदि छोडकर निकल गया है, और निकलकर दूसरेके आहारके विषयमें दीन होता है तथा जिव्हाके वशीभूत होकर भाटकी तरह दूसरेकी प्रशंसा करता है अर्थात् आप ऐसे हैं आप वैसे हैं इत्यादि प्रशंसाकी बातें कहता है जैसेकि-"वही आप हैं जिसके गुण दश दिशाओंमें फैले हैं, पहले मैं कथामें सुनताथा परन्तु आज प्रत्यक्ष आपको देखता हूं"। वह पुरुष पेट भरनेमें आसक्त है किसके समान ? सुअर आदि प्राणीके भोजनको नीवार करते हैं उसमें आसक्त, विशाल शरीरवाला सुअर अपने यूथको लेकर जैसे आसक्त होता है और आसक्त होकर भारी संकटमें पडता है वह जैसे शीघ्रही नाशको प्राप्त होता है एवकार अवधारणार्थक है अत अवश्य उसका नाश होता है, दूसरी गति नहीं होती है इसी तरह पेट भरनेमें आसक्त वह कुशीलभी वार वार संसारमें नाशको प्राप्त होता है। २५

(मूल) अन्नस्स पाणस्सिहलोइयस्स, अणुप्पियं भासति सेवमाणे ।
पासत्थयं चेव कुशीलयं च, निस्सारए होइ जहा पुलाए॥२६॥

(छाया) अन्नस्य पानस्यैहलौकिकस्या-नुप्रियं भाषते सेवमानः ।
पार्श्वस्थताञ्चैव कुशीलताञ्च, निःसारो भवति यथा पुलाकः ॥

(अन्वयार्थः) (अन्नस्स पाणस्स) अन्न तथा पान (इहलोइयस्स) अथवा वस्त्र आदि इस लोकके पदार्थके निमित्त (सेवमाणे) सेवककी तरह जो पुरुष (अणुप्पियं भासइ) प्रिय भाषण करता है (पासत्थयं चेव कुशीलयं च) वह पार्श्वस्थभावको तथा कुशीलभावको प्राप्त होता है (जहा पुलाए) और वह भूस्साके समान साररहित हो जाता है ।

(भावार्थ) जो पुरुष अन्न पान तथा वस्त्र आदिके लोभसे दाता पुरुषकी रुचिकर बातें कहता है, वह पार्श्वस्थ तथा कुशील है और वह भूसाके समान संयमरूपी सारसे रहित है।

(टीका) स कुशीलोऽन्नस्य पानस्य वा कृतेऽन्यस्य वैहिकार्थस्य वस्त्रादेः कृते अनुप्रियं भाषते' यद्यस्य प्रियं तत्तस्य वदतोऽनु–पश्चाद्भाषते अनुभाषते, प्रतिशब्दकवत् सेवकवद्वा राजाद्युक्तमनुवदतीत्यर्थः, तमेव दातारमनुसेवमान आहारमात्रगृद्धः सर्वमेतत्करोतीत्यर्थः, स चैवम्भूतः सदाचारभ्रष्टः पार्श्वस्थभावमेव व्रजति कुशीलतां च गच्छति, तथा निर्गतः–अपगतः सारः–चारित्राख्यो यस्य स निःसारः, यदिवा–निर्गतः सारो निःसारः स विद्यते यस्यासौ निःसारवान्, पुलाक इव निष्कणो भवति यथा एवमसौ संयमानुष्ठानं निःसारीकरोति, एवंभूतश्चासौ लिङ्गमात्रावशेषो बहूनां स्वयूथ्यानां तिरस्कारपदवीमवाप्नोति, परलोके च निकृष्टानि यातनास्थानान्यवाप्नोति ॥२६॥ उक्ताः कुशीलाः, तत्प्रतिपक्षभूतान् सुशीलान् प्रतिपादयितुमाह–

(टीकार्थ) वह पुरुष, कुशील है जो अन्न, पान तथा अन्य वस्त्र आदि ऐहलौकिक पदार्थके लिये प्रिय भाषण करता है। जैसे राजाका सेवक या उसकी हाँमें हाँ मिलानेवाले पुरुष राजाके वचनका अनुवाद करते हैं उसी तरह वह दाताको प्रसन्न रखनेके लिये उसकी हाँमें हाँ मिलता है वह अपने पेटमें आसक्त होकर यह सब करता है। आचारभ्रष्ट पुरुष पार्श्वस्थ भावको प्राप्त होता है और कुशीलपनेको धारण करता है। वह पुरुष चारित्ररुपी सारसे हीन होनेके कारण निःसार है। जैसे भूसा अन्नके दानेसे रहित होता है उसी तरह वह पुरुषभी अपने संयमको निःसार करडालता है। ऐसा पुरुष केवल साधुका लिड्ग मात्रको धारण करता है परन्तु चारित्रको नहीं धारण करता है अतः वह स्वयूथिक साधुओंके अपमानका पात्र होता है और परलोकमें निकृष्ट यातनास्थानको प्राप्त करता है। २६

(मूल) अण्णातपिंडेणऽहियासएज्जा, णो पूयणं तवसा आवहेज्जा।
सद्देहिं रूवेहिं असज्जमाणं,सव्वेहि कामेहि विणीय गेहिं॥२७॥

(छाया) अज्ञातपिण्डेनाधिसहेत, न पूजनं तपसाऽऽवहेत्।
शब्दैः रूपै रसजन्, सर्वेभ्यः कामेभ्यो विनीय गृद्धिम्॥

(अन्वयार्थः) (अण्णातपिंडेण हियासएज्जा) साधु अज्ञानपिण्डके द्वारा अपना निर्वाह करे (तवसा पूयणं णो आवहेज्जा) और तपस्याके द्वारा पूजाकी इच्छा न करे। (सद्देहिं रूवेहिं असज्जमाण) तथा शब्द और रूपमें आसक्त न होता हुआ (सव्वेहिं कामेहिं गेहिं विणीय) सब विषयकामनाओंसे आसक्ति हटाकर संयमका पालन करे।

(भावार्थ) साधु अज्ञात पिण्डके द्वारा अपना जीवन निर्वाह करे। तपस्याके द्वारा पूजाकी इच्छा न करे। एवं शब्द रूप और सब प्रकारके विषयभोगोंसे निवृत्त होकर शुद्ध संयमका पालन करे।

(टीका) अज्ञातश्चासौ पिण्डश्चाातपिण्डः अन्तप्रान्त इत्यर्थः, अज्ञातेभ्यो वा-पूर्वापरासंस्तुतेभ्यो वा पिण्डोऽज्ञातपिण्डोऽज्ञातोञ्छवृत्त्या लब्धस्तेनात्मानम् 'अधिसहेत्' वर्तयेत्—पालयेत्, एतदुक्तं भवति—अन्तप्रान्तेन लब्धेनालब्धेन वा न दैन्यं कुर्यात्, नाप्युत्कृष्टेन लब्धेन मदं विदध्यात्, नापि तपसा पूजनसत्कारनिमित्तं तपः कुर्यादित्यर्थः, यदिवा पूजासत्कारनिमित्तत्वेन तथाविधार्थित्वेन वा महतापि केनचित्तपो मुक्तिहेतुकं न निःसारं कुर्यात्, तदुक्तम्—"परं लोकाधिकं धाम, तपःश्रुतमिति द्वयम्। तदेवार्थित्वनिर्लुप्तसारं तृणलवायते ॥ १ ॥" यथा च रसेषु गृद्धिं न कुर्यात्, एवं शब्दादिष्वपीति दर्शयति—'शब्दैः' वेणुवीणादिभिराक्षिप्तः संस्तेषु 'असज्जन्' आसक्तिमकुर्वन् कर्कशेषु च द्वेषमगच्छन् तथा रूपैरपि मनोज्ञेतरै रागद्वेषमकुर्वन् एवं सर्वैरपि 'कामैः' इच्छामदनरूपैः सर्वेभ्यो वा कामेभ्यो गृद्धिं 'विनीय' अपनीय संयममनुपालयेदिति, सर्वथा मनोज्ञेतरेषु विषयेषु रागद्वेषं न कुर्यात्, तथा चोक्तम्—"सद्देसु य भद्दयपावएसु, सोयविसयमुवगएसु। तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥ १ ॥ रूवेसु य भद्दयपावएसु, चक्खुविसयमुवगएसु। तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्वं ॥ २ ॥ गंधेसु य भद्दयपावएसु, घाणविसयमुवगएसु। तुट्ठेण ॥ ३ ॥ भक्खेसु य भद्दयपावएसु, रसणविसयमुवगएसु। तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥ ४ ॥ फासेसु य भद्दयपावएसु, फासविसयमुवगएसु। तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं॥५॥" ॥२७॥ यथा चेन्द्रियनिरोधो विधेय एवमपरसङ्गनिरोधोऽपि कार्य इति दर्शयति—

(टीकार्थ) कुशील पुरुषोंका स्वरूप कहा जाचुका अब उनके प्रतिपक्षभूत सुशील पुरुषोंका वर्णन करते हैं—अज्ञात अर्थात् नहीं जाना हुआ पिण्ड यानी अन्न-पानी आहार अथवा पहलेके और पीछेके परिचयके विना लिया हुआ आहार अज्ञात पिण्ड है। उस पिण्डके द्वारा साधुको अपना जीवन निर्वाह करना चाहिये। इसका मतलब यह है कि अन्त प्रान्त आहार मिले अथवा न मिले तो साधुको दीन न होना चाहिये। इसी तरह श्रेष्ठ आहार

१ शब्देषु च भद्रकपापकेषु श्रोत्रविषयमुपगतेषु तुष्टेन वा रुष्टेन वा श्रमणेन सदा न भवितव्यं। २ रूपेषु० चक्षुः। ३ गंधेषु० घ्राण०। भक्ष्येषु रसना०। ५ स्पर्शेषु स्पर्शन०।

मिलनेसे मद नहीं करना चाहिये । तथा साधु तप करके पूजा सत्कारकी इच्छा न करे । वह पूजा और सत्कारके लिये तप न करे । तथा पूजा सत्कारके निमित्तसे अथवा उसतरहकी किसी दूसरी वस्तुकी इच्छा करके महान् साधु मोक्षके कारण रूप तपको निःसार न करे । वही कहाहै—" परं लोकाधिकम् " अर्थात् परलोकमें श्रेष्ठ स्थान दिलानेवाले तप और श्रुत ये दोही वस्तु हैं । इनसे, सांसारिक पदार्थकी इच्छा करने पर इनका सार निकल जानेसे ये तृणके टुकडेकी तरह निःसार होजाते हैं । तथा साधु रसमें गृद्धि न करे इसी तरह शब्दादिक विषयोंमेंभी आसक्त न हो यह शास्त्रकार दिखाते हैं—वीणा और वेणु आदिके शब्दोंको मधुर जानकर उनमें साधु आसक्त न हो, तथा कर्कश वचनोंमें द्वेष न करे । इसी तरह सुन्दर अथवा विरूप रूपोंमें राग द्वेष न करे । इसी तरह समस्त कामविकारोंमें गृद्धि छोड़कर संयम पालन करना चाहिये । तथा सर्वथा सुन्दर अथवा खराब विषयोंमें रागद्वेष न करना चाहिये । वही कहाहै—(सद्देसुय) अर्थात् शब्द सुन्दर हो या खराब हो वह कानसे सुननेमें आवे तो साधु उसमें प्रसन्न अथवा अप्रसन्न न हो । १ । रूप सुन्दर या खराब आँखके सामने आवे तो साधु कभीभी उससे प्रसन्न या अप्रसन्न न हो । २ । गन्ध, अच्छा या बुरा नाकमें आवे तो साधु कभीभी प्रसन्न या अप्रसन्न न हो । ३ । भोजन स्वादिष्ट या खराब मुखके सामने आवे तो साधु प्रसन्न या अप्रसन्न न हो । ४ । स्पर्श भला या बुरा शरीरको स्पर्श करे तो साधु प्रसन्न या अप्रसन्न कभी न हो । २७

मूल-सव्वाइं संगाइं अइच्च धीरे, सव्वाइं दुक्खाइं तितिक्खमाणे ।
अखिले अगिद्धे अणिएयचारी, अभयंकरे भिक्खु अणाविलप्पा ॥२८॥

(छाया) सर्वान् सङ्गानतीत्यधीरः, सर्वाणि दुःखानि तितिक्षमाणः ।
अखिलोगृद्धोऽनियतचारी, अभयङ्करो भिक्षुरनाविलात्मा ॥

(अन्वयार्थः) (धीरे भिक्खु) बुद्धिमान् साधु (सव्वाइं संगाइं अइच्च) सब सम्बधोंको छोडकर (सव्वाइं दुक्खाइं तितिक्खमाणे) सब दुखोंको सहन करता हुआ (अखिले अगिद्धे अणिएयचारी) ज्ञानदर्शन और चारित्र से सम्पूर्ण तथा विषय भोगमें आसक्त न होता हुआ एवं अप्रतिबद्धविहारी (अभयंकरे) प्राणियोंको अभय देनेवाला (अणाविलप्पा) तथा विषय कषाययोंसे अनाकुल आत्मावाला होकर अच्छी रीतिसे संयमका पालन करता है ।

(भावार्थ) बुद्धिमान साधु सब सम्बन्धोंको छोड़कर सब प्रकारके दुःखोंको सहन करता हुआ ज्ञान दर्शन और चारित्रसे सम्पूर्ण होता है तथा वह किसीभी विषयमें आसक्त न होता हुआ अप्रतिबद्धविहारी होता है । एवं वह प्राणियोंको अभय देता हुआ विषय और कषा-

योंसे अनाकुल आत्मावाला होकर योग्य रीतिसे संयमका पालन करता है ।

(टीका) सर्वान् 'सङ्गान्' संबन्धान् आन्तरान् स्नेहलक्षणान् बाह्यांश्च द्रव्यपरिग्रहलक्षणान् 'अतीत्य' त्यक्त्वा 'धीरो' विवेकी सर्वाणि 'दुःखानि' शारीरमानसानि त्यक्त्वा परीषहोपसर्गजनितानि 'तितिक्षमाणः' अधिसहन् 'अखिलो' ज्ञानदर्शनचारित्रैः सम्पूर्णः तथा कामेष्वगृद्धस्तथा 'अनियतचारी' अप्रतिबद्धविहारी तथा जीवानामभयंकरो भिक्षणशीलो भिक्षुः—साधुः एवम् 'अनाविलो' विषयकषायैरनाकुल आत्मा यस्यासावनाविलात्मा संयममनुवर्त्तेत इति ॥ २८ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) साधु जिस प्रकार दूसरे इन्द्रियोंका निरोध करे इसी तरह दूसरे सम्बन्धोंका भी निरोध करे यह शास्त्रकार दिखलाते हैं—सब सम्बन्ध अर्थात् अन्दरका सम्बन्ध जो स्नेह है और बाहरका सम्बन्ध जो द्रव्यपरिग्रह है इन दोनो प्रकारके सम्बन्धोंको छोड़कर धीर यानी विवेकी पुरुष, शरीर और मनके दुःखोंको छोड़कर तथा परीषह और उपसर्गोंसे उत्पन्न दुःखोंको सहता हुआ ज्ञान दर्शन और चारित्रसे सम्पूर्ण बनता है । तथा वह कामवासनाओंमें आसक्त न होता हुआ अप्रतिबद्धविहारी होता है । तथा सब जीवोंको अभय देताहुआ वह साधु विषय और कषायोंसे आकुल आत्मा वाला न होता हुआ योग्य रीतिसे संयमका पालन करता है । २८

मू०-भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा, कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू ।
दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा, संगामसीसे व परं दमेज्जा ॥ २९ ॥

(छाया) भारस्य यात्रार्थं मुनिर्भुञ्जीत, काङ्क्षेत् पापस्य विवेकं भिक्षुः ।
दुःखेन स्पृष्टो धूतमाददीत, सङ्ग्रामशीर्ष इव परं दमयेत् ॥

(अन्वयार्थ) (मुणि भारस्स जत्ता) साधु पांच महाव्रतकी रक्षाके लिये (भुंजएज्जा) भोजन खावे । (भिक्खू पावस्स विवेग कंखेज्ज) भिक्षु अपने पापको त्यागनेकी इच्छा करे । (दुक्खेन पुट्ठो धुयमाइएज्जा) तथा दुखसे स्पर्श पाता हुआ संयम अथवा मोक्षमें ध्यान रखे । (संगामसीसेव परं दमेज्जा) युद्धभूमिमें सुभट पुरुष जैसे शत्रु वीरको दमन करता है इसीतरह साधु कर्मरूपी शत्रुओंको दमन करे ।

(भावार्थ) मुनि संयमका निर्वाहकेलिये आहार ग्रहण करे तथा अपने पूर्वपापको दूर करनेकी इच्छा करे । जब साधुपर परीषह और उपसर्गोंका कष्ट पडे तब वह मोक्ष या संयममें ध्यान रखे । जैसे सुभट पुरुष युद्धभूमिमें शत्रुको दमन करता है उसी तरह वह कर्मरूपी शत्रुओंको दमन करे ।

(टीका) संयमभारस्य यात्रार्थं—पञ्चमहाव्रतभारनिर्वाहणार्थं 'मुनिः' कालत्रय-

वेत्ता 'भुञ्जीत' आहारग्रहणं कुर्वीत, तथा 'पापस्य' कर्मणः पूर्वाचरितस्य 'विवेकं' पृथग्भावं विनाशमाकाङ्क्षेत् 'भिक्षुः' साधुरिति, तथा—दुःखयतीति दुःखं-परीषहोपसर्गजनिता पीडा तेन 'स्पृष्टो' व्याप्तः सन् 'धूतं' संयमं मोक्षं वा 'आददीत' गृह्णीयात्, यथा सुभटः कश्चित् सङ्ग्रामशिरसि शत्रुभिरभिद्रुतः 'परं' शत्रुं दमयति एवं परं—कर्मशत्रुं परीषहोपसर्गाभिद्रुतोऽपि दमयेदिति ॥२९॥ अपि च-

(टीकार्थ) तीनों कालोंको जाननेवाला मुनि पाँच महाव्रतरूपी भारका निर्वाहके लिये आहारका ग्रहण करे तथा अपने पूर्व पापको नाशकी इच्छा करे। जो दुःख देताहै उसे दुःख कहते हैं वह परीषह तथा उपसर्गोंसे उत्पन्न पीडा है उस पीडासे स्पर्श पाया हुआ साधु संयम अथवा मोक्षमें ध्यान रखे। जैसे कोई सुभट पुरुष युद्धभूमिमें शत्रुवीरोंके द्वारा पीडित किया जाता हुआ शत्रुवीरोंको दमन करता है इसी तरह साधु परीषह और उपसर्गोंसे पीडित किया जाता हुआ भी कर्मरूपी शत्रुओंको दमन करे। २९

मूल-अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी, समागमं कंखति अंतकस्स।
णिधूय कम्मं ण पवंचुवेइ, अक्खक्खए वा सगडं तिबेमि ॥३०॥
इति श्रीकुसीलपरिभासियं सत्तममज्झयणं समत्तं॥ (गाथाग्र०४०२)

(छाया) अपि हन्यमानः फलकावतष्टी, समागमं काङ्क्षत्यन्तकस्य।
निर्धूय कर्म न प्रपञ्चमुपैति, अक्षक्षय इव शकटमिति ब्रवीमि ॥

(अन्वयार्थ) (अवि हम्ममाणे) साधु परीषह और उपसर्गोंके द्वारा पीडा पाता हुआभी उसे सहन करे (फलगावतट्ठी) जैसे काठकी पाटिया दोनो तरफसे छीली जाती हुई राग द्वेष नहीं करती है उसी तरह साधु बाह्य और अभ्यन्तर तपसे कष्ट पाता हुआभी राग द्वेष न करे (अंतकस्स समागमं कंखति) किन्तु मृत्यु के आनेकी प्रतीक्षा करे। (णिधूय कम्मं ण पवंचुवेइ) इस प्रकार कर्मको दूरकर साधु जन्म मरण और रोग शोक आदिको नहीं प्राप्त करता है। (अक्खक्खएवा सगडं ति बेमि) जैसे अक्ष (धुरा) के टूटजानेसे गाडी आगे नहीं चलती है यह मैं कहता हूं।

(भावार्थ) परीषह और उपसर्गोंके द्वारा पीडित होता हुआ साधु दोनो तरहसे छिली जाती हुई काठकी पाटियाकी तरह रागद्वेष न करे किन्तु मृत्युकी प्रतीक्षा करे। इस प्रकार अपने कर्मको क्षय करके साधु संसारको प्राप्त नहीं करता जैसे धुरा टूट जानेसे गाडी नहीं चलती है।

(टीका) परीषहोपसर्गैर्हन्यमानोऽपि-पीड्यमानोऽपि सम्यक् सहते, किमिव?-फलकवदवकृष्टः यथाफलकमुभाभ्यामपि पार्श्वाभ्यां तष्टं-घट्टितं सत्तनु भवति अरक्तद्विष्टं वा संभवत्येवमसावपि साधुः सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा निष्टप्तदेहस्तनुः-दुर्बलशरीरोऽरक्तद्विष्टश्च, अन्तकस्य-मृत्योः 'समागमं' प्राप्तिम् 'आकाङ्क्षति' अभिलषति, एवं चाष्टप्रकारं कर्म 'निर्धूय' अपनीय न पुनः 'प्रपञ्चं' जातिजरामरणरोगशोकादिकं प्रपञ्च्यन्ते बहुधा नटवद्यस्मिन् स प्रपञ्चः-संसारस्तं 'नोपैति' न याति, दृष्टान्तमाह—यथा अक्षस्य 'क्षये' विनाशे सति 'शकटं' गन्त्यादिकं समविषमपथरूपं प्रपञ्चमुपष्टम्भकारणाभावान्नोपयाति, एवमसावपि साधुरष्टप्रकारस्य कर्मणः क्षये संसारप्रपञ्चं नोपयातीति, गतोऽनुगमो, नयाः पूर्ववद्, इति शब्दः परिसमाप्त्यर्थे ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ ३० ॥ समाप्तं च कुशीलपरिभाषाख्यं सप्तममध्ययनं ॥

(टीकार्थ) परीषह और उपसर्गोंके द्वारा पीडा पाता हुआभी साधु कष्टको अच्छी तरह सहन करता है। किसकी तरह? जैसे काठकी पाटिया दोनो बाजूसे छीली जाती हुई पतली होती है और वह रागद्वेष नहीं करती है इसी तरह वह साधुभी बाहर और भीतरकी तपस्यासे शरीरको खूब तपानेसे दुर्बल शरीर हो करभी रागद्वेष नहीं करता है किन्तु मृत्युके आनेकी प्रतीक्षा करता है इस प्रकार वह साधु अपने आठ प्रकारके कर्मोंको दूर करके फिर जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक आदि अनेक प्रकारका प्रपञ्च नटके समान जिसमें होता है ऐसे संसारको नहीं प्राप्त करता है। इस विषयमें दृष्टान्त बताते हैं—जैसे अक्ष (धुरा) के टूट जानेपर गाडी आदि, समान या विषम मार्गमें आधार न होनेसे नहीं चलते इसी तरह वह साधुभी आठ प्रकारके कर्मोंके क्षय हो जानेसे संसाररूपी प्रपञ्चको नहीं प्राप्त होता। अनुगम समाप्त हुआ। नय पूर्ववत् हैं इति शब्द समाप्ति अर्थमें आया है। ब्रवीमि पूर्ववत् है।

॥ इति कुशीलपरिभाषानामक सप्तमअध्ययन समाप्त हुआ ॥



॥ अथ अष्टमं श्रीवीर्याध्ययनं प्रारभ्यते ॥

उक्तं सप्तममध्ययनं, साम्प्रतमष्टममारभ्यते—अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तराध्ययने कुशीलास्तत्प्रतिपक्षभूताश्च सुशीलाः प्रतिपादिताः, तेषां च कुशीलत्वं सुशीलत्वं च संयमवीर्यान्तरायोदयात्तत्क्षयोपशमाच्च भवतीत्यतो वीर्यप्रतिपादनायेदमध्ययनमुपदिश्यते, तदनेन संबंधेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि वक्तव्यानि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा—बालबालपण्डितपण्डितवीर्यभेदात्त्रिविधमपि वीर्यं परिज्ञाय पण्डितवीर्ये यतितव्यमिति, नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे वीर्याध्ययनं, वीर्यनिक्षेपाय निर्युक्तिकृदाह—

सातवाँ अध्ययन कहा गया, अब आठवाँ आरम्भ किया जाता है। इसका सातवेँ अध्ययनके साथ सम्बन्ध यह है–सातवें अध्ययनमें कुशील (दुराचारी पतित) साधु कहे गये हैं तथा उनसे विपरीत सुशील (सदाचारी उत्तम) साधुभी बताये गये हैं। इन दोनो प्रकारके साधुओंका क्रमशः कुशीलपना और सुशीलपना, संयमवीर्य्यान्तराय (संयम पालनेमें विघ्नरूप) कर्मके उदयसे तथा क्षयोपशमसे होती हैं। अर्थात संयमवीर्य्यान्तराय कर्मके उदयसे कुशीलपना होती है और उसके क्षयोपशमसे सुशीलपना होती है) अतः वीर्य्य (शक्ति) बतानेके लिये यह अध्ययन कहा जाता है। इस अध्ययनके उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार कहने चाहिये। उसमेभी उपक्रममें रहा हुआ अर्थाधिकार (विषय) यह है—बाल (अविवेकी) बाल पण्डित (यथाशक्ति सदाचारी) पण्डित (सम्पूर्ण संयमपालनेवाला) इन तीनो प्रकारके वीर्य्यवालोंके प्रत्येकका वीर्य्य (आत्मबल) जानकर पण्डित वीर्य्यमें साधुको प्रयत्न करना चाहिये। यह विषयका उपक्रम (सुरुआत) है। निक्षेपमें इस अध्ययनका नाम वीर्य्य है। अब वीर्य्यका निक्षेप निर्युक्तिकार बताते हैं—

विरिए छक्कं दव्वे सच्चित्ताचित्तमीसगं चेव।
दुपयचउप्पयअपयं एयं तिविहं तु सच्चित्तं ॥ ९१ ॥

(टीका) वीर्ये नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यवीर्यं द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्त्रिधा वीर्यं, सचित्तमपि द्विपदचतुष्पदापदभेदात्त्रिविधमेव, तत्र द्विपदानां अर्हच्चक्रवर्त्तिबलदेवादीनां यद्वीर्यं स्त्रीरत्नस्य वा यस्य यद्वीर्यं तदिह द्रव्यवीर्यत्वेन ग्राह्यं,

तथा चतुष्पदानामश्वहस्तिरत्नादीनां सिंहव्याघ्रशरभादीनां वा परस्य वा यद्बोढव्ये धावने वा वीर्यं तदिति, तथाऽपदानां गोशीर्षचन्दनप्रभृतीनां शीतोष्णकालयोरुष्णशीतवीर्यपरिणाम इति ॥ अचित्तवीर्यप्रतिपादनायाह—

(टीकार्थ) नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावभेदसे वीर्य्यके छः निक्षेप हैं। इनमें नाम और स्थापना सुगम हैं। द्रव्यवीर्य्य, आगम और नो आगमसे, दो प्रकारका है। इनमें जो पुरुष वीर्य्यको जानता है परन्तु उसमें उपयोग नहीं रखता है वह आगमसे द्रव्यवीर्य्य है। नो आगमसे द्रव्यवीर्य्य, ज्ञशरीर और भव्य शरीरसे व्यतिरिक्त सचित्त, अचित्त और मिश्र भेदसे तीन प्रकारका है। सचित्तभी द्विपद चतुष्पद और अपद भेदसे तीन प्रकारका है। इनमें द्विपदोंमें अरिहन्त, चक्रवर्ती और बलदेव आदिका जो वीर्य्य है तथा जिस स्त्रीरत्नका जो वीर्य्य है सो यहां द्रव्य वीर्य्य समझना चाहिये। तथा चतुष्पदोंमें उत्तम घोडा, उत्तम हाथी अथवा सिंह, व्याघ्र, और शरभ आदिका जो बल है वह द्रव्यवीर्य्य जानना चाहिये। अथवा बोझ ढोनेमें और दौड़नेमें जो बल है वह द्रव्यवीर्य्य जानना चाहिये। तथा अपदोंमें गोशीर्ष चन्दनके वीर्य्यको द्रव्यवीर्य्य जानना चाहिये। गोशीर्ष चन्दनके लेप करनेसे शीतकालमें शीत और ग्रीष्मकालमें गर्मी दूर होती है अत. उसका वीर्य्य अपदद्रव्यवीर्य्य है। अब निर्युक्तिकार अचित्त वस्तुओंका वीर्य बतानेके लिये कहते हैं—

अचित्तं पुण विरियं आहारावरणपहरणादीसु।
जह ओसहीण भणियं विरियं रसवीरियविवागो ॥ ९२ ॥
आवरणे कवयादी चक्कादीयं च पहरणे होंति।
खित्तंमि जंमि खेत्ते काले जं जंमि कालंमि ॥ ९३ ॥

(टीका) अचित्तद्रव्यवीर्यं त्वाहारावरणप्रहरणेषु यद्वीर्यं तदुच्यते, तत्राऽऽहारवीर्यं 'सद्यः प्राणकरा हृद्या, घृतपूर्णाः कफापहाः' इत्यादि, ओषधीनां च शल्योद्धरणसंरोहणविषापहारमेधाकरणादिकं रसवीर्यं, विपाकवीर्यं च यदुक्तं चिकित्साशास्त्रादौ तदिह ग्राह्यमिति, तथा योनिप्राभृतकान्नानाविधं द्रव्यवीर्यं द्रष्टव्यमिति, तथा—आवरणे कवचादीनां प्रहरणे चक्रादीनां यद्भवति वीर्यं तदुच्यत इति। अधुना क्षेत्रकालवीर्यं गाथापश्चार्धेन दर्शयति—क्षेत्रवीर्यं तु देवकुर्वादिकं क्षेत्रमाश्रित्य सर्वाण्यपि द्रव्याणि तदन्तर्गतान्युत्कृष्टवीर्यवन्ति भवन्ति, यद्वा दुर्गादिकं क्षेत्रमाश्रित्य कस्यचिद्वीर्योल्लासो भवति, यस्मिन्वा क्षेत्रे वीर्यं व्याख्यायते तत्क्षेत्रवीर्यमिति, एवं कालवीर्यमप्येकान्तसुषमादावायोज्यमिति, तथा चोक्तम् "वर्षासु लवणममृतं

शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते । शिशिरे चामलकरसो, घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते ॥१॥" तथा–"ग्रीष्मे तुल्यगुडां सुसैन्धवयुतां मेघावनद्धेऽम्बरे, तुल्यां शर्करया शरद्यमलया शुण्ठ्या तुषारागमे । पिप्पल्या शिशिरे वसन्तसमये क्षौद्रेण संयोजितां. पुंसां प्राप्य हरीतकीमिव गदा नश्यन्तु ते शत्रवः ॥१।" भाववीर्यप्रतिपादनायाह—

(टीकार्थ) आहार, आवरण (जो लडाईमें शरीरकी रक्षा करता है) और हथियारका जो वीर्य (शक्ति) है वह अचित्तद्रव्य वीर्य्य है। इनमें आहारका वीर्य्य यह है–(सद्य·) अर्थात् घेवर (एक प्रकारकी मिठाई) खानेसे शीघ्र इन्द्रियोंमें तेजी आती है तथा हृदय प्रसन्न होता है और कफका रोग दूर होता है इत्यादि आहारका वीर्य्य जानना चाहिये। एवं औषधियोंका जो शरीरमें गडे हुए काँटा आदिको निकालने और घाव भरने तथा विषको हरण करने एवं बुद्धिकी वृद्धिका वीर्य्य (शक्ति) है रसवीर्य्य है। विपाकवीर्य्य, जो चिकित्सा शास्त्रमें कहा है सो यहाँ लेना चाहिये। एवं योनिप्राभृत नामक ग्रन्थके द्वारा जुदा जुदा द्रव्यवीर्य्य समझ लेना चाहिये। रक्षणमें कवच आदिकी शक्ति, तथा हथियारमे चक्र आदिकी जो शक्ति है वह क्रमशः आवरणवीर्य और प्रहरणवीर्य्यरूप अचित्तद्रव्यका वीर्य्य है। अब निर्युक्तिकार गाथाके उत्तरार्धके द्वारा क्षेत्र और कालका वीर्य्य बतलाते हैं–जिस क्षेत्रकी जो शक्ति है वह उसका क्षेत्रवीर्य्य है। जैसे देवकुरु आदि क्षेत्रमें सभी पदार्थ उस क्षेत्रके प्रभावसे उत्तम वीर्य्यवाले होते हैं अतः वह क्षेत्रवीर्य्य है। अथवा किला वगैरह स्थानके आश्रयसे किसी पुरुषका उत्साह बढता है इसलिये वह क्षेत्रवीर्य्य है। अथवा जिस क्षेत्रमें वीर्य्यकी व्याख्या की जाती है वह क्षेत्रवीर्य्य है। इसी तरह एकान्त सुषम नामवाला पहला आरा आदि कालवीर्य्य है। तथा कालवीर्य्यके विषयमें वैद्यक शास्त्रमें कहा है—"वर्षासु" अर्थात् वर्षाकालमे नमक, शरद्में जल, हेमन्तमें गायका दूध, शिशिरमें आँवलेका रस, वसन्तमें घृत और ग्रीष्ममें गुड अमृतके समान है। १ (ग्रीष्मे) अर्थात् हरितकी (हरड़) ग्रीष्मऋतुमें बराबर गुड़के साथ, तथा मेघसे ढका हुआ आकाशवाली वर्षाऋतुमे सैन्धव (सेंधा नमक) के साथ, एवं शरद् ऋतुमें शक्करके साथ तथा हेमन्त ऋतुमें सोंठके साथ, एवं शिशिर ऋतुमें पिप्पलके साथ तथा वसन्त ऋतुमें मधुके साथ खानेसे जैसे पुरुषोंके समस्त रोग दूर हो जाते हैं इसी तुम्हारे शत्रु नष्ट हो जायँ। २

अब भाववीर्य्य बतानेके लिये निर्युक्तिकार कहते हैं—

भावो जीवस्स सवीरियस्स विरियंमि लद्धिऽणेगविहा ।
ओरस्सिंदियअज्झप्पिएसु बहुसो बहुविहीयं ॥ ९४ ॥
मणवइकाया आणापाणू संभव तहा य संभव्वे ।
सोत्तादीणं सद्दादिएसु विसएसु गहणं च ॥ ९५ ॥

(टीका) 'सवीर्यस्य' वीर्यशक्त्युपेतस्य जीवस्य 'वीर्ये' वीर्यविषये अनेकविधा लब्धिः, तामेव गाथापश्चार्द्धेन दर्शयति, तद्यथा–उरसि भवमौरस्यं शारीरबलमित्यर्थः, तथेन्द्रियबलमाध्यात्मिकं बलं बहुशो बहुविधं द्रष्टव्यमिति। एतदेव दर्शयितुमाह—आन्तरेण व्यापारेण गृहीत्वा पुद्गलान् मनोयोग्यान् मनस्त्वेन परिणमयति भाषायोग्यान् भाषात्वेन परिणमयति काययोग्यान् कायत्वेन आनापानयोग्यान् तद्भावेनेति, तथा मनोवाक्कायादीनां तद्भावपरिणतानां यद्वीर्य—सामर्थ्यं तद्द्विविधं—सम्भवे सम्भाव्ये च, सम्भवे तावत्तीर्थकृतामनुत्तरोपपातिकानां च सुराणामतीव पटूनि मनोद्रव्याणि भवन्ति, तथाहि–तीर्थकृतामनुत्तरोपपातिकसुरमनःपर्यायज्ञानिप्रश्नव्याकरणस्य द्रव्यमनसैव करणात् अनुत्तरोपपातिकसुराणांच सर्वव्यापारस्यैव मनसा निष्पादनादिति. सम्भाव्ये तु यो हि यमर्थं पटुमतिना श्रोच्यमानं न शक्नोति साम्प्रतं परिणमयितुं सम्भाव्यते त्वेष परिकर्म्यमाणः शक्ष्यत्यमुमर्थं परिणमयितुमिति, वाग्वीर्यमपि द्विविधं–सम्भवे सम्भाव्ये च. तत्र सम्भवे तीर्थकृतां योजननिर्हारिणी वाक् सर्वस्वस्वभाषानुगता च तथाऽन्येषामपि क्षीरमध्वास्रवादिलब्धिमतां वाचः सौभाग्यमिति, तथा हंसकोकिलादीनां सम्भवति, स्वरमाधुर्यं, सम्भाव्ये तु सम्भाव्यते श्यामायाः स्त्रिया गानमाधुर्यं, तथा चोक्तम्—" सामा गायति महुरं काली गायति खरं च रुक्खं चे"त्यादि, तथा सम्भावयामः—एनं श्रावकदारकम् अकृतमुखसंस्कारमप्यक्षरेषु यथावदमिलप्स्यत्येष्वित्ति,तथा सम्भावयामः शुकसारिकादीनां वाचो मानुषभाषापरिणामः, कायवीर्यमप्यौरस्यं यद्यस्य बलं. तदपि द्विविधं–सम्भवे सम्भाव्ये च, संभवे यथा चक्रवर्तिबलदेववासुदेवादीनां यद्बाहुबलादि कायबलं, तद्यथा–कोटिशिला त्रिपृष्ठेन वामकरतलेनोद्धृता, यदिवा–'सोलस रायसहस्सा' इत्यादि यावदपरिमितबला जिनवरेन्द्रा इति, सम्भाव्ये तु सम्भाव्यते तीर्थकरो लोकमलोके कन्दुकवत् प्रक्षेप्तुं तथा मेरुं दण्डवद्गृहीत्वा वसुधां छत्रकवद्धर्तुमिति, तथा सम्भाव्यते अन्यतरसुराधिपो जम्बूद्वीपं वामहस्तेन छत्रकवद्धर्तुमयत्नेनैव च मन्दरमिति, तथा सम्भाव्यते अयं दारकः परिवर्धमानः शिलामेनामुद्धर्त्तुं हस्तिनं दमयितुमश्वं वाहयितुमित्यादि, इन्द्रियबलमपि श्रोत्रेन्द्रियादि स्वविषयग्रहणसमर्थं पञ्चधा एकैकं, द्विविधं–सम्भवे सम्भाव्ये च, सम्भवे यथा श्रोत्रस्य द्वादश योजनानि विषयः, एवं शेषाणामपि यो यस्य विषय इति, सम्भाव्ये तु यस्य कस्यचिदनुपहतेन्द्रियस्य श्रान्तस्य क्रुद्धस्य पिपासितस्य परिग्लानस्य वा अर्थग्रहणासमर्थमपि इन्द्रियं तद्यथोक्तदोषोपशमे तु सति संभाव्यते विषयग्रहणायेति साम्प्रतमाध्यात्मिकं वीर्यं दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) वीर्य्य शक्तिवाले जीवकी वीर्य्य सम्बन्धी अनेक लब्धियाँ है। वे गाथाके उत्तरार्ध द्वारा बताई जाती हैं। छातीका वीर्य्य, शरीरबल है तथा इन्द्रियोंका बल, आध्यात्मिक बल है। वह बहुविध होता है, यही शास्त्रकार दिखलाते हैं—मन, अन्दरके व्यापारसे मनके योग्य पुद्गलोंको एकट्ठा करके मनके रूपमें परिणत करता है तथा भाषाके योग्य पुद्गलोंको भाषारूपमें एवं कायके योग्य पुद्गलोंको कायके रूपमें तथा श्वास और उच्छ्वासके योग्य पुद्गलोंको श्वास और उच्छ्वासके रूपमें परिणत करता है। मन, वचन, और कायके योग्य पुद्गल, जो मन वचन और कायरूपमें परिणत हुए हैं उनके वीर्य्य (शक्ति) के दो भेद हैं—संभव और सम्भाव्य। संभवका उदाहरण यह है तीर्थङ्कर तथा अनुत्तर विमानके देवोंका मन बहुत निर्मल शक्तिवाला होता है। अनुत्तर विमानके देव, अवधि ज्ञानवाले होते हैं, वे मनके द्वारा जो प्रश्न करते हैं उसका समाधान तीर्थङ्कर द्रव्य मनसेही देते हैं क्योंकि अनुत्तर विमानके देव सभी कार्य मनसेही करते हैं। संभाव्यका उदाहरण यह है जो जीव, बुद्धिमानके द्वारा कही हुई बातको इस समय नहीं समझ सकता है परन्तु भविष्यमें अभ्यासके द्वारा समझ लेगा उसका वीर्य सम्भाव्यवीर्य है। वाग्वीर्यके दो भेद होते हैं, संभव और सम्भाव्य। इनमें संभवमें तीर्थङ्करोंकी वाणी है, वह एक योजन तक फैलनेवाली है और अपनी अपनी भाषामें सब जीव उसे समझ लेते हैं। तथा कोई पुण्यशाली पुरुषोंकी वाणी दूध और मधुके समान मिठी होती है, यह वचनका सौभाग्य समझना चाहिये। तथा हंस और कोकिलका स्वर मधुर होता है। संभाव्यमें श्यामा स्त्रीका गान मधुर है, जैसाकि कहा है (सामा) अर्थात् दो स्त्रियोंमें एकका नाम श्यामा है वह मधुर स्वरसे गाती है और काली नामकी स्त्री कठोर और अप्रिय गाती है। एवं हम आशा करते हैं कि "यह श्रावकका पुत्र पढ़े विनाही उचित बोलने योग्य अक्षरोंको बोलेगा" तथा हम आशा करते हैं कि मैना और तोताको यदि मनुष्यके संसर्गमें रखा जाय तो वे मनुष्यकी भाषा सीख लेंगे (ये संभाव्य, वाग्वीर्यके उदाहरण हैं) इसी तरह छातीका बल, जो जिसका है वहभी संभव और सम्भाव्यभेदसे दो प्रकारका है। संभवमें चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेवका जो बाहुबल है वह संभव कायबल समझना चाहिये। क्योंकि त्रिपृष्ट वासुदेवने बाएँ हाथकी हथेलीसे करोडो मनकी शिला उठा लीथी। अथवा सोलह हजार राजाओंकी सेना जिस जंजीरको खींचती है उसको वे अकेले अपने सामने खींच लेते हैं इत्यादि। तथा तीर्थङ्कर अतुलबलवाले होते हैं (ये सब संभवकायबलके उदाहरण है) संभाव्यमें, तीर्थङ्कर, लोकको अलोकमें गेंदकी तरह फेंक सकते हैं तथा वे मेरु पर्वतको डंडेकी तरह और पृथिवीको उसके ऊपर छत्तेकी तरह रख सकते हैं। तथा कोई इन्द्र, जम्बूद्वीपको बाएँ हाथसे छत्रकी तरह तथा मन्दर पर्वतको डंडेकी तरह सहजही उठा सकता

है। तथा आशा की जाती है कि यह लड़का बड़ा होनेपर इस मोटी शिलाको उठा लेगा तथा हाथीको दबा देगा और घोड़ापर चढ़कर उसे दौड़ायेगा इत्यादि। अब इन्द्रियोंका वीर्य बतलाते हैं—कान आदि इन्द्रियां अपने अपने विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ हैं और वे पाँच प्रकारकी हैं, उनमें प्रत्येक संभव और सम्भाव्य भेदसे दो प्रकारकी हैं। उनमें सम्भवमें, जैसे कानका विषय बारह योजन तक है। इसी तरह शेष चार इन्द्रियोंकाभी जिसका जो विषय है वह जानना चाहिये। सम्भाव्यमें, जैसे जिस मनुष्यकी इन्द्रिय नष्ट नहीं है परन्तु वह थका हुआ है अथवा क्रोधित है या प्यासा हुआ है अथवा रोग आदिसे ग्लान है उस समय उसकी कोई इन्द्रिय अपने विषयको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है परन्तु इन दोषोंके शान्त हो जानेपर वे अपने विषयोंको ग्रहण करेंगी यह अनुमान किया जाता है। अब आध्यात्मिक बल दिखानेके लिये निर्युक्तिकार कहते हैं—

उज्जमधिनिधीरत्तं सोंडीरत्तं खमा य गंभीरं।
उवओगजोगतवसंजमादियं होइ अज्झप्पो ॥ ९६ ॥

(टीका) आत्मन्यधीत्यध्यात्मं तत्र भवमाध्यात्मिकम्—आन्तरशक्तिजनितं सात्त्विकमित्यर्थः, तच्चानेकधा—तत्रोद्यमो ज्ञानतपोऽनुष्ठानादिपूत्साहः, एतदपि यथायोगं सम्भवे सम्भाव्ये च योजनीयमिति, धृतिः संयमे स्थैर्यं चित्तसमाधानमिति(यावत्), धीरत्वं परीषहोपसर्गाक्षोभ्यता, शौण्डीर्यं त्यागसम्पन्नता, षट्खण्डमपि भरतं त्यजतश्चक्रवर्तिनो न मनः कम्पते, यदिवाऽऽपद्यविषण्णता यदिवा—विषमेऽपि कर्तव्ये समुपस्थिते पराभियोगमकुर्वन् ममैवैतत्कर्तव्यमित्येवं हर्षायमाणोऽविषण्णो विधत्त इति, क्षमावीर्यं तु परैराक्रुश्यमानोऽपि मनागपि मनसा न क्षोभमुपयाति, भावयति (च तत्त्वं,) तच्चेदम्—"आक्रुष्टेन मतिमता तत्त्वार्थगवेषणे मतिः कार्या। यदि सत्यं कः कोपः? स्यादनृतं किं नु कोपेन? ॥ १ ॥" तथा "[1]अक्कोसहणणमारणधम्मब्भंसाण बालसुलभाणं। लाभं मन्नइ धीरो जहुत्तराणं अभावं (लाभं) मि ॥१॥" गाम्भीर्यवीर्यं नाम परीषहोपसर्गैरधृष्यत्वं, यदिवा यत् मनसश्चमत्कारकारिण्यपि स्वानुष्ठाने अनौद्धत्यं, उक्तम् च—"[2]चुल्लुच्छलेइ जं होइ ऊणयं रित्तयं कणकणेइ। भरियाइं ण खुब्भंती सुपुरिसविन्नाणभंडाइं ॥ १ ॥" उपयोगवीर्यं साकारानाकारभेदात् द्विविधं, तत्र साकारोपयोगोऽष्टधाऽनाकारश्चतुर्धा तेन

१ आक्रोशहननमारणधर्मभ्रंशानां बालसुलभानां लाभं मन्यते धीरो यथोत्तराणामभावे ॥ १ ॥ २ चुल्लुच्छल्लइ प्र०। ३ उद्गोगति यद्भवत्यूनकं रिक्तक कणकणति भृतानि न क्षुभ्यन्ते सुपुरुषविज्ञानभाण्डानि ॥ १ ॥

चोपयुक्तः स्वविषयस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपस्य परिच्छेदं विधत्त इति, तथा योगवीर्यं त्रिविधं मनोवाक्कायभेदात्, तत्र मनोवीर्यमकुशलमनोनिरोधः कुशलमनसश्च प्रवर्तनम्, मनसो वा एकत्वीभावकरणं, मनोवीर्येण हि निर्ग्रन्थसंयताः प्रवृद्धपरिणामा अवस्थितपरिणामाश्च भवन्तीति, वाग्वीर्येण तु भाषमाणोऽपुनरुक्तं निरवद्यं च भाषते, कायवीर्यं तु यस्तु समाहितपाणिपादः कूर्मवदवतिष्ठत इति, तपोवीर्यं द्वादशप्रकारं तपो यद्बलादग्लायन् विधत्त इति, एवं सप्तदशविधे संयमे एकत्वाद्यध्यवसितस्य यद्बलात्प्रवृत्तिस्तत्संयमवीर्यं, कथमहमतिचारं संयमे न प्राप्नुयामित्यध्यवसायिनः प्रवृत्तिरित्येवमाद्यध्यात्मवीर्यमित्यादि च भाववीर्यमिति, वीर्यप्रवादपूर्वे चानन्तवीर्यं प्रतिपादितं, किमिति ?, यतोऽनन्तार्थं पूर्वं भवति, तत्र च वीर्यमेव प्रतिपाद्यते, अनन्तार्थता चातोऽवगन्तव्या, तद्यथा—"सव्वणईणं जा होज्ज वालुया गणणमागया सन्ती । तत्तो बहुयतरागो एगस्स अत्थो पुव्वस्स॥१॥ सव्वसमुद्दाण जलं जइपत्थमियं हविज्ज संकलियं । एत्तो बहुयतरागो अत्थो एगस्स पुव्वस्स ॥२॥" तदेवं पूर्वार्थस्यानन्त्याद्वीर्यस्य च तदर्थत्वादनन्तता वीर्यस्येति । सर्वमप्येतद्वीर्यं त्रिधेति प्रतिपादयितुमाह—

(टीकार्थ) जो आत्मामें है उसे अध्यात्म कहते हैं और जो उसमें होता है उसे आध्यात्मिक कहते हैं अर्थात् अन्दरकी शक्तिसे उत्पन्न जो सात्त्विक वस्तु है वह आध्यात्मिक कहलाती है । वह अनेक प्रकारकी है । उसमें (१) उद्यम अर्थात् ज्ञान उपार्जन करनेमें और तपस्या करनेमें जो अन्दरका उत्साह है वह पहला आध्यात्मिक बल है । इसकाभी संभव और सम्भाव्य भेद यथायोग जोड़ लेना चाहिये । (जो अभी उद्यम करता है उसका उत्साह संभव और जो पीछे उद्यम करेगा उसका सम्भाव्य समझना चाहिये (२) धृति संयममें स्थिरता है अर्थात् चित्तको ठीकाने रखना है । (३) धीरत्वके कारण जीव परीषह और उपसर्गोंसे चलायमान नहीं होता है । (४) शौण्डीर्य्य—त्यागके उच्चकोटिकी भावनाको शौण्डीर्य्य कहते हैं, जैसे भरत महाराजका मन, चक्रवर्तीके छःखण्डका राज्य छोडने परभी कम्पित नहीं हुआथा । अथवा दुःखमें खेद नहीं करना शौण्डीर्य्य है, अथवा कठिन कार्य करनेका समय आजानेपर दूसरेकी आशाको छोड़कर यह हमाराही कर्त्तव्य है यह मानकर खुश होते हुए उस कामको पूरा करना शौण्डीर्य है । (५) क्षमावीर्य्य—दूसरा गाली आदिदे तोभी मनमें क्षोभ न करना किन्तु यह विचारना चाहिए जैसेकि—कोई गाली आदि देवे तो बुद्धिमानको तत्त्व अर्थके विचारमें बुद्धिका

१ सर्वासां नदीनां यावन्त्यो भवेयुर्वालुका गणनमागताः सत्यः ततो बहुतरोऽर्थ एकस्य पूर्वस्य ॥ १ ॥ २ सर्वसमुद्राणां जलं यत्प्रमितं तत् भवेत्संकलितं ततो० ॥

उपयोग करना चाहिये यदि वस्तुतः अपना दोष हो तो क्यों क्रोध करना चाहिये ? तथा दोष न होतो वह अपने पर लागू नहीं होता फिरभी क्रोध क्यों करना चाहिये ? तथा गाली देना, हनन करना, जानसे मारना, तथा धर्मभ्रष्ट करना ये सब मूर्ख जीवोंको सुलभ हैं (ये मूर्खोंके कार्य्य हैं) परन्तु धीर पुरुष इनमें अगले अगलेके न करनेमें अधिक अधिक लाभ मानते हैं। (६) परीषह तथा उपसर्गोंसे नहीं डरना गाम्भीर्य्य है। अथवा दूसरोंके मनमें चमत्कार पैदा करनेवाला उत्कृष्ट अनुष्ठान किया हो तो अहंकार न करना गाम्भीर्य्य है। कहा है कि-(चुलुच्छलेइ) अर्थात् जिसमें जल पूरा भरा नहीं होता है वही घटा शब्द करता है तथा जो थूहर खाली होता है वही झन झन बजता है परन्तु भरा घटा और भरा थूहर नहीं शब्द करता है इसी तरह थोड़े ज्ञानवाले अहङ्कार करते हैं परन्तु ज्ञानरूपी रत्नोंसे भरे हुवे उत्तम पुरुष घमण्ड नहीं करते हैं। (७) उपयोग—साकार और अनाकार भेदसे उपयोग दो प्रकारका है। उनमें साकार उपयोग आठ प्रकारका है और अनाकार उपयोग चार प्रकारका है. इनके द्वारा, उपयोग रखनेवाला पुरुष, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप अपने विषयका निश्चय करता है अर्थात् समझता है। (८) योगवीर्य्य—मन, वचन, और कायके भेदसे योगवीर्य्य तीन प्रकारका है। उनमें अकुशल मनको रोकना अर्थात् बुरे कार्य्यमें मनको न जाने देना, तथा सत्कर्ममें उसे प्रवृत्त करना अथवा मनको एकाग्र करना, मनोवीर्य्य है। उत्तम साधु मनोवीर्य्यके प्रभावसे निर्मल परिणामवाले तथा धर्ममें स्थिर परिणामवाले होते हैं। वचनवीर्य्यके प्रभावसे साधु पुरुष इस प्रकार सम्हाल कर बोलते हैं कि उनके वचनमें पुनरुक्ति (फिर फिर वही बात आना) दोष नहीं आता तथा निरवद्य भाषा बोलते हैं। कायवीर्य्यके प्रभावसे साधु पुरुष अपने हाथ पैरको स्थिर रखकर कछुवेकी तरह बैठते हैं। तपोवीर्य्य बारह प्रकारका है उसके प्रभावसे साधु उत्साहके साथ तप करते हैं और उसमें खेद नहीं करते हैं। एवं सत्रह प्रकारके संयममें, "मैं इतना हूं" ऐसी भावना करता हुआ साधु जो बलपूर्वक संयमका पालन करता है और यह ध्यान रखता है कि "मैं किस प्रकार अपने संयममें अतिचार न लगने दूं" सो यह संयमवीर्य्य है। ये पूर्वोक्त सभी अध्यात्मवीर्य्य अर्थात् भाववीर्य्य हैं। (प्रश्न) वीर्य्यप्रवाद पूर्वमें अनन्त प्रकारके वीर्य बताये गये हैं, सो किस रीतिसे ? इसका समाधान यह है कि अनन्त अर्थवाला पूर्व होता है और उसमें वीर्यका प्रतिपादन किया गया है। अनन्त अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—(सव्वणईणं) समस्त नदियोंकी रेतीकी गणना की जाय और जितनी रेतियां हों उनसेभी अधिक अर्थ एक पूर्वका होता है। (आशय यह है कि पूर्वमें व्यवहार किये हुए शब्द इतने गम्भीर होते हैं कि उनसे बहुत अर्थ निकलते हैं) तथा समस्त समुद्रोंका जल यदि हथेलीमें एकत्र करके गिना जाय

तो उससेभी अधिक अर्थ एक पूर्वका होगा। इस प्रकार पूर्वमें अनन्त अर्थ है और वीर्य्य पूर्वका अर्थ है इसलिये वीर्यभी अनन्त है यह समझना चाहिये।

ये सभी वीर्य तीन प्रकारके हैं यह निर्युक्तिकार बताते हैं—

सव्वंपिय तं तिविहं पंडिय वालविरियं च मीसं च।
अहवावि होति दुविहं अगारअणगारियं चेव ॥ ९७ ॥

(टीका) सर्वमप्येतद्भाववीर्यं पण्डितवालमिश्रभेदात् त्रिविधं, तत्रानगाराणां पण्डितवीर्यं वालपण्डितवीर्यं त्वगाराणां गृहस्थानामिति, तत्र यतीनां पण्डितवीर्यं सादिसपर्यवसितं, सर्वविरतिप्रतिपत्तिकाले सादिता सिद्धावस्थायां तदभावात्सान्तं, वालपण्डितवीर्यं तु देशविरतिसद्भावकाले सादि सर्वविरतिसद्भावे तद्भ्रंशे वा सपर्यवसानं, वालवीर्यं त्वविरतिलक्षणमेवाभव्यानामनाद्यपर्यवसितं भव्यानां त्वनादिसपर्यवसितं, सादिसपर्यवसितं तु विरतिभ्रंशात् सादिता पुनर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तादुत्कृष्टतोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्तात् विरतिसद्भावात् सान्ततेति, साद्यपर्यवसितस्य तृतीयभङ्गकस्य त्वसम्भव एव, यदिवा—पण्डितवीर्यं सर्वविरतिलक्षणं, विरतिरपि चारित्रमोहनीयक्षयक्षयोपशमोपशमलक्षणात्रिविधैव, अतो वीर्यमपि त्रिधैव भवति। गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तदनु सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदं—

(टीकार्थ) ऊपर बताये हुए सभी वीर्य्य, पण्डित, बाल, और मिश्र भेदसे तीन प्रकारके हैं। इनमें उत्तम साधुओंका पण्डितवीर्य्य है। वालपण्डितवीर्य्य गृहस्थोंका है। इनमें साधुओंका पण्डितवीर्य्य यानी निर्मल साधुता, सादि और सान्त है क्योंकि जिस समय वे चारित्र ग्रहण करते हैं उस समय वह आरम्भ होता है और जब वे केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्षमें जाते हैं उस समय धर्मानुष्ठान समाप्त होजानेसे वह सान्त कहलाता है। वालपण्डित वीर्य्य भी सादि और सान्त होता है क्योंकि जिस समय गृहस्थ देश विरति स्वीकार करता है अर्थात् वह यथाशक्ति ब्रह्मचर्य्य आदिका पालन करना आरम्भ करता है उस समय वह आरम्भ होता है और जब वह साधुता ग्रहण करता है अथवा व्रतभङ्ग करता है तब उसका वह वीर्य्य नष्ट हो जाता है इसलिये वह सादि और सान्त है। अविरति अर्थात् देशसेभी ब्रह्मचर्य्य आदिको पालन न करना वालवीर्य्य है, वह अभव्य जीवोंका अनादि और अनन्त है तथा भव्य जीवोंका अनादि और सान्त है। यदि विरतिको लेकर उसका भङ्ग करे तो इस अपेक्षासे अविरति सादि है और फिर जघन्य अन्तर्मुहुर्तमें चारित्र ग्रहण करे तथा उत्कृष्ट अपार्ध पुद्गलपरावर्त्त-

कालमें फिर चारित्रका उदय हो तो वह अविरति सान्त है। इस प्रकार अविरति सादि और सान्त है। सादि और अनन्तबालवीर्य्य असम्भव है। पण्डितवीर्य्य सर्वविरतिरूप है। वह विरति, चारित्रमोहनीय कर्मके, क्षय क्षयोपशमसे और उपशमसे होनेके कारण तीन प्रकारकी है। इसलिये वीर्य्य भी तीन प्रकारका ही है नामनिक्षेप कहा गया। अब सूत्रानुगममें अस्खलित आदि गुणोंके साथ सूत्रोंका उच्चारण करना चाहिये, वह सूत्र यह है—

(मूल) दुहा वेयं सुयक्खायं, वीरियंति पवुच्चई।
किं नु वीरस्स वीरत्तं, कहं चेयं पवुच्चई? ॥ १ ॥

(छाया) द्विधा वेदं स्वाख्यातं वीर्य्यमिति प्रोच्यते।
किं नु वीरस्य वीरत्वं कथञ्चेदं प्रोच्यते ॥

(अन्वयार्थः) (चेयं वीरियंति पवुचई) यह जो वीर्य्य कहाजाता है (दुहा सुयक्खायं) इसे तीर्थङ्करोंने दो प्रकारका कहा है। (वीरस्स वीरत्तं किं नु) वीर पुरुषकी वीरता क्या है? (कहं चेयं पवुचई) किस कारण वह वीर कहाजाता है?।

(भावार्थः) तीर्थंकर और गणधरोंने वीर्य्यके दो भेद कहे हैं। अब प्रश्न होता है कि वीर पुरुषकी वीरता क्या है? और वह क्यों वीर कहा जाता है?।

(टीका) द्वे विधे-प्रकारावस्येति द्विविधं-द्विप्रकारं, प्रत्यक्षासन्नवाचित्वात् इदमो यदनन्तरं प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यते वीर्यं तद्द्विभेदं सुष्ठ्वाख्यातं स्वाख्यातं तीर्थकरादिभिः, वा वाक्यालङ्कारे, तत्र 'ईर गतिप्रेरणयोः' विशेषेण ईरयति-प्रेरयति अहितं येन तद्वीर्यं जीवस्य शक्तिविशेष इत्यर्थः, तत्र, किं नु 'वीरस्य' सुभटस्य वीरत्वं?, केन वा कारणेनासौ वीर इत्यभिधीयते, नुशब्दो वितर्कवाची, एतद्वितर्कयति-किं तद्वीर्यं?, वीरस्य वा किं तद्वीरत्वमिति ॥ १ ॥ तत्र भेदद्वारेण वीर्यस्वरूपमाचिख्यासुराह—

(टीकार्थ) जिसके दो भेद हैं उसे द्विविध कहते हैं। इदम् शब्द प्रत्यक्ष और समीपवर्ती वस्तुका वाचक है इसलिये जो आगे स्पष्ट रूपसे कहा जाता है वह वीर्य्य दो प्रकारका तीर्थङ्कर और गणधर आदिसे कहा गया है। 'वा' शब्द वाक्यकी शोभाके लिये आया है। इसलिये इसका कोई अर्थ नहीं है) विपूर्वक "ईर गति प्रेरणयोः" धातुसे वीर्य्य शब्द बना है अतः जो विशेष रूपसे अहितको दूर करता है उसे वीर्य्य कहते हैं वह जीवकी शक्ति विशेष है। यहां यह प्रश्न होता है कि सुभट पुरुषकी वीरता क्या है? तथा वह किस

कारणसे वीर कहा जाता है ?। 'नु' शब्द वितर्क अर्थका वाचक है। यहां यह वितर्क (प्रश्न) करते हैं कि वह वीर्य्य क्या है? और वीर पुरुषकी वीरता क्या है ? । १

(मूल) कम्ममेगे पवेदेंति, अकम्मं वावि सुव्वया।
एतेहिं दोहि ठाणेहिं, जेहिं दीसंति मच्चिया ॥ २ ॥

(छाया) कर्मैके प्रवेदयन्त्यकर्माणं वाऽपि सुव्रताः।
आभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां, याभ्यां दृश्यन्ते मर्त्याः ॥

(अन्वयार्थः) (एगे कम्मं पवेदेंति) कोई कर्मको वीर्य्य कहते हैं। (सुव्वया अकम्मं वाऽवि) और हे सुव्रतों! कोई अकर्मको वीर्य्य कहते हैं। (मच्चिया) मर्त्यलोकके प्राणी (एतेहिं दोहिं ठाणेहिं दीसंति) इन्हीं दो भेदोंमें देखे जाते हैं।

(भावार्थ) श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं कि हे सुव्रतों! कोई कर्मको वीर्य्य कहते हैं और दूसरे अकर्मको वीर्य्य कहते हैं इस प्रकार वीर्य्य के दो भेद हैं। इन्हीं दो भेदों में मर्त्यलोकके सब प्राणी देखे जाते हैं।

(टीका) कर्म्म—क्रियानुष्ठानमित्येतदेके वीर्यमिति प्रवेदयन्ति, यदिवा—कर्माष्टप्रकारं कारणे कार्योपचारात् तदेव वीर्यमिति प्रवेदयन्ति, तथाहि—औदयिकभावनिष्पन्नं कर्मेत्युपदिश्यते, औदयिकोऽपि च भावः कर्मोदयनिष्पन्न एव बालवीर्यं, द्वितीयभेदस्त्वयं—न विद्यते कर्मास्येत्यकर्मा—वीर्यान्तरायक्षयजनितं जीवस्य सहजं वीर्यमित्यर्थः, चशब्दात् चारित्रमोहनीयोपशमक्षयोपशमजनितं च, हे सुव्रता! एवम्भूतं पण्डितवीर्यं जानीत यूयं। आभ्यामेव द्वाभ्यां स्थानाभ्यां सकर्मकाकर्मकापादितबालपण्डितवीर्याभ्यां व्यवस्थितं वीर्यमित्युच्यते, यकाभ्यां च ययोर्वा व्यवस्थिता मर्त्येषु भवा मर्त्याः' दिस्संत' इति दृश्यन्तेऽपदिश्यन्ते वा, तथाहि—नानाविधासु क्रियासु प्रवर्तमानमुत्साहबलसंपन्नं मर्त्यं दृष्ट्वा वीर्यवानयं मर्त्य इत्येवमपदिश्यते, तथा तदावारककर्मणः क्षयादनन्तबलयुक्तोऽयं मर्त्य इत्येवमपदिश्यते दृश्यते चेति ॥ २ ॥ इह बालवीर्यं कारणे कार्योपचारात्कर्मैव वीर्यत्वेनाभिहितं साम्प्रतं कारणे कार्योपचारादेव प्रमादं कर्मत्वेनापदिशन्नाह—

(टीकार्थ) अब शास्त्रकार भेदपूर्वक वीर्य्यके स्वरूपकी व्याख्या करनेके लिये कहते हैं—क्रियाका अनुष्ठान करना कर्म है इसीको कोई वीर्य्य कहते हैं। अथवा कारणमें कार्यका उप-

१ वीर्यत्रयेऽस्यैवोदयनिष्पन्नत्वात्, शेषं त्वन्यथेत्युत्तरभेदे।

चार करके आठ प्रकारके कर्मोंकोही वीर्य कहते हैं। क्योंकि जो औदयिक भावसे उत्पन्न होता है उसे कर्म कहते हैं और औदयिकभाव कर्मके उदयसेही उत्पन्न होकर बालवीर्य कहलाता है। वीर्यका दूसरा भेद यह है-जिसमें कर्म नहीं है उसे अकर्मा कहते हैं, वह वीर्यान्तराय कर्मके क्षयसे उत्पन्न जीवका स्वाभाविक वीर्य है, तथा 'च' शब्दसे चारित्रमोहनीयके उपशम या क्षयोपशमसे उत्पन्न निर्मल चारित्रको वीर्य कहते हैं। हे सुव्रतों ! ऐसे वीर्यको आप पण्डितवीर्य्य जानें। ये जो सकर्मक और अकर्मक नामके दो वीर्यके भेद बताये गये हैं इन्हीके द्वारा बालवीर्य और पण्डितवीर्यकी व्यवस्था हुई है अतः उक्त दो भेदवाला वीर्य कहा जाता है। मर्त्यलोकके समस्त प्राणी इन्ही दो भेदोंमें बंटे हुए देखे जाते हैं या कहे जाते हैं। क्योंकि भली या बुरी नाना प्रकारकी क्रियाओंमें उत्साह तथा बलके साथ लगे हुए मनुष्यको देखकर लोग कहते हैं कि "यह पुरुष वीर्य्यसे सम्पन्न है। तथा वीर्यान्तराय कर्मके क्षय होनेसे मनुष्यको लोग कहते हैं कि "यह अनन्त बलसे युक्त मनुष्य है"। २

यहां शास्त्रकारने कारणमें कार्यका उपचार करके कर्मकोही बालवीर्य कहा है अब कारणमें कार्यका उपचार करकेही प्रमादको कर्मरूपसे बताते हैं—

(मूल) पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं।
तब्भावादेसओ वावि, बालं पंडियमेव वा ॥ ३ ॥

(छाया) प्रमादं कर्ममाहुरप्रमादं तथाऽपरम्।
तद्भावादेशतो वाऽपि बालं पण्डितमेव वा ॥

(अन्वयार्थः) (पमायं कम्ममाहंसु) तीर्थङ्करोंने प्रमादको कर्म कहा है (तहा अप्पमायं अवरं) तथा अप्रमादको अकर्म कहा है। (तब्भावादेसओ वावि) इन दोनोकी सत्तासेही (बालं पंडियमेव वा) बालवीर्य्य या पण्डितवीर्य्य होता है।

(भावार्थ) तीर्थङ्करोंने प्रमादको कर्म और अप्रमादको अकर्म कहा है। अतः प्रमादके होनेसे बालवीर्य और अप्रमादके होनेसे पण्डितवीर्य होता है।

(टीका) प्रमाद्यन्ति-सदनुष्ठानरहिता भवन्ति प्राणिनो येन स प्रमादो—मद्यादिः, तथा चोक्तम्-"मज्जं[1] विसयकसाया णिद्दा विगहा य पंचमी भणिया। एए पमायपमाओ णिद्दिट्ठो वीयरागेहिं ॥ १ ॥" तमेवम्भूतं प्रमादं कर्मोपादानभूतं कर्म 'आहुः' उक्तवन्तस्तीर्थकरादयः, अप्रमादं च तथाऽपरमकर्मकमाहुरिति,

[1] मद्य विषया कषाया विकथा निद्रा च पंचमी भणिता (एते पंच प्रमादा निर्दिष्टा) एष प्रमादप्रमादो निर्दिष्टो वीतरागैः ॥ १ ॥

एतदुक्तं भवति–प्रमादोपहतस्य कर्म बध्यते, सकर्मणश्च यत्क्रियानुष्ठानं तद्बालवीर्यं, तथाऽप्रमत्तस्य कर्माभावो भवति, एवंविधस्य च पण्डितवीर्यं भवति, एतच्च बालवीर्यं पण्डितवीर्यमिति वा प्रमादवतः सकर्मणो बालवीर्यमप्रमत्तस्याकर्मणः पण्डितवीर्यमित्येवमायोज्यं, 'तब्भावादेसओ वावी'ति तस्य–बालवीर्यस्य कर्मणश्च पण्डितवीर्यस्य वा भावः–सत्ता स तद्भावस्तेनाऽऽदेशो–व्यपदेशः ततः, तद्यथा–बालवीर्यमभव्यानामनादिअपर्यवसितं भव्यानामनादिसपर्यवसितं वा सादिसपर्यवसितं वेति, पण्डितवीर्यं तु सादिसपर्यवसितमेवेति ॥ ३ ॥ तत्र प्रमादोपहतस्य सकर्मणो यद्बालवीर्यं तद्दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) प्राणिवर्ग जिसके द्वारा उत्तम अनुष्ठानसे रहित होते हैं, वह प्रमाद है, वह मद्य आदि है, जैसाकि कहा है—(मज्जं) अर्थात् मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और चारित्रको दूषित करनेवाली कथायें ये पांच प्रमाद जिनवरोंने कहे हैं। तीर्थङ्करोंने कर्मके कारणरूप इन पांच प्रमादोंको कर्म कहा है, और अप्रमादको अकर्म कहा है। प्रमादको कर्म और अप्रमादको अकर्म कहनेका परमार्थ यह है कि प्रमादके कारण भानरहित होकर जीव कर्म बाँधता है। उस कर्मसहित जीवका जो क्रियानुष्ठान है वह बालवीर्य्य है। तथा प्रमादरहित पुरुषके कर्त्तव्यमें कर्मका अभाव है अतः उस पुरुषका कार्य्य, पण्डितवीर्य्य है। इस प्रकार जो पुरुष प्रमादी और सकर्मा है उसका बालवीर्य्य समझना चाहिये और जो अप्रमादी और अकर्मा है उसका पण्डितवीर्य्य जानना चाहिये। इन दोनो वीर्य्योंकी सत्तासे अर्थात् बालवीर्य्य और पण्डितवीर्य्यके होनेसे बाल और पण्डित यह व्यवहार होता है। इनमें अभव्य जीवोंका बालवीर्य्य अनादि और अनन्त होता है और भव्य जीवोंका अनादि होकर सान्त होता है तथा सादि और सान्तभी होता है परन्तु पण्डितवीर्य्य सादि और सान्त ही होता है। ३ प्रमादसे मूढ, सकर्मो यानी पापी पुरुषका जो बालवीर्य्य (अधमकृत्य) है उसे दिखानेके लिये शास्त्रकार कहते हैं—

(मूल) सत्थमेगे तु सिक्खंता, अतिवायाय पाणिणं।
एगे मंते अहिज्जंति, पाणभूयविहेडिणो ॥ ४ ॥

(छाया) शास्त्रमेके तु शिक्षन्ते, ऽतिपाताय प्राणिनाम्।
एके मन्त्रानधीयते प्राणभूतविहेठकान् ॥

(अन्वयार्थः) (एगे पाणिणं अतिवायाय) कोई प्राणियोंका वध करनेके लिये (सत्थं)

तलवार आदि शस्त्र अथवा धनुर्वेदादि (सिक्खंता) सीखते हैं। (एगे पाणभूयविहेडिणो) तथा कोई प्राणी और भूतोंको मारनेवाले (मते अहिज्जंति) मन्त्रोंको पढते हैं।

(भावार्थ) कोई बालजीव, प्राणियोंका नाश करनेके लिये शस्त्र तथा धनुर्वेदादि शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं और कोई प्राणियोंका विनाशक मन्त्रोंका अध्ययन करते हैं।

(टीका) शस्त्रं–खड्गादिप्रहरणं शास्त्रं वा धनुर्वेदायुर्वेदिकं प्राण्युपमर्द्दकारि तत् सुष्ठु सातगौरवगृद्धा 'एके' केचन 'शिक्षन्ते' उद्यमेन गृह्णन्ति, तच्च शिक्षितं सत् 'प्राणिनां' जन्तूनां विनाशाय भवति, तथाहि–तत्रोपदिश्यते एवंविधमालीढप्रत्यालीढादिभिर्जीवे व्यापादयितव्ये स्थानं विधेयं, तदुक्तम्–"मुष्टिनाऽऽच्छादयेल्लक्ष्यं, मुष्टौ दृष्टिं निवेशयेत्। हतं लक्ष्यं विजानीयाद्यदि मूर्धा न कम्पते ॥ १ ॥" तथा एवं लावकरसः क्षयिणे देयोऽभयारिष्टाख्यो मद्यविशेषश्चेति, तथा एवं चौरादेः शूलारोपणादिको दण्डो विधेयः तथा चाणक्याभिप्रायेण परो वञ्चयितव्योऽर्थोपादानार्थं तथा कामशास्त्रादिकं चोद्यमेनाशुभाध्यवसायिनोऽधीयते, तदेवं शस्त्रस्य धनुर्वेदादेः शास्त्रस्य वा यदभ्यसनं तत्सर्वं, बालवीर्यं, किञ्च एके केचन पापोदयात् मन्त्रानभिचारकाना(ते)थर्वणानश्वमेधपुरुषमेधसर्वमेधादियागार्थमधीयते, किम्भूतानिति दर्शयति–'प्राणा' द्वीन्द्रियादयः 'भूतानि' पृथिव्यादीनि तेषां 'विविधम्' अनेकप्रकारं 'हेठकान्' बाधकान् ऋक्संस्थानीयान् मन्त्रान् पठन्तीति, तथा चोक्तम्–"षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ १ ॥" इत्यादि ॥ ४ ॥ अधुना 'सत्थ'मित्येतत्सूत्रपदं सूत्रस्पर्शिकया निर्युक्तिकारः स्पष्टयितुमाह—

(टीकार्थ) सुख और गौरवमें आसक्त कोई पुरुष प्राणियोंके विनाश करनेवाले तलवार आदि शस्त्रों तथा धनुर्वेद आदि शास्त्रोंको उत्साहके साथ सीखते हैं। अन्तमें सीखी हुई वह विद्या, प्राणियोंका घातके लिये होती है। क्योंकि उक्त विद्यामें यह शिक्षा दी जाती है कि–जीवको मारनेके लिये इस प्रकार आलीढ और प्रत्यालीढ होकर ठहरना चाहिये। जैसाकि कहा है–"जिसे मारनाहो उसको मुट्ठीसे ढँक देवे और मुट्ठीके ऊपर अपनी दृष्टि रखे, इस प्रकार बाण छोडनेपर यदि अपना शिर न हिले तो लक्ष्यको मरा हुआ जानना चाहिये।" तथा वैद्यक शास्त्रमें कहा है कि इस प्रकार लावक पक्षीका रस क्षय रोगवालेको देना चाहिये तथा अभय अरिष्ट जो एक प्रकारका मद्य है वह उसे देना चाहिये। तथा दण्डनीतिमें कहा है कि चोरको इस प्रकार शूलपर चढाना चाहिये। एवं चाणक्यके शास्त्रमें कहा है कि धन लेनेके लिये इस प्रकार दूसरेको ठगना चाहिये। अतः इन शास्त्रोंको तथा कामशास्त्रको अशुभ

विचारवाले पुरुष पढते हैं। इस प्रकार शस्त्र और धनुर्वेद आदि शास्त्रोंका अभ्यास बालवीर्य्य जानना चाहिये। तथा कोई पुरुष पापके उदयसे प्राणियोंके घातक अथर्ववेदके मन्त्रोंको अश्वमेध, पुरुषमेध, और सर्वमेध यज्ञोंके निमित्त पढते हैं। वे मन्त्र कैसे हैं? सो शास्त्रकार दिखलाते हैं–द्वीन्द्रिय आदि प्राणी तथा पृथिवी आदि भूतोंको अनेक प्रकारसे कष्ट देनेवाले ऋग्वेदके मन्त्रोंको अशुभ विचारवाले पढते हैं। इनके विषयमें कहा है कि—(षट्शतानि) अर्थात् अश्वमेध यज्ञके वचनानुसार बीचके दिनमें तीन कम छः सौ पशु मारनेके लिये तैयार रखना चाहिये। ४

अब निर्युक्तिकार शस्त्र शब्दको स्पर्श करनेवाली गाथांके द्वारा सूत्रके शस्त्रपदको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं—

सत्थं असिमादीयं विज्जामंते य देवकम्मकयं।
पत्थिववारुणअग्गेय वाऊ तह मीसगं चेव ॥ ९८ ॥

(टीका) शस्त्रं–प्रहरणं तच्च असिः–खड्गस्तदादिकं, तथा विद्याधिष्ठितं, मन्त्राधिष्ठितं देवकर्मकृतं–दिव्यक्रियानिष्पादितं, तच्च पञ्चविधं, तद्यथा–पार्थिवं वारुणमाग्नेयं वायव्यं तथैव द्व्यादिमिश्रं चेति। किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) हथियारको शस्त्र कहते हैं वह तलवार आदि, तथा विद्याधिष्ठित, मन्त्राधिष्ठित, देवकर्मकृत, और दिव्यक्रियासे उत्पन्न किया हुआ होता है। वह पाँच प्रकारका है, जैसेकि–पार्थिव, वारुण, आग्नेय, वायव्य, तथा दो आदिसे मिश्रित।

(मूल) माइणो कट्टु माया य, कामभोगे समारभे।
हंता छेत्ता पगब्भित्ता, आयसायाणुगामिणो ॥ ५ ॥

(छाया) मायिनः कृत्वा मायाश्च, कामभोगान् समारम्भन्ते।
हन्तारश्छेत्तारः प्रकर्त्तयितार आत्मसातानुगामिनः ॥

(अन्वयार्थ) (माइणो माया कट्टु) माया करनेवाले पुरुष माया यानी छल कपट करके (कामभोगे समारभे) काम भोगका सेवन करते हैं। (आयसाताणुगामिणो) तथा अपने सुखकी इच्छा करनेवाले वे, (हंता छेत्ता पगब्भित्ता) प्राणियोंका हनन छेदन और कर्त्तन (चीरना) करते हैं।

(भावार्थ) कपटी जीव कपटके द्वारा दूसरेका धनादि हर कर विषय सेवन करते हैं तथा अपने सुखकी इच्छा करनेवाले वे, प्राणियोंका हनन छेदन और कर्त्तन करते हैं।

(टीका) 'माया' परवञ्चनादि(त्मि)का बुद्धिः सा विद्यते येषां ते मायाविनस्त एवम्भूता मायाः—परवञ्चनानि कृत्वा एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणादेव क्रोधिनो मानिनो लोभिनः सन्तः 'कामान्' इच्छारूपान् तथा भोगांश्च शब्दादिविषयरूपान् 'समारभन्ते' सेवन्ते पाठान्तरं वा 'आरंभाय तिवट्टइ' त्रिभिः मनोवाक्कायैरारम्भार्थं वर्त्तते, बहून् जीवान् व्यापादयन् बध्नन् अपध्वंसयन् आज्ञापयन् भोगार्थी वित्तोपार्जनार्थं प्रवर्त्तत इत्यर्थः, तदेवम् 'आत्मसातानुगामिनः' स्वसुखलिप्सवो दुःखलिप्सवो दुःखद्विपो विषयेषु गृद्धाः कषायकलुषितान्तरात्मानः सन्त एवम्भूता भवन्ति, तद्यथा—'हन्तारः' प्राणिव्यापादयितारस्तथा छेत्तारः कर्णनासिकादेस्तथा प्रकर्तयितारः पृष्ठोदरादेरिति ॥ ५ ॥ तदेतत्कथमित्याह—

(टीकार्थ) दूसरेको ठगनेकी बुद्धि माया कही जाती है। वह बुद्धि जिस जीवमें होती है उसको मायावी कहते हैं। इस प्रकार मायाके द्वारा दूसरेको ठगकर मायावी पुरुष विषयका सेवन करते हैं। एकके ग्रहणसे उसके जातिवाले सबोंका ग्रहण होता है इसलिये क्रोधी, मानी, और लोभी जीव शब्दादि विषयोंका सेवन करते हैं यह अर्थभी जानना चाहिये। यहां "आरम्भाय तिवट्टइ" यह पाठान्तरभी मिलता है। इसका अर्थ यह है—वह भोगार्थी पुरुष, मन, वचन, और कायसे आरम्भमें वर्तमान रहता है। वह बहुत जीवोंको मारता है, बाँधता है, नाश करता है तथा आज्ञापालन कराता है, इस प्रकार वह धन उपार्जनके लिये तत्पर रहता है। इस प्रकार अपने सुखकी इच्छा करनेवाले और दुःखसे द्वेष रखनेवाले, विषयभोगमें आसक्त, कषायोंसे मलिन हृदयवाले पुरुष इस प्रकार पाप करते हैं, जैसे कि—वे प्राणियोंका घात करते हैं, तथा उनके कान और नाक आदि काटते हैं एवं उनके पेट और पीठ आदि काटते हैं। ५ यह सब किस प्रकार करते हैं सो शास्त्रकार बतलाते है—

(मूल) मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो।
आरओ परओ वावि, दुहावि य असंजया ॥ ६ ॥

(छाया) मनसा वचसा चैव, कायेन चैवान्तशः।
आरतः परतोवाऽपि, द्विधाऽपि चासंयताः ॥

(अन्वयार्थः) (असंजया) असंयमी पुरुष, (मणसा वयसा चेव कायसा चेव) मन, वचन और कायसे (अंतसो) एवं कायकी शक्ति न होने पर मनसे (आरओ परओ वावि) इस लोक और परलोक दोनोके लिये (दुहावि) करने और कराने दोनो प्रकारसे जीवोंका घात कराते है।

(भावार्थ) असंयमी पुरुष मन, वचन और कायसे तथा कायकी शक्ति न होनेपर मन वचनसे इसलोक और परलोक दोनोंके लिये स्वयं प्राणियोंका घात करते हैं और दूसरेके द्वाराभी कराते हैं।

(टीका) तदेतत्प्राण्युपमर्दनं मनसा वाचा कायेन कृतकारितानुमतिभिश्च 'अन्तशः' कायेनाशक्तोऽपि तन्दुलमत्स्यवन्मनसैव पापानुष्ठानानुमत्या कर्म बध्नातीति, तथा आरतः परतश्चेति लौकिकी वाचोयुक्तिरित्येवं पर्यालोच्यमाना ऐहिकामुष्मिकयोः 'द्विधापि' स्वयंकरणेन परकरणेन चासंयता-जीवोपघातकारिण इत्यर्थः ॥ ६ ॥ साम्प्रतं जीवोपघातविपाकदर्शनार्थमाह—

(टीकार्थ) असंयमी पुरुष मन, वचन और शरीरसे तथा करने कराने और अनुमोदन करनेसे प्राणियोंका घात करते हैं। वे शरीरकी शक्ति न होनेपरभी तन्दुल मत्स्यकी तरह मनसेही पाप करके कर्म बाँधते हैं। तथा लौकिक शास्त्रोंकी यह युक्ति है यह विचार कर इसलोक और परलोकके लिये स्वयं जीवघात करते हैं और दूसरेभी कराते हैं। ६

जीवहिंसा करनेका फल बतानेके लिये शास्त्रकार कहते हैं—

(मूल) वेराइं कुव्वई वेरी, तओ वेरेहिं रज्जती।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो ॥ ७ ॥

(छाया) वैराणि करोति वैरी, ततो वैरैः रज्यते।
पापोपगा आरम्भाः, दुःखस्पर्शा अन्तशः ॥

(अन्वयार्थः) (वेरी वेराइं कुव्वई) जीव घात करनेवाला पुरुष, अनेक जन्मकेलिये जीवोंके साथ वैर करता है। (तओवेरेहिं रज्जती) फिर वह नया वैर करता है (आरंभा य पावोवगा) जीवहिंसा पाप उत्पन्न करती है (अंतसो दुक्खफासा) और अन्तमें दुःख देती हैं।

(भावार्थ) जीवहिंसा करनेवाला पुरुष उस जीवके साथ अनेक जन्मके लिये वैर बांधता है क्योंकि दूसरे जन्ममें वह जीव इसे मारता है और तीसरे जन्ममें यह उसे मारता है इस प्रकार इनकी परस्पर वैरकी परम्परा चलती रहती है। तथा जीवहिंसा पाप उत्पन्न करती है। और इसका विपाक दुःख भाग होता है।

(टीका) वैरमस्यास्तीति वैरी, स जीवोपमर्दकारी जन्मशतानुबन्धीनि वैराणि करोति, ततोऽपि च वैरादपरैर्वैरैरनुरज्यते-संबध्यते, वैरपरम्परानुषङ्गी भवतीत्यर्थः, किमिति?, यतः पापं उप—सामीप्येन गच्छन्तीति पापोपगाः, क एते?-'आ-

रम्भाः' सावद्यानुष्ठानरूपाः 'अन्तशो' विपाककाले दुःखं स्पृशन्तीति दुःखस्पर्शा-असातोदयविपाकिनो भवन्तीति ॥ ७ ॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) जो वैरवाला है उसे वैरी कहते हैं वह जीवोंका घात करनेवाला पुरुष, सैकडों जन्मों तक चलनेवाला वैर उत्पन्न करता है। उस एक वैरके कारण फिर वह अनेको वैरोंसे पकडा जाता है, अर्थात् वह वैर परम्पराका पात्र होता है क्योंकि सावद्यानुष्ठान, पापके साथ चलते हैं और वे विपाककालमें दुःख उत्पन्न करते हैं अर्थात् इनका विपाक असातावेदनीयका उदय होता है। ७

(मूल) संपरायं णियच्छंति, अत्तदुक्कडकारिणो ।
रागदोसस्सिया वाला, पावं कुव्वंति ते वहुं ॥ ८ ॥

(छाया) सम्परायं नियच्छन्त्यात्मदुष्कृतकारिणः ।
रागद्वेषाश्रिता बालाः, पापं कुर्वन्ति ते वहु ॥

(अन्वयार्थ) (अत्तदुक्कडकारिणो) स्वयं पाप करनेवाले जीव, (संपरायं णियच्छंति) साम्परायिक कर्म बांधते हैं। (रागदोसस्सिया ते बाला वहु पावं कुव्वंति) तथा राग और द्वेषके आश्रयसे वे अज्ञानी जीव बहुत पाप करते है।

(भावार्थ) स्वयं पाप करनेवाले जीव, साम्परायिक कर्म बाँधते हैं। तथा रागद्वेषके स्थानभूत वे अज्ञानी वहुत पाप करते हैं—

(टीका) 'सम्परायं णियच्छंती'त्यादि, द्विविधं कर्म-ईर्यापथं साम्परायिकं च, तत्र सम्पराया-वादरकषायास्तेभ्य आगतं साम्परयिकं तत् जीवोपमर्दकत्वेन वैरानुषङ्गितया 'आत्मदुष्कृतकारिणः' स्वपापविधायिनः सन्तो 'नियच्छन्ति' बध्नन्ति, तानेव विशिनष्टि-'रागद्वेषाश्रिताः' कषायकलुषितान्तरात्मानः सदसद्विवेकविकलत्वात् बाला इव बालाः, ते चैवम्भूताः 'पापम्' असद्वेद्यं 'बहु' अनन्तं 'कुर्वन्ति' विदधति ॥ ८ ॥ एवं बालवीर्यं प्रदर्श्योपसंजिघृक्षुराह—

(टीकार्थ) कर्म दो प्रकारके हैं-ईर्य्यापथ और साम्परायिक। सम्परायनाम वादरकषायका है (वह वहुत क्रोध वगैरह है) उससे दुष्ट कृत्य होता है तथा जीवोंकी हिंसा होती है और कर्म बाँधा जाता है। स्वयं पाप करके जीव, इस कर्मको बाँधता है। उन पाप करनेवाले पुरुषोंका विशेषण बताते हैं—राग और द्वेषके आश्रय, तथा कषायसे मलिन आत्मावाले पुरुष सद् और असत्के विवेकसे हीन होनेके कारण बालकके समान अज्ञानी हैं, वे मूर्ख जीव बहुत पाप

करते हैं । इस प्रकार बालवीर्य्यका वर्णन करके अब उसकी समाप्ति करनेके लिये शास्त्रकार कहते हैं—

(मूल) एयं सकम्मवीरियं, बालाणं तु पवेदितं ।
इत्तो अकम्मविरियं, पंडियाणं सुणेह मे ॥ ९ ॥

(छाया) एतत् सकर्मवीर्य्यं, बालानान्तु प्रवेदितम् ।
अतोऽकर्मवीर्य्यं पण्डितानां शृणुत मे ॥

(अन्वयार्थ) (एयं) यह (बालाणं तु) अज्ञानियोंका (सकम्मवीरियं) सकर्मवीर्य्य (पवेदितं) कहा गया है (इत्तो) अब यहांसे (पंडियाणं) उत्तम साधुओंका (अकम्मवीरियं) अकर्मवीर्य्य (मे) मेरेसे (सुणेह) सुनो ।

(भावार्थ) यह अज्ञानियोंका सकर्मवीर्य्य कहा गया है अब यहांसे पण्डितोंका अकर्मवीर्य्य मेरेसे सुनो ।

(टीका) 'एतत्' यत् प्राक् प्रदर्शितं, तद्यथा—प्राणिनामतिपातार्थं शस्त्रं शास्त्रं वा केचन शिक्षन्ते तथा परे विद्यामन्त्रान् प्राणिबाधकानधीयते तथाऽन्ये मायाविनो नानाप्रकारां मायां कृत्वा कामभोगार्थमारम्भान् कुर्वते केचन पुनरपरे वैरिणस्तत्कुर्वन्ति येन वैरैरनुबध्यन्ते (ते) तथाहि—जमदग्निना स्वभार्याऽकार्यव्यतिकारे कृतवीर्यो विनाशितः, तत्पुत्रेण तु कार्तवीर्येण पुनर्जमदग्निः, जमदग्निसुतेन परशुरामेण सप्त वारान् निःक्षत्रा पृथिवी कृता, पुनः कार्तवीर्यसुतेन तु सुभूमेन त्रिःसप्तकृत्वो ब्राह्मणा व्यापादिताः, तथा चोक्तम्—"अपकारसमेन कर्मणा न नरस्तुष्टिमुपैति शक्तिमान् । अधिकां कुरु वै(तेऽ)रियातनां द्विषतां जातमशेषमुद्धरेत् ॥ १ ॥" तदेवं कषायवशगाः प्राणिनस्तत्कुर्वन्ति येन पुत्रपौत्रादिष्वपि वैरानुबन्धो भवति, तदेतत्सकर्मणां बालानां वीर्यं तुशब्दात्प्रमादवतां च प्रकर्षेण वेदितं प्रवेदितं प्रतिपादितमितियावत्, अत ऊर्ध्वमकर्मणां—पण्डितानां यद्वीर्यं तन्मे-मम कथयतः शृणुत यूयमिति ॥ ९ ॥ यथाप्रतिज्ञातमेवाह—

(टीकार्थ) यह जो पहले कहा गया है कि प्राणियोंका घात करनेके लिये कोई शस्त्र और कोई शास्त्र सीखते हैं तथा दूसरे, प्राणियोंको पीडा देनेवाली विद्या और मन्त्रोंका अध्ययन करते हैं, एवं कितने कपटी नाना प्रकारका कपट करके कामभोगके लिये आरम्भ करते हैं तथा कितने ऐसा कर्म करते हैं कि वे वैरकी परम्परा बाँधते हैं, जैसे कि—जमदग्निने उनकी

स्त्रीके साथ अनुचित व्यवहार करनेके कारण कृतवीर्य्यको जानसे मार डालाथा और इस वैरके कारणकृतवीर्य्यके पुत्र कार्तवीर्य्यने जमदग्निको मार डाला फिर जमदग्निके पुत्र परशुरामने सातवार पृथिवीको क्षत्रिय रहित कर दिया, फिर कार्त्तवीर्य्यके पुत्र सुभूमने एकईस वार ब्राह्मणोंका विनाश कियाथा। कहा है कि—(अपकारसमेन) अपकारके बरावर बदला लेनेसे शक्तिमान् मनुष्यकी तृप्ति नहीं होती है अतः शत्रुको अधिक पीडा देनी चाहिये, यहाँ तक कि—जितने दुश्मन हे सभीको उखाड डालना चाहिये (जिसमें कोइ फिर सम्मुख न आवे) इस प्रकार कषायके वशीभूत पुरुष ऐसा कार्य्य करते हैं जिससे वेटे और पोते आदिमेंभी वैर चलता रहता है। सो इस प्रकार सकर्मी (पापी) अज्ञानियोंका तथा 'च' शब्दसे प्रमादी पुरुषोंका वीर्य्य (वहादुरी) कहा गया है। अब यहांसे पण्डितोंका वीर्य्य में बताता हूं सो तुम सुनो।९

अब शास्त्रकार अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार कहते है—

(मू०) दविए वंधणुम्मुक्के, सव्वओ छिन्नवंधणे।
पणोल्ल पावकं कम्मं, सल्लं कंतति अंतसो ॥ १० ॥

(छाया) द्रव्यो बन्धनान्मुक्तः, सर्वतश्छिन्नबन्धनः।
प्रणुद्य पापकं कर्म, शल्यं कृन्तत्यन्तशः ॥

(अन्वयार्थ) (दविए) मुक्ति जाने योग्य पुरुष (वंधणुम्मुक्के) बन्धनसे मुक्त (सव्वओ छिन्नवंधणे) तथा सब प्रकारसे बन्धनको नष्ट किया हुआ (पावकं कम्मं पणोल्ल) पापकर्मको छोडकर (अंतसो सल्लं किंतत्ति) अपने समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है।

(भावार्थ) मुक्ति जाने योग्य पुरुष सब प्रकारके बन्धनोंको काटकर एवं पापकर्मको दूर करके अपने आठ प्रकारके कर्मोंको काट डालता है।

(टीका) 'द्रव्यो' भव्यो मुक्तिगमनयोग्यः 'द्रव्यं च भव्ये' इति वचनात् रागद्वेषविरहाद्वा द्रव्यभूतोऽकषायीत्यर्थः, यदिवा वीतराग इव वीतरागोऽल्पकषाय इत्यर्थः, तथा चोक्तम्—"किं सक्का वोत्तुं जे सरागधम्मंमि कोइ अकसायी। संतेवि जो कसाए निगिण्हइ सोऽवि तत्तुल्लो ॥ १ ॥" स च किम्भूतो भवतीति दर्शयति—बन्धनात्—कपायात्मकान्मुक्तो बन्धनोन्मुक्तः, बन्धनत्वं तु कपायाणां कर्मस्थिति-हेतुत्वात्, तथा चोक्तम्—"वंधट्ठिई कसायवसा" कषायवशात् इति, यदिवा—

१ किं शक्या वक्तुं यत्सरागधर्मे कोऽप्यकषायः। सतोऽपि यः कषायान्निगृण्हाति सोऽपि तत्तुल्यः ॥ १ ॥ २ बन्धस्थिती कषायवशात् ॥

वन्धनोन्मुक्त इव वन्धनोन्मुक्तः, तथाऽपरः 'सर्वतः' सर्वप्रकारेण सूक्ष्मबादररूपं 'छिन्नम्' अपनीतं 'वन्धनं' कषायात्मकं येन स छिन्नवन्धनः, तथा 'प्रणुद्य' प्रेर्य 'पापं' कर्म कारणभूतान्वाऽऽश्रवानपनीय शल्यवच्छल्यं-शेषकं कर्म तद् कृन्तति-अपनयति अन्तशो-निरवशेषतो विघटयति, पाठान्तरं वा 'सल्लं कंतइ अप्पणो'त्ति शल्यभूतं यदष्टप्रकारं कर्म तदात्मनः सम्बन्धि कृन्तति-छिनत्तीत्यर्थः ॥१०॥ यदुपादाय शल्यमपनयति तद्दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) मुक्ति जाने योग्य भव्य पुरुष को 'द्रव्य' कहेते हैं क्योंकि "द्रव्यं च भव्ये" यहपाणिनिका सूत्र है। (भव्य अर्थ में द्रव्य पदका प्रयोग होता है यह इसका अर्थ हैं) अथवा रागद्वेष रहित होने के कारण जो पुरुष द्रव्यभूत यानी कषाय रहित है वह द्रव्य है अथवा जो पुरुष वीतरागके समान अल्प कषायवाला है उसे द्रव्य कहेते हैं, जैसाकि कहा है (किंसका) अर्थात् सराग धर्म में रहनेवाला (छट्ठा सातवाँगुण स्थानवाला) कोई पुरुष कषाय रहित है क्या यह कहा जासकता है? उत्तर हाँ, कषाय होनेपर भी जो पुरुष उनको उदय में आनेसे दवा देता है वह भी वीतरागके समानही है। वह पुरुष कैसा होता है? सो शास्त्रकार दिखलाते हैं वह पुरुष, कषायरूप वन्धनसे मुक्त (छुटा हुआ) है, क्योंकि कषाय होनेपर ही कर्मका स्थितिकाल बँधता है इसलिये कषाय ही वन्धन है। जैसाकि कहा है "कम्मट्ठिई कसायवसा" अर्थात् वन्धनकी स्थिति कषायके वश है। अथवा वह पुरुष वन्धनसे छुटे हुए पुरुषके समान होनेके कारण वन्धनसे मुक्त है। तथा वह, दूसरे सूक्ष्म और बादररूप कषायोंको छेदन करनेके कारण छिन्नवन्धन है। तथा वह, पापोंको दूर करके उनके मूल कारण आश्रवोंको हटाकर लगे हुए कांटेकी तरह बाकी रहे हुए कर्मोंको (जो आत्माके साथ अनादि कालसे लगे हुए है) निःशेष उखाड़ फेंकता है। यहां "सल्लं कंतइ अप्पणो" यह पाठान्तर है। इसका अर्थ यह है कि वह पुरुष लगे हुए कांटेकी तरह अपने आत्माके आठ प्रकारके कर्मोंको छेदन करता है। १० वह पुरुष जिसके आश्रय से शल्यरूप कर्मोंका छेदन करता है उसे दिखानेके लिये शास्त्रकार कहते है-

---

(मूल) नेयाउयं सुयक्खायं, उवादाय समीहए।
भुज्जो भुज्जो दुहावासं, असुहत्तं तहा तहा ॥११॥

(छाया) नेतारं स्वाख्यात, मुपादाय समीहते।
भूयो भूयो दुःखावास, मशुभत्वं तथा तथा ॥

(अन्वयार्थः) (नियाउयं सुयक्खायं) सम्यग् ज्ञान दर्शन और चरित्रको तीर्थङ्करोंने मोक्षका नेता (मोक्ष देनेवाला) कहा है (उवादाय समीहए) विद्वान् पुरुष, उसे ग्रहणकर मोक्षके लिये उद्योग करते हैं। (भुज्जो भुज्जो दुहावासं) बाल वीर्य्य वार वार दुःख देता है (तहा तहा असुहत्तं) बालवीर्य्यवाला पुरुष ज्यों ज्यों दुःख भोगता है त्यों त्यों उसको अशुभ हीं बढता है।

(भावार्थ)–सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र मोक्षको प्राप्त करानेवाले हैं यह तीर्थङ्करोंने कहा है इसलिये बुद्धिमान पुरुष इन्हें ग्रहण कर मोक्षकी चेष्टा करते हैं। बालवीर्य, जीवको वार वार दुःख देता है और ज्यों ज्यों बालवीर्य्यवाला जीव दुःख भोगता है त्यों त्यों उसका अशुभ विचार बढता जाता है।

(टीका) नयनशीलो नेता, नयतेस्ताच्छीलिकस्तृन्, स चात्र सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको मोक्षमार्गः श्रुतचारित्ररूपो वा धर्मो मोक्षनयनशीलत्वात् गृह्यते, तं मार्गं धर्मं वा मोक्षं प्रति नेतारं सुष्ठु तीर्थकरादिभिराख्यातं स्वाख्यातं तम् 'उपादाय' गृहीत्वा'सम्यक्' मोक्षाय ईहते–चेष्टते ध्यानाध्ययनादावुद्यमं विधत्ते, धर्मध्यानारोहणालम्बनायाह–'भूयो भूयः' पौनःपुन्येन यद्बालवीर्यं तदतीतानागतानन्तभवग्रहणे–(ग्र० ५०००) षु दुःखमावासयतीति दुःखावासं वर्तते, यथा यथा च बालवीर्यवान् नरकादिषु दुःखावासेषु पर्यटति तथा तथा चास्याशुभाध्यवसायित्वादशुभमेव प्रवर्धते इत्येवं संसारस्वरूपमनुप्रेक्षमाणस्य धर्मध्यानं प्रवर्तत इति ॥११॥

(टीकार्थ) जो अच्छे रास्तेसे लेजाता है उसे नेता या नायक कहते हैं (यहां 'नेता' पद में ताच्छीलिक तृन् प्रत्यय हुआ है) वह नेता यहाँ सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग है अथवा श्रुत और चारित्ररूप धर्मका यहाँ नेता पदसे ग्रहण होता है क्योंकि वह जीवको मोक्षमें लेजाता है। उस मार्गको तीर्थङ्करोंने मोक्षका नेता कहा है। अतः बुद्धिमान् पुरुष उसे ग्रहण करके ध्यान और अध्ययन आदिमें प्रयत्न करते हैं। अब शास्त्रकार जीवको धर्मध्यान पर चढनेके लिये कहते है (बुद्धिमान् पुरुष यह सोचे कि) बालवीर्य्य अतीत और अनागत अनन्त भवोंमें वारवार दुःखावास है अर्थात् बालवीर्य्यवाला ज्यों ज्यों नरक आदि दुःख स्थानोंमें भटकता फिरता है त्यों त्यों उसका अशुभ अध्यवसाय होनेसे अशुभ कर्मही बढता है। इस प्रकार जो पुरुष संसारका दुःखमय स्वरूप विचारता है उसका धर्मध्यान में चित्त जमता है। ११

अब शास्त्रकार अनित्य भावनाके विषयमें कहते हैं–

(मूल) ठाणी विविहठाणाणि, चइस्संति ण संसओ ।
अणियते अयं वासे, णायएहि सुहीहि य ॥१२॥

१ अनिइए य संवासे इति पाठो व्याख्याकृन्मतः, एवं च चकारावित्यादेर्नासंगतिर्व्याख्यापाठस्य ।

(छाया) स्थानिनो विविधस्थानानि त्यक्ष्यन्ति न संशयः ।
अनित्योऽयं वासः, ज्ञातिभिः सुहृद्भिश्च ॥

(अन्वयार्थः) (ठाणी) उच्च पद पर बैठे हुए सभी (विविहठाणाणि चइस्सति न ससओ) अपने अपने स्थानोंको छोड देंगे इसमें सन्देह नहीं है । (णाइएहिं सुहीहिय) तथा ज्ञाति और मित्रों के साथ (अयंवासं) जो संवास है वहभी (आणियते) अनित्य है।

(भावार्थ) स्थानोंके अधिपति लोग एक दिन अवश्य अपने स्थानोंको छोड़ देंगे तथा ज्ञाति और मित्रोंके साथ संवास भी अनित्य है ।

(टीका) साम्प्रतमनित्यभावनामधिकृत्याह–स्थानानि विद्यन्ते येषां ते स्थानिनः, तद्यथा–देवलोके इन्द्रस्तत्सामानिकत्रायस्त्रिंशत्पार्षद्यादीनि मनुष्येष्वपि चक्रवर्तिबलदेववासुदेवमहामण्डलिकादीनि तिर्यक्ष्वपि यानि कानिचिदिष्टानि भोगभूम्यादौ स्थानानि तानि सर्वाण्यपि विविधानि–नानाप्रकाराण्युत्तमाधममध्यमानि ते स्थानिनस्त्यक्ष्यन्ति, नात्र संशयो विधेय इति, तथा चोक्तम्–"अशाश्वतानि स्थानानि सर्वाणि दिवि चेह च । देवासुरमनुष्याणामृद्धयश्च सुखानि च ॥१॥" तथाऽयं 'ज्ञातिभिः' बन्धुभिः सार्धं सहायैश्च मित्रैः सुहृद्भिर्यः संवासः सोऽनित्योऽशाश्वत इति, तथा चोक्तम्–"सुचिरतरमुषित्वा बान्धवैर्विप्रयोगः, सुचिरमपि हि रन्त्वा नास्ति भोगेषु तृप्तिः । सुचिरमपि सुपुष्टं[1] याति नाशं शरीरं, सुचिरमपि विचिन्त्यो धर्म एकः सहायः ॥१॥" इति, चकारौ धनधान्यद्विपदचतुष्पदशरीराद्यनित्यत्वभावनार्थौ (र्थे) अशरणाद्यशेषभावनार्थं चानुक्तसमुच्चयार्थमुपात्ताविति ॥१२॥ अपिच—

(टीकार्थ) जो स्थान (उच्चपद) वाले हैं उनको स्थानी कहते हैं, जैसे देवलोक में इन्द्र तथा उनके सामानिक तैतीस पार्षद आदि, स्थानी हैं । इसी तरह मनुष्योंमें, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, और महामाण्डलिक (वडा राजा) आदि स्थानी अर्थात् उच्चपद वाले हैं । इसी तरह तिर्य्यञ्चोंमें भी जानना चाहिये । इस भोगभूमि आदिमें जो कोई स्थान है वे सब नाना प्रकारके उत्तम मध्यम और निकृष्ट है, उन स्थानोंको उनके स्वामी एक दिन छोड़ देंगे इसमें कोई संशय नहीं है । जैसाकि कहा है (अशाश्वतानि) अर्थात् जितने उच्च पद स्वर्गलोक अथवा इस लोकमें है वे सभी अशाश्वत यानी थोडे कालके लिये हैं इसी तरह देवता असुर और मनुष्योंकी ऋद्धि तथा सुख भी थोडे कालके है (अतः अहङ्कार या ममता न करनी चाहिये)

१ सुगुप्त ।

तथा ज्ञाति यानी कुटुम्बवर्ग और प्रेमी मित्रोंके साथ जो संवास है वह भी अनित्य है। जैसा कि कहा है (सुचिरं) वहुत कालतक वाँन्धवोंके साथ रहकर अन्तमें सदाके लिये वियोग होता है। वहुत कालतक भोगोंको भोगकर भी तृप्ति नहीं होती है, वहुत कालतक शरीरको पोपण किया है तोभी वह नाशको प्राप्त होता है परन्तु यदि अच्छी तरह धर्मकी चिन्ता की हो तो वही एक इसलोक तथा परलोकमें सहायता करता है। इस गाथामें दो 'च' शब्द आये है उनका अभिप्राय यह है कि—धन, धान्य द्विपद और चतुष्पद तथा शरीर वगैरह में अनित्यताकी भावना करनी चाहिये, तथा अशरण आदि वारह भावनायें करनी चाहिये। एवं जो वात कहनेसे वाकी रहगई है उसको भी जान लेनेके लिये दो च शब्द आये हैं (जैसेकि—धन धान्य तुमको छोड़कर चले जावेगे अथवा तुम उन्हें छोड़कर चले जाओगे इस लिये ममत्व छोडो तथा उनके लिये अन्याय न करो) १२

(मूल) एवमादाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे।
आरियं उवसंपज्जे, सव्वधम्ममकोवि (५००)यं ॥१३॥

(छाया) एवमादाय मेधावी, आत्मनो गृद्धिमुद्धरेत्।
आर्य्यमुपसंपद्येत, सर्वधर्म रकोपितम् ॥

(अन्वयार्थः) (मेहावी) बुद्धिमान, पुरुष, (एव मादाय) यह विचार कर (अप्पणो गिद्धि मुद्धरे) अपनी ममत्व बुद्धिको हटा दे, तथा (सव्वधम्ममकोविय) सव कुतीर्थिक धर्मोंसे दूषित नहीं किये हुए (आरिय उवसंपज्जे) इस आर्य्य धर्मको ग्रहण करे।

(भावार्थ) सभी उच्चपद अनित्य हैं यह जानकर विवेकी पुरुप अपनी ममताको उखाड़देवे तथा सव कुतीर्थिक धर्मोंसे अदूषित इस आर्य्य धर्मको (श्रुत और चारित्रको) ग्रहण करे।

(टीका) अनित्यानि सर्वाण्यपि स्थानानीत्येवम् 'आदाय' अवधार्य 'मेधावी' मर्यादाव्यवस्थितः सदसद्विवेकी वा आत्मनः सम्वन्धिनीं 'गृद्धिं' गाद्धर्यं ममत्वम् 'उद्धरेद्' अपनयेत्, ममेदमहमस्य स्वामीत्येवं ममत्वं क्वचिदपि न कुर्यात्, तथा आराद्यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यो—मोक्षमार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकः, आर्याणां वा—तीर्थंकृदादीनामयमार्यो—मार्गस्तम् 'उपसम्पद्येत' अधितिष्ठेत् समाश्रयेदिति, किम्भूतं मार्गमित्याह—सर्वैः कुतीर्थिकधर्मैः 'अकोपितो' अदूषितः स्वमहिम्नैव दूषयितुमशक्यत्वात् प्रतिष्ठां गतः (तं), यदिवा—सर्वैर्धर्मैः—स्वभावैरनुष्ठानरूपैरगोपितं—कुत्सितकर्त्तव्याभावात् प्रकटमित्यर्थः ॥१३॥

---

१ नेद प्र०।

(टीकार्थ) मर्य्यादामें रहनेवाला अथवा भले बुरेका विवेक रखनेवाला पुरुष, सभी स्थान अनित्य है यह विचारकर अपनी ममताको त्याग देवे। वह कभी भी ममता न करे कि "यह वस्तु मेरी है और मै इसका स्वामी हूं"। तथा जो त्यागने योग्य सभी धर्मोंसे दूर रहता है उसे आर्य्यधर्म कहते हैं, वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग है अथवा तीर्थङ्कर आदि आर्य्यपुरुषोंका जो मार्ग है उसे आर्य कहते हैं उसे बुद्धिमान पुरुष ग्रहण करें वहमार्ग कैसा है? सो शास्त्रकार बताते है वह मार्ग सभी कुतीर्थिक धर्मोंसे दूषित करने योग्य नहीं है क्योंकि वह धर्म अपनी महिमासे ही निन्दाके अयोग्य और उत्तमताको प्राप्त है अथवा वह धर्म, सभी धार्मिक क्रियाओंसे अगोपित है अर्थात् कोई भी बुरी क्रिया न होनेसे वह प्रकट है १३

(मूल) सह संमइए णच्चा, धम्मसारं सुणेत्तु वा।
समुवट्ठिए उ अणगारे, पच्चक्खायपावए ॥१४॥

(छाया) सह सन्मत्या ज्ञात्वा, धर्मसारं श्रुत्वा वा।
समुपस्थितस्त्वनगारः प्रत्याख्यातपापकः॥

(अन्वयार्थः) (सह संमइए) अच्छी बुद्धि के द्वारा (सुणेतुवा) अथवा सुनकर (धम्मसारं) धर्मके सच्चे स्वरूपको (णच्चा) जानकर (समुवट्ठिए अणगारे) आत्माकी उन्नति करने में तत्पर साधु, (पच्चक्खायपावए) पापका प्रत्याख्यान करके निर्मल आत्मावाला होता है।

(भावार्थ) निर्मल बुद्धिके द्वारा अथवा गुरु आदिसे सुनकर धर्मके सत्य स्वरूपको जानकर ज्ञान आदि गुणोंके उपार्जन में प्रवृत्त साधु पापको छोड़कर निर्मल आत्मावाला होता है।

(टीका) सुधर्मपरिज्ञानं च यथा भवति तद्दर्शयितुमाह-धर्मस्य सारः-परमार्थो धर्मसारस्तं 'ज्ञात्वा' अवबुद्ध्य, कथमिति दर्शयति-सह सन्-मत्या स्वमत्या वा-विशिष्टाभिनिबोधिकज्ञानेन श्रुतज्ञानेनावधिज्ञानेन वा, स्वपरावबोधकत्वात् ज्ञानस्य, तेन सह, धर्मस्य सारं ज्ञात्वेत्यर्थः, अन्येभ्यो वा-तीर्थकरगणधराचार्यादिभ्यः ईलापुत्रवत् श्रुत्वा चिलातपुत्रवद्वा धर्मसारमुपगच्छति, धर्मस्य वा सारं-चारित्रं तत्प्रतिपद्यते, तत्प्रतिपत्तौ च पूर्वोपात्तकर्मक्षयार्थं पण्डितवीर्यसम्पन्नो रागादिबन्धनविमुक्तो बालवीर्यरहित उत्तरोत्तरगुणसम्पत्तये समुपस्थितोऽनगारः प्रवर्धमानपरिणामः प्रत्याख्यातं-निराकृतं पापकं-सावद्यानुष्ठानरूपं येनासौ प्रत्याख्यातपापको भवतीति ॥१४॥ किञ्चान्यत्—

१ सउर्म० प्र० । २ स्वमत्यपेक्षया ।

(टीकार्थ) मनुष्यको उत्तम धर्मका ज्ञान जिस प्रकार होता है उसे बतानेके लिये शास्त्रकार कहते हैं धर्मका सार यानी परमार्थ (सच्चे स्वरूप) को जानकर, (प्र.) किसप्रकार ? (उ.) वह बताते हैं उत्तम बुद्धिके द्वारा, अथवा अपनी विशेष बुद्धिके द्वारा, या श्रुत ज्ञानके द्वारा, अथवा अवधिज्ञानके द्वारा (ज्ञान अपने और दूसरे के स्वरूपका बोधक है) धर्मके सारको जानकर यह अर्थ है। अथवा तीर्थङ्कर गणधर और आचार्य्य आदिसे इलापुत्रकी तरह, अथवा दूसरेसे सुनकर चिलातपुत्रकी तरह धर्मका सार जानता है अथवा धर्मके साररूप चारित्रको प्राप्त करता है। चारित्रको प्राप्त करके पहले बाँधे हुए कर्मोंको क्षय करनेके लिये पण्डित वीर्य्यसे युक्त होकर तथा रागादि बन्धनोंसे मुक्त और बालवीर्य्य रहित साधु उत्तरोत्तर गुणोंकी वृद्धिके लिये बढता हुआ परिणामवाला पापको प्रत्याख्यान करके निर्मल होता है। १४

(मूल) जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अंतरा खिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए ॥१५॥

(छाया) यं कञ्चिदुपक्रमं जानीया दायुःक्षेमस्यात्मनः।
तस्यैवान्तरा क्षिप्रं शिक्षां शिक्षेत् पण्डितः ॥

(अन्वयार्थः) (अप्पणो आउक्खेमस्स) अपनी आयुका (जं किंचुवक्कमं जाणे) घात यदि जाने तो (तस्सेव अंतरा) उसके अन्दरही (खिप्पं) शीघ्र (सिक्खं) संलेखनारूप शिक्षा (सिक्खेज्ज) ग्रहण करे।

(भावार्थः) विद्वान पुरुष किसी प्रकार अपनी आयुका क्षयकाल यदि जाने तो उसके पहलेही संलेखनारूप शिक्षाको ग्रहण करे।

(टीका) उपक्रम्यते—संवर्त्यते क्षयमुपनीयते आयुर्येन स उपक्रमस्तं यं कञ्चन जानीयात्, कस्य ?—'आयुःक्षेमस्य' स्वायुष इति, इदमुक्तं भवति—स्वायुष्कस्य येन केनचित्प्रकारेणोपक्रमो भावी यस्मिन् वा काले तत्परिज्ञाय तस्योपक्रमस्य कालस्य वा अन्तराले क्षिप्रमेवानाकुलो जीवितानाशंसी 'पण्डितो' विवेकी संलेखनारूपां शिक्षां भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणादिकां वा शिक्षेत्, तत्र ग्रहणशिक्षया यथावन्मरणविधिं विज्ञायाऽऽसेवनाशिक्षया त्वासेवेतेति ॥१५॥

(टीकार्थः) जिससे आयु क्षयको प्राप्त होती है उसे उपक्रम कहते हैं। यदि साधु किसी प्रकार अपनी आयुका उपक्रम (विनाश कारण) जाने अर्थात् वह, अपनी आयुका

जिस प्रकार नाश होनेवाला है अथवा जिसकाल में होनेवाला है उसे जानकर उसकाल के पहलेही आकुलता छोड तथा जीनेकी इच्छासे रहित होकर संलेखना रूप शिक्षाको अथवा भक्तपरिज्ञा (अन्न अथवा अन्नपानी दोनोंका त्याग) और इङ्गितमरण (मर्यादित जगह में रहकर अन्नपानीका त्याग करना आदि परन्तु शरीरकी सेवा कराना) आदि शिक्षाको ग्रहण करे। उसमें ग्रहण शिक्षाके द्वारा मरण विधिको ठीक ठीक जानकर आसेवना शिक्षासे उसका सेवन करे। १५

(मूल) जहा कुम्मे सअंगाई, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१६॥

(छाया) यथा कूर्मः स्वाङ्गानि, स्वके देहे समाहरेत्।
एवं पापानि मेधावी, अध्यात्मना समाहरेत् ॥

(अन्वयार्थः) (जहा कुम्मे सअंगाइ सए देहे समाहरे) जैसे कछुवा अपने अङ्गोंको अपने देहमें सींकोड़ लेताहै (एवं मेहावी) इसी तरह बुद्धिमान् पुरुष, (पावाइं) पापोंको (अज्झप्पेण समाहरे) धर्मध्यान आदिकी भावनासे संकुचित करदे।

(भावार्थ) जैसे कछुवा आपने अङ्गोको अपनी देह में संकुचित कर लेता है इसी तरह विद्वान् पुरुष धर्म ध्यानकी भावनासे अपने पापोंको संकुचित करदे।

(टीका) किञ्चान्यत्–'यथे' त्युदाहरणप्रदर्शनार्थः यथा 'कूर्मः' कच्छपः स्वान्यङ्गानि–शिरोधरादीनि स्वके देहे 'समाहरेद्' गोपयेद्–अव्यापाराणि कुर्याद् 'एवम्' अनयैव प्रक्रियया 'मेधावी' मर्यादावान् सदसद्विवेकी वा 'पापानि' पापरूपाण्यनुष्ठानानि 'अध्यात्मना' सम्यग्धर्मध्यानादिभावनया 'समाहरेत्' उपसंहरेत्, मरणकाले चोपस्थिते सम्यक् संलेखनया संलिखितकायः पण्डितमरणेनात्मानं समाहरेदिति ॥१६॥ संहरणप्रकारमाह–

(टीकार्थ) यथा शब्द उदाहरण बतानेके लिये है। जैसे कछुवा, अपनी, गर्दन आदि अङ्गोको अपने शरीरमें छिपालेता है अर्थात् उनको व्यापार रहित कर देता है इसी तरह मर्यादामें रहनेवाला भले और बुरेका विचार करनेवाला पुरुष, पापरूप अनुष्ठानोंको सम्यग् धर्मध्यान की भावना से त्याग देवे तथा मरण काल आनेपर संलेखना के द्वारा शरीरको शुद्ध करके पण्डित मरण से अपना शरीर छोडे। १६।

(मूल) साहरे हत्थपाए य, मणं पंचेंदियाणि य ।
पावकं च परीणामं, भासादोसं च तारिसं ॥१७॥

(छाया) संहरेद्धस्तपादश्च, मनः पञ्चेन्द्रियाणिच ।
पापकञ्च परिणामं, भाषादोषञ्च तादृशम् ॥

(अन्वयार्थः) (हत्थ पाए य साहरे) साधु अपने हाथ पैरको संकुचित (स्थिर) रखे । (मणं पंचेंदियाणि य) और मन तथा पाँच इन्द्रियोंको भी उनके विषयोंसे निवृत्त रखे (पावकं परीणामं तारिसं भासादोसं च) तथा पापरूप परिणाम और पापमय भाषादोषको भी वर्जित करे ।

(भावार्थ) साधु अपने हाथ पैर को स्थिर रखे जिससे उनके द्वारा किसी जीवको दुःख न हो, तथा मनके द्वारा बुरा संकल्प और पांच इन्द्रियों के विषयोंमें रागद्वेष, तथा पाप परिणाम और पापमय भाषादोषको वर्जित करे ।

(टीका) पादपोपगमने इङ्गिनीमरणे भक्तपरिज्ञायां शेषकाले वा कूर्मवद्धस्तौ पादौ च 'संहरेद्' व्यापारान्निवर्त्तयेत्, तथा 'मनः' अन्तःकरणं तच्चाकुशलव्यापारेभ्यो निवर्तयेत, तथा-शब्दादिविषयेभ्योऽनुकूलप्रतिकूलेभ्योऽरक्तद्विष्टतया श्रोत्रेन्द्रियादीनि पञ्चापीन्द्रियाणि चशब्दः समुच्चये तथा पापकं परिणाममैहिकामुष्मिकाशंसारूपं संहरेदित्येवं भाषादोषं च 'तादृशं' पापरूपं संहरेत्[1], मनोवाक्कायगुप्तः सन् दुर्लभं सत्संयममवाप्य पण्डितमरणं वाऽशेषकर्मक्षयार्थं सम्यगनुपालयेदिति ॥१७॥

(टीकार्थ) पादप उपगमन अर्थात् कटे हुए वृक्षकी तरह निश्चेष्ट रहकर सेवा और अन्नपानीका त्यागरूप अनशनमें तथा इङ्गित मरण अर्थात् मर्यादित क्षेत्रमें रहकर सेवा कराना परन्तु अन्न पानीका त्यागरूप अनशनमें या दूसरे समयमें साधु अपने हाथ पैरको कछुवेकी तरह संकुचित करे अर्थात् उनके द्वारा प्राणियोंको दुःख देनेवाला व्यापार न करे तथा मनको अकुशलव्यापारों (बुरे संकल्पो) से निवारण करे,

एवं अनुकूल तथा प्रतिकूल शब्द आदि विषयों में रागद्वेष छोडकर इन्द्रियों को संकुचित करे । (च शब्द समुच्चय अर्थ में है) तथा इसलोक और परलोकमें सुख प्राप्तिकी कामनारूप पापमय परिणामको तथा पापमय भाषादोषको साधु वर्जित करे । साधु मन वचन और कायसे गुप्त रहता हुआ दुर्लभ सत् संयम को पाकर समस्त कर्मोंका क्षय करनेके लिये पण्डित मरणकी प्रतीक्षा करे । १७

१ उपसंहरेत् प्र० ।

(मूल) अणु माणं च मायं च, तं पडिन्नाय पंडिए।
सातागारवणिहुए, उवसंते णिहे चरे ॥१८॥

(छाया) अणुं मानञ्च मायाञ्च, तत्परिज्ञाय पण्डितः।
सातागौरवनिभृत उपशान्तोऽनिहश्चरेत् ॥

(अन्वयार्थः) (अणु माणं च मायं च) साधु थोडा भी मान और माया न करे। (तं परिण्णाय) मान और मायाका बुरा फल जानकर (पंडिए) विद्वान् पुरुष (सातागारवणिहुए) सुखशीलतासे रहित (उवसंते) तथा शान्त (अणिहे) और मायारहित होकर (चरे) विचरे।

(भावार्थ) साधु थोडा भी मान और माया न करे। मान और मायाका फल बुरा है इस वातको जानकर पण्डित पुरुष, सुखभोगकी तृष्णा न करे एवं क्रोधादिको छोड शान्त और माया रहित होकर विचरे।

(टीका) तं च संयमे पराक्रममाणं कश्चित् पूजासत्कारादिना निमन्त्रयेत्, तत्रात्मोत्कर्षो न कार्य इति दर्शयितुमाह—चक्रवर्त्यादिना सत्कारादिना पूज्यमानेन 'अणुरपि' स्तोकोऽपि 'मान' अहङ्कारो न विधेयः, किमुत महान्?, यदिवोत्तममरणोपस्थितेनोग्रतपोनिष्टप्तदेहेन वा अहोऽहमित्येवंरूपः स्तोकोऽपि गर्वो न विधेयः, तथा पण्डुरार्ययेव स्तोकाऽपि माया न विधेया, किमुत महती?, इत्येवं क्रोधलोभावपि न विधेयाविति, एवं द्विविधयापि परिज्ञया कषायांस्तद्विपाकांश्च परिज्ञाय तेभ्यो निवृत्तिं कुर्यादिति, पाठान्तरं वा 'अइमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिए' अतीव मानोऽतिमानः सुभूमादीनामिव तं दुःखावहमित्येवं ज्ञात्वा परिहरेत्, इदमुक्तं भवति—यद्यपि सरागस्य कदाचिन्मानोदयः स्यात्तथाप्युदयप्राप्तस्य विफलीकरणं कुर्यादित्येवं मायायामप्यायोज्यं, पाठान्तरं वा 'सुयं मे इहमेगेसिं, एयं वीरस्य वीरियं' येन वलेन सङ्ग्रामशिरसि महति सुभटसंकटे परानीकं विजयते तत्परमार्थतो वीर्यं न भवति, अपि तु येन कामक्रोधादीन् विजयते तद्वीरस्य—महापुरुषस्य वीर्यम् 'इहैव' अस्मिन्नेव संसारे मनुष्यजन्मनि वैकेषां तीर्थकरादीनां सम्बन्धि वाक्यं मया श्रुतं, पाठान्तरं वा 'आयतट्ठं सुआदाय, एवं वीरस्स वीरियं' आयतो—मोक्षोऽपर्यवसितावस्थानत्वात् स चासावर्थश्च तदर्थो वा—तत्प्रयोजनो वा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमार्गः स आयतार्थस्तं सुष्ठ्वादाय—गृहीत्वा यो धृतिवलेन कामक्रोधादिजयाय च पराक्रमते एतद्वीरस्य वीर्यमिति, यदुक्तमासीत् 'किं नु वीरस्स वीरत्व'मिति तद्यथा भवति तथा व्या-

ख्यातं, किञ्चान्यत्-सातागौरवं नाम सुखशीलता तत्र निभृतः-तदर्थमनुद्युक्त इत्यर्थः, तथा क्रोधाग्निजयादुपशान्तः-शीतीभूतः शब्दादिविषयेभ्योऽप्यनुकूलप्रतिकूलेभ्योऽरक्तद्विष्टतयोपशान्तो जितेन्द्रियत्वात्तेभ्यो निवृत्त इति, तथा निहन्यन्ते प्राणिनः संसारे यया सा निहा-माया न विद्यते सा यस्यासावनिहो मायाप्रपञ्चरहित इत्यर्थः, तथा मानरहितो लोभवर्जित इत्यपि द्रष्टव्यं, स चैवम्भूतः संयमानुष्ठानं 'चरेत्' कुर्यादिति, तदेवं मरणकालेऽन्यदा वा पण्डितवीर्यवान् महाव्रतेषूद्यतः स्यात्। तत्रापि प्राणातिपातविरतिरेव गरीयसीतिकृत्वा तत्प्रतिपादनार्थमाह-"उड्ढमहे तिरियं वा जे पाणा तसथावरा। सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥३॥" अयं च श्लोको न सूत्रादर्शेषु दृष्टः, टीकायां तु दृष्ट इति कृत्वा लिखितः, उत्तानार्थश्चेति ॥१८॥ किञ्च—

(टीकार्थ) संयममें खूब उद्योग करते हुए उस उत्तम साधुको देखकर यदि कोई (वडा आदिमी) पूजा सत्कार वगैरह से निमन्त्रण करे तो साधुको अहङ्कार न करना चाहिये यह शास्त्रकार वतलाते है-चक्रवर्ती आदि यदि साधुकी सत्कार आदिसे पूजा करे तो साधु थोडा भी अहङ्कार न करे फिर वहुत अहङ्कारकी तो बात ही क्या है। अथवा मै उत्तम मरण में उपस्थित हूं तथा उग्र तपसे कैसा तप्त शरीर हूं इस प्रकार थोडा भी गर्व साधु न करे। तथा पाण्डु आर्या के समान साधु थोडी भी माया न करे फिर वडी माया को तो कहनाही क्या है ?। इसी तरह क्रोध और लोभ भी न करे। इस प्रकार ज्ञपरिज्ञा (जानना) और प्रत्याख्यान परिज्ञा (वर्तना) रूप दोनो परिज्ञाओसे कषाय तथा उनके फलको जानकर उनका त्याग करे। यहां "अइमाणं च मायं च तं परिण्णाय पंडिए" यह पाठान्तर पाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि मतिमान् पुरुष, अत्यन्त मान सुभूम की तरह दुःखदायी है यह जानकर छाड़देवे। आशय यह है कि सराग संयममें कदाचित् मानका उदय हो तो तुरत्त उसे विफल कर देवे अर्थात् दबा देवे इसी तरह माया आदिको भी दवा देवे। अथवा "सुयंमे इहमेगेसिं, एयं वीरस्स वीरियं" यह पाठान्तर यहां पाया जाताहै। इसका अर्थ यह है कि युद्ध के अग्र भाग में वडे वडे सुभट पुरुषोंके संकट में जिस वलके द्वारा शत्रुकी सेना जीती जाती है वस्तुत वह वीर्य्य नही हैं किन्तु जिसके द्वारा काम क्रोध आदि जीते जाते हैं वही पुरुषका सच्चा वीर्य्य है, यह मैने इस संसारमें अथवा मनुष्य भवमें तीर्थङ्कर वगैरह उत्तम पुरुषोंका वाक्य सुना है। अथवा "आयतट्ठं सु आदाय, एवं वीरस्स वीरियं" आयत, मोक्षका नाम है क्योंकि उसके निवास का अन्त नहीं है उस मोक्षरूप अर्थको अथवा उस मोक्षको देनेवाला सम्यग्

१ अ० ३ उ० ४ गाथा० २० नवर जे केईत्ति।

दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्गको आयतार्थ कहते है उसे अच्छी रीतिसे ग्रहण करके जो पुरुष धीरताके बलसे काम क्रोधादिको जीतने के लिये पराक्रम दिखाता है वही उस वीरका वास्तविक वीर्य्य है। पहले जो प्रश्न किया था कि "वीर पुरुषकी वीरता क्या है?" उसका उत्तर इसके द्वारा दिया गया तथा इन्द्रियोंके सुखभोगमें तृष्णाकरनेको सातागौरव कहते है साधु उसके लिये उद्योग न करे। तथा क्रोधरूपी अग्निको जीतकर साधु शीतल होजाय अर्थात् अनुकूल या प्रतिकूल शब्दादि विषय यदि साधुके सामने आवें तो वह उनमें राग द्वेष न करता हुआ जितेन्द्रिय होनेके कारण उनसे निवृत्त रहे। एवं जिससे प्राणिवर्ग संसारमें मारे जाते हैं उसे 'निहा' कहते है वह माया है। साधु उस माया के प्रपञ्चसे अलग रहे। इसी तरह साधु मान और लोभसे भी पृथक रहे यह जानना चाहिये। इस प्रकारसे साधु संयमका अनुष्ठान करे। मरण समय में अथवा अन्य समय में साधु पण्डित वीर्य्यसे युक्त होकर महाव्रतोंके पालन में तत्पर रहे। इन पांच महाव्रतो में प्राणातिपात से विरति ही बडी है इस लिये इसे बतानेके लिये शास्त्रकार कहते है कि "उड्ढमहे" इत्यादि। यह श्लोक सूत्रादर्शोंमें नहीं पाया जाता है परन्तु टीका में मिलता है इस लिये यहां लिख दिया है। इसका अर्थ स्पष्ट है। १८

(मूल) पाणे य णाइवाएज्जा, अदिन्नंपि य णादए।
सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥१९॥

(छाया) प्राणाश्च नातिपातयेत्, अदत्तं पि च नाददीत।
सादिकं न मृषा ब्रूया देष धर्मो वश्यस्य ॥

(अन्वयार्थ) (पाणे य णाइवाएज्जा) प्राणियोंका घात न करे। (अदिन्नंपिय णादए) न दीहुई चीज न लेवे। (सादियं मुसं ण बूया) माया करके मिथ्या न बोले (वुसीमओ एसे धम्मे) जितेन्द्रिय पुरुषका यही धर्म है।

(भावार्थ) प्राणियोंकी हिंसा न करे तथा न दी हुई चीज न लेवे एवं कपट के साथ झूठ न बोले, जितेन्द्रिय पुरुषका यही धर्म है।

(टीका) प्राणप्रियाणां प्राणिनां प्राणान्नातिपातयेत्, तथा परेणादत्तं दन्तशोधनमात्रमपि 'नाददीत' न गृह्णीयात्, तथा-सहादिना-मायया वर्त्तत इति सादिकं-समायं मृषावादं न ब्रूयात्, तथाहि-परवञ्चनार्थं मृषावादोऽधिक्रियते, स च न मायामन्तरेण भवतीत्यतो मृषावादस्य माया आदिभूता वर्त्तते, इदमुक्तं भवति-यो हि परवञ्चनार्थं समायो मृषावादः स परिह्रियते, यस्तु संयमगुप्त्यर्थं न

मया मृगा उपलब्धा इत्यादिकः स न दोषायेति, एप यः प्राक् निर्दिष्टो धर्मः–श्रुत-चारित्राख्यः स्वभावो वा 'वुसीमउ'त्ति छान्दसत्वात्, निर्देशार्थस्त्वयं–वस्तूनि ज्ञानादीनि तद्वतो ज्ञानादिमत इत्यर्थः, यदिवा–वुसीमउत्ति वश्यस्य–आत्मवशगस्य–वश्येन्द्रियस्येत्यर्थः ॥१९॥

(टीकार्थ) साधु, प्राण जिनको प्रिय है ऐसे प्राणियोंकी हिंसा न करे तथा दूसरे से दिये विना दन्तशोधन भी न लेवे एवं कपटके साथ झूठ न बोले, क्योंकि दूसरेको ठगने के लिये झूठ बोला जाता है इस लिये वह कपटके विना नहीं हो सकता है इस लिये झूठका मूल कारण कपट ही है। आशय यह है कि दूसरे को ठगनेके लिये जो झूठ, कपटके साथ बोला-जाता है उसीका निषेध शास्त्रकार यहां करते हैं परन्तु संयमकी रक्षाके निमित्त जो झूठ बोला-जाता है उसका निषेध नहीं करते हैं, जैसेकि शिकारी के पूछनेपर "मैंने मृगको नहीं देखा है" यह कथन झूठ होनेपर भी दोषके लिये नहीं होता है। ज्ञानादिसे युक्त अथवा जितेन्द्रिय पुरुषका पहले कहा हुआ जो श्रुत और चारित्र है वही धर्म है अथवा स्वभाव है। (वुसीमउ) यह छान्दस है। १

(मूल) अतिक्कम्मंति वायाए, मणसा वि न पत्थए।
सव्वओ संवुडे दंते, आयाणं सुसमाहरे ॥२०॥

(छाया) अतिक्रमन्तु वाचा, मनसाऽपि न प्रार्थयेत्।
सर्वतः संवृतो दान्त आदानं सुसमाहरेत् ॥

(अन्वयार्थ) (अतिक्कम्मति) किसी जीवको पीडा देने की (वायाए) वाणीसे (मणसावि) अथवा मनसे भी (न पत्थए) इच्छा न करे। (सव्वओ संवुडे) किन्तु बाहर और भीतर दोनो ओर से गुप्त रहे (दंते आयाणं सुसमाहरे) तथा इन्द्रियोंका दमन करता हुआ साधु अच्छी तरह संयमका पालन करे।

(भावार्थ) वाणी या मनसे किसी जीवको पीडा देनेकी इच्छा न करे किन्तु बाहर और भीतरसे गुप्त और इन्द्रियोंका दमन करता हुआ साधु अच्छी रीतिसे संयमका पालन करे।

---

१ (टिप्पणी) यद्यपि हमने अपनी प्रतिज्ञानुसार टीका का अर्थ अक्षरशः कर दिया है परन्तु साधु मिथ्यावाद का सर्वथा त्यागी होते हैं लेकिन टीकाकारने कारणवशात् झूठ बोलनेका समर्थन किया है यह विचार करने योग्य है।

(टीका) अपिच-प्राणिनामतिक्रमं-पीडात्मकं महाव्रतातिक्रमं वा मनोऽवष्टब्धतया परतिरस्कारं वा इत्येवम्भूतमतिक्रमं वाचा मनसाऽपि च न प्रार्थयेत्, एतद्द्वयनिषेधे च कायातिक्रमो दूरत एव निषिद्धो भवति, तदेवं मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिश्च नवकेन भेदेनातिक्रमं न कुर्यात्, तथा सर्वतः-सबाह्याभ्यन्तरतः संवृतो-गुप्तः तथा इन्द्रियदमेन तपसा वा दान्तः सन् मोक्षस्य 'आदानम्' उपादानं सम्यग्दर्शनादिकं सुष्टूद्युक्तः सम्यग्विस्रोतसिकारहितः 'आहरेत्' आददीत-गृह्णीयादित्यर्थः ॥२०॥ किञ्चान्यत्—

(टीकार्थ) प्राणियोंको अतिक्रम अर्थात् पीडा देना अथवा पञ्च महाव्रतका उल्लङ्घन अथवा मनमें अहङ्कार लाकर दूसरेका तिरस्कार करना इन कार्य्योंको साधु वाणीसे अथवा मनसे न करे। इन दोनोंके द्वारा अतिक्रमका निषेध करनेसे शरीर के द्वारा अतिक्रम करनेका निषेध दूरसे ही हो गया। इस प्रकार मन वचन और कायसे करना कराना और अनुमोदन, इन भेदोंसे जीवहिंसा आदि पाप न करे। तथा सब प्रकार से यानी बाहर और भीतरसे गुप्त और इन्द्रियोंका दमन अथवा तपसे दान्त रहता हुआ साधु मोक्ष देनेवाले सम्यग् दर्शन आदिको तत्परता के साथ मनकी बुरी वासनाओंको छोड़कर ग्रहण करे। २०

(मूल) कडं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं।
सव्वं तं णाणुजाणंति, आयगुत्ता जिइंदिया ॥२१॥

(छाया) कृतञ्च क्रियमाणञ्च, आगमिष्यच्च पापकम्।
सर्वं तन्नानुजानन्त्यात्मगुप्ताः जितेन्द्रियाः ॥

(अन्वयार्थ) (आयगुत्ता जिइंदिया) गुप्तात्मा, जितेन्द्रिय पुरुष, (कडं च कज्जमाणं च आगमिस्सं च पावगं) किया हुआ, कियाजाता हुआ अथवा किया जानेवाला जो पाप है (सव्वं तं णाणुजाणंति) उन सभीका अनुमोदन नहीं करते हैं।

(भावार्थ) अपने आत्माको पापसे गुप्त रखने वाले जितेन्द्रिय पुरुष किसीके द्वारा किये हुए तथा किये जाते हुए और भविष्यमें किये जाने वाले पापका अनुमोदन नहीं करते हैं।

साधूद्देशेन यदपरैरनार्यकल्पैः कृतमनुष्ठितं पापकं कर्म तथा वर्त्तमाने च काले क्रियमाणं तथाऽऽगामिनि च काले यत्करिष्यते तत्सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः 'नानुजानन्ति' नानुमोदन्ते, तदुपभोगपरिहारेणेति भावः, यदप्यात्मार्थं पापकं

कर्म परैः कृतं क्रियते करिष्यते वा, तद्यथा—शत्रोः शिरश्छिन्नं छिद्यते छेत्स्यते वा तथा चौरो हतो हन्यते हनिष्यते वा इत्यादिकं परानुष्ठानं 'नानुजानन्ति' न च बहु मन्यन्ते, तथा यदि परः कश्चिदशुद्धेनाहारेणोपनिमन्त्रयेत्तमपि नानुमन्यन्त इति, क एवम्भूता भवन्तीति दर्शयति—आत्माऽकुशलमनोवाक्कायनिरोधेन गुप्तो येषां ते तथा, जितानि—वशीकृतानि इन्द्रियाणि—श्रोत्रादीनि यैस्ते तथा, एवम्भूताः पापकर्म नानुजानन्तीति स्थितम् ॥२१॥

(टीकार्थ) साधुओंके लिये दूसरे अनार्य के समान पुरुषोंने जो पाप किया है तथा वर्तमान समयमें जो करते हैं और भविष्यमें जो करेंगे उन सबोंका मन वचन और कायसे साधु अनुमोदन नहीं करते हैं। अर्थात् वे स्वयं उस पापमय वस्तुको भोगते नहीं हैं। तथा दूसरोंने अपने स्वार्थके लिये जो पाप किया है तथा करते हैं और करेंगे, जैसे कि "शत्रुका शिर काटडाला, काट रहा है अथवा काटडालेगा, एवं चोरको मारडाला अथवा मार रहा है या मार-डालेगा" इत्यादि दूसरों के अनुष्ठानोंको साधु अच्छा नहीं मानते हैं। तथा दूसरा अशुद्ध आहार बनाकर यदि साधुको निमन्त्रित करे तो साधु उसको स्वीकार न करे। ऐसे पुरुष कौन हैं? सो शास्त्रकार दिखलाते हैं अकुशल मन वचन और कायको रोककर जिनने अपने आत्माको निर्मल रखा है तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियोंको जिनने वश किया है ऐसे पुरुष उक्त पाप कर्मोंका अनुमोदन नहीं करते हैं। २१

(मूल) जे याबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो ।
असुद्धं तेसि परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥२२॥

(छाया) ये चाबुद्धा महाभागा वीरा असम्यक्त्वदर्शिनः ।
अशुद्धं तेषां पराक्रान्तं, सफलं भवति सर्वशः ॥

(अन्वयार्थ) (जे या बुद्धा) जो पुरुष धर्मके रहस्यको नहीं जानते हैं (महाभागा) किन्तु जगत् में पूजनीय मानेजाते हैं (वीरा असंमत्तदंसिणो) एवं शत्रुकी सेनाको जीतनेवाले वीर हैं (असंमत्त दंसिणो) तथा सम्यग्दर्शनसे रहित हैं (तेसि परक्कंतं असुद्धं) उनका तप दान आदि में उद्योग अशुद्ध है (सव्वसो सफलं होइ) और वह कर्मबन्धनके लिये होता है।

(भावार्थ) जो पुरुष लोक पूज्य तथा बड़े वीर हैं वे यदि धर्मके रहस्यको न जानने-वाले मिथ्या दृष्टि हैं तो उनका किया हुआ सभी तप दान आदि अशुद्ध है, और वह कर्मब-न्धनको उत्पन्न करता है।

(टीका) अन्यच्च—ये केचन 'अबुद्धा' धर्मं प्रत्यविज्ञातपरमार्था व्याकरण-शुष्कतर्कादिपरिज्ञानेन जातावलेपाः पण्डितमानिनोऽपि परमार्थवस्तुतत्त्वानवबोधाद-बुद्धा इत्युक्तं, न च व्याकरणपरिज्ञानमात्रेण सम्यक्त्वव्यतिरेकेण तत्त्वावबोधो भव-तीति, तथा चोक्तम्—"शास्त्रावगाहपरिघट्टनतत्परोऽपि, नैवाबुधः समभिगच्छति वस्तुतत्त्वम् । नानाप्रकाररसभावगताऽपि दर्वी, स्वादं रसस्य सुचिरादपि नैव वेत्ति ॥१॥" यदिवाऽबुद्धा इव बालवीर्यवन्तः, तथा महान्तश्च ते भागाश्च महाभागाः, भागशब्दः पूजावचनः, ततश्च महापूज्या इत्यर्थः, लोकविश्रुता इति, तथा 'वीराः' परानीकभेदिनः सुभटा इति, इदमुक्तं भवति—पण्डिता अपि त्यागादिभिर्गुणैर्लोकपूज्या अपि तथा सुभटवादं वहन्तोऽपि सम्यक्तत्त्वपरिज्ञानविकलाः केचन भवन्तीति दर्शयति—न सम्यगसम्यक् तद्भावोऽसम्यक्त्वं तद्दृष्टुं शीलं येषां ते तथा, मिथ्या-दृष्टय इत्यर्थः, तेषां च बालानां यत्किमपि तपोदानाध्ययनयमनियमादिषु पराक्रान्त-मुद्यमकृतं तदशुद्धं अविशुद्धिकारि प्रत्युत कर्मबन्धाय, भावोपहतत्वात् सनिदानत्वा-द्वेति कुवैद्यचिकित्सावद्विपरीतानुबन्धीति, तच्च तेषां पराक्रान्तं सह फलेन—कर्मबन्धेन वर्तत इति सफलं 'सर्वश' इति सर्वाऽपि तत्क्रिया तपोऽनुष्ठानादिका कर्मबन्धायै-वेति ॥२२॥ साम्प्रतं पण्डितवीर्यिणोऽधिकृत्याह—

(टीकार्थ) जो पुरुष धर्मके सच्चे स्वरूपको नहीं जानते है किन्तु व्याकरणके शुद्ध तर्कोंको जानकर बडे अहङ्कारी और अपनेको पण्डित मानते है वे परमार्थ वस्तुको (वस्तुके सच्चे स्वरूपको) न जानने के कारण अबुद्ध (अज्ञानी) कहे गये है। सम्यक्त्वके विना केवल व्याक-रणके ज्ञानसे वस्तुका सत्यस्वरूप नहीं जानाजाता है। जैसाकि कहा है (शास्त्रावगाह) अर्थात् "शास्त्रमें अवगाहन (प्रवेश) और उसकी व्याख्या करनेमें तत्पर भी अज्ञानी पुरुष वस्तु के सच्चे स्वरूपको नहीं जानता है (क्योंकि वह अनुभवसे जानाजाता है) जैसे नाना प्रकार के रसवाले पदार्थोंमें डालीजाती हुई भी दर्वी (चम्मच) रसका स्वाद नहीं जानती है।" अथवा बालवीर्य्य-वाले पुरुषको अबुद्ध कहते है। तथा जो वडा भाग यानी पूजनीय है वह लोकप्रसिद्ध पुरुष महाभाग है। भाग शब्द पूजा अर्थका वाचक है। एवं जो शत्रुकी सेनाको भेद न करनेवाला है वह सुभट है। आशय यह है कि कोई पुरुष पण्डित तथा त्याग आदि गुणोंसे लोकमें पूजनीय और सुभट होते हुए भी वस्तु के सच्चे स्वरूप को नहीं जानते हैं, यह शास्त्रकार दिखाते हैं जो ठीक नहीं है उसे असम्यक् कहते है उस असम्यक् के स्वरूपको असम्यक्त्व कहते है (अर्थात् जो ठीक नहीं है किन्तु विपरीत है उसे असम्यक्त्व मिथ्याज्ञान) कहते है। वह

१ महान्तश्चेति नागाश्च । महान्तश्च ते नागाश्च प्र० । २ सुभगः कृतस्त० ।

जो देखता है वह पुरुष असम्यक्त्वदर्शी है यानी जो मिथ्यादृष्टि है वह असम्यक्त्वदर्शी है। उन मिथ्यादृष्टि पुरुषोंका तप, दान, अध्ययन, यम और नियम आदि में जो उद्यमके साथ प्रयत्न है वह सब अशुद्धि यानी कर्मबन्धको उत्पन्न करता है क्योंकि वह उन मिथ्यादृष्टि-योंके भावसे दूषित है (अर्थात् वे मनमें संसारी सुखकी इच्छा रखते हैं) तथा वह निदानके (फलकामनाके) सहित है। जैसे कुवैद्यकी चिकित्सासे रोगका नाश नहीं होता है किन्तु रोगकी वृद्धि होती है उसीतरह उन मूर्खोंकी क्रियासे संसारकी वृद्धि ही होती है ह्रास नहीं होता है अतः उक्त मिथ्यादृष्टियोंका पराक्रम कर्मबन्धन के सहित है। वे जो तपका अनुष्ठान आदि क्रियायें करते है वे सभी कर्मबन्ध के लिये ही होती हैं। २२ अब शास्त्रकार पण्डितवीर्य्यवाले के विषय में कहते हैं–

(मूल) जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो ॥२३॥

(छाया) ये च बुद्धाः महाभागाः वीराः सम्यक्त्वदर्शिनः।
शुद्धं तेषां पराक्रान्त मफलं भवति सर्वशः ॥

(अन्वयार्थ) (जे य) जो लोग (बुद्धा) पदार्थके सच्चे स्वरूपको जाननेवाले (महाभागा) बड़े पूजनीय (वीरा) कर्मको विदारण करनेमें निपुण (समत्तदंसिणो) तथा सम्यग्दृष्टि हैं (तेसिं परक्कंतं) उनका उद्योग (शुद्धं) निर्मल (सव्वसो अफल होइ) और सब अफल यानी कर्मका नाश रूप मोक्ष के लिये होता है।

(भावार्थ) जो वस्तुतत्त्वको जाननेवाले महापूजनीय एवं कर्मको विदारण करनेमें समर्थ सम्यग्दृष्टि है उनका तप आदि अनुष्ठान शुद्ध तथा कर्मका नाश के लिये होता है।

(टीका) ये केचन स्वयम्बुद्धास्तीर्थकराद्यास्तच्छिष्या वा बुद्धबोधिता गणधरादयो 'महाभागा' महापूजाभाजो 'वीराः' कर्मविदारणसहिष्णवा ज्ञानादिभिर्वा गुणैर्विराजन्त इति वीराः, तथा 'सम्यक्त्वदर्शिनः' परमार्थतत्त्ववेदिनस्तेषां भगवतां यत्पराक्रान्तं–तपोऽध्ययनयमनियमादावनुष्ठितं तच्छुद्धम्–अवदातं निरुपरोधं सातगौरवशल्यकषायादिदोषाकलङ्कितं कर्मबन्धं प्रति अफलं भवति–तन्निरनुबन्ध, निर्जरार्थमेव भवतीत्यर्थः, तथाहि–सम्यग्दृष्टीनां सर्वमपि संयमतपःप्रधानमनुष्ठानं भवति, संयमस्य चानाश्रवरूपत्वात् तपसश्च निर्जराफलत्वादिति, तथा च पठ्यते–"संयमे अणण्हयफले तवे वोदाणफले" इति ॥ २३ ॥

१ महानागाः प्र० । २ संयमोऽनाश्रवफलमिति ।

(टीकार्थ) जो पुरुष अपने आप वोध पाये हुए तीर्थङ्कर आदि है तथा उनके शिष्य अथवा वुद्धवोधित गणधर आदि हैं जो महापूजनीय और कर्मको विदारण करने में समर्थ है अथवा ज्ञानादिगुणोंसे शोभापानेवाले, वस्तुके सच्चे स्वरूपको देखनेवाले हैं उन महात्मा पुरुषोंका तप अध्ययन यम और नियम आदि अनुष्ठान शुद्ध है अर्थात् वह सुखकी इच्छा और क्रोधादिरूप शल्य, तथा कषाय आदि दोषोंसे कलङ्कित नहीं है इस लिये वह कर्मवन्ध के प्रति निष्फल होता है अर्थात् वह संसार भ्रमणरहित केवल निर्जरा के लिये होता है क्योंकि सम्यग्दृष्टियोंका सभी अनुष्ठान संयम और तपःप्रधान होता है उस में संयमसे आश्रवका निरोध होता हैं और तपसे निर्जरा होती है। अतएव शास्त्रका पाठ है कि "संयमे" अर्थात् संयमसे आश्रव रुकता है और तपसे निर्जरा होती है। २३

(मूल) तेसिंपि तवो ण सुद्धो, निक्खंता जे महाकुला ।
जन्ने वन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेज्जए ॥२४॥

(छाया) तेषामपि तपो न शुद्धं, निष्क्रान्ता ये महाकुलाः ।
यन्नैवाऽन्ये विजानन्ति, न श्लोकं प्रवेदयेत् ॥

(अन्वयार्थ) (तेसिंवि तवो न सुद्धं) उनका तप भी शुद्ध नहीं हैं (जे महाकुला निक्खंता) जो महाकुलवाले प्रव्रज्या लेकर पूजा सत्कारके लिये तप करते हैं। (जन्नेवन्ने वियाणंति) इस लिये दानमें श्रद्धा रखनेवाले दूसरे लोग जिसमें जाने नहीं (इस प्रकार आत्मार्थीको तप करना चाहिये) ((न सिलोगं पवेदए) तथा अपनी प्रशंसा भी तपस्वीको न करनी चाहिये।

(भावार्थ) जो लोग वडे कुल में उत्पन्न होकर अपने तपकी प्रशंसा करते हैं अथवा पूजा सत्कार पानेके लिये तप करते है उनका भी तप अशुद्ध है अतः साधु अपने तपको इस प्रकार गुप्त रखे जिसमें दानमें श्रद्धा रखनेवाले लोग न जानें। तथा साधु अपने मुखसे अपनी प्रशंसा भी न करे।

(टीका) किञ्चान्यत्—महत्कुलम्—इक्ष्वाकादिकं येषां ते महाकुला लोकविश्रुताः शौर्यादिभिर्गुणैर्विस्तीर्णयशसस्तेषामपि पूजासत्काराद्यर्थमुत्कीर्त्तनेन वा यत्तपस्तदशुद्धं भवति, यच्च क्रियमाणमपि तपो नैवान्ये दानश्राद्धादयो जानन्ति तत्तथाभूतमात्मार्थिना विधेयम्, अतो नैवात्मश्लाघां 'प्रवेदयेत्' प्रकाशयेत्, तद्यथा—अहमुत्तमकुलीन इभ्यो वाऽऽसं साम्प्रतं पुनस्तपोनिष्टप्तदेह इति, एवं स्वयमाविष्करणेन न स्वकीयमनुष्ठानं फल्गुतामापादयेदिति ॥२४॥

(टीकार्थ) जिनका इक्ष्वाकु वगैरह बडा कुल है तथा शूरता आदिके द्वारा जिनका यश जगत् में फैला हुआ है उनका तप भी यदि पूजा और सत्कार पाने की कामनासे किया गया हो किम्वा उसकी प्रशंसा वे करें तो वह अशुद्ध होजाता है अतः आत्मार्थी पुरुषको चाहिये कि जिसमें उसके तपको, दानमें श्रद्धा रखनेवाले पुरुष न जान सकें ऐसा प्रयत्न करे। तथा वह अपनी प्रशंसा भी न करे कि "मैं उत्तम कुलमें उत्पन्न, अथवा धनवान् था और अब तपसे अपने शरीरको तपानेवाला तपस्वी हूं" इस प्रकार अपने आप प्रकट करके अपने अनुष्ठानको निःसार न बनावे। २४

(मूल) अप्पपिंडासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए।
खंतेऽभिनिव्वुडे दंते, वीतगिद्धी सदा जए ॥२५॥

(छाया) अल्पपिण्डाशी पानाशी, अल्पं भाषेत सुव्रतः।
क्षान्तोऽभिनिर्वृतो दान्तो वीतगृद्धिः सदा यतेत ॥

(अन्वयार्थ) (अप्पपिंडासी) साधु उदर निर्वाह के लिये थोडा आहार करे (पाणासि) उसीके अनुसार थोडा जल पीवे (सुव्वए) सुव्रत पुरुष (अप्पं भासेज्ज) थोडा बोले (खंते अभिनिव्वुडे, एवं क्षमाशील, लोभादिरहित (दंते वीतगिद्धी सदा जए) जितेन्द्रिय और विषयभोग में आसक्ति रहित होकर सदा संयमका अनुष्ठान करे।

(भावार्थ) साधु उदर निर्वाहमात्रके लिये थोडा भोजन करे एवं थोडा जल पीवे। थोडा बोले तथा क्षमाशील और लोभादि रहित, जितेन्द्रिय एवं विषय भोगमें अनासक्त रहता हुआ सदा संयमका अनुष्ठान करे।

(टीका) अपिच-अल्पं-स्तोकं पिण्डमशितुं शीलमस्यासावल्पपिण्डाशी यत्किञ्चनाशीति भावः, एवं पानेऽप्यायोज्यं, तथा चागमः-"[1]जं व तं व आसीय जत्थ व तत्थ व सुहोवगयनिद्दो। जेण व तेण (व) संतुट्ठ वीर! मुणिओऽसि ते अप्पा ॥१॥ तथा "[2]अट्ठकुक्कुडिअंडगमेत्तप्पमाणे कवले आहारेमाणे अप्पाहारे दुवालसकवलेहिं अवड्ढोमोयरिया सोलसहिं दुभागे पत्ते चउवीसं ओमोदरिया तीसं पमाणपत्ते बत्तीसं कवला संपुण्णाहारे" इति, अत एकैककवलहान्यादिनोनोदरता

१ यद्वा तद्वा अशित्वा यत्र तत्र वा सुखोपगतनिद्रः येन तेन वा सन्तुष्टः (असि) हे वीर! त्वयात्मा ज्ञातोऽस्ति ॥१॥ २ अष्टकुक्कुटयण्डकप्रमाणान्कवलानाहारयन्नल्पाहारो द्वादशकवलैरपार्धावमोदरिका षोडशभिर्द्विभागा प्राप्ता चतुर्विंशत्या अवमोदरिका त्रिंशता कवलैः प्रमाणप्राप्तः द्वात्रिंशत्कवलाः सम्पूर्णाहार इति ॥

विधेया, एवं पाने उपकरणे चोनोदरतां विदध्यादिति, तथा चोक्तम्–"थोवाहारो थोवभणिओ अ जो होइ थोवनिद्दो अ। थोवोवहिउवकरणो तस्स हु देवावि पणमंति ॥१॥" तथा 'सुव्रतः' साधुः 'अल्पं' परिमितं हितं च भाषेत, सर्वदा विकथारहितो भवेदित्यर्थः, भावावमौदर्यमधिकृत्याह–भावतः क्रोधाद्युपशमात् 'क्षान्तः' क्षान्तिप्रधानः तथा 'अभिनिर्वृतो' लोभादिजयान्निरातुरः, तथा इन्द्रियनोइन्द्रियदमनात् 'दान्तो' जितेन्द्रियः, तथा चोक्तम्–"कषाया यस्य नोच्छिन्ना, यस्य नात्मवशं मनः। इन्द्रियाणि न गुप्तानि, प्रव्रज्या तस्य जीवनम् ॥१॥" एवं विगता गृद्धिर्विषयेषु यस्य स विगतगृद्धिः–आशंसादोषरहितः 'सदा' सर्वकालं संयमानुष्ठाने 'यतेत' यत्नं कुर्यादिति ॥२५॥

(टीकार्थ) साधु स्वभावसेही अल्पपिण्ड खानेवाला अर्थात् थोडा भोजन करनेवाला तथा थोडा जल पीनेवाला होकर रहे। अतएव आगम कहता है कि "हे जंव" इत्यादि। अर्थात् हे वीर! तुम जो कुछ मिलता है उसे खाकर जिस किसी स्थानपर सुखसे सोता है तथा जो कुछ मिलता है उसीसे सन्तोष रखकर विचरता है अतः तुमने अपने आत्माको पहचान लिया है। तथा (अट्ठ....) अर्थात् जो मूर्गीका अण्डेके बरावर आठ कवल आहार करता है वह अल्पाहार करनेवाला है। जो वारह कवल आहार करता है वह अपार्ध (आधेसे कम) ऊनोदरी करता है। सोलह कवल आहार करना थोडी ऊनोदरी है। तीस कवल आहार प्रमाण आहार है। और वत्तीस कवल आहार सम्पूर्ण आहार है। अतः साधुको एक एक कवल घटानेका अभ्यास करके ऊनोदरी करनी चाहिये। इसी तरह पान और दूसरे उपकरणोंमें भी ऊनोदरी करनी चाहिये। कहा है कि "थोवाहारो" अर्थात् जो थोडा खाता है थोडा वोलता है थोडी निद्रा लेता है थोडी उपधि और थोडा उपकरण रखता है उसको देवता भी नमस्कार करते हैं। तथा सुन्दर व्रतवाला साधु थोडा और हितकारक वचन वोले, वह हमेशः विकथा (चारित्र भ्रष्ट करनेवाली वात) से रहित हो। अब शास्त्रकार भाव ऊनोदरीके विषय में कहते है साधु भाव से क्रोध आदि शान्त होजानेसे क्षमाप्रधान हो तथा लोभ आदि को जीतकर आतुरता रहित हो, तथा इन्द्रिय और मनको दमन करके दान्त (जितेन्द्रिय) हो। अतएव कहा है कि (कषाया) अर्थात् जिसने कषायोंका छेदन नहीं किया तथा जिसका मन अपने वशमें नहीं है उसकी दीक्षा केवल उदर पोषणके लिये हैं। अतः साधु विषयासक्ति को छोड़कर सदा संयमका अनुष्ठान करे २५

१ स्तोकाहारः स्तोकभणितः स्तोकनिद्रश्च यो भवति। स्तोकोपधिकोपकरणस्तस्मै च देवा अपि प्रणमन्ति ॥१॥

(मूल) झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो ।
तितिक्खं परमं णच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि
त्तिबेमि ॥ ॥२६॥

(छाया) ध्यानयोगं समाहृत्य, कायं व्युत्सृजेत्सर्वशः ।
तितिक्षां परमां ज्ञात्वाऽऽमोक्षाय परिव्रजेदिति ॥ ब्रवीमि ॥

(अन्वयार्थ) (झाणजोगं समाहट्टु) साधु ध्यान योगको ग्रहण करके (सव्वसो कायं विउसेज्ज) सब प्रकारसे शरीरको बुरे व्यापारोंसे रोके। (तितिक्खं परमं णच्चा) परीषह तथा उपसर्गके सहनको सबसे उत्तम समझकर (आमोक्खाए परिव्वएज्जासित्तिबेमि) मोक्षकी प्राप्ति पर्य्यन्त संयमका अनुष्ठान करे।

(भावार्थ) साधु ध्यान योगको ग्रहण करके सभी बुरे व्यापारोंसे शरीर तथा मन वचन को रोक देवे। एवं परीषह और उपसर्गके सहनको अच्छा जानकर मोक्षकी प्राप्ति पर्य्यन्त संयमका अनुष्ठान करे।

अपिच-'झाणजोगम्' इत्यादि, ध्यानं-चित्तनिरोधलक्षणं धर्मध्यानादिकं तत्र योगो विशिष्टमनोवाक्कायव्यापारस्तं ध्यानयोगं 'समाहृत्य' सम्यगुपादाय 'कायं' देहमकुशलयोगप्रवृत्तं 'व्युत्सृजेत्' परित्यजेत् 'सर्वतः' सर्वेणापि प्रकारेण, हस्तपादादिकमपि परपीडाकारि न व्यापारयेत्, तथा 'तितिक्षां' क्षान्ति परीषहोपसर्गसहनरूपां 'परमां' प्रधानां ज्ञात्वा 'आमोक्षाय' अशेषकर्मक्षयं यावत् 'परिव्रजेरि'ति संयमानुष्ठानं कुर्यास्त्वमिति। इतिः परिसमाप्त्यर्थे। ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२६॥ समाप्तं चाष्टमं वीर्याख्यमध्ययनमिति ॥

(टीकार्थ) चित्तको बुरे विषयोंसे रोकना अर्थात् धर्मध्यान आदिको ध्यान कहते है। उसमें मन, वचन, और कायके विशिष्ट व्यापारको ध्यानयोग कहते है। उस ध्यानयोगको अच्छी रीतिसे ग्रहण करके अकुशल योगमें (बुरेकार्य्यमें) जाते हुए शरीरको रोको। तथा सब प्रकारसे अपने हाथ पैर आदिको भी दूसरेको पीडा देनेवाले व्यापारोंमें न जाने दो। एवं परीषह और उपसर्गको सबसे उत्तम समझकर समस्त कर्मोंका क्षय पर्य्यन्त संयमका अनुष्ठान करो यह मै कहताहूं

इति शब्द समाप्ति अर्थमें है ब्रवीमि पूर्ववत् है। २६

यह, अष्टम वीर्य्यनामक अध्ययन समाप्त हुआ।

॥ अथ नवमं अध्ययनं प्रारभ्यते ॥

अष्टमानन्तरं नवमं समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययने बालपण्डितभेदेन द्विरूपं वीर्यं प्रतिपादितं, अत्रापि तदेव पण्डितवीर्यं धर्मं प्रति यदुधमं विधत्ते अतो धर्मः प्रतिपाद्यत इत्यनेन सम्बन्धेन धर्माध्ययनमायातं, अस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि प्राग्वत् व्यावर्णनीयानि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा–धर्मोऽत्र प्रतिपाद्यत इति तमधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह—

(टीकार्थ) अष्टम अध्ययन कहनेके पश्चात् अब नवम अध्ययन आरम्भ किया जाता है। इसका पूर्व अध्ययनके साथ सम्बन्ध यह है पूर्व अध्ययनमें बाल और पण्डित भेदसे दो प्रकारके वीर्य्य कहे गये हैं। उनमें पण्डित वीर्य्य वही है जो धर्मके लिये उद्यम करता है अतः इस अध्ययनमें धर्मका कथन किया जाता है। इस सम्बन्धसे यह धर्माध्ययन आया है। इसके भी उपक्रम आदि चार अनुयोगद्वार पूर्ववत् कहने चाहिये उनमें उपक्रममें अर्थाधिकार यह है इस अध्ययन में धर्मका वर्णन किया जाता है। उस धर्म के विषयमें निर्युक्तिकार कहते हैं—

धम्मो पुव्वुद्दिट्ठो भावधम्मेण एत्थ अहिगारो।
एसेव होइ धम्मे एसेव समाहिमग्गोत्ति ॥९९॥

दुर्गतिगमनधरणलक्षणो धर्मः प्राक् दशवैकालिकश्रुतस्कन्धषष्ठाध्ययने धर्मार्थिकामाख्ये उद्दिष्टः–प्रतिपादितः, इह तु भावधर्मेणाधिकारः, एष एव च भावधर्मः परमार्थतो धर्मो भवति, अमुमेवार्थमुत्तरयोरप्यध्ययनयोरतिदिशन्नाह–एष एव च भावसमाधिर्भावमार्गश्च भवतीत्यत्रगन्तव्यमिति, यदिवैष एव च भावधर्मः एष एव च भावसमाधिरेष एव च तथा भावमार्गो भवति, न तेषां परमार्थतः कश्चिद्भेदः, तथाहि–धर्मः श्रुतचारित्राख्यः क्षान्त्यादिलक्षणो वा दशप्रकारो भवेत्,

भावसमाधिरप्येवंभूत एव, तथाहि—सम्यगाधानम्—आरोपणं गुणानां क्षान्त्यादीनामिति समाधिः, तदेवं मुक्तिमार्गोऽपि ज्ञानदर्शनचारित्राख्यो भावधर्मतया व्याख्यानयितव्य इति ॥ साम्प्रतमतिदिष्टस्यापि स्थानाशून्यार्थं धर्मस्य नामादिनिक्षेपं दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) जो जीवको दुर्गतिमें जानेसे बँचाता है उसे धर्म कहते हैं। वह धर्म, पहले दशवैकालिक सूत्रके धर्मार्थकाम नामक छट्ठे अध्ययनमें बतलाया गया है। यहां भावधर्मका अधिकार है क्योंकि भावधर्मही वस्तुतः धर्म है। यही बात आगे दो अध्ययनोंमें अर्थात् दशम तथा एग्यारहवें अध्ययनमें भी बताई जानेवाली है। यह धर्म ही भावसमाधि और भावमार्ग है यह जानना चाहिये। अथवा यही भावधर्म है और यही भावसमाधि है तथा यही भावमार्ग है, परमार्थतः इनमें कोई भेद नहीं है क्योंकि धर्म श्रुत और चारित्र नामक है अथवा वह, क्षान्ति आदि दश भेदवाला है और भावसमाधि भी एतद्रूपही है क्योंकि क्षान्ति आदि गुणोंको अच्छी रीतिसे अपनेमें स्थापन करना समाधि है। इसप्रकार ज्ञान दर्शन और चारित्ररूप मुक्तिमार्गको भावधर्म कहना चाहिये इसप्रकार थोडेमें बताकर भी यहां स्थान खाली न रहे इस लिये धर्मका नाम आदि निक्षेप निर्युक्तिकार बताते हैं—

णामंठवणाधम्मो दव्वधम्मो य भावधम्मो य।
सच्चित्ताचित्तमीसगगिहत्थदाणे दवियधम्मे ॥१००॥

नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्धा धर्मस्य निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने अनादृत्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यधर्मः सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा, तत्रापि सचित्तस्य जीवच्छरीरस्योपयोगलक्षणो 'धर्मः' स्वभावः, एवमचित्तानामपि धर्मास्तिकायादीनां यो यस्य स्वभावः स तस्य धर्म इति, तथाहि—"गइलक्खणओ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो। भायणं सव्वदव्वाणं, नहं अवगाहलक्खणं ॥१॥" पुद्गलास्तिकायोऽपि ग्रहणलक्षण इति, मिश्रद्रव्याणां च क्षीरोदकादीनां यो यस्य स्वभावः स तद्धर्मतयाऽवगन्तव्य इति, गृहस्थानां च यः कुलनगरग्रामादिधर्मो गृहस्थेभ्यो गृहस्थानां वा यो दानधर्मः स द्रव्यधर्मोऽवगन्तव्य इति, तथा चोक्तम्—"अन्नं पानं च वस्त्रं च, आलयः शयनासनम्। शुश्रूषा वन्दनं तुष्टिः, पुण्यं नवविधं स्मृतम् ॥१" भावधर्मस्वरूपनिरूपणायाह—

(टीकार्थ) नाम, स्थापन, द्रव्य और भाव, ये चार धर्मके निक्षेप हैं। इनमें नाम और स्थापनाको छोड़कर (द्रव्य और भाव निक्षेप बताये जाते हैं) ज्ञशरीर और भव्य शरीरसे व्यतिरिक्त

द्रव्यधर्म सचित्त अचित्त और मिश्र भेदसे तीन प्रकारका है। इनमें सचित्त यानी जीते हुए शरीरका उपयोगरूप धर्म यानी स्वभाव है। तथा अचित्त धर्मास्तिकाय आदिका भी जो जिसका स्वभाव है वह उसका धर्म है, क्योंकि वस्तुमात्रको अदृश्यरूपसे चलनेमें सहायता देना, धर्मास्तिकायका स्वभाव है एवं अधर्मास्तिकायका स्वभाव वस्तुको ठहरानेमें सहायता करना है तथा समस्त द्रव्योंको अवगाहन देना आकाशका स्वभाव है। पुद्गलास्तिकायका स्वभाव भी ग्रहणरूप है। मिश्रद्रव्य जो दूध और जल आदि है उनका भी जो जिसका स्वभाव है वह उसका धर्म जानना चाहिये। गृहस्थोंका, जो कुल, नगर, और ग्राम आदिमें बँधा हुआ नियम है वह धर्म (फर्ज) है अथवा गृहस्थ जो गृहस्थोंको दान देते हैं वह उनका द्रव्यधर्म समझना चाहिये। जैसाकि कहा है–(अन्नपानं) अर्थात् भूखेको अन्न, प्यासेको पानी, नंगेको वस्त्र, दुःखीको स्थान, एवं सोने और बैठनेका आसन देना, रोगीकी सेवा करना, नमस्कार करना, और सन्तुष्ट रहना, ये नवप्रकारके पुण्य कहे गये हैं। अब निर्युक्तिकार भाव धर्मका स्वरूप बतानेके लिये कहते हैं—

लोइयलोउत्तरिओ दुविहो पुण होति भावधम्मो उ।
दुविहोवि दुविहतिविहो पंचविहो होति णायव्वो ॥१०१॥

(टीका) भावधर्मो नोआगमतो द्विविधः, तद्यथा–लौकिको लोकोत्तरश्च, तत्र लौकिको द्विविधः–गृहस्थानां पाखण्डिकानां च, लोकोत्तरस्त्रिविधः–ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात्, तत्राप्याभिनिवोधादिकं ज्ञानं पञ्चधा, दर्शनमप्यौपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकवेदकक्षायिकभेदात् पञ्चविधं, चारित्रमपि सामायिकादिभेदात् पञ्चधैव। गाथाऽक्षराणि त्वेवं नेयानि, तद्यथा–भावधर्मो लौकिकलोकोत्तरभेदाद् द्विधा, द्विविधोऽपि चायं यथासङ्ख्येन द्विविधस्त्रिविधः, तत्रैव लौकिको गृहस्थपाखण्डिकभेदात् द्विविधः, लोकोत्तरोऽपि ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात् त्रिविधः, ज्ञानादीनि प्रत्येकं त्रीण्यपि पंचधैवेति ॥ तत्र ज्ञानदर्शनचारित्रवतां साधूनां यो धर्मस्तं दर्शयितुमाह—

(टीकार्थ) भावधर्म, नो आगमसे दो प्रकारका है एक लौकिक और दूसरा लोकोत्तर। लौकिक धर्म दो प्रकारका है, एक गृहस्थोंका और दूसरा पाषण्डियोंका। लोकोत्तर धर्म ज्ञान दर्शन और चारित्र भेदसे तीन प्रकारका है। इनमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्य्यव, और केवल भेदसे ज्ञान पांच प्रकारका है। तथा औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक, और क्षायिक भेदसे दर्शन भी पांच प्रकारका है। एवं सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात भेदसे चारित्र भी पांच प्रकारका है। गाथाके अक्षरोंका अर्थ इसप्रकार जानना चाहिये, जैसेकि–भावधर्म, लौकिक और लोकोत्तर भेदसे दो प्रकारका है। इनमें लौकिक धर्मको

दो प्रकारका और लोकोत्तर धर्मको तीन प्रकारका समझना चाहिये। लौकिकधर्म गृहस्थ और पाषण्डिक भेदसे दो प्रकारका है और लोकोत्तर धर्म ज्ञानदर्शन और चारित्र भेदसे तीन प्रकारका है। इनमें ज्ञान आदि तीन प्रत्येक पांच पांच प्रकारके हैं। अब निर्युक्तिकार ज्ञान दर्शन और चारित्रवाले साधुओंका जो धर्म है उसे दिखानेके लिये कहते है—

पासत्थोसण्णकुसील संथवो ण किर वट्टती काउं।
सूयगडे अज्झयणे धम्मंमि निकाइतं एयं ॥१०२॥

(टीका) साधुगुणानां पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः तथा संयमानुष्ठानेऽवसीदन्तीत्यवसन्नाः तथा कुत्सितं शीलं येषां ते कुशीलाः एतैः पार्श्वस्थादिभिः सह संस्तवः-परिचयः सहसंवासरूपो न किल यतीनां वर्त्तते कर्त्तुम्, अतः सूत्रकृतेऽङ्गे धर्माख्येऽध्ययने एतत् 'निकाचितं' नियमितमिति ॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, अधुना सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

(टीकार्थ) साधुके गुणोंसे जो दूर रहते है वे पार्श्वस्थ कहलाते हैं। तथा संयमकी क्रिया करनेमें जो ढिलाई करते है वे अवसन्न कहेजाते है। तथा खराब आचारवाले कुशील कहलाते हैं, इन लोगोंके साथ साधुओंको परिचय नहीं करना चाहिये। इसलिये सूत्रकृताङ्ग सूत्रके इस धर्माध्ययनमें यही बात बताई गई है। नाम निक्षेप कहा गया। अब सूत्रानुगममें अस्खलित आदि गुणोंके साथ सूत्रका उच्चारण करना चाहिये। वह सूत्र यह है—

(मूल) कयरे धम्मे अक्खाए, माहणेण मतीमता ?।
अंजु धम्मं जहातच्चं, जिणाणं तं सुणेह मे ॥१॥

(छाया) कतरो धर्म आख्यातः, माहनेन मतिमता।
ऋजुं धर्मं यथातथ्यं, जिनानां तं शृणुत मे।

(अन्वयार्थ) (मतीमता) केवलज्ञानी (माहणेण) जीवोंको न मारनेका उपदेश देनेवाले भगवान् महावीर स्वामीने (कयरे धम्मे अक्खाए) कौनसा धर्म बताया है ?। (जिणाणं) जिनवरोंके (तं अंजुं धम्मं) उस सरल धर्मको (जहातच्चं) ठीक ठीक (मे सुणेह) मेरेसे सुनो।

(भावार्थ) केवलज्ञानी तथा जीवोंको न मारनेका उपदेश करनेवाले भगवान् महावीर स्वामीने कौनसा धर्म कहा है ? यह जम्बूस्वामी आदिका प्रश्न सुनकर श्रीसुधर्मा स्वामी कहते है कि जिनवरोंके सरल उस धर्मको मेरेसे सुनो।

(टीका) जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमुद्दिश्येदमाह-तद्यथा-'कतरः' किम्भूतो दुर्गतिगमनधरणलक्षणो धर्मः 'आख्यातः' प्रदिपादितो 'माहणेणं'ति मा जन्तून् व्यापादयेत्येवं विनेयेषु वाक्प्रवृत्तिर्यस्यासौ 'माहनो' भगवान् वीरवर्धमानस्वामी तेन ?, तमेव विशिनष्टि-मनुते-अवगच्छति जगत्त्रयं कालत्रयोपेतं यया सा केवलज्ञानाख्या मतिः सा अस्यास्तीस्ति मतिमान् तेन-उत्पन्नकेवलज्ञानेन भगवता, इति पृष्टे सुधर्मस्वाम्याह-रागद्वेषजितो जिनास्तेषां सम्बन्धिनं धर्मं 'अंजुम्' इति 'ऋजुं' मायाप्रपञ्चरहितत्वादवक्रं तथा-'जहातच्चं मे' इति यथावस्थितं मम कथयतः शृणुत यूयं, न तु यथाऽन्यैस्तीर्थिकैर्दम्भप्रधानो धर्मोऽभिहितस्तथा भगवताऽपीति, पाठान्तरं वा 'जणगा तं सुणेह मे' जायन्त इति जना-लोकास्त एव जनकास्तेषामामन्त्रणं हे जनकाः । तं धर्मं शृणुत यूयमिति ॥१॥

(टीकार्थ) जम्बूस्वामी, सुधर्मास्वामीसे कहते हैं कि प्राणियोंको मत मारो इस प्रकार शिष्योंको उपदेश देनेवाले भगवान् महावीरस्वामीने प्राणियोंको दुर्गतिमें जानेसे बँचानेवाला कौनसा धर्म कहा है ? । वह महावीरस्वामी कैसे हैं ? सो विशेषणके द्वारा बतलाते हैं-जिसके द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालके सहित इन तीनों लोकोंको जानता है उसको मति कहते है, वह केवलज्ञान है वह जिसको उत्पन्न हो गया था ऐसे भगवान् महावीरस्वामी थे । यह प्रश्न करने पर श्रीसुधर्मा स्वामी कहते है कि जिनने रागद्वेषको जितलिया है उन्हें जिन कहते है उनका धर्म मायाके प्रपञ्चसे रहित होनेके कारण सीधा है, वह धर्म मै आपसे ठीक ठीक कहता हूं आप उसे सुनें । जैसे दूसरे धर्मवाले तीर्थङ्करोंने मायाप्रधान धर्म कहा है वैसा भगवान्ने नहीं कहा है । यहां "जणगा तं सुणेह मे" यह पाठान्तर पाया जाता है । इसका अर्थ यह है-जो जन्मधारण करते हैं उन्हें जन कहते है और जनोंको ही जनक कहते हैं उनका सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि-हे जीवों ! उस धर्मको आपलोग सुनें । १

(मूल) माहणा खत्तिया वेस्सा, चंडाला अदु वोक्कसा ।
एसिया वेसिया सुद्दा, जे य आरंभणिस्सिया ॥२॥

(मूल) परिग्गहनिविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई ।
आरंभसंभिया कामा, न ते दुक्खविमोयगा ॥३॥

(छाया) ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्या, श्चाण्डाला अथ वोक्कसाः ।
एषिका, वैशिकाः शूद्राः, ये चारम्भनिश्रिताः ॥

(छाया) परिग्रहनिविष्टानां, वैरं तेषां प्रवर्धते।
आरम्भसम्भृताः कामा, न ते दुःखविमोचकाः॥

(अन्वयार्थः) (माहणा, खत्तिया, वेस्सा) ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य (चंडाला अदु वोकसा) चाण्डाल तथा वोक्स (एसिया वेसिया सुद्दा) एषिक, वैशिक, और शूद्र (जे य आरंभणिस्सिया) और जो आरम्भमें आसक्त रहनेवाले प्राणी हैं (परिग्गहनिविट्ठाणं तेसिं वेरं पवड्ढइ) परिग्रहमें आसक्त रहनेवाले इन प्राणियोंका दूसरे प्राणियोंके साथ वैर बढता है। (आरंभसंभिया कामा) वे विषयलोलुप जीव, आरम्भसे भरे हुए हैं (ते न दुक्खविमोयगा) अतः वे दुःखरूप आठ प्रकारके कर्मोंको छोड़नेवाले नहीं हैं।

(भावार्थ) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल, वोक्स, एषिक, वैशिक, शूद्र तथा जो प्राणी आरम्भमें आसक्त रहते है, उन परिग्रही जीवोंका दूसरे जीवोंके साथ अनन्तकालके लिये वैर ही बढता है, आरम्भसे भरेहुए, विषय लोलुप वे जीव, दुःख देनेवाले आठ प्रकारके कर्मोंको त्यागनेवाले नहीं हैं।

(टीका) अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः सूक्तो भवतीत्यतो यथोद्दिष्टधर्मप्रतिपक्षभूतोऽधर्मस्तदाश्रितांस्तावद्दर्शयितुमाह—ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्तथा चाण्डालाः अथ वोक्सा—अवान्तरजातीयाः, तद्यथा—ब्राह्मणेन शूद्र्यां जातो निषादो ब्राह्मणेनव वैश्यायां जातोऽम्बष्ठः तथा निषादेनाम्बष्ठ्यां जातो वोक्सः, तथा एषितुं शीलमेषामिति एषिका—मृगलुब्धका हस्तितापसाश्च मांसहेतोर्मृगान् हस्तिनश्च एषन्ति, तथा कन्दमूलफलादिकं च, तथा ये चान्ये पाखण्डिका नानाविधैरुपायैर्भक्ष्यमेषन्त्यन्यानि वा विषयसाधनानि ते सर्वेऽप्येषिका इत्युच्यन्ते, तथा 'वैशिका' वणिजो मायाप्रधानाः कलोपजीविनः, तथा 'शूद्राः' कृषीवलादयः आभीरजातीयाः, कियन्तो वा वक्ष्यन्त इति दर्शयति—ये चान्ये वर्णापसदा नानारूपसावद्य 'आरम्भ(म्भे)निश्रिता' यन्त्रपीडननिर्लाञ्छनकर्माङ्गारदाहादिभिः क्रियाविशेषैर्जीवोपमर्दकारिणः तेषां सर्वेषामेव जीवापकारिणां वैरमेव प्रवर्धत इत्युत्तरश्लोके क्रियेति ॥२॥

(टीका) किञ्च—परि—समन्तात् गृह्यत इति परिग्रहो—द्विपदचतुष्पदधनधान्यहिरण्यसुवर्णादिषु ममीकारस्तत्र 'निविष्टानाम्' अध्युपपन्नानां गार्ध्यं गतानां 'पापम्' असातवेदनीयादिकं 'तेषां' प्रागुक्तानामारम्भनिश्रितानां परिग्रहे निविष्टानां प्रकर्षेण 'वर्द्धते' वृद्धिमुपयाति जन्मान्तरशतेष्वपि दुर्मोचं भवति, क्वचित्पाठः 'वेरं तेसिं पवड्ढइ'त्ति तत्र येन यस्य यथा प्राणिन उपमर्दः क्रियते स तथैव संसा-

रान्तर्वर्ती शतशो दुःखभाक् भवतीति, जमदग्निकृतवीर्यादीनामिव पुत्रपौत्रानुगं वैरं प्रवर्द्धत इति भावः, किमित्येवं?, यतस्ते कामेषु प्रवृत्ताः, कामाश्चारम्भैः सम्यग् भृताः संभृता—आरम्भपुष्टा आरम्भाश्च जीवोपमर्दकारिणः अतो न ते कामसम्भृता आरम्भनिश्रिताः परिग्रहे निविष्टाः दुःखयतीति दुःखम्—अष्टप्रकारं कर्म तद्विमोचका भवन्ति—तस्यापनेतारो न भवन्तीत्यर्थः॥३॥

(टीकार्थ) अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा कहा हुआ अर्थ ठीक कहा हुआ माना जाता है इस लिये पहले जो धर्म कहा गया है उसका प्रतिपक्ष अधर्म है उस अधर्मका आश्रय करनेवाले प्राणियोंको दिखानेके लिये शास्त्रकार कहते है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और चाण्डाल तथा वोक्कस, (वर्णसंकर जातिविशेषको 'वोक्कस' कहते हैं। ब्राह्मणसे शूद्रीमें उत्पन्न, निषाद कहा जाता है और ब्राह्मण से ही वैश्या स्त्रीमें उत्पन्न 'अम्बष्ठ' कहलाता है। एवं निषादसे अम्बष्ठ जातिकी स्त्रीमें उत्पन्न वोक्कस कहलाता है) तथा मांसके लिये जो मृगको तथा हाथीको ढुंढते फिरते है वे व्याध तथा हस्तितापस 'एषिक' कहलाते है। अथवा जो अपने आहारके लिये कन्द मूल आदि ढुँढते है अथवा जो दूसरे पाषण्डी लोग नानाप्रकारके उपायोंसे भोजन या विषय-साधन ढुँढते फिरते है वे सब एषिक कहेजाते है। तथा वैशिक यानी कलाओंसे जीविका करनेवाले मायाप्रधान वैश्य तथा शूद्र, यानी खेती करनेवाले अहीर जातिके लोग अथवा नाम लेकर अलग अलग कितने बताये जायँ? इसलिये शास्त्रकार सामान्यरूपसे सबका परिचय करानेके लिये कहते है कि नाना प्रकारके आरम्भोंमें आसक्त रहनेवाले अर्थात् यन्त्रपीडन, निर्लाञ्छन, और कोयला बनाना आदि क्रियाओंसे जीवोंका उपमर्द करनेवाले जो प्राणी हैं वे सब जीवोंका घात करनेवाले है इसलिये जीवोंके साथ उनका वैरही बढता है, (यह उत्तर श्लोक में क्रियापद है।) २

(टीकार्थ) जो चारो तर्फसे ग्रहण किया जाता है उसे परिग्रह कहते हैं, वह द्विपद, चतुष्पद, धनधान्य और हिरण्य तथा सुवर्ण आदिमें ममता करना है, जो प्राणी उक्त परिग्रहमें आसक्त रहते है एवं आरम्भमें आसक्त रहनेवाले जो पूर्वगाथामें कहे हुए प्राणी हैं इन लोगोंका पाप यानी असातावेदनीय कर्मकी अत्यन्त वृद्धि होती है, वे सैकडों जन्मोंमें भी इन कर्मोंका नाश नहीं करसकते है। कहीं (वेरं तेसिं पवड्ढई) यह पाठ है इसका अर्थ यह है कि जो जिसतरह जिस प्राणीका घात करता है वह उसीतरह संसारमें सैकडों वार दुःख भोगता है। जमदग्नि और कृतवीर्य्यकी तरह पुत्र और पौत्रोंतक चलनेवाला उनका वैर बढता है। (प्रश्न) क्यों ऐसा होता है? (उत्तर) वे विषयलोलुप जीव आरम्भसे पुष्ट हैं और आरम्भ जीवोंका घातक

होता है इसलिये आरम्भसे भरे हुए वे परिग्रही जीव, दुःख देनेवाले आठ प्रकारके कर्मोंको दूर करनेवाले नहीं है । ३

(मूल) आघायकिच्चमाहेउं, नाइओ विसएसिणो ।
अन्ने हरंति तं वित्तं, कम्मी कम्मेहिं किच्चती ॥४॥

(छाया) आघातकृत्यमाधातुं, ज्ञातयो विषयैषिणः ।
अन्ये हरन्ति तद् वित्तं, कर्मी कर्मभिः कृत्यते ॥

(अन्वयार्थः) (विसएणिणो नाइओ) सांसारिक सुखकी इच्छा करनेवाले ज्ञातिवर्ग (आघायकिच्च माहेउं) दाह सस्कार आदि करके (तं वित्तं हरति) मरे हुए प्राणीके द्रव्यको ले लेते हैं । (कम्मी कम्मेहि किच्चती) परन्तु उस द्रव्यको एकट्ठा करनेके लिए पापकर्म किया हुआ वह पुरुष अकेले अपने कर्मका फल दुःख भोगता है ।

(भावार्थ) ज्ञातिवर्ग धनके लोभी होते है वे दाहसंस्कार आदि मरणक्रिया करनेके पश्चात् उस मृतव्यक्तिका धन हर लेते है । परन्तु पापकर्म करके धनसञ्चय किया हुआ वह मृतव्यक्ति अकेले अपने पापका फल भोगता है ।

(टीका) किञ्चान्यत्–आहन्यन्ते–अपनीयन्ते विनाश्यन्ते प्राणिनां दश प्रकारा अपि प्राणा यस्मिन् स आघातो–मरणं तस्मै तत्र वा कृतम्–अग्निसंस्कारजलाञ्जलिप्रदानपितृपिण्डादिकमाघातकृत्यं तदाधातुम्–आधाय कृत्वा पश्चात् 'ज्ञातयः' स्वजनाः पुत्रकलत्रभ्रातृव्यादयः, किम्भूताः ?–विषयानन्वेष्टुं शीलं येषां तेऽन्येऽपि विषयैषिकाः सन्तस्यस्य दुःखार्जितं 'वित्तं' द्रव्यजातम् 'अपहरन्ति' स्वीकुर्वन्ति, तथा चोक्तम्–"ततस्तेनार्जितैर्द्रव्यैर्दारैश्च परिरक्षितैः । क्रीडन्त्यन्ये नरा राजन् ! हृष्टास्तुष्टा ह्यलङ्कृताः ॥१॥" स तु द्रव्यार्जनपरायणः सावद्यानुष्ठानवान् कर्मवान् पापी स्वकृतैः कर्मभिः संसारे 'कृत्यते' छिद्यते पीड्यत इतियावत् ॥४॥ स्वजनाश्च तद्द्रव्योपजीविनस्तत्राणाय न भवन्तीति दर्शयितुमाह–

(टीकार्थ) प्राणियोंके दश प्रकारके प्राण जिसमें मारे जाते हैं उसे आघात कहते हैं। वह मरण है उसके होनेके पश्चात् जो अग्निसंस्कार, जलाञ्जलिदान, और पितृपिण्ड आदि दिये जाते है उन्हें आघातकृत्य कहते है उस आघातकृत्यको करके विषयको ढूँढनेवाले उसके पुत्र, स्त्री, और भतीजे वगैरह स्वजनवर्ग, दुःखसे कमाये हुए उसके द्रव्यको हरलेते हैं । जैसाकि कहा है (ततस्तेनार्जितैः) अर्थात् कोई गुरु किसी राजाको ज्ञान देता हुआ कहता है कि हे

राजन् जिसने द्रव्यसंग्रह किया है और सुन्दर स्त्रियाँ व्याह रखी हैं उसके मरनेके पश्चात् दूसरे लोग मालिक बनकर प्रसन्न होकर तथा जेवर पहिन कर उनके साथ मौज उडाते हैं। परन्तु सावद्य कर्मके द्वारा द्रव्यका अर्जन किया हुआ वह मृत पापकर्मी पुरुष अपने किये हुए पाप-कर्मसे संसारमें पीडित किया जाता है। ४

(मूल) माया पिता ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते तव ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥५॥

(छाया) माता, पिता, स्नुषा, भ्राता, भार्य्या पुत्राश्चौरसाः।
नालं ते तव त्राणाय, लुप्यमानस्य स्वकर्मणा ॥

(अन्वयार्थः) (सकम्मुणा) अपने पापकर्मसे (लुप्पंतस्स) संसारमें पीडित होते हुए (तव) तुम्हारी (ताणाय) रक्षा करनेके लिये (माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा ओरसा य पुत्ता नालं) माता, पिता पूत्रवधू, भाई, स्त्री. और औरसपुत्र कोई भी समर्थ नहीं होते हैं।

(भावार्थ) अपने पापका फल दुःख भोगते हुए प्राणीको, माता, पिता, पुत्रवधू, भाई, स्त्री और औरस पुत्र आदि कोईभी नहीं बँचा सकते है।

(टीका) 'माता' जननी 'पिता' जनकः 'स्नुषा' पुत्रवधूः 'भ्राता' सहोदरः तथा 'भार्या' कलत्रं पुत्राश्चौरसाः-स्वनिष्पादिता एते सर्वेऽपि मात्रादयो ये चान्ये श्वशुरादयस्ते तव संसारचक्रवाले स्वकर्मभिर्विलुप्यमानस्य त्राणाय 'नालं' न समर्था भवन्तीति, इहापि तावन्नेमे त्राणाय किमुतामुत्रेति, दृष्टान्तश्चात्र कालसौकरिकसुतः सुलसनामा अभयकुमारस्य सखा, तेन महासत्त्वेन स्वजनाभ्यर्थितेनापि न प्राणिष्वपकृतम्, अपि त्वात्मन्येवेति ॥५॥

(टीकार्थ) जन्म देनेवाले माता पिता पुत्रकी स्त्री, सहोदर भाई, अपनी स्त्री तथा अपने बेटे ये सभी लोग, तथा दूसरे श्वशूर आदि, कोई भी अपने कर्मसे संसारमें पीडित होते हुए तुम्हारी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है। वे, जबकि इसीलोकके दुःखसे तुम्हारी रक्षा नहीं करसकते हैं तब परलोकमें रक्षा करनेकी क्या आशा है? । इस विषयमें यह दृष्टान्त है कालसौकरिक (कसाई) का बेटा सुलस नामका था। उसकी अभयकुमारके साथ मैत्री थी उसके परिवार वर्गने प्राणियों का वध करनेके लिये उसकी खूब प्रार्थना की परन्तु उस महापराक्रमी पुरुषने प्राणियों का कुछ भी अपकार नहीं किया किन्तु अपनेही हाथमें कुल्हाडी मारकर कहाकि आपलोग मेरी इस पीडाको जबकि नहीं ले सकते है तब परलोकमें पापका फल भोगते समय आप हमारी क्या सहायता करसकते है? अतः "मै यह पाप नहीं करूंगा" यह कह कर उसने जीवहिंसा नहीं की थी। ५

(मूल) एयमट्ठं सपेहाए, परमट्ठाणुगामियं।
निम्ममो निरहंकारो, चरे भिक्खू जिणाहियं ॥६॥

(छाया) एतदर्थं स प्रेक्ष्य, परमार्थानुगामुकम्।
निर्ममो निरहङ्कारः, चरेद् भिक्षुर्जिनाहितम् ॥

(अन्वयार्थः) (स) वह साधु, (एयमट्ठ पेहाय) अपने किये हुए पापसे दुःख भोगते हुए प्राणीको कोई रक्षा नहीं कर सकता है इस बातको विचारकर तथा (परमट्ठाणुगामियं) संयम या मोक्षका कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रको सोचकर (निम्ममो) ममतारहित (निरहंकारो) अहङ्कार रहित होकर (जिणाहियं चरे) जिनभाषित धर्मका आचरण करे।

(भावार्थ) अपने किये हुए कर्मोसे सांसारिक दुःख भोगते हुए प्राणीकी रक्षा करनेके लिये कोई भी समर्थ नहीं है तथा मोक्ष या संयमका कारण सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र है इन बातोंको जानकर साधु ममता और अहङ्कार रहित होकर जिनभाषित धर्मका अनुष्ठान करे।

(टीका) किञ्चान्यत्—धर्मरहितानां स्वकृतकर्मविलुप्यमानानामैहिकामुष्मिकयोर्न कश्चित्त्राणायेति एनं पूर्वोक्तमर्थं स प्रेक्षापूर्वकारी 'प्रत्युपेक्ष्य' विचार्यावगम्य च परमः—प्रधानभूतो (ऽर्थो) मोक्षः संयमो वा तमनुगच्छतीति तच्छीलश्च परमार्थानुगामुकः—सम्यग्दर्शनादिस्तं च प्रत्युपेक्ष्य, क्त्वाप्रत्ययान्तस्य पूर्वकालवाचितया क्रियान्तरसव्यपेक्षत्वात् तदाह—निर्गतं ममत्वं बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु यस्मादसौ निर्ममः तथा निर्गतोऽहङ्कारः—अभिमानः पूर्वैश्वर्यजात्यादिमदजनितस्तथा तपःस्वाध्यायलाभादिजनितो वा यस्मादसौ निरहङ्कारो—रागद्वेषरहित इत्यर्थः, स एवम्भूतो भिक्षुर्जिनैराहितः—प्रतिपादितोऽनुष्ठितो वा यो मार्गो जिनानां वा सम्बन्धी योऽभिहितो मार्गस्तं 'चरेद्' अनुतिष्ठेदिति ॥६॥

(टीकार्थ) अपने किये हुए पापकर्मसे दुःख भोगते हुए धर्महीन प्राणीको इसलोक या परलोकमें कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है यह पहले कहा जा चुका है। बुद्धिमान् पुरुष इस बातको जानकर तथा परम अर्थ जो मोक्ष या संयम है उनका कारण सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र है इस बातको भी विचार कर (क्त्वा प्रत्ययान्त पूर्वकालिक अर्थका बोधक होता है इस लिये वह दूसरी क्रियाकी अपेक्षा रखता है अतः शास्त्रकार उसे बताते है) बाहरी पदार्थ और भीतरकी वस्तुओंमें साधु ममता न करे। एवं साधु, पहलेके ऐश्वर्य्य, और जातिमदसे उत्पन्न, तथा तपस्या स्वाध्याय और लाभ आदिसे उत्पन्न अहङ्कार भी न करे किन्तु वह राग द्वेष रहित

होकर रहे । इस प्रकार रहता हुआ साधु, तीर्थङ्करोंके द्वारा कहा हुआ अथवा आचरण किया हुआ अथवा जिन सम्बन्धी जो मार्ग है उसका आचरण करे । ६

(मूल) चिच्चा वित्तं च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गहं ।
चिच्चा ण णंतगं सोयं, निरवेक्खो परिव्वए ॥७॥

(छाया) त्यक्त्वा वित्तञ्च पुत्रांश्च, ज्ञातींश्च परिग्रहम् ।
त्यक्त्वाऽन्तगं शोकं, निरपेक्षः परिव्रजेत् ।

(अन्वयार्थः) (वित्तं च पुत्ते य) धन और पुत्रोंको (णाइओ य परिग्गहं) तथा ज्ञाति वर्ग और परिग्रहको (चिच्चा) त्याग कर (अंतगं सोयं च चिच्चा) तथा भीतरके तापको छोड़कर (निरवेक्खो परिव्वए) मनुष्य निरपेक्ष होकर सयमका अनुष्ठान करे ।

(भावार्थः) धन, पुत्र, ज्ञाति, परिग्रह और आन्तरिक शोकको छोड़कर मनुष्य संयमका पालन करे ।

(टीका) अपिच-संसारस्वभावपरिज्ञानपरिकर्मितमतिर्विदितवेद्यः सम्यक् 'त्यक्त्वा' परित्यज्य किं तद् ?-'वित्तं' द्रव्यजातं पुत्रांश्च त्यक्त्वा, पुत्रेष्वधिकः स्नेहो भवतीति पुत्रग्रहणं, तथा 'ज्ञातीन्' स्वजनांश्च त्यक्त्वा तथा 'परिग्रहं' चान्तरममत्वरूपं णकारो वाक्यालङ्कारे अन्तं गच्छतीत्यन्तगो दुष्परित्यज इत्यर्थः अन्तको वा विनाशकारीत्यर्थः आत्मनि वा गच्छतीत्यात्मग आन्तर इत्यर्थः तं तथाभूतं 'शोकं' संतापं 'त्यक्त्वा' परित्यज्य श्रोतो वा-मिथ्यात्वाविरतिप्रमाद-कषायात्मकं कर्माश्रवद्वारभूतं परित्यज्य, पाठान्तरं वा-'चिच्चा णणंतगं सोयं' अन्तं गच्छतीत्यन्तगं न अन्तगमनन्तगं श्रोतः शोकं वा परित्यज्य 'निरपेक्षः' पुत्र-दारधनधान्यहिरण्यादिकमनपेक्षमाणः सन् आमोक्षाय परि-समन्तात् संयमानुष्ठाने 'व्रजेत्' परिव्रजेदिति, तथा चोक्तम्-"छेलिया अवयक्खंता निरावयक्खा गया अविग्घेणं[1] । तम्हा पवयणसारे निरावयक्खेण होयव्वं ॥१॥ भोगे अवयक्खंता पडंति संसारसागरे घोरे । भोगेहि निरवयक्खा तरंति संसारकंतारं ॥२॥" इति ॥७॥

(टीकार्थ) संसारके स्वभावको जाननेसे शुद्ध बुद्धिवाला तथा जानने योग्य पदार्थको जाननेवाला पुरुष अच्छी तरहसे छोड़कर, (प्रश्न) क्या छोड़कर ? (उत्तर) द्रव्यसमूहको तथा

१ छलिता अपेक्षमाणा निरपेक्षमाणा गता अविघ्नेन तस्मात्प्रवचनसारे (ज्ञाते) निरपेक्षेण भवितव्यम् ॥१॥ २ भोगानपेक्षमाणाः पतन्ति संसारसागरे घोरे । भोगेषु निरपेक्षास्तरन्ति संसारकान्तारं ॥१॥

पुत्रोंको छोड़कर (पुत्रोंमें अधिक स्नेह होता है इसलिये पुत्रका ग्रहण किया है) तथा ज्ञातियोंको छोड़कर एवं अन्दरके ममत्वरूप परिग्रहको छोड़कर (ण शब्द वाक्यालङ्कारमें आया है) एवं जो दुःखसे छोड़ा जाता है अथवा जो विनाश करनेवाला है अथवा जो आत्माके भीतर रहता है उस सन्तापको छोड़कर अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय स्वरूप जो कर्मके आश्रव-द्वार है उन्हें छोड़कर अथवा (चिच्चाणऽणंतगं सोयं) इस पाठान्तरके अनुसार जिसका अन्त कभी नहीं होता है उस श्रोत या शोकको छोड़कर साधु पुत्र, स्त्री, धन, धान्य, और हिरण्य आदिकी अपेक्षा नहीं करता हुआ मोक्षकी प्राप्तिके लिये संयमका अनुष्ठान करे। अतएव कहा है कि (छलिया) अर्थात् जिन्होंने परिग्रह आदिमें ममता रखी वे ठगे गये परन्तु जो निरपेक्ष रहे वे निर्विघ्न संसार सागरको तर गये अतः प्रवचनके सिद्धान्तको जाननेवाला पुरुष निरपेक्ष होकर रहे। ७

(मूल) पुढवी उ अगणी वाऊ, तणरुक्खसवीयगा।
अंडया पोयजराऊ, रससंसेयउब्भिया ॥८॥

(छाया) पृथिवीत्वग्निर्वायु स्तृणवृक्षाः सबीजकाः।
अण्डजाः पोतजरायुजाः, रससंस्वेदोद्भिज्जाः ॥

(अन्वयार्थ) (पुढवी, अगणी, वाऊ तणरुक्ख सवीयगा) पृथिवी, अग्नि, वायु, तृण, वृक्ष और वीज (अंडया पोयजराऊ) अण्डज पोत तथा जरायुज (रससंसेयउब्भिया) रसज, स्वेदज और उद्भिज्ज (ये सब जीव हैं)

(भावार्थ) पृथिवी, अग्नि, वायु, तृण, वृक्ष, वीज, अण्डज, पोत, जरायुज, रसज, स्वेदज, और उद्भिज्ज ये सब जीव है।

(टीका) स एवं प्रव्रजितः सुव्रतावस्थितात्माऽहिंसादिषु व्रतेषु प्रयतेत, तत्राहिंसाप्रसिद्ध्यर्थमाह-'पुढवी 'उ' इत्यादि श्लोकद्वयं, तत्र पृथिवीकायिकाः सूक्ष्मवादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नाः तथाऽप्कायिका अग्निकायिका वायुकायिका-श्चैवम्भूता एव, वनस्पतिकायिकान् लेशतः सभेदानाह-'तृणानि' कुशवच्चकादीनि 'वृक्षाः' चूताशोकादिकाः सह वीजैर्वर्तन्त इति सबीजाः, वीजानि तु शालिगोधू-मयवादीनि, एते एकेन्द्रियाः पञ्चापि कायाः पष्ठत्रसकायनिरूपणायाह-अण्डाज्जाता अण्डजाः-शकुनिगृहकोकिलसरीसृपादयः तथा पोता एव जाताः पोतजा-हस्ति-शरभादयः तथा जरायुजा ये जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते गोमनुष्यादयः तथा रसात्-

---

१ वन्धका० प्र०।

दधिसौवीरकादेर्जाता रसजास्तथा संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजा-यूकामत्कुणादयः 'उद्भिज्जाः' ॥ खञ्जरीटकदर्दुरादय इति, अज्ञातभेदा हि दुःखेन रक्ष्यन्त इत्यतो भेदेनोपन्यास इति ॥८॥

(टीकार्थ) इस प्रकार दीक्षा लिया हुआ वह साधु सुन्दर व्रतमें स्थिर होकर अहिंसा आदि महाव्रतोंमें प्रयत्न करे। उसमें अहिंसाकी प्रसिद्धिके लिये शास्त्रकार "पुढवी" इत्यादि दो श्लोक कहते है पृथिवीकायके जीव, सूक्ष्म, वादर, पर्य्याप्त और अपर्य्याप्त भेदसे जूदे जूदे है, इसीतरह जलकायके जीव, अग्निकायके जीव, और वायुकायके जीव भी पृथवीकायके जीवके समान ही भेदवाले हैं। अव शास्त्रकार संक्षेपसे वनस्पतिकायके जीवोंका भेद वताते है—कुश और वच्चक आदि तृण तथा आम और अशोक आदि वृक्ष, तथा शालि, गेहूं और यव आदि वीज, ये पाँचही जीवकाय एकेन्द्रिय है अव शास्त्रकार छट्ठा त्रसकायका निरूपण करनेके लिये कहते हैं—अण्डासे उत्पन्न होनेवाले शकुनि, गृहकोकिल, और सरीसृप आदि प्राणी अण्डज है। तथा वच्चेके रूपमें पैदा होनेवाले हाथी और शरभ आदि पोतज है। एवं जम्बालसे वेष्टित होकर उत्पन्न होनेवाले गाय और मनुष्य आदि जरायुज है, तथा दही और सौवीर आदिसे उत्पन्न होनेवाले प्राणी रसज हैं एवं स्वेदसे उत्पन्न होनेवाले यूक और खटमल आदि प्राणी स्वेदज हैं तथा खञ्जरीट टिड्डी और मेढक आदि प्राणी उद्भिज्ज हैं। इनका भेद जाने विना इनकी रक्षा दुःखसे होगी इसलिये यहां भेद करके वताया है। ८

(मूल) एतेहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया।
मणसा कायवक्केणं, णारंभो ण परिग्गही ॥९॥

(छाया) एतैः षड्भिः कायैस्तद् विद्वान् परिजानीयात्।
मनसा कायवाक्येन नारम्भी न परिग्रही ॥

(अन्वयार्थ) (विज्जं) विद्वान् पुरुष (एतेहिं छहिं काएहिं) इन छही कायोंका आरम्भ न करे किन्तु (त परिजाणिया) इन्हें जीव जाने (मनसाकायवक्केणं) और मन, वचन तथा कायसे (नारम्भी न परिग्गही) आरम्भ और परिग्रह न करे।

(भावार्थ) विद्वान् पुरुष पूर्वोक्त इन छःही कायोंको जीव समझकर मन, वचन और कायसे इनका आरम्भ और परिग्रह न करे।

(टीका) 'एभिः' पूर्वोक्तैः षड्भिरपि 'कायैः' त्रसस्थावररूपैः सूक्ष्मवादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नैर्नारम्भी नापि परिग्रही स्यादिति सम्बन्धः, तदेतद् 'विद्वान्'

सश्रुतिको ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया मनोवाक्कायकर्मभिर्जीवोपमर्द-कारिणमारम्भं परिग्रहं च परिहरेदिति ॥९॥

(टीकार्थ) ये पूर्वोक्त छः कायकेजीव, जो त्रस और स्थावररूप तथा सूक्ष्म, वादर, पर्य्याप्त, और अपर्य्याप्त भेदवाले हैं इनका आरम्भ न करे और परिग्रह भी न करे यह सम्बन्ध है। विद्वान् पुरुष ज्ञपरिज्ञासे इन्हें जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञासे मन, वचन और कायके द्वारा जीवोंका घात करनेवाले आरम्भ और परिग्रहको वर्जित करे। ९

(मूल) मुसावायं वहिद्धं च, उग्गहं च अजाइया।
सत्थादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥१०॥

(छाया) मृषावादं मैथुनञ्चा, वग्रहञ्चायाचितम्।
शस्त्राण्यादानानि लोके, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

(अन्वयार्थ) (मुसावाय) झूठ बोलना, (वहिद्धं च) मैथुन सेवन करना, (उग्गहं) परिग्रह करना (अजाइया) तथा अदत्तादान लेना (लोगंसि सत्थादाणाइं) ये सब लोकमें शस्त्रके समान और कर्मबन्धके कारण हैं (विज्जं तं परिजाणिया) विद्वान् ज्ञपरिज्ञासे इन्हें जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञासे त्याग करे।

(भावार्थ) झूठ बोलना, मैथुन सेवन करना, परिग्रह ग्रहण करना, और अदत्तादान लेना ये सब लोकमें शस्त्रके समान और कर्मबन्धके कारण हैं इस लिये विद्वान् मुनि इन्हें ज्ञपरिज्ञासे जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञासे त्याग करे।

(टीका) शेषव्रतान्यधिकृत्याह—मृषा असद्भूतो वादो मृषावादस्तं विद्वान् प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् तथा 'वहिद्धं' त्ति मैथुनं 'अवग्रहं' परिग्रहमयाचितम्—अदत्तादानं, [ग्रं० ५२५०] यदिवा वहिद्धमिति—मैथुनपरिग्रहौ अवग्रहमयाचितमित्यनेनादत्तादानं गृहीतं, एतानि च मृषावादादीनि प्राण्युपतापकारित्वात् शस्त्राणीव शस्त्राणि वर्तन्ते। तथाऽऽदायते—गृह्यतेऽष्टप्रकारं कर्मैभिरिति (आदानानि) कर्मोपादानकारणान्यस्मिन् लोके, तदेतत्सर्वं विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१०॥

(टीकार्थ) अब शास्त्रकार शेष व्रतोंके विषयमें कहते हैं—झूठ बोलनेको 'मृषावाद' कहते हैं उसको विद्वान् मुनि प्रत्याख्यान परिज्ञासे त्याग करे। तथा मैथुनको 'वहिद्ध' कहते हैं, और

परिग्रहको 'अवग्रह' कहते हैं एवं अदत्तादानको अयाचित कहते हैं अथवा वहिद्ध पदसे मैथुन और परिग्रह दोनों लिये जाते हैं और अवग्रह तथा अयाचित पदसे अदत्तादान लिया जाता है। ये पूर्वोक्त मृषावाद आदि प्राणियोंको पीडा देनेके कारण शस्त्रके समान हैं तथा आठ प्रकारके कर्मवन्ध के कारण हैं अतः विद्वान् पुरुप इन बातोंको ज्ञपरिज्ञासे जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञासे त्याग करे। १०

(मूल) पलिउंचणं च भयणं च, थंडिल्लुस्सयणाणि या।
धूणादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥११॥

(छाया) पलिकुञ्चनञ्च भजनञ्च, स्थण्डिलोच्छ्रयणाणि च।
धूनयादानानि लोके, तद्विद्वान् परिजानीयात्।

(अन्वयार्थ) पलिउंचणं च) माया (भयणं च) और लोभ, (थंडिल्लुस्सयणाणि य) क्रोध और मानको (धूण) त्याग करो (लोगंसि आदाणाइं) क्योंकि ये सब लोकमें कर्मबन्धके कारण हैं (विज्जं तं परिजाणिया) विद्वान् मुनि इन्हें जानकर त्याग करे।

(भावार्थ) माया, लोभ, क्रोध और मान, संसारमें कर्मवन्धके कारण हैं इसलिये विद्वान् मुनि इनका त्याग करे।

(टीका) किञ्चान्यत्—पञ्चमहाव्रतधारणमपि कषायिणो निष्फलं स्यादतस्तत्साफल्यापादनार्थं कषायनिरोधो विधेय इति दर्शयति—परि—समन्तात् कुञ्च्यन्ते—वक्रतामापाद्यन्ते क्रिया येन मायानुष्ठानेन तत्पलिकुञ्चनं मायेति भण्यते, तथा भज्यते सर्वत्रात्मा प्रह्वीक्रियते येन स भजनो—लोभस्तं, तथा यदुदयेन ह्यात्मा सदसद्विवेकविकलत्वात् स्थण्डिलवद्भवति स स्थण्डिलः—क्रोधः, यस्मिंश्च सत्यूर्ध्वं श्रयति जात्यादिना दर्पाध्मातः पुरुप उत्तानीभवति स उच्छ्रायो—मानः, छान्दसत्वान्नपुंसकलिङ्गता, जात्यादिमदस्थानानां वहुत्वात् तत्कार्यस्यापि मानस्य वहुत्वमतो वहुवचनं, चकाराः स्वगतभेदसंसूचनार्थाः समुच्चयार्था वा, धूनयेति प्रत्येकं क्रिया योजनीया, तद्यथा—पलिकुञ्चनं—मायां धूनय धूनीहि वा, तथा भजनं—लोभं, तथा स्थण्डिलं—क्रोधं, तथा उच्छ्रायं—मानं, विचित्रत्वात् सूत्रस्य क्रमोल्लङ्घनेन निर्देशो न दोषायेति, यदिवा—रागस्य दुस्त्यजत्वात् लोभस्य च मायापूर्वकत्वादित्यादावेव मायालोभयोरुपन्यास इति, कषायपरित्यागे विधेये पुनरपरं कारणमाह—एतानि

पलिकुञ्चनादीनि अस्मिन् लोके आदानानि वर्त्तन्ते, तदेतद्विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत ॥११॥

(टीकार्थ) जिस पुरुषमें कषाय है उसका पञ्च महाव्रत धारण करना व्यर्थ है इसलिये पञ्च महाव्रतको सफल करनेके लिये कषायको रोकना चाहिये यह शास्त्रकार दिखलाते हैं–जिससे मनुष्यकी क्रिया पूर्णरूपसे टेढी होजाती है उसे 'पलिकुञ्चन' कहते हैं। वह माया है। जिससे आत्मा सर्वत्र झुक जाता है उसे 'भजन' कहते है। वह लोभ है। जिसके उदयसे आत्मा सत् और असत् के विवेकसे हीन होकर स्थण्डिलके समान हो जाता है वह स्थण्डिल कहलाता है वह क्रोध है। तथा जिसके होनेसे जीव उत्तान हो जाता है उसे उच्छ्राय कहते है वह जाति आदिके द्वारा उत्पन्न मान है। मान शब्द वस्तुतः पुंलिङ्ग है तथापि छन्द होनेके कारण यहां नपुंसक लिङ्ग हुआ है। जाति आदि मदके स्थान बहुत होते हैं इसलिये यहां बहुवचन हुआ है। चकार स्वगत भेदको सूचित करनेके लिये है अथवा वह समुच्चयार्थक है। यहां धूनय (त्याग-करो) इस क्रियाको प्रत्येकके साथ सम्बन्ध करना चाहिये। जैसेकि (हे शिष्य !) तुम मायाको छोडो, लोभको छोडो इत्यादि। यहां माया, लोभ, क्रोध, और मान इस प्रकार जो क्रमका उल्लंघन करके कषायोंका निर्देश किया है सो सूत्रकी विचित्रताके कारण दोष नहीं है। अथवा राग दुस्त्यज होता है और लोभ मायापूर्वक ही होता है इस लिये पहलेही माया और लोभका निर्देश किया है। कषायोंके त्यागमें शास्त्रकार दूसरा कारण भी बताते हैं–ये माया आदि लोकमें कर्म-बन्धके कारण हैं अतः इसे जानकर विद्वान् पुरुष इनका त्याग करे। ११

(मूल) धोयणं रयणं चेव, वत्थीकम्मं विरेयणं।
वमणंजण पलीमंथं, तं विज्जं परिजाणिया ॥१२॥

(छाया) धावनं रञ्जनञ्चैव, वस्तिकर्म विरेचनम्।
वमनाञ्जनं पलिमन्थं, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

(अन्वयार्थ) (धोयणं) हाथ पैर तथा वस्त्र आदि धोना (रयणं) तथा उनको रंगना (वत्थी कम्म विरेयणं) वस्तिकर्म करना और विरेचन (वमणंजण) दवालेकर वमन करना तथा आँखोंमें अञ्जन लगाना (पलिमंथं) इत्यादि संयमको नष्ट करनेवाले कार्य्योंको (विज्जं परिजाणिया) विद्वान् पुरुष जानकर त्याग करे।

(भावार्थ) हाथ पैर धोना, और उनको रंगना एवं वस्तिकर्म, विरेचन, वमन, और नेत्रमें अञ्जन लगाना ये सब संयमको नष्ट करनेवाले हैं इसलिये विद्वान् मुनि इनका त्याग करे।

(टीका) पुनरप्युत्तरगुणानधिकृत्याह-धावनं-प्रक्षालनं हस्तपादवस्त्रादे रञ्जनमपि तस्यैव, चकारः समुच्चयार्थः, एवकारोऽवधारणे, तथा वस्तिकर्म-अनुवासनारूपं तथा 'विरेचनं' निरूहात्मकमधोविरेको वा वमनम्-ऊर्ध्वविरेकस्तथाऽञ्जनं नयनयोः, इत्येवमादिकमन्यदपि शरीरसंस्कारादिकं यत् 'संयमपलिमन्थकारि' संयमोपघातरूपं तदेतद्विद्वान् स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च परिज्ञाय प्रत्याचक्षीत ॥१२॥ अपिच-

(टीकार्थ) फिर भी शास्त्रकार उत्तर गुणोंके विषयमें कहते हैं हाथ पैर और वस्त्र आदिको धोना और उनको रंगना, (चकार समुच्चयार्थक है) (एवकार अवधारणार्थक है) वस्तिकर्म अर्थात् एनिमा लेना इत्यादि, तथा जुलाब लेना एवं दवा लेकर वमन करना, और आंखमें अञ्जन लगाना इन सबोंको तथा दूसरे भी शरीर संस्कार आदि जो संयमके विघातक हैं उनके स्वरूप और फलको जानकर विद्वान् मुनि त्याग करे । १२

(मूल) गंधमल्लसिणाणं च, दंतपक्खालणं तहा ।
परिग्गहित्थिकम्मं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१३॥

(छाया) गन्धमाल्यस्नानानि, दन्तप्रक्षालनं तथा ।
परिग्रहस्त्रीकर्माणि तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥

(अन्वयार्थ) (गंधमल्लसिणाणं च) शरीरमें गन्ध लगाना तथा फूलमाला पहिनना एव स्नान करना (तहा दंतपक्खालणं) तथा दाँतोंको धोना (परिग्गहित्थिकम्मं च) परिग्रह रखना, स्त्रीभोग करना तथा हस्तकर्म करना (तं विज्जं परिजाणिया) विद्वान् मुनि इनको पापका कारण जानकर त्याग करे ।

(भावार्थ) गन्ध, फूलमाला, स्नान, दांतोंको धोना, परिग्रह रखना, स्त्रीसेवन करना, हस्तकर्म करना, इनको पापका कारण जानकर विद्वान् मुनि त्याग करे ।

(टीका) 'गन्धाः' कोष्टपुटादयः 'माल्यं' जात्यादिकं 'स्नानं च' शरीरप्रक्षालनं देशतः सर्वतश्च, तथा 'दन्तप्रक्षालनं' कदम्बकाष्ठादिना तथा 'परिग्रहः' सचित्तादेः स्वीकरणं तथा स्त्रियो-दिव्यमानुषतैरश्च्यः तथा 'कर्म' हस्तकर्म सावद्यानुष्ठानं वा तदेतत्सर्वं कर्मोपादानतया संसारकारणत्वेन परिज्ञाय विद्वान् परित्यजेदिति ॥१३॥

---

१ निरूहो निश्चिते तर्के वस्तिभेदे इति हैमः ।

(टीकार्थ) कोष्टपुट आदि गन्ध (आजकल इत्तर सेन्ट वगैरह) चमेली आदि फूलोंकी माला तथा स्नान यानी शरीरके थोडे भागको या सब शरीरको धोना, तथा कदम्ब आदिकी लकडीसे दांत धोना, एवं सचित्त आदि पदार्थोंका परिग्रह करना तथा देवता मनुष्य या तिर्य्यञ्च जातिकी स्त्रियोंसे मैथुन करना, एवं हस्तकर्म करना अथवा और जो सावद्य अनुष्ठान हैं उनको कर्मबन्ध तथा संसारका कारण जानकर विद्वान् मुनि त्याग करे। १३

(मूल) उद्देसियं कीयगडं, पामिच्चं चेव आहडं।
पूयं अणेसणिज्जं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१४॥

(छाया) उद्देशिकं क्रीतक्रीतं, पामित्यं चैवाहृतम्।
पूय मनेषणीयञ्च, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

(अन्वयार्थ) (उद्देसियं) साधुको देनेके लिये जो आहार आदि तैयार किया गया है (कीयगडं) तथा साधुके लिये जो खरीद किया गया है (पामिच्चं) एवं साधुको देनेके लिये जो दूसरेसे उधार लिया गया हैं (आहड) तथा साधुको देनेके लिये जो गृहस्थोंके द्वारा लाया हुआ है (पूयं) जो आधाकर्मी आहारसे मिला हुआ है (अणेसणिज्जं) तथा जो आहार आदि दोषसे युक्त अशुद्ध है (विज्जं तं परिजाणिया) विद्वान् मुनि इन सबोंको संसारका कारण जानकर निःस्पृह होकर त्याग करे।

(भावार्थ) साधुको दान देनेके लिये जो आहार वगैरह तय्यार किया गया है तथा जो मोल लिया गया है एवं गृहस्थने साधुको देनेके लिये जो आहार आदि लाया है तथा जो आधाकर्मी आहारसे मिश्रित है इस प्रकार जो आहार आदि किसी भी कारणसे दोषयुक्त है उसको संसारका कारण जानकर विद्वान् मुनि त्याग करे।

(टीका) किञ्चान्यत्–साध्वाद्युद्देशेन यद्दानाय व्यवस्थाप्यते तदुद्देशिकं, तथा 'क्रीतं' क्रयस्तेन क्रीतं—गृहीतं क्रीतक्रीतं 'पामिच्चं'ति साध्वर्थमन्यत उद्यतकं यद्गृह्यते तत्तदुच्यते चकारः समुच्चयार्थः एवकारोऽवधारणार्थः, साध्वर्थं यद्गृहस्थेनानीयते तदाहृतं, तथा 'पूय'मिति आधाकर्मावयवसम्पृक्तं शुद्धमप्याहारजातं पूति भवति, किं बहुनोक्तेन ?, यत् केनचिद्दोषेणानेषणीयम्–अशुद्धं तत्सर्वं विद्वान् परिज्ञाय संसारकारणतया निस्पृहः सन् प्रत्याचक्षीतेति ॥१४॥

(टीकार्थ) साधु आदिको देनेके लिये जो आहार आदि रखाजाता है उसको उद्देशिक कहते हैं। खरीदे हुए आहार आदिको क्रीत कहते है। एवं साधुको देनेके लिये जो आहार

दूसरेसे उधार लिया गया है उसको 'पामित्य' कहते है। (चकार समुच्चयार्थक है, एवकार अवधारणार्थक है) तथा साधुको देनेके लिये गृहस्थके द्वारा जो आहार लाया गया है वह 'आहृत' कहा जाता है तथा अधाकर्मी आहारके एक कणसे युक्त होने पर शुद्ध भी आहार अशुद्ध हो जाता है इस लिये ऐसे आहारको 'पूत' कहते हैं, और कहांतक कहें, किसी भी दोषसे जो आहार दूषित हो गया है उसको संसारका कारण समझकर निस्पृह विद्वान् मुनि त्याग करे। १४

(मूल) आसूणिमक्खिरागं च, गिद्धुवधायकम्मगं।
उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१५॥

(छाया) आशून मक्षिरागश्च, गृद्ध्युपघातकर्मकम्।
उच्छोलनञ्च कल्कञ्च, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

(अन्वयार्थ) (आसुणिमक्खिरागं च) रसायन आदि खाकर बलवान् होना, तथा नेत्रमें शोभाके लिये अञ्जन लगाना (गिद्धुवधायकम्मगं) तथा शब्दादिविषयों में आसक्त होना एवं जिस कर्मसे जीवोंका घात होता है उसे करना, (उच्छोलणं च कक्कंच) अयत्नपूर्वक ठंढा पानीसे हाथ पैर वगैरह धोना तथा शरीरमें पिट्ठी लगाना (तं विज्जं परिजाणिया) इन सर्वोको विद्वान् मुनि ससारभ्रमणका कारण जानकर त्याग करे।

(भावार्थ) रसायन आदिका सेवन करके बलवान् बनना तथा शोभाके लिये आंखमें आंजन लगाना, तथा शब्दादि विषयोंमें आसक्त होना, एवं जिससे जीवोंका घात हो वह कर्म करना जैसेकि ठंढा पानीसे अयत्नपूर्वक हाथ पैर आदि धोना तथा शरीरमें पीठी लगाना इन बातोंको संसारका कारण जानकर साधु त्याग करे।

(टीका) किञ्च–येन घृतपानादिना आहारविशेषेण रसायनक्रियया वा अशूनः सन् आ–समन्तात् शूनीभवति–बलवानुपजायते तदाशूनीत्युच्यते, यदिवा आसूणिति–श्लाघया क्रियमाणया आ–समन्तात् शूनवच्छूनो लघुप्रकृतिः कश्चिद्दर्पाध्मातत्वात् स्तब्धो भवति, तथा अक्ष्णां 'रागो' रञ्जनं सौवीरादिकमञ्जनमिति यावत्, एवं रसेषु शब्दादिषु विषयेषु वा 'गृद्धि' गार्द्ध्यं तात्पर्यमासेवा, तथोपघातकर्म–अपरापकारक्रिया येन केनचित्कर्मणा परेषां जन्तूनामुपघातो भवति तदुपघातकर्मेत्युच्यते, तदेव लेशतो दर्शयति–'उच्छोलनं'ति अयतनया शीतोदकादिना हस्तपादादिप्रक्षालनं तथा 'कल्कं' लोध्रादिद्रव्यसमुदायेन शरीरोद्वर्तनकं तदेतत्सर्वं कर्मबन्धनायेत्येवं 'विद्वान्' पण्डितो ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१५॥

(टीकार्थ) घृत पीना, अथवा रसायनका सेवन आदि जिस आहार विशेषके कारण मनुष्य बलवान् बनता है उसको 'आसूनी' कहते हैं। अथवा आसूनी प्रशंसाको कहते हैं क्योंकि तुच्छ प्रकृतिवाला जीव अपनी प्रशंसा सुनकर घमण्डसे फूलजाता है। तथा शोभाके लिये आंखमें सौवीरक आदिका अञ्जन लगाना, इसीतरह रसोंमें अथवा शब्दादि विषयोंमें आसक्त होना, एवं जिस क्रियासे प्राणियोंका घात होता है उसे उपघात कर्म कहते हैं वह दूसरेका अपकार करना है, उस कर्मको करना, इसी बातको शास्त्रकार संक्षेपसे बताते हैं अयत्नपूर्वक ठंढा पानी (सचित्त पानी)से हाथ पैर आदि धोना, तथा लोध्र आदि द्रव्योंका पिट्ठी बनाकर उसका शरीरमें लेप करना, ये सब कार्य्य कर्मबन्धके कारण हैं इसलिये विद्वान् मुनि इन्हें जानकर त्याग करे। १५

(मूल) संपसारी कयकिरिए, पसिणायतणाणि य।
सागारियं च पिंडं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१६॥

(छाया) सम्प्रसारी कृतक्रियः प्रश्नायतनानि च।
सागारिकश्च पिण्डश्च, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

(अन्वयार्थ) (संपसारी) असंयतोंके साथ साधु संसारकी बातें न करे (कयकिरिए) तथा असंयमके अनुष्ठानकी प्रशंसा न करे। (पसिणायतणाणिच) तथा ज्योतिषके प्रश्नोंका उत्तर न दे (सागारियं च पिंडंच) शय्यान्तर पिंड न ले (तं विज्जं परिजाणिया) साधु इन बातोंको संसारका कारण जानकर त्याग करे।

(भावार्थ) असंयतोंके साथ सांसारिक वार्तालाप करना तथा असंयमके अनुष्ठानकी प्रशंसा करना, एवं ज्योतिषके प्रश्नोंका उत्तर देना तथा शय्यातरका पिण्ड लेना, इन बातोंको संसारभ्रमणका कारण जानकर साधु त्याग करे।

(टीका) अपिच-असंयतैः सार्धं सम्प्रसारणं-पर्यालोचनं परिहरेदिति वाक्यशेषः, एवमसंयमानुष्ठानं प्रत्युपदेशदानं, तथा 'कयकिरिओ' नाम कृता शोभना गृहकरणादिका क्रिया येन स कृतक्रिय इत्येवमसंयमानुष्ठानप्रशंसनं, तथा प्रश्नस्य-आदर्शप्रश्नादेः 'आयतनम्' आविष्करणं कथनं यथाविवक्षितप्रश्ननिर्णयनानि, यदिवा-प्रश्नायतनानि लौकिकानां परस्परव्यवहारे मिथ्याशास्त्रगतसंशये वा प्रश्ने सति यथावस्थितार्थकथनद्वारेणायतनानि-निर्णयनानीति, तथा 'सागारिकः' शय्यातरस्तस्य पिण्डम्-आहारं, यदिवा-सागारिकपिण्डमिति सूतकगृहपिण्डं जुगुप्सितं वर्णापसदपिण्डं वा, चशब्दः समुच्चये, तदेतत्सर्वं विद्वान् ज्ञपरिज्ञया, परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१६॥ किञ्चान्यत्-

(टीकार्थ) असंयत पुरुषोंके साथ सांसारिक वातोंका विचार करना साधु छोड़ देवे। इसीतरह वह असंयमके अनुष्ठानका उपदेश न करे। एवं जिसने अपने मकान आदिकी शोभा की है उसके उस असंयमरूप अनुष्ठानकी साधु प्रशंसा न करे। तथा साधु ज्योतिष् सम्बन्धी प्रश्नोंका उत्तर न देवे। अथवा लौकिक पुरुषोंका परस्परके व्यवहारमें उनके मिथ्याशास्त्रके विषयमें संशय होनेपर अथवा उनके द्वारा प्रश्न किये जानेपर साधु उस शास्त्रकी यथार्थवातें वताकर निर्णय न करे। तथा शय्यातरका पिण्ड, अथवा सूतकवाले घरका पिण्ड, अथवा नीचके घरका पिण्ड, साधु न ले। उक्त वातोंको साधु ज्ञपरिज्ञासे जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञासे त्याग करे। १६

(मूल) अट्ठावयं न सिक्खिज्जा, वेहाईयं च णो वए।
हत्थकम्मं विवायं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१७॥

(छाया) अष्टापदं न शिक्षेत, वेधातीतञ्च नो वदेत्।
हस्तकर्म विवादञ्च, तत् विद्वान् परिजानीयात् ॥

(अन्वयार्थ) (अट्ठावयं न सिक्खिज्जा) साधु जुआ खेलनेका अभ्यास न करे। (वेहाईयं च नो वए) तथा जो वात धर्मसे विरुद्ध है वह न वोले। (हत्थकम्म विवायं च) तथा हस्तकर्म और विवाद न करे। (तं विज्ज परिजाणिया) साधु इन वातोंको संसार भ्रमणका कारण जानकर त्याग करे।

(भावार्थ) साधु जुआ खेलनेका अभ्यास न करे तथा अधर्मप्रधान वाक्य न वोले। एवं वह हस्तकर्म तथा विवाद न करे। इन वातोंको संसारभ्रमणका कारण जानकर विद्वान् पुरुष त्याग करे।

(टीका) अर्यते इत्यर्थो–धनधान्यहिरण्यादिकः पद्यते–गम्यते येनार्थस्तत्पदं–शास्त्रं अर्थार्थं पदमर्थपदं चाणाक्यादिकमर्थशास्त्रं तन्न 'शिक्षेत' नाभ्यस्येत् नाप्यपरं प्राण्युपमर्दकारि शास्त्रं शिक्षयेत्, यदिवा–'अष्टापदं' द्यूतक्रीडाविशेषस्तं न शिक्षेत, नापि पूर्वशिक्षितमनुशीलयेदिति, तथा 'वेधो' धर्मानुवेधस्तस्मादतीतं सद्धर्मानुवेधातीतम्–अधर्मप्रधानं वचो नो वदेत् यदिवा–वेध इति वस्त्रवेधो द्यूतविशेषस्तद्गतं वचनमपि नो वदेद् आस्तां तावत्क्रीडनमिति, हस्तकर्म प्रतीतं, यदिवा 'हस्तकर्म' हस्तक्रिया परस्परं हस्तव्यापारप्रधानः कलहस्तं, तथा विरुद्धवादं विवादं शुष्क-

---

(टिप्पणी) सागारिक पिण्डका शय्यातरका पिण्डही अर्थ शास्त्रों मिलता है परन्तु टीकाकारने जो सूतकवाले घरका पिण्ड अथवा नीच घरका पिंड लिखा है, वह उनकी अपनी कल्पना है।

वादमित्यर्थः, चः समुच्चये, तदेतत्सर्वं संसारभ्रमणकारणं ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत ॥१७॥

(टीकार्थ) जो उपार्जन किया जाता है उसे अर्थ कहते है, वह धन, धान्य और हिरण्य आदि है, वह जिसके द्वारा प्राप्त होता है उसको अर्थपद कहते हैं अथवा धन उपार्जनके लिये जो शास्त्र है उसको अर्थपद कहते हैं। वह चाणक्य आदिका बनाया हुआ अर्थशास्त्र है। साधु उस शास्त्रका अभ्यास न करे। तथा प्राणियोंके घातकी शिक्षा देनेवाले जो दूसरे शास्त्र है उनका भी अभ्यास न करे। अथवा अष्टापद नाम जुआ खेलनेका है उसको साधु न सीखे तथा पहले सीखेहुए जुआका अनुशीलन भी न करे। तथा धर्मके उल्लङ्घनको 'वेध' कहते हैं। जिससे धर्मका उल्लङ्घन हो ऐसा अधर्मप्रधान वाक्य साधु न बोले। अथवा वेध यानी वस्त्रवेध, वह जुआकी एक जाति है उसका वचन भी साधु न बोले फिर खेलनेकी तो बात ही क्या है?। तथा हस्तकर्म प्रसिद्ध है अथवा परस्पर हाथसे मारामारी करना तथा शुष्कवाद करना, (च शब्द समुच्चयार्थक है) इन बातोंको साधु संसारभ्रमणका कारण जानकर त्याग करे। १७

(मूल) पाणहाओ य छत्तं च, णालीयं वालवीयणं।
परकिरियं अन्नमन्नं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१८॥

(छाया) उपानहौ च छत्रञ्च, नालिकं बालव्यजनम्।
परिक्रियाञ्चाऽन्योऽन्यं, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

(अन्वयार्थः) (पाणहाओय छत्तं च) जूता पहनना छत्ता लगाना (णालीयं बालवीयणं) जुआ खेलना पंखासे पवन करना, (अन्नमन्नं परकिरिय) तथा परस्परकी क्रिया (तं विज्जं परिजाणिया) विद्वान् मुनि इनको कर्मबन्धन का कारण जानकर त्याग करे।

(भावार्थ) जूता पहनना छत्ता लगाना, जुआ खेलना, पंखासे पवन करना, तथा जिसमें कर्मबन्ध हो ऐसी परस्परकी क्रिया, इनको कर्मबन्धका कारण जानकर विद्वान् मुनि त्याग करे।

(टीका) किञ्च उपानहौ—काष्ठपादुके च तथा आतपादिनिवारणाय छत्रं तथा 'नालिका' द्यूतक्रीडाविशेषस्तथा वालैः मयूरपिच्छैर्वा व्यजनकं तथा परेषां सम्बन्धिनीं क्रियामन्योऽन्यं—परस्परतोऽन्यनिष्पाद्यामन्यः करोत्यपरनिष्पाद्यां चापर इति, चः समुच्चये, तदेतत्सर्वं 'विद्वान्' पण्डितः कर्मोपादानकारणत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१८॥

(टीकार्थ) उपानह यानी लकडीका खडाऊं पहनना, तथा धूपकी रक्षाके लिये छत्ता लगाना, एवं नालिका यानी एक प्रकारका जुआ खेलना, तथा मोरकी पांख आदिका वना हुआ पंखा, एवं परस्परकी क्रिया जिसमें कर्मवन्ध होता है, इन सवोंको संसारभ्रमणका कारण जानकर साधु त्याग करे। १८

(मूल) उच्चारं पासवणं, हरिएसु ण करे मुणी।
वियडेण वावि साहट्टु, णावमज्जे(यमेज्जा) कयाइवि ॥१९॥

(छाया) उच्चारं प्रस्रवणं हरितेषु न कुर्य्यान्मुनिः।
विकटेन वाऽपि संहृत्य, नाचमेत कदाचिदपि ॥

(अन्वयार्थः) (मुणी उच्चारं पासवणं हरिएसु ण करे) साधु हरी वनस्पतिवाले स्थानमें टट्टी या पेशाव न करे (साहट्टु) वीज आदिको हटाकर (वियडेण वावि) अचित्त जलसेभी (कयाइवि) कदापि (णावमज्जे) आचमन न करे।

(भावार्थ) साधु हरी वनस्पतिवाले स्थानपर टट्टी या पेशाव न करे एवं वीज आदि हटाकर अचित्त जलसे भी आचमन न करे।

(टीका) तथा उच्चारप्रस्रवणादिकां क्रियां हरितेषूपरि वीजेषु वा अस्थिण्डिले वा 'मुनिः' साधुर्न कुर्यात्, तथा 'विकटेन' विगतजीवेनाप्युदकेन 'संहृत्य' अपनीय वीजानि हरितानि वा 'नाचमेत' न निर्लेपनं कुर्यात्, किमुताविकटेनेतिभावः ॥१९॥

(टीकार्थ) विद्वान् मुनि, हरी वनस्पतिके ऊपर तथा वीजके ऊपर अथवा अयोग्य स्थानमें टट्टी या पेशाव न करे। तथा वीज या हरी वनस्पतिको हटाकर अचित्त जलसे भी आचमन न करे फिर सचित्त जलसे करनेकी तो वात ही क्या है? । १९

(मूल) परमत्ते अन्नपाणं, ण भुंजेज्ज कयाइवि।
परवत्थं अचेलोऽवि, तं विज्जं परिजाणिया ॥२०॥

(छाया) परामत्रेऽन्नपानं, न भुञ्जीत कदाचिदपि।
परवस्त्र मचेलोऽपि, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

(अन्वयार्थ) (परमत्ते अन्नपान कयाऽवि ण भुजेज्ज) दूसरे के पात्रमें अर्थात् गृहस्थ के वर्त्तन में साधु अन्न या जल कभी भी न भोगे (अचेलोऽपि परवत्थं) तथा वस्त्ररहित होने परभी साधु गृहस्थका वस्त्र न पहने (तं विज्जं परिजाणिया) साधु इन बातोंको संसार भ्रमणका कारण जानकर त्याग करे।

(भावार्थ) साधु गृहस्थके वर्तनमें भोजन न करे तथा जल न पीवे। एवं वस्त्ररहित होनेपरभी साधु गृहस्थका वस्त्र न पहिने। क्योंकि ये सब संसारभ्रमणके कारण है इसलिये विद्वान् मुनि इनका त्याग करे।

(टीका) किञ्च परस्य–गृहस्थस्यामत्रं–भाजनं परामत्रं तत्र पुरःकर्मपश्चात्कर्मभयात् हृतनष्टादिदोपसम्भवाच्च अन्नं पानं च मुनिर्न कदाचिदपि भुञ्जीत, यदिवा–पतद्ग्रहधारिणश्छिद्रपाणेः पाणिपात्रं परपात्रं, यदिवा–पाणिपात्रस्याच्छिद्रपाणेर्जिनकल्पिकादेः पतद्ग्रहः परपात्रं तत्र संयमविराधनाभयान्न भुञ्जीत तथा परस्य–गृहस्थस्य वस्त्रं परवस्त्रं तत्साधुरचेलोऽपि सन् पश्चात्कर्मादिदोपभयात् हृतनष्टादिदोपसम्भवाच्च न विभृयात्, यदिवा–जिनकल्पिकादिकोऽचेलो भूत्वा सर्वमपि वस्त्रं परवस्त्रमिति कृत्वा न विभृयाद्, तदेतत्सर्वं परपात्रभोजनादिकं संयमविराधकत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥२०॥ तथा–

(टीकार्थ) गृहस्थका पात्र साधुके लिये परपात्र है। उसमें साधु आहार न खावे और जल भी न पीवे, क्योंकि गृहस्थके पात्रमें पहले या पीछे कच्चा पानीसे धोये जाने, चोरी हो जाने एवं हाथसे गिरकर टुट जाने आदिका भय रहता है। अथवा स्थविरकल्पी साधु पात्र रखते हैं क्योंकि उनकी अञ्जलि छिद्रयुक्त होती है इसलिये स्थविरकल्पी मुनिका अञ्जलिरूप पात्र भी परपात्र है अतः उसमें स्थविरकल्पी साधु आहार न खावें और जल न पीवे। अथवा जिनकल्पी आदि मुनि पात्र नहीं रखते है उनकी अञ्जलिही उनका पात्र है उनकी अञ्जलि छिद्ररहित होती है (इसलिये उसमेंसे कोई चीज गिरती नहीं है) अतः जिनकल्पी मुनिके लिये दूसरे पात्र ;परपात्र हैं, उनमें वे संयमकी विराधनाके भयसे आहार न खावें और जल न पीवें। एवं साधु वस्त्ररहित होते हुए भी, पहले या पीछे कच्चे जलसे धोये जाने तथा चोरी हो जाने या फटजाने आदिके भयसे गृहस्थका वस्त्र न पहिनें। अथवा जिनकल्पी मुनि वस्त्ररहित होते हैं उनके सभी वस्त्र परवस्त्र हैं इसलिये वे वस्त्र न पहिनें। इसप्रकार साधु परपात्रमें भोजन आदिको संयमका विराधक समझकर त्याग करें। २०

(मूल) आसंदी पलियंके य, णिसिज्जं च गिहंतरे ।
संपुच्छणं सरणं वा, तं विज्जं परिजाणिया ॥२१॥

(छाया) आसन्दीं, पर्य्यङ्कञ्च, निषद्याञ्च गृहान्तरे ।
संप्रश्नं स्मरणं वापि, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

(अन्वयार्थ) (आसंदी पलियंके य) मँचिया और पलँग । (गिहंतरे णिसिज्जं) तथा गृहस्थके घरके भीतर वैठना. (संपुच्छणं) गृहस्थका कुशल पूछना (सरणं) तथा अपनी पहिली क्रीडाका स्मरण (तं विज्जं परिजाणिया) इनको विद्वान् मुनि संसारभ्रमणका कारण समझकर त्याग करे ।

(भावार्थ) साधु मँचियापर न वैठे और पलँगपर न सोवे एवं गृहस्थके घरके भीतर या दो घरोंके वीचमें जो छोटी गली होती है उसमें न वैठे एवं गृहस्थका कुशल न पूछे तथा अपनी पहिली क्रीडाका स्मरण न करे । इन सभी वातोंको संसारभ्रमणका कारण समझकर त्याग करे ।

(टीका) 'आसन्दी' त्यासनविशेषः, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात्सर्वोऽप्यासनविधिर्गृहीतः, तथा 'पर्यंकः' शयनविशेषः, तथा गृहस्यान्तर्मध्ये गृहयोर्वा मध्ये निषद्यां वाऽऽसनं वा संयमविराधनाभयात्परिहरेत्, तथा चोक्तम्–"गंभीरझुसिरा एते, पाणा दुप्पडिलेहगा । अगुत्ती वंभचेरस्स, इत्थीओ वावि संकणा ॥१॥" इत्यादि, तथा तत्र गृहस्थगृहे कुशलादिप्रच्छनं आत्मीयशरीरावयवप्रच्छ (पुञ्छ)नं वा तथा पूर्वक्रीडितस्मरणं 'विद्वान्' विदितवेद्यः सन्ननर्थायेति ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् ॥२१॥

(टीकार्थ) आसन्दी, आसनविशेषको कहते है । यह उपलक्षण है इसलिये सभी आसनविधियोंका इससे ग्रहण करना चाहिये । तथा शयनविशेष यानी पलँगको पर्य्यङ्क कहते है, तथा गृहस्थके घरके भीतर या दो घरोंके मध्यमें सोना या वैठना, इन सवोंको संयमकी विराधनाके भयसे साधु त्याग देवे । जैसा कि कहा है (गंभीर) अर्थात् मँचिया आदि आसनोंके छिद्र गम्भीर होते हैं इसलिये उनमें जीव प्रत्यक्ष दिखायी नहीं पडते है इसकारण उनका प्रतिलेखन नहीं होसकता है तथा घरके भीतर या दो घरोंके वीचमें वैठनेसे ब्रह्मचर्य्यकी रक्षा नहीं

१ गभीरविजया इति द० अ० ६ गा० ५६ अप्रकाशाश्रया इति वृत्तिः । २ एतानि गम्भीरच्छिद्राणि प्राणा दुष्प्रतिलेख्याः । अगुप्तिर्ब्रह्मचर्यस्य स्त्रियो वापि शंकन ॥१॥

होसकती है एवं स्त्रियोंकी शङ्काभी होती है । एवं गृहस्थके घरका समाचार पूछना अथवा अपने अङ्गोंको पोंछना, तथा पहले भोगे हुए सांसारिक विषयोंको स्मरण करना, येसब अनर्थके लिये है इसलिये वस्तुतत्त्वको जाननेवाला विद्वान् मुनि इन वातोंको ज्ञपरिज्ञासे जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञासे त्याग करे । २१

(मूल) जसं किंत्तिं सलोयं च, जा य वंदणपूयणा ।
सव्वलोयंसि जे कामा, तं विज्जं परिजाणिया ॥२२॥

(छाया) यशः कीर्तिः श्लोकश्च, या च वन्दना पूजना ।
सर्वलोके ये कामा स्तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥

(अन्वयार्थ) (जसं किंत्ति सिलोयं च) यश, कीर्त्ति और श्लोक, (जा य वंदणपूयणा) तथा वन्दन और पूजन (सव्व लोगंसि जे कामा) तथा समस्त लोकमें जो कामभोग है (तं विज्ज परिजाणिया) उन्हें विद्वान् मुनि ससारभ्रमणका कारण जानकर त्याग करे ।

(भावार्थ) यश, कीर्ति, श्लाघा, वन्दन और पूजन तथा समस्त लोकके विषयभोगको संसारभ्रमणका कारण समझकर विद्वान् मुनि त्याग करे ।

(टीका) अपिच बहुसमरसङ्कटनिर्वहणशौर्यलक्षणं यशः दानसाध्या कीर्तिः जातितपोबाहुश्रुत्यादिजनिता श्लाघा, तथा या च सुरासुराधिपतिचक्रवर्तिबलदेव-वासुदेवादिभिर्वन्दना तथा तैरेव सत्कारपूर्विका वस्त्रादिना पूजना, तथा सर्वस्मिन्नपि लोके इच्छामदनरूपा ये केचन कामास्तदेतत्सर्वं यशःकीर्तिं (श्लोकादिक) मपकारितया परिज्ञाय परिहरेदिति ॥२२॥

(टीकार्थ) बडी लडाईमें लडकर विजय प्राप्त करनेसे जो जगत्में शूरताकी प्रसिद्धि होती है वह यश कहलाता है । तथा बहुत दान देनेसे जो प्रसिद्धि होती है वह कीर्त्ति है एवं उत्तम जातिमें जन्म लेने, तप करने, एवं शास्त्र पढनेसे जो जगत्में प्रसिद्धि होती है वह श्लाघा है । तथा देवेन्द्र, असुरेन्द्र, चक्रवर्ती बलदेव और वासुदेव आदि जो नमस्कार करते है वह वन्दना है, तथा वे जो सत्कारके सहित वस्त्र आदि देते है वह पूजा है, तथा समस्त लोकमें जितने कामभोग हैं इन सभी यश कीर्त्ति आदिको दुःखदायी समझकर साधु त्याग करे । २२

(मूल) जेणेहं णिव्वहे भिक्खू, अन्नपाणं तहाविहं।
अणुप्पयाणमन्नेसिं, तं विज्जं परिजाणिया ॥२३॥

(छाया) येनेह निर्वहेद् भिक्षु रन्नपानं तथाविधम् ।
अनुप्रदान मन्येषां, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥

(अन्वयार्थ) (इह) इस जगत् में (जेण) जिस अन्न और जलसे (भिक्खू) साधुका संयम (णिव्वहे) खराब हो जाय (तहाविहं अन्नपानं) वैसा अशुद्ध अन्न और जल (अन्नेसिं अणुप्पदानं) दूसरे साधुको देना (तं विज्जं परिजाणिया) संसार भ्रमणका कारण जानकर विद्वान् मुनि त्याग करे।

(भावार्थ) इस जगत्में जिस अन्न या जलके ग्रहण करनेसे साधुका संयम नष्ट होजाता है वैसा अन्न जल साधु दूसरे साधुको न देवे क्योंकि वह संसारभ्रमणका कारण है अतः विद्वान् मुनि इसका त्याग करे ।

(टीका) किञ्चान्यत्–'येन' अन्नेन पानेन वा तथाविधेनेति सुपरिशुद्धेन कारणापेक्षया त्वशुद्धेन वा 'इह' अस्मिन् लोके इदं संयमयात्रादिकं दुर्भिक्षरोगातङ्कादिकं वा भिक्षुः निर्वहेत् निर्वाहयेद्वा तदन्नं पानं वा 'तथाविधं' द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया 'शुद्धं' कल्पं गृह्णीयात्तथैतेषाम्–अन्नादीनामनुप्रदानमन्यस्मै साधवे संयमयात्रानिर्वहणसमर्थमनुतिष्ठेत्, यदिवा–येन केनचिदनुष्ठितेन 'इमं' संयमं 'निर्वहेत्' निर्वाहयेद् असारतामापादयेत्तथाविधमशनं पानं वाऽन्यद्वा तथाविधमनुष्ठानं न कुर्यात्, तथैतेषामशनादीनाम् 'अनुप्रदानं' गृहस्थानां परतीर्थिकानां स्वयूथ्यानां वा संयमोपघातकं नानुशीलयेदिति, तदेतत्सर्वं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा सम्यक् परिहरेदिति ॥२३॥

(टीकार्थ) जिस शुद्ध अन्न जलसे अथवा कारणकी अपेक्षासे जिस अशुद्ध अन्न जलसे साधु इस जगत्में अपनी संयमयात्रा तथा दुर्भिक्ष और रोग आतङ्कका निर्वाह करता है, वह अन्न जल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे साधु शुद्ध तथा कल्पनीय ग्रहण करे और वह वैसाही अन्न जल संयमका निर्वाह करनेके लिये दूसरे साधुको देवे । अथवा जैसा कार्य्य-करनेसे साधुका संयम खराब होजाता है वैसा अन्नजल अथवा दूसरा कार्य्य साधु न करे । तथा अशुद्ध आहार आदि, जो संयमको नाश करनेवाला है उसे किसी गृहस्थको परतीर्थीको अथवा स्वयूथिकको न देवे । इन बातोंको साधु संयमका विघातक जानकर त्याग करे । २३

(मूल) एवं उदाहु निग्गंथे, महावीरे महामुणी ।
अणंतनाणदंसी से, धम्मं देसितवं सुतं ॥२४॥

(छाया) एवमुदाहृतवान् निग्रन्थो, महावीरो महामुनिः ।
अनन्तज्ञानदर्शनी स, धर्मं देशितवान् श्रुतम् ॥

(अन्वयार्थ) (निग्गंथे महामुणी) निग्रन्थ महामुनि (अनंतणाणदंसी) अनन्तज्ञानी (से महावीरे) उस भगवान् महावीर स्वामीने (एवं उदाहु) ऐसा कहा है (धम्मं सुतं देसितवं) धर्म (चारित्र) और श्रुतको उन्होंने उपदेश किया है ।

(भावार्थ) अनन्त ज्ञान तथा दर्शनसे युक्त एवं बाहर और भीतरकी ग्रन्थिरहित महामुनि भगवान् महावीर स्वामीने इस चारित्र तथा श्रुतरूप धर्मका उपदेश किया है ।

(टीका) यदुपदेशेनैतत्सर्वं कुर्यात्तं दर्शयितुमाह-'एवम्' अनन्तरोक्तया नीत्या उद्देशकादेरारभ्य 'उदाहु'त्ति उदाहृतवानुक्तवान् निर्गतः सबाह्याभ्यन्तरो ग्रन्थो यस्मात्स निर्ग्रन्थो 'महावीर' इति श्रीमद्वर्धमानस्वामी महांश्चासौ मुनिश्च महामुनिः अनन्तं ज्ञानं दर्शनं च यस्यासावनन्तज्ञानदर्शनी स भगवान् 'धर्मं' चारित्र-लक्षणं संसारोत्तारणसमर्थं तथा 'श्रुतं च' जीवादिपदार्थसंसूचकं 'देशितवान्' प्रकाशितवान् ॥२४॥ किञ्चान्यत्-

(टीकार्थ) पहले बताई हुई बातें जिस के उपदेशसे करनी चाहिये उस महापुरुषको दिखानेके लिये शास्त्रकार कहते हैं । बाहरी और भीतरी दोनोंही ग्रन्थि जिनकी नष्ट होगई है तथा अनन्त दर्शनसे जो युक्त हैं ऐसे भगवान् महावीर स्वामीने पूर्वोक्त धर्म जो उद्देशकके आदिसे लेकर कहा गया है उसका उपदेश किया है । उन्हीं भगवान्ने संसारसे पार करनेमें समर्थ चारित्ररूप धर्म तथा जीवादि पदार्थोंका उपदेशक शास्त्र भी कहा है । २४

(मूल) भासमाणो न भासेज्जा, णेव वंफेज्ज मम्मयं ।
मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा, अणुचिंतिय वियागरे ॥२५॥

(छाया) भाषमाणो न भाषेत, नैवाभिलपेन्मर्मगम् ।
मातृस्थानं विवर्जयेद्, अनुचिन्त्य व्यागृणीयात् ॥

(अन्वयार्थ) (भासमाणो न भासेज्जा) भाषासमितिसे सम्पन्न साधु भाषण करता हुआ भी भाषण नहीं करता है। (मम्मय णेव) साधु किसीके हृदयको चोट पहुंचानेवाली बात न बोले। (मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा) साधु कपटभरी भाषा न बोले। (अणुचितिय वियागरे) किन्तु सोच विचार कर बोले।

(भावार्थ) जो साधु भषासमितिसे युक्त है वह धर्मका उपदेश करता हुआ भी न बोलनेवालेके समान ही है। जिससे किसीको दुःख हो ऐसा वाक्य साधु न बोले। साधु कपटभरी बात न बोले किन्तु सोच विचार कर कुछ बोले।

(टीका) यो हि भाषासमितः स भाषमाणोऽपि धर्मकथासम्बन्धमभाषक एव स्यात्, उक्तं च—"[1]वयणविहत्तीकुसलोवओगयं वहुविहं वियाणंतो। दिवसंपि भासमाणो साहू वयगुत्तयं पत्तो ॥१॥" यदिवा—यत्रान्यः कश्चिद्रत्नाधिको भाषमाणस्तत्रान्तर एव सश्रुतिकोऽहमित्येवमभिमानवान्न भाषेत, तथा मर्म गच्छतीति मर्मगं वचो न 'वंफेज्ज'त्ति नाभिलषेत्, यद्वचनमुच्यमानं तथ्यमतथ्यं वा सद्यस्य कस्यचिन्मनः पीडामाधत्ते तद्विवेकी न भाषेतेति भावः, यदिवा 'मामकं' ममीकारः पक्षपातस्तं भाषमाणोऽन्यदा वा 'न [2]वंफेज्जत्ति' नाभिलषेत्, तथा 'मातृस्थानं' मायाप्रधानं वचो विवर्जयेत्, इदमुक्तं भवति—परवञ्चनवुद्ध्या गूढाचारप्रधानो भाषमाणोऽभाषमाणो वाऽ[3]न्यदा वा मातृस्थानं न कुर्यादिति, यदा तु वक्तुकामो भवति तदा नैतद्वचः परात्मनोरुभयोर्वा वाधकमित्येवं प्राग्विचिन्त्य वचनमुदाहरेत्, तदुक्तम्—"[4]पुव्विं वुद्धीएँ पेहित्ता, पच्छा वक्कमुदाहरे" इत्यादि ॥२५॥

(टीकार्थ) जो साधु भाषासमितिसे युक्त है वह धर्मकथाका उपदेश करता हुआ भी नहीं भाषण करनेवालेके समानही है। जैसाकि कहा है (वयणविभत्ती) जो साधु वचनके विभागको जाननेमें निपुण है तथा वाणीके विषयका वहुत भेद जानता है वह दिनभर वोलता हुआ भी वचनगुप्तिसे युक्तही है। अथवा जहाँ कोई रत्नवान् मनुष्य कुछ वोल रहा हो उसके मध्यमेंही "मैं वडा विद्वान् हूं" इस अभिमानसे युक्त होकर साधु न वोले। तथा मर्मको पीडित करनेवाला वचन साधु न वोले। आशय यह है कि झूठ हो या सत्य हो, जिस वचनके कहनेसे किसीके मनमें पीडा उत्पन्न हो ऐसा वचन विवेकी पुरुष न कहे। अथवा साधु भाषण करता हुआ या

१ वचनविभक्तिकुशलो वचोगतं वहुविधं विजानन्। दिवसमपि भाषमाणः साधुर्वचनगुप्तिसम्प्राप्तः ॥१॥ २ तहावि द० ब० नि०। ३ न्यदा वा प्र०। ४ पूर्वं वुध्या प्रेक्षयित्वा पश्चाद् वाक्यमुदाहरेत्।

अन्य समयमें पक्षपात पूर्ण वचन न कहे। एवं साधु मायाप्रधान वचन न बोले। आशय यह है कि साधु दूसरेको ठगनेके लिये छिपा हुआ आचार करनेवाला न बने वह बोलते समय अथवा दूसरे समय माया (कपट) न करे। जब साधु बोलना चाहे तब वह पहले यह सोचलेवेकि "यह वचन अपना या दूसरेका अथवा दोनोंका दुःखजनक तो नहीं है?" पश्चात् वचन बोले। अतएव कहा है कि (पुव्विं) अर्थात् साधु पहले बुद्धिसे सोचलेवे पीछे वचन बोले। २५

(मूल) तत्थिमा तइया भासा जं वदित्ताऽणुतप्पती।
जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा णियंठिया ॥२६॥

(छाया) तत्रेयं तृतीया भाषा यामुक्त्वाऽनुतप्यते।
यत् छन्नं तन्नवक्तव्यम् एषाऽऽज्ञा नैर्ग्रन्थिकी ॥

(अन्वयार्थः) (तत्थिमा तइया भासा) चार प्रकारकी भाषाओंमें जो तृतीयभाषा है अर्थात् जो झूठसे मिला हुआ सत्य है वह साधु न बोले। तथा (जं वदित्ताऽणुतप्पती) जिस वचनको बोलकर पश्चात्ताप करना पड़ता है वह वचन भी न बोले। (जं छन्नं तं न वत्तव्वं) जिस बातको सब लोग छिपाते हैं वह भी साधु न कहे (एसा णियंठिया आणा) यही निग्रन्थकी आज्ञा है।

(भावार्थ) भाषायें चार प्रकारकी हैं उनमें झूठसे मिली हुई भाषा तीसरी है, वह साधु न बोले। तथा जिस वचनके कहनेसे पश्चात्ताप करना पड़े ऐसा वचन भी साधु न कहे। एवं जिस बातको सब लोग छिपाते हैं वह भी साधु न कहे यही निर्ग्रन्थ भगवान् की आज्ञा है।

(टीका) अपिच-सत्या असत्या सत्यामृषा असत्यामृषेत्येवंरूपासु चतसृषु भाषासु मध्ये तत्रेयं सत्यामृषेत्येतदभिधाना तृतीया भाषा, सा च किञ्चिन्मृषा किञ्चित्सत्या इत्येवंरूपा, तद्यथा-दश दारका अस्मिन्नगरे जाता मृता वा, तदत्र न्यूनाधिकसम्भवे सति सङ्ख्याया व्यभिचारात्सत्यामृषात्वमिति, यां चैवंरूपां भाषामुदित्वा अनु-पश्चाद्भाषणाज्जन्मान्तरे वा तज्जनितेन दोषेण 'तप्यते' पीड्यते क्लेशभाग्भवति, यदिवा-अनुतप्यते किं ममैवम्भूतेन भाषितेनेत्येवं पश्चात्तापं विधत्ते, ततश्चेदमुक्तं भवति-मिश्रापि भाषा दोषाय किं पुनरसत्या द्वितीया भाषा समस्तार्थविसंवादिनी?, तथा प्रथमापि भाषा सत्या या प्राण्युपतापेन दोषानुषङ्गिणी सा न वाच्या, चतुर्थ्यप्यसत्यामृषा भाषा या बुधैरनाचीर्णा सा न वक्तव्येति, सत्याया अपि दोषानुषङ्गित्वमधिकृत्याह-यद्वचः 'छन्न'ति 'क्षणु हिंसायां' हिंसाप्रधानं, तद्यथा-वध्यतां चौरोऽयं लूयन्तां केदाराः दम्यन्तां गोरथका इत्यादि,

यदिवा-'छन्न'न्ति' प्रच्छन्नं यल्लोकैरपि यत्नतः प्रच्छाद्यते तत्सत्यमपि न वक्तव्यमिति, 'एषाऽऽज्ञा' अयमुपदेशो निर्ग्रन्थो-भगवांस्तस्येति ॥२६॥

(टीकार्थ) भाषा चार प्रकारकी होती है (१) सत्या (२) असत्या (३) सत्यामृषा (४) असत्यामृषा। इन चार भाषाओंमें सत्यामृषा, नामवाली भाषा तीसरी है। वह भाषा कुछ झूठी है और कुछ सच्ची है, जैसेकि किसीने अन्दाजसे यह कहा कि "इस ग्राममें दश लड़के उत्पन्न हुए है या मरे है" यहां दशसे कम अथवा अधिक बालकोंकी उत्पत्ति तथा मृत्यु भी सम्भव है इसलिये संख्यामें फर्क होनेके कारण यह वचन सत्य और मिथ्या दोनोही है। तथा जिस वचनको कहकर दूसरे जन्ममें जीव दुःखका पात्र होता है अथवा उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है कि "मैने ऐसी बात क्यों कह दी" वह वचन भी साधु न बोले। आशय यह है कि झूठसे मिली हुई तीसरी भाषा भी दोष उत्पन्न करती है फिर समस्त अर्थको विपरीत बतानेवाली दूसरी असत्य भाषाकी तो बात ही क्या है ?। तथा पहिली भाषा यद्यपि सर्वथा सत्य है तथापि उससे यदि प्राणियोंको पीडा उत्पन्न होती हो तो वह भी दोष उत्पन्न करनेवाली है इसलिये साधुको न बोलनी चाहिये। एवं चौथी भाषा जो सत्य भी नहीं और मिथ्या भी नहीं है वह भी विद्वानोंके द्वारा सेवित नहीं है इसलिये न बोलनी चाहिये कोई कोई सत्य वाणी भी दोष उत्पन्न करती है यह शास्त्रकार बताते है जिस वचनमें हिंसा प्रधान है, जैसेकि इसका वध करो, यह चोर है, तथा क्यारीको काटो, रथके इन बैलोंको दमन करो इत्यादि। जिस बातको लोग यत्नपूर्वक छिपाते है वह सत्य हो तो भी नहीं कहना चाहिये। यह भगवान् निर्ग्रन्थका उपदेश है। २६

(मूल) होलावायं, सहीवायं, गोयावायं च नो वदे।
तुमं तुमंति अमणुन्नं, सव्वसो तं ण वत्तए ॥२७॥

(छाया) होलावादं सखिवादं, गोत्रवादञ्च नो वदेत्।
त्वं त्वमित्यमनोज्ञं सर्वशः स्तन्न वर्तते।

(अन्वयार्थः) (होलावायं) निष्ठुर तथा नीच सम्बोधनसे किसीको पुकारना (सहीवायं) हे मित्र! ऐसा किसीको कहना (गोयावाय) हे काश्यप गोत्रिन् हे वशिष्ठ गोत्रिन् इत्यादि रूपसे गोत्रका नाम लेकर सम्बोधन करना (तुमं तुमंति अमणुन्नं) तथा अपनेसे बडेको 'तूं' कहना तथा जो वचन दूसरेको अप्रिय लगे (तं सव्वओ ण वत्तए) वह वचन कहना, ये सब सर्वथा साधु न कहे।

(भावार्थ) साधु निष्टुर तथा नीच सम्बोधनसे किसीको न बुलावे, तथा किसीको "हे मित्र!" कहकर न बोले एवं हे वशिष्ट गोत्रवाले हे काश्यप गोत्रवाले! इत्यादि रूपसे खुशा-

मदके लिए गोत्रका नाम लेकर किसीको न बुलावे । तथा अपनेसे बडेको 'तूँ' कहकर न बुलावे एवं जो वचन दूसरेको बुरा लगे वह, साधु सर्वथा न बोले ।

(टीका) किञ्च-होलेत्येवं वादो होलावादः, तथा सखेत्येवं वादः सखिवादः, तथा गोत्रोद्घाटनेन वादो गोत्रवादो यथा काश्यपसगोत्र वशिष्ठसगोत्र वेति, इत्येवंरूपं वादं साधुर्नो वदेत्, तथा 'तुयं तुमं'ति तिरस्कारप्रधानमेकवचनान्तं बहुवचनोच्चारणयोग्ये 'अमनोज्ञं' मनःप्रतिकूलरूपमन्यदप्येवम्भूतमपमानापादकं 'सर्वशः' सर्वथा तत्साधूनां वक्तुं न वर्तत इति ॥२७॥

(टीकार्थ) निष्ठुरता पूर्वक नीच सम्बोधनसे किसीको अपने पास बुलाना 'होलावाद' कहलाता है तथा हे मित्र ! ऐसा कहना 'सखिवाद' है तथा गोत्रका नाम लेकर (खुशामदके लिए) गोत्रवाद है जैसेकि हे वशिष्टगोत्र ! हे काश्यप गोत्र ! इत्यादि, इस प्रकार वचन साधु न बोले । तथा बहुवचन उच्चारण करने योग्य श्रेष्ठ पुरुषके लिये तिरस्कारवाला 'तूं' यह एक वचन शब्द न कहे । एवं दूसरेको अपमान उत्पन्न करनेवाला जो वाक्य सुननेमें बुरा लगता है वह भी साधु सर्वथा न बोले । २७

(मूल) अकुसीले सया भिक्खू, णेव संसग्गियं भए ।
सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा, पडिबुज्झेज्ज ते विऊ ॥२८॥

(छाया) अकुशीलः सदा भिक्षु नैव संसर्गितां भजेत् ।
सुखरूपा स्तत्रोपसर्गाः, प्रतिबुध्येत तद्विद्वान् ॥

(अन्वयार्थ) (भिक्खू सया अकुसीले) साधु स्वय कुशील न बने किन्तु सदा अकुशील बनकर रहे । (णेव संसग्गिय भए) तथा वह कुशील यानी दुराचारियोंकी सङ्गति भी न करे । (सुहरूवा तत्थुवसग्गा) क्योंकि कुशीलोंकी सगतिमें सुखरूप उपसर्ग रहता है (विऊ ते बुज्झेज्ज) अतः विद्वान् पुरुष उसे समझे ।

(भावार्थ) साधु स्वयं कुशील न बने और कुशीलोंके साथ सङ्गति भी न करे क्योंकि कुशीलोंकी सङ्गतिमें सुखरूप उपसर्ग वर्तमान रहता है यह विद्वान् पुरुष जाने ।

(टीका) यदाश्रित्योक्तं निर्युक्तिकारेण तद्यथा-"पासत्थोसण्णकुसील संथवो ण किल वट्टए काउं" तदिदमित्याह-कुत्सितं शीलमस्येति कुशीलः स च

पार्श्वस्थादीनामन्यतमः न कुशीलोऽकुशीलः 'सदा' सर्वकालं भिक्षणशीलो भिक्षुः कुशीलो न भवेत्, न चापि कुशीलैः सार्धं 'संसर्गं' साङ्गत्यं 'भजेत' सेवेत, तत्संसर्गदोषोद्विभावयिषयाऽऽह–'सुखरूपाः' सातगौरवस्वभावाः 'तत्र' तस्मिन् कुशीलसंसर्गे संयमोपघातकारिणि उपसर्गाः प्रादुष्ष्यन्ति, तथाहि–ते कुशीला वक्तारो भवन्ति–कः किल प्रासुकोदकेन हस्तपाददन्तादिके प्रक्षाल्यमाने दोषः स्यात्?, तथा नाशरीरो धर्मो भवति इत्यतो येन केनचित्प्रकारेणाधाकर्मसान्निध्यादिना तथा उपानच्छत्रादिना च शरीरं धर्माधारं वर्तयेत्, उक्तं च–"अप्पेण[1] बहुमेसेज्जा, एयं पंडियलक्खणं" इति, तथा "शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः। शरीरात् स्रवते धर्मः, पर्वतात्सलिलं यथा ॥१॥" तथा साम्प्रतमल्पानि संहननानि अल्पधृतयश्च संयमे जन्तव इत्येवमादि कुशीलोक्तं श्रुत्वा अल्पसत्त्वास्तत्रानुषजन्तीति 'विद्वान्' विवेकी 'प्रतिबुध्येत' जानीयात् बुद्ध्वा चापायरूपं कुशीलसंसर्गं परिहरेदिति ॥२८॥ किञ्चान्यत्–

(टीकार्थ) पहले जो निर्युक्तिकारने कहा है कि पार्श्वस्थ, अवसन्न और कुशीलके साथ परिचय कभी भी साधुको न करना चाहिये सो शास्त्रकार बतला रहे है जिसका आचरण बुरा है उसे कुशील कहते है वह पार्श्वस्थ आदिमें कोई भी है। जो कुशील नहीं है उसे अकुशील कहते हैं। भिक्षावृत्तिसे जीवननिर्वाह करनेवाला साधु स्वयं कुशील न बने और कुशीलोंके साथ सङ्गति भी न करे। कुशीलोंके संसर्गसे दोष उत्पन्न होता है यह शास्त्रकार बतलाते है कुशीलोंके संसर्गसे संयमको नष्ट करनेवाला सुखभोगकी इच्छारूप उपसर्ग उत्पन्न होता है। क्योंकि कुशील पुरुष कहते है कि "प्रासुक जलसे हाथ पैर और दाँत आदिको धोनेमें क्या दोष है? तथा शरीरके विना धर्म नही होता है इसलिये आधाकर्मी आहार खाकर भी तथा जूता और छत्ता धारणकर भी जिस किसी प्रकार धर्मके आधाररूप इस शरीरकी रक्षा करनी चाहिये।" कहा है कि (अप्पेण) अर्थात् अल्प दोषसे यदि ज्यादा लाभ मिलता हो तो उसे लेना चाहिये यही विद्वान्का लक्षण है। तथा शरीर धर्मके सहित है अतः यत्नके साथ उसकी रक्षा करनी चाहिये। जैसे पर्वतसे पानी निकलता है इसी तरह शरीरसे धर्म उत्पन्न होता है। तथा कुशील पुरुष कहता है कि आजकल अल्प संहनन है और संयममें थोडी धीरता रखनेवाले जीव है" इत्यादि कुशील पुरुषका कहना सुनकर अल्प पराक्रमी जीव, उसमें आसक्त हो जाते है अतः विवेकी पुरुष, इसे जानकर नाशरूप कुशीलसंसर्गको छोडदेवे। २८

१ अल्पेन बहु एषयेत्, एतत् पण्डितलक्षणं। २ पापं प्र०।

(मूल) नन्नत्थ अंतराएणं, परगेहे ण णिसीयए।
गामकुमारियं किड्डं, नातिवेलं हसे मुणी ॥२९॥

(छाया) नान्यत्रान्तरायेण परगेहे न निषीदेत्।
ग्रामकुमारिकां क्रीडां, नातिवेलं हसेन्मुनिः ॥

(अन्वयार्थ) [illegible] न बैठे। (ग्रामकुमारिकां क्रीडां) [illegible] तथा साधु मर्यादाका उल्लंघन न करे।

(भावार्थ) [illegible] है।

(टीका) तत्र साधुर्भिक्षादिनिमित्तं ग्रामादौ प्रविष्टः सन् परो—गृहस्थस्तस्य गृहं परगृहं तत्र 'न निषीदेत्' नोपविशेत् उत्सर्गतः, अपवादमाह सूत्रकारः—नान्यत्र 'अन्तरायेणे'ति अन्तरायः अशक्तता, स च जरसा रोगातङ्काभ्यां, स्यात्, तस्मिन्नन्तराये सत्युपविशेत् यदि वा उपशमलब्धिमान् कश्चिद्भिक्षुस्तथा गुरुणानुज्ञातः कस्यचित्तथाविधस्य धर्मदेशनानिमित्तमुपविशेदपि, तथा ग्रामे कुमारका ग्रामकुमारास्तेषामियं ग्रामकुमारिका काऽसौ? 'क्रीडा' हास्यकन्दर्पहस्तसंस्पर्शनालिङ्गनादिका यदि वा वृत्तकन्दुकादिका तां मुनिर्न कुर्यात्, तथा वेला—मर्यादा तामतिक्रान्तमतिवेलं न हसेत्, मर्यादातिक्रान्त 'मुनिः' साधुः ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मबन्धनभयान्न हसेत्, तथा चागमः—"[1]जीवे णं भंते! हसमाणे (वा) उस्सूयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बंधइ?, गोयमा!, सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा" इत्यादि ॥२९॥

(टीकार्थ) भिक्षा आदिके लिये ग्राम आदिमें प्रवेश किया हुआ साधु गृहस्थके घरमें न बैठे। यह उत्सर्ग है अब शास्त्रकार इसका अपवाद बताते हैं [illegible] कहते हैं, वह वृद्धता तथा रोगसे होता है अतः ऐसे अन्तरायके होनेपर बैठे तो कोई दोष नहीं है। अथवा कोई साधु उपशमलब्धिमान् हो और उसका [illegible] हो तथा गुरुने उसे आज्ञा दी हो और किसीको धर्मोपदेश देना आवश्यक हो तो वह गृहस्थके घरमें बैठे तो कोई

1 जीवो भदन्त! हसन् उत्सुकायमानो वा कतीः कर्मप्रकृतीर्बध्नाति, गौतम! सप्तविधबन्धको वाऽष्टविधबन्धको वा।

दोष नहीं है। तथा ग्राममें रहनेवाले कुमारोंकी क्रीडाको 'ग्रामकुमारिका' कहते हैं वह काम उत्पादक हास्य करना, हाथका स्पर्श करना तथा आलिङ्गन आदि करना है वह साधु न करे। तथा ग्रामके लडके जो गुली डंडा या गेंद आदि खेलते है वह 'ग्रामकुमारिका' है साधु वह खेल न न खेले। तथा आठ प्रकारके कर्मोंके बन्धन के भयसे साधु मर्य्यादा को छोड़कर न हँसे। अत एव आगम कहता है कि—"हे भगवन्! हँसता हुआ अथवा उत्सुक होता हुआ जीव कितनी कर्म प्रकृत्तियोंको बाँधता है? उत्तर—हे गोतम! सात या आठ कर्म प्रकृत्तियोंको बाँधता है ॥२९॥

(मूल) अणुस्सओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥३०॥

(छाया) अनुत्सुक उदारेषु, यतमानः परिव्रजेत्।
चर्य्यायामप्रमत्तः, स्पृष्ट स्तत्राधिपहेत् ॥

(अन्वयार्थः) (उरालेसु) मनोहर शब्दादि विषयों में साधु (अणुस्सुओ) उत्कण्ठित न हो (जयमाणो परिव्वए) तथा यत्नपूर्वक संयम पालन करे। (चरियाए अप्पमत्तो) तथा भिक्षाचरी आदिमें प्रमाद न करे (पुट्ठो तत्थाऽहियासए) एवं परीषह और उपसर्गोंसे पीडित होता हुआ सहन करे।

(भावार्थ) साधु मनोहर शब्दादि विषयोंमें उत्कण्ठित न हो किन्तु यत्नपूर्वक संयम पालन करे तथा भिक्षाचरी आदिमें प्रमाद न करे एवं परीषह और उपसर्गोंकी पीडा होनेपर सहन करे।

(टीका) किञ्च—'उराला' उदाराः शोभना मनोज्ञा ये चक्रवर्त्यादीनां शब्दादिषु विषयेषु कामभोगा वस्त्राभरणगीतगन्धर्वयानवाहनादयस्तथा आज्ञैश्वर्यादयश्च एतेषूदारेषु दृष्टेषु श्रुतेषु वा नोत्सुकः स्यात्, पाठान्तरं वा न निश्रितोऽनिश्रितः—अप्रतिबद्धः स्यात्, यतमानश्च—संयमानुष्ठाने परि—समन्तान्मूलोत्तरगुणेषु उद्यमं कुर्वन् 'व्रजेत्' संयमं गच्छेत् तथा 'चर्यायां' भिक्षादिकायाम् 'अप्रमत्तः स्यात्' नाहारादिषु रसगार्ध्यं विदध्यादिति, तथा 'स्पृष्टश्च' अभिद्रुतश्च परीषहोपसर्गैस्तत्रादीनमनस्कः कर्मनिर्जरां मन्यमानो 'विषहेत्' सम्यक् सह्यादिति ॥३०॥

(टीकार्थ) मनको हरण करनेवाले सुन्दर शब्दादि विषयोंको उदार कहते है। शब्दादि विषयोंमें चक्रवर्ती आदिके कामभोग तथा उनके वस्त्र, भूषण, गीत, गन्धर्व, यान,

और वाहन आदि एवं आज्ञा और ऐश्वर्य आदि उदार (मनोहर) हैं। इनको देख या सुनकर साधु इनमें उत्कण्ठित न हो। अथवा पाठान्तरके अनुसार साधु अप्रतिबद्ध होकर रहे। साधु मूलगुण और उत्तर गुणोंमें उद्यमशील होता हुआ यत्नपूर्वक संयम पालन करे। वह भिक्षा-चर्यामें प्रमाद न करे, वह आहार आदिमें गृद्ध न हो। परीषह और उपसर्गों से पीडित होता हुआ साधु दीन न बने किन्तु कर्मकी निर्जरा होती हुई जानकर अच्छी तरह सहन करे ॥३०॥

(मूल) हम्ममाणो ण कुप्पेज्ज, वुच्चमाणो न संजले।
सुमणे अहियासिज्जा, ण य कोलाहलं करे ॥३१॥

(छाया) हन्यमानो न कुप्येत्, उच्यमानो न संज्वलेत्।
सुमना अधिषहेत, न च कोलाहलं कुर्यात् ॥

(अन्वयार्थः) (हम्ममाणो ण कुप्पेज्ज) लाठी आदिसे मारा जाताहुआ साधु क्रोध न करे। (वुच्चमाणो न संजले) तथा किसीके गाली आदि देनेपर साधु मनमें न जले। (सुमणे अहियासिज्जा) किन्तु प्रसन्नताके साथ इनको सहन करे (णय कोलाहलं करे। हल्ला न करे।

(भावार्थ) साधुको यदि कोई लाठी आदिसे मारे या गाली देवे तो साधु प्रसन्नता के साथ सहन करता रहे परन्तु विपरीत वचन न बोले और हल्ला न करे।

(टीका) परीषहोपसर्गाधिसहनमेवाधिकृत्याह—'हन्यमानो' यष्टिमुष्टिल-कुटादिभिरपि हतश्च 'न कुप्येत्' न कोपवशगो भवेत्, तथा दुर्वचनानि 'उच्यमानः' आक्रुश्यमानो निर्भर्त्स्यमानो 'न संज्वलेत्' न प्रतीपं वदेत्, न मनागपि मनोऽन्यथात्वं विदध्यात्, किंतु सुमनाः सर्वं कोलाहलमकुर्वन्नधिसहेतेति ॥३१॥

(टीकार्थ) अब शास्त्रकार परीषह और उपसर्गोंके सहन के विषयमें उपदेश करते है—साधुको यदि कोई लाठी मुक्का और डंडा आदिसे ताड़न करे तो साधु क्रोध न करे तथा यदि कोई साधुको दुर्वचन कहे, गाली दे या तिरस्कार करे तो साधु प्रतिकूल वचन न बोले एवं अपने मनमें दुर्विचार न करे किन्तु शान्त मन होकर हल्ला न करता हुआ सहन करे। ३१

(मूल) लद्धे कामे ण पत्थेज्जा, विवेगे एवमाहिए[1]।
आयरियाइं सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया ॥३२॥

---

१ एसमाहिए प्र०।

(छाया) लब्धान् कामान् न प्रार्थयेत्, विवेक एव माख्यातः ।
आर्य्याणि शिक्षेत, बुद्धानामन्तिके सदा ।

(अन्वयार्थः) (लद्धे कामे ण पत्थेज्जा) मिले हुए कामभोग की साधु इच्छा न करे। एवं विवेगे आहिए) ऐसा करने पर विवेक प्रकट हो गया है यह कहा जाता है। (सया बुद्धाणं अंतिए) ऐसा करता हुआ साधु ज्ञानियोंके पास सदा (आयरियाइ सिक्खेज्जा) आर्य्यकर्म सीखे।

(भावार्थ) साधु मिले हुए कामभोगोंकी भी इच्छा न करे। ऐसा करनेपर निर्मल विवेक साधुको उत्पन्न हो गया है यह कहा जाता है। साधु उक्त रीतिसे रहता हुआ सदा आचार्यके पास रहकर ज्ञान दर्शन और चारित्र की शिक्षा ग्रहण करता रहे।

(टीका) किञ्चान्यत्—'लब्धान्' प्राप्तानपि 'कामान्' इच्छामदनरूपान् गन्धालङ्कारवस्त्रादिरूपान्वा वैरस्वामिवत् 'न प्रार्थयेत्' नानुमन्येत न गृह्णीयादित्यर्थः, यदिवा—यत्रकामावसायितया गमनादिलब्धिरूपान् कामांस्तपोविशेपलब्धानपि नोपजीव्यात्, नाप्यनागतान् ब्रह्मदत्तवत्प्रार्थयेद्, एवं च कुर्वतो भावविवेकः 'आख्यात' आविर्भावितो भवति, तथा 'आचर्याणि' आर्याणां कर्तव्यानि अनार्य-कर्तव्यपरिहारेण यदिवा आचर्याणि—मुमुक्षुणा यान्याचरणीयानि ज्ञानदर्शनचारित्राणि तानि 'बुद्धानाम्' आचार्याणाम् 'अन्तिके' समीपे 'सदा' सर्वकालं 'शिक्षेत' अभ्यस्येदिति, अनेन हि शीलवता नित्यं गुरुकुलवास आसेवनीय इत्यावेदितं भव-तीति ॥३२॥ यदुक्तं बुद्धानामन्तिके शिक्षेत्तत्स्वरूपनिरूपणायाह—

(टीकार्थ) साधु मिले हुए भी इच्छा मदनरूप कामभोगोंको अथवा गन्ध अलङ्कार और वस्त्र आदिको वैरस्वामी के समान ग्रहण न करे। अथवा विशिष्ट तपके प्रभावसे उत्पन्न गमनादि लब्धि रूप कामभोगोंको साधु उपयोग न करे। उक्त लब्धिके द्वारा साधु जहां चाहे वहां जाकर विपय भोग प्राप्त कर सकता है परन्तु उसका उपयोग न करे। तथा जो विपय प्राप्त नहीं है उसकी भी (पूर्वभवमें) ब्रह्मदत्त के समान प्रार्थना न करे। ऐसा करनेसे भाव विवेक प्रकट होता है। तथा साधु सदा अनार्य्य कर्मोंको छोड़कर आर्य्य कर्त्तव्य का अनुष्ठान करे। अथवा मोक्षप्राप्ति की इच्छा करनेवाले पुरुपोंके द्वारा आचरण करने योग्य जो ज्ञान दर्शन और चारित्र हैं उनका आचार्यके पास रहकर सदा अभ्यास करे। इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि शीलवान् पुरुपको सदा गुरुकुलमें निवास करना चाहिये। ३२

(मूल) सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पन्नं सुतवस्सियं।
वीरा जे अत्तपन्नेसी, धितिमन्ता जिइंदिया ॥३३॥

(छाया) शुश्रूषमाण उपासीत, सुप्रज्ञं सुतपस्विनम्।
वीरा ये आप्तप्रज्ञैषिणः, धृतिमन्तो जितेन्द्रियाः॥

(अन्वयार्थः) सुपन्नं सुतवस्सियं) अपने और दूसरेके सिद्धान्तोंको जाननेवाले उत्तम तपस्वी गुरुकी (सुस्सूसमाणो उवासेज्जा) शुश्रूषा करता हुआ साधु उपासना करे। (जे वीरा) जो पुरुष कर्मको विदारण करने में समर्थ हैं (अत्तपन्नेसी) तथा रागद्वेष रहित पुरुष की जो केवलज्ञानरूप प्रज्ञा है उसका अन्वेषण करनेवाले हैं (धितिमन्ता) एवं जो धृतिसे युक्त (जिइंदिया) और जितेन्द्रिय हैं (वेही पुरुष पूर्वोक्त कार्य्यको करते हैं।)

(भावार्थ) जो स्वसमय और परसमयको जाननेवाले तथा उत्तम तपस्वी हैं ऐसे गुरुकी शुश्रूषा करता हुआ साधु उपासना करे। जो पुरुष कर्मको विदारण करने में समर्थ तथा केवलज्ञानको ढूँढनेवाले, धृतिमान् और जितेन्द्रिय हैं वेही ऐसा कार्य करते हैं।

(टीका) गुरोरादेशं प्रति श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा गुर्वादेर्वैयावृत्त्यमित्यर्थः तां कुर्वाणो गुरुम् 'उपासीत' सेवेत, तस्यैव प्रधानगुणद्वयद्वारेण विशेषणमाह—सुष्ठु शोभना वा प्रज्ञाऽस्येति सुप्रज्ञः—स्वसमयपरसमयवेदी गीतार्थ इत्यर्थः, तथा सुष्ठु शोभनं वा सबाह्याभ्यन्तरं तपोऽस्यास्तीति सुतपस्वी, तमेवम्भूतं ज्ञानिनं सम्यक्-चारित्रवन्तं गुरुं परलोकार्थी सेवेत, तथा चोक्तम्—"नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य। धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥१॥" य एवं कुर्वन्ति तान् दर्शयति—यदिवा के ज्ञानिनस्तपस्विनो वेत्याह—'वीराः' कर्मविदारणसहिष्णवो धीरा वा परीषहोपसर्गाक्षोभ्याः, धिया बुद्ध्या राजन्तीति वा धीरा ये केचनासन्न-सिद्धिगमनाः, आप्तो—रागादिविप्रमुक्तस्तस्य प्रज्ञा—केवलज्ञानाख्या तामन्वेष्टुं शीलं येषां ते आप्तप्रज्ञान्वेषिणः सर्वज्ञोक्तान्वेषिण इतियावत्, यदिवा—आत्मप्रज्ञान्वेषिण आत्मनः प्रज्ञा—ज्ञानमात्मप्रज्ञा तदन्वेषिणः आत्मज्ञत्वा(प्रज्ञा)न्वेषिण आत्महितान्वे-षिण इत्यर्थः, तथा धृतिः—संयमे रतिः सा विद्यते येषां ते धृतिमन्तः, संयमधृत्या हि पञ्चमहाव्रतभारोद्वहनं सुसाध्यं भवतीति, तपःसाध्या च सुगतिर्हस्तप्राप्तेति, तदुक्तम्—

१ ज्ञानस्य भवति भागी स्थिरतरो दर्शने चारित्रे च। धन्या यावत्कथं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्ति ॥१॥

"[२]जस्स धिई तस्स तवो जस्स तवो तस्स सुग्गई सुलहा। जे अधिइमंत पुरिसा तवोऽवि खलु दुल्लहो तेसिं ॥१॥" तथा जितानि-वशीकृतानि स्वविषयरागद्वेष-विजयेनेन्द्रियाणि-स्पर्शनादीनि यैस्ते जितेन्द्रियाः, शुश्रूषमाणाः शिष्या गुरवो वा शुश्रूषमाणा यथोक्तविशेषणविशिष्टा भवन्तीत्यर्थः ॥३३॥

(टीकार्थ) गुरुके आदेशको सुननेकी इच्छा अर्थात् गुरु आदिका व्यावच करना "शुश्रूषा" कहलाती है उसे करता हुआ मुनि, गुरु की सेवा करे। अब शास्त्रकार उस गुरुके प्रधान दो गुणों को बताते हुए विशेषण कहते है जिसकी प्रज्ञा शोभन है अर्थात् जो स्वसमय और परसमयको जाननेवाला गीतार्थ साधु है उसको 'सुप्रज्ञ' कहते है तथा जो बाहर और भीतर तप करनेवाला है उसे 'सुतपस्वी' कहते हैं ऐसे ज्ञानी और सम्यक् चारित्रवाले गुरुकी परलोकार्थी पुरुष सेवा करे। जैसाकि कहा है-(नागस्स) अर्थात् गुरुकी सेवा करनेसे पुरुष ज्ञानका भाजन होता है तथा दर्शन और चारित्रमें अत्यन्त स्थिर होता है इस लिये भाग्यशाली पुरुष मरण पर्य्यन्त गुरुकुल में निवास छोड़ते नहीं है। जो पुरुष इस कार्य्यको करते है उन्हें शास्त्रकार दिखाते है ? जो पुरुष कर्मको विदारण करनेमें समर्थ है तथा परीषह और उपसर्गोंसे क्षोभको प्राप्त नहीं होते है एवं जो अच्छी बुद्धिसे शोभा पानेवाले निकट भविष्यमें मोक्ष जानेवाले धीर हैं तथा जो रागद्वेष रहित सर्वज्ञ पुरुषकी केवल ज्ञानरूप प्रज्ञाको ढूँढनेवाले अर्थात् सर्वज्ञोक्त वचन का अन्वेषण करनेवाले है, यद्वा जो पुरुष आत्मज्ञान अथवा आत्म कल्याणको ढूँढनेवाले है, तथा जिस पुरुषमें संयममें रतिरूप धीरता विद्यमान है, क्योंकि संयममें धीरता होनेसे ही पाँच महाव्रतरूपी भारका वहन सुसाध्य होता है, तथा तपसे सुगति हाथमें मिली हुईसी होती है, जैसा कि कहा है-(जस्स) अर्थात् जिसमें धृति है उसीको तप होता है और जिसको तप है उसीको सुगति सुलभ है जो पुरुष धृतिसे हीन है उसको तप दुर्लभ है। एवं इन्द्रियोंके विषयोंमें रागद्वेष जीत कर जिनने अपनी इन्द्रियोंको जीत लिया है वे ही शिष्य गुरुकुलमें निवास करके उक्त गुरुकी सेवा करते है अथवा वेही गुरु गीतार्थ और सुतपस्वी है। ३३

(मूल) गिहे दीवमपासंता, पुरिसादाणिया नरा।
ते वीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं ॥३४॥

२ यस्य धृतिस्तस्य तपो यस्य तपस्तस्य सुगतिस्सुलभा। येऽधृतिमन्तः पुरुषास्तपोऽपि खलु दुर्लभं तेषाम् ॥१॥

(छाया) गृहे दीप (द्वीप) मपश्यन्तः पुरुषादानीया नराः ।
ते वीरा बन्धनोन्मुक्ताः, नावकांक्षन्ति जीवितम् ॥

(अन्वयार्थः) (गिहे दीव मपासंता) गृहवास में ज्ञानका लाभ न देखते हुए (पुरिसादाणिया नरा) पुरुष मुमुक्षु पुरुषों के आश्रय लेने योग्य होते हैं (बंधणुम्मुक्का ते वीरा) बन्धनसे मुक्त वे वीर पुरुष (जीविय नावकंखति) असयम जीवनकी इच्छा नहीं करते हैं।

(भावार्थ) गृहवासमें ज्ञानका लाभ नहीं हो सकता है यह सोचकर जो पुरुष प्रव्रज्याधारण करके उत्तरोत्तर गुणोंकी वृद्धि करते है वेही मोक्षार्थी पुरुषोंके आश्रय करने योग्य हैं। वे पुरुष बन्धनसे मुक्त है तथा वे असंयम जीवनकी इच्छा नहीं करते है।

(टीका) यदभिसंधायिनः पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टा भवन्ति तदभिधित्सुराह—'गृहे' गृहवासे गृहपाशे वा गृहस्थभाव इति यावत् 'दीवं'ति 'दीपी दीप्तौ' दीपयति—प्रकाशयतीति दीपः स च भावदीपः श्रुतज्ञानलाभः यदिवा—द्वीपः समुद्रादौ प्राणिनामाश्वासभूतः स च भावद्वीपः संसारसमुद्रे सर्वज्ञोक्तचारित्रलाभस्तदेवम्भूतं दीपं द्वीपं वा गृहस्थभावे 'अपश्यन्तः' अप्राप्नुवन्तः सन्तः सम्यक् प्रव्रज्योत्थानेनोत्थिता उत्तरोत्तरगुणलाभेनैवम्भूता भवन्तीति दर्शयति—'नराः' पुरुषाः पुरुषोत्तमत्वाद्धर्मस्य नरोपादानम्, अन्यथा स्त्रीणामप्येतद्गुणभाक्त्वं भवति, अथवा देवादिव्युदासार्थमिति, मुमुक्षूणां पुरुषाणामादानीया—आश्रयणीयाः पुरुषादानीया महतोऽपि महीयांसो भवन्ति, यदिवा—आदानीयो—हितैषिणां मोक्षस्तन्मार्गो वा सम्यग्दर्शनादिकः पुरुषाणां—मनुष्याणामादानीयः पुरुषादानीयः स विद्यते येषामिति विगृह्य मत्वर्थीयोऽर्शआदिभ्योऽजिति, तथा य एवंभूतास्ते विशेषेणेरयन्ति अष्टप्रकारं कर्मेति वीराः, तथा बन्धनेन सबाह्याभ्यन्तरेण पुत्रकलत्रादिस्नेहरूपेणोत्—प्राबल्येन मुक्ता बन्धनोन्मुक्ताः सन्तो 'जीवितम्' असंयमजीवितं प्राणधारणं वा 'नाभिकाङ्क्षन्ति' नाभिलषन्तीति ॥३४॥

(टीकार्थ) जिस बातका अनुसन्धान करनेवाले पुरुष ज्ञानी तथा तपस्वी होते हैं उसे बताने के लिये शास्त्रकार कहते है गृहवासमें अथवा पाशके समान बन्धनरूप गृह यानी गृहस्थभावमें दीपके समान वस्तुको प्रकाश करनेवाला श्रुतज्ञानरूप भावदीप नहीं प्राप्त होसकता है अथवा समुद्र आदिमें प्राणियों को विश्राम देनेवाले द्वीप के समान जो संसार समुद्रमें प्राणियोंको विश्राम देनेवाला सर्वज्ञोक्त चारित्ररूप भावद्वीप है वह नहीं मिल सकता है यह

समझकर जो पुरुष प्रव्रज्या धारण करके उत्तरोतर गुणोंकी उन्नति करते हैं वे आगे कहे अनुसार होते हैं, यह शास्त्रकार दिखाते हैं धर्ममें पुरुषोंकी प्रधानता है इसलिये यहां नर यानी पुरुषोंकाही ग्रहण है, नहीं तो स्त्रियां भी इन गुणोंसे युक्त होती है अथवा देवता आदिकी व्यावृत्ति के लिये यहां 'नर' कहा गया है स्त्रीकी व्यावृत्ति के लिये नहीं। वे पुरुष मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके आश्रय स्वरूप बडे से बडे हो जाते हैं। अथवा हितैषी पुरुष जिसका ग्रहण करते हैं वह मोक्ष अथवा मोक्षका मार्ग जो सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र है उसे पुरुषादानीय कहते है क्योंकि पुरुषोंसे वह ग्रहण किया जाता है, वह मोक्ष अथवा मोक्षका मार्ग जिसमें विद्यमान हैं उसे पुरुषादानीय कहते हैं, यहां पुरुषादानीय शब्दसे मत्वर्थीय 'अच' प्रत्यय करके यह अर्थ करना चाहिये। जो पुरुष ऐसे है वेही अपने आठ प्रकारके कर्मोंको विशेष रूपसे नाश करनेवाले वीर हैं एवं पुत्र कलत्र आदि के स्नेहरूप बाह्य और अभ्यन्तर बन्धनसे वे ही मुक्त है। वे पुरुष असंयम जीवनकी अथवा प्राण धारणरूप जीवनकी इच्छा नहीं करते हैं। ३४

(मूल) अगिद्धे सद्दफासेसु आरंभेसु अणिस्सिए।
सव्वं तं समयातीतं, जमेतं लवियं बहु ॥३५॥

(छाया) अगृद्धः शब्दस्पर्शेष्वारम्भेष्वनिश्रितः।
सर्वं तत्समयातीतं, यदेतल्लपितं बहु ॥

(अन्वयार्थः) (सद्दफासेसु अगिद्धे) साधु मनोहर शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्शमें आसक्त न हो।) आरंभेसु अणिस्सिए) तथा सावद्य अनुष्ठान न करे। (जमेयं बहु लवियं) इस अध्ययनके आदिसे लेकर जो बहुत बातें कही गई हैं (सव्वं तं समयातीतं) वे सब जिनागमसे विरुद्ध होनेके कारण निषिद्ध हैं।

(भावार्थ) साधु मनोहर शब्द, रूप, रस गन्ध, और स्पर्शमें आसक्त न रहे तथा वह सावद्य अनुष्ठान न करे। इस अध्ययनके आदिसे लेकर जो बातें (निषेधरूपसे) बताई गई हैं वे जिनागमसे विरुद्ध होने के कारण निषेध की गई है परन्तु जो अविरुद्ध है उनका निषेध नहीं है।

(टीका) किञ्चान्यत्—'अगृद्धः' अनध्युपपन्नोऽमूर्च्छितः क ?—शब्दस्पर्शेषु मनोज्ञेषु आद्यन्तग्रहणान्मध्यग्रहणमतो मनोज्ञेषु रूपेषु गन्धेषु रसेषु वा अगृद्ध इति द्रष्टव्यं, तथेतरेषु वाऽद्विष्ट इत्यपि वाच्यं, तथा 'आरम्भेषु' सावद्यानुष्ठानरूपेषु 'अनिश्रितः' असम्बद्धोऽप्रवृत्त इत्यर्थः, उपसंहर्तुकाम आह—'सर्वमेतद्' अध्यय-

नादेरारभ्य प्रतिपेध्यत्वेन यत् लपितम्—उक्तं मया बहु तत् 'समयाद्' आर्हतादागमादतीतमतिक्रान्तमितिकृत्वा प्रतिपिद्धं, यदपि च विधिद्वारेणोक्तं तदेतत्सर्वं कुत्सितसमयातीतं लोकोत्तरं प्रधानं वर्तते, यदपि च तैः कुतीर्थिकैर्बहु लपितं तदेतत्सर्वं समयातीतमितिकृत्वा नानुष्ठेयमिति ॥३५॥

(टीकार्थ) शब्द आदि है और स्पर्श अन्त है इस लिये इन दोनोंके ग्रहणसे बीचले विषयोंका भी यहां ग्रहण जानना चाहिये। मनोहर शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शमें साधु आसक्त न हो तथा अमनोहर शब्दादि में वह द्वेष भी न करे तथा सावद्य अनुष्ठानमें साधु प्रवृत्त न हो। इस अध्ययन के आदिसे लेकर निषेध रूपसे जो मैंने बहुत बातें बताई हैं वे जिनागमसे विरुद्ध होनेके कारण निषिद्ध हैं। तथा जिनका मैंने विधान किया है वे कुतीर्थिकों के सिद्धान्तोंसे विरुद्ध होने के कारण लोकोत्तर उत्तम धर्म हैं। तथा कुतीर्थिकोंने अपने दर्शनों में जो बहुत कुछ कहा है उन्हें जिनागमसे विरुद्ध जानकर आचरण नहीं करना चाहिये। ३५

(मूल) अइमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिए।
गारवाणि य सव्वाणि, णिव्वाणं संधए मुणि त्तिबेमि ॥३६॥

(छाया) अतिमानञ्च मायाञ्च, तत् परिज्ञाय पण्डितः।
गौरवाणि च सर्वाणि, निर्वाणं संधयेन्मुनिः ॥

(अन्वयार्थः) (पंडिए मुणी) पण्डित मुनि, (अइमान मायं च) अतिमान माया (सव्वाणि गारवाणि च) और सब प्रकार के विषय भोगोंको (परिण्णाय) त्यागकर (निव्वाणं) निर्वाण की (सधये) प्रार्थना करे।

(भावार्थ) विद्वान् मुनि अतिमान, माया और सब प्रकार के विषयभोगोंको त्यागकर मोक्षकी प्रार्थना करे।

(टीका) प्रतिषेध्यप्रधाननिषेधद्वारेण मोक्षाभिसन्धानेनाह—अतिमानो महामानस्तं, चशब्दात्तत्सहचरितं क्रोधं च, तथा मायां चशब्दात्तत्कार्यभूतं लोभं च, तदेतत्सर्वं 'पण्डितो' विवेकी ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत्, तथा सर्वाणि 'गारवाणि' ऋद्धिरससातरूपाणि सम्यग् ज्ञात्वा संसारकारणत्वेन परिहरेत्, परिहृत्य च 'मुनिः' साधुः 'निर्वाणम्' अशेषकर्मक्षयरूपं विशिष्टाकाश-

देशं वा 'सन्धयेत्' अभिसन्दध्यात् प्रार्थयेदिति यावत् । इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥३६॥ समाप्तं धर्माख्यं नवममध्ययनमिति ॥

(टीकार्थ) निषेध करने योग्य वस्तुओं मे जो प्रधान है उसका निषेध करते हुए शास्त्रकार मोक्ष प्राप्ति के आशयसे कहते हैं अतिमान अर्थात् महान् मान तथा च शब्दसे उसका सहचारी क्रोध तथा माया और च शब्दसे मायाका कार्य्य लोभ इनको विवेकी पुरुष ज्ञपरिज्ञासे जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञासे त्याग करे। तथा ऋद्धि रस और सुखरूप सब गौरवेंको संसारका कारण जानकर मुनि छोड देवे और समस्त कर्मोंका क्षयरूप अथवा आकाशका विशिष्ट देश स्वरूप जो निर्वाण पद है उसकी प्रार्थना करे। इति शब्द समाप्ति अर्थमें है, ब्रवीमि पूर्ववत् है। ३६

यह धर्मनामक नवम अध्ययन समाप्त हुआ।

॥ इति श्रीमच्छीलाङ्काचार्यविरचितविवरणयुतः सूत्रकृताङ्गीयः प्रथमः श्रुतस्कन्धः ॥